आराधना कथा कोश

अनुक्रमणिका

001) पात्रकेसरी की कथा
001) भट्टाकलंकदेव की कथा
003) सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की कथा
003) समन्त भद्राचार्य की कथा
005) संजयन्त मुनि की कथा
005) अंजन चोर की कथा
007) अनन्तमतीकी कथा
007) उद्दायन राजा की कथा
009) रेवती रानी की कथा
009) जिनेन्द्रभक्त की कथा
011) वारिषेण मुनि की कथा
011) विष्णुकुमार मुनि की कथा
013) वज्रकुमार की कथा
013) नागदत्त मुनि की कथा
015) शिवभूति पुरोहित की कथा
015) पवित्र हृदय वाले एक बालक की कथा
017) धनदत्त राजा की कथा
017) ब्रह्मदत्त की कथा
019) श्रेणिक राजा की कथा
019) पद्मरथ राजा की कथा
021) पंच नमस्कारमंत्र-माहात्म्य कथा
021) यम मुनि की कथा
023) दृढ़सूर्य की कथा
023) यमपाल चांडाल की कथा
025) मृगसेन धीवर की कथा
025) वसुराजा की कथा
027) श्रीभूति - पुरोहित की कथा
027) नीली की कथा
029) कडारपिंग की कथा
029) देवरति राजा की कथा
031) गोपवती की कथा
031) वीरवती की कथा
033) सुरतराजा की कथा
033) विषयों में फँसे हुए संसारी जीव की कथा
035) चारूदत्त सेठ की कथा
035) पाराशर मुनि की कथा
037) सात्यकि और रूद्र की कथा
037) लौकिक ब्रह्मा की कथा
039) परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा
039) धन से डरे हुए सागरदत्त की कथा
041) धन के लोभ से भ्रम में पड़े कुबेरदत्त की कथा
041) पिण्याकगन्ध की कथा
043) लुब्धक सेठ की कथा
043) वशिष्ठ तापसी की कथा
045) लक्ष्मीमती की कथा
045) पुष्पदत्ता की कथा

047) मरीचि की कथा
047) गन्धमित्र की कथा
049) गन्धर्वसेना की कथा
049) भीमराज की कथा
051) नागदत्ता की कथा
051) द्वीपायन मुनि की कथा
053) शराब पीने वालों की कथा
053) सगर चक्रवर्ती की कथा
055) मृगध्वज की कथा
055) परशुराम की कथा
057) सुकुमाल मुनि की कथा
057) सुकौशल मुनि की कथा
059) गजकुमार मुनि की कथा
059) पणिक मुनि की कथा
061) भद्रबाहु मुनिराज की कथा
061) बत्तीस सेठ पुत्रों की कथा
063) धर्मघोष मुनि की कथा
063) श्रीदत्त मुनि की कथा
065) वृषभसेन की कथा
065) कार्तिकेय मुनि की कथा
067) अभयघोष मुनि की कथा
067) विद्युच्चर मुनि की कथा
069) गुरूदत्त मुनि की कथा
069) चिलात-पुत्र की कथा
071) धन्य मुनि की कथा
071) पाँच सौ मुनियों की कथा
073) चाणक्य की कथा
073) वृषभसेन की कथा
075) शालिसिक्थ मच्छ के भावों की कथा
075) सुभौम चक्रवर्ती की कथा
077) शुभ राजा की कथा
077) सुदृष्टि सुनार की कथा
079) धर्मसिंह मुनि की कथा
079) वृषभसेन की कथा
081) जयसेन राजा की कथा
081) शकटाल मुनि की कथा
083) श्रद्धायुक्त मनुष्य की कथा
083) आत्मनिन्दा करने वाली की कथा
085) आत्मनिन्दा की कथा
085) सोमशर्म मुनि की कथा
087) कालाध्ययन की कथा
087) अकाल में शास्त्राभ्यास करनेवाले की कथा
089) विनयी पुरूष की कथा
089) अवग्रह-नियम लेनेवाले की कथा
091) अभिमान करने वाली की कथा
091) निह्नव-असल बात को छुपाने वाले की कथा
093) अक्षरहीन अर्थ की कथा
093) अर्थहीन वाक्य की कथा
095) व्यंजनहीन अर्थ की कथा
095) सुव्रत मुनिराज की कथा
097) हरिषेण चक्रवर्ती की कथा
097) हरिषेण चक्रवर्ती की कथा
099) दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

099) जिनाभिषेक से प्रेम करने वाले की कथा
101) भावानुराग-कथा
101) प्रेमानुराग-कथा
103) दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा
103) धर्मानुराग-कथा
105) दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा
105) सम्यक्त्व को न छोड़ने वाले की कथा
107) सम्यग्दर्शन के प्रभाव की कथा
107) रात्रिभोजन-त्याग-कथा
109) दान करने वालों की कथा
109) औषधिदान की कथा
111) शास्त्र-दान की कथा
111) अभयदान की कथा
113) करकण्डु राजा की कथा
113) जिनपूजन-प्रभाव-कथा
115) कुंकुम-व्रत कथा
115) जम्बूस्वामी की विनती

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्री-ब्र. नेमिदत्त-प्रणीत
श्री
आराधना कथा कोश
ब्रह्मचारी श्री नेमिदत्त द्वारा रचित जैन धर्म पर आधारित 116 कथाएँ
आभार : श्री उदयलालजी कासलीवाल
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-आराधना-कथा-कोश नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-ब्र. नेमिदत्त विरचितं ॥
॥ श्रोतार: सावधान-तया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

पात्रकेसरी की कथा

पात्रकेसरी की कथा
कथा :
पात्रकेसरी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का उद्योत किया था । उनका चरित मैं लिखता हूँ, वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण है ।
भगवान् के पंचकल्याणों से पवित्र और सब जीवों को सुख के देने वाले इस भारत वर्ष में एक मगध नामका देश है । वह संसार के श्रेष्ठ वैभव का स्थान है । उसके अन्तर्गत एक अहिछत्र नामका सुन्दर शहर है । उसकी सुन्दरता संसार को चकित करने वाली है ।
नगर वासियों के पुण्य से उसका अवनिपाल नाम का राजा बड़ागुणी था, सब राजविद्याओं का पंडित था । अपने राज्य का पालन वह अच्छी नीति के साथ करता था । उसके पास पाँच सौ अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे । वे वेद और वेदांग के जानकार थे । राजकार्य में वे अवनिपालको अच्छी सहायता देते थे । उनमें एक अवगुण था, वह यह कि उन्हें अपने कुल का बड़ाघमण्ड था । उससे वे सबको नीची दृष्टि से देखा करते थे । वे प्रातः काल और सायंकाल नियम पूर्वक अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करते थे । उनमें एक विशेष बात थी, वह यह कि वे जब राजकार्य करने को राज सभा में जाते, तब उसके पहले कौतूहल से पार्श्वनाथ जिनालय में श्री पार्श्वनाथ की पवित्र प्रतिमा का दर्शन कर जाया करते थे ।
एक दिन की बात है वे जब अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करके जिन मन्दिर में आये तब उन्होंने एक चारित्र भूषण नाम के मुनिराज की भगवान् के सम्मुख देवागम नाम का स्तोत्र का पाठ करते देखा । उन सब में प्रधान पात्रकेसरी ने मुनि से पूछा, क्या आप इस स्तोत्र का **अर्थ** भी जानते हैं ? सुनकर मुनि बोले—मैं इसका अर्थ नहीं जानता । पात्रकेसरी फिर बोले-साधुराज, इस स्तोत्र को फिर तो एक बार पढ़

जाइये । मुनिराज ने पात्रकेसरी कहे अनुसार धीरे-धीरे और पदान्त में विश्राम पूर्वक फिर देवागम को पढ़ा , उसे सुनकर लोगों का चित्त बड़ाप्रसन्न होता था ।

पात्रकेसरी की धारणा शक्ति बड़ी विलक्षण थी । उन्हें एक बार के सुनने से ही सब का सब याद हो जाता था । देवागम को भी सुनते ही उन्होंने याद कर लिया । अब वे उसका **अर्थ** विचारने लगे । उस समय दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिन भगवान् ने जो जीवा- जीवादिक पदार्थों का स्वरूप कहा है, वही सत्य है और सत्य नहीं है । इसके बाद वे घर पर जाकर वस्तु का स्वरूप विचारने लगे । सब दिन उनका उसी तत्वविचार में बीता । रात को भी उनका यही हाल रहा । उन्होंने विचार किया—जैन धर्म में जीवादिक पदार्थों को प्रमेय-जानने योग्य माना है और तत्वज्ञान-सम्यज्ञान को प्रमाण माना है । पर क्या आश्चर्य है कि अनुमान प्रमाण का लक्षण कहा ही नहीं गया । यह क्यों ? जैन धर्म के पदार्थों में उन्हें कुछ सन्देह हुआ, उससे उनका चित्त व्यग्र हो उठा । इतने ही में पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ । वह उसी समय वहाँ आई और पात्रकेसरी से उसने कहा-आपको जैन धर्म के पदार्थों में कुछ सन्देह हुआ है, पर इसकी आप चिन्ता न करें । आप प्रातःकाल जब जिनभगवान् के दर्शन करने को जायँगे तब आपका सब सन्देह मिटकर आपको अनुमान प्रमाण का निश्चय हो जायगा । पात्रकेसरी से इस प्रकार कहकर पद्मावती जिन मंदिर गई और वहाँ पार्श्वजिन की प्रतिमा के फण पर एक श्लोक लिखकर वह अपने स्थान पर चली गई । वह श्लोक यह था --

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।।

अर्थात्-जहाँपर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ हेतु के दूसरे तीन रूप मानने से क्या प्रयोजन है ? तथा जहाँपर अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ हेतु के तीन रूप मानने से भी क्या फल है । भावार्थ—साध्य के अभाव में न मिलने वाले को ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं । इसलिये अन्यथानुपपत्ति हेतु का असाधारण रूप है । किन्तु बौद्ध इसको न मानकर हेतु के १- पक्षेसत्व, २- सपक्षेसत्व, ३- विपक्षाद्व्यावृत्ति ये तीन रूप मानता है, सो ठीक नहीं हैं । क्योंकि कहीं-कहीं पर त्रैरूप्य के न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु सद्धेतु होता है । और कहीं-कहीं पर त्रैरूप्य के होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सद्धेतु नहीं होता । जैसे एक मुहूर्त के अनन्तर शकटका उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। और यहाँ पर पक्षेसत्व न होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु सद्धेतु होता है । और ‘गर्भस्थ पुत्र श्याम होगा, क्योंकि यह मित्र का पुत्र है । यहाँ पर त्रैरूप्य के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सद्धेतु नहीं होता ।'

पात्रकेसरी ने जब पद्मावती को देखा तब ही उनकी श्रद्धा जैन धर्म में खूब दृढ़ हो गई थी, जो कि सुख देने वाली और संसार के परिवर्तन का नाश करने वाली है । पश्चात् जब वे प्रात: काल जैन मंदिर गये और श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उन्हें अनुमान प्रमाण का लक्षण लिखा हुआ मिला तब तो उनके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा । उसे देखकर उनका सब सन्देह दूर हो गया । जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ।

इसके बाद ब्राह्मण-प्रधान, पुण्यात्मा और जिन धर्म के परम श्रद्धालु पात्रकेसरी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने हृदय में निश्चय कर लिया कि जिनभगवान् ही निर्दोष और संसाररूपी समुद्र से पार करने वाले देव हो सकते है और जिन धर्म ही दोनों लोक में सुख देने वाला धर्म हो सकता है । इस प्रकार दर्शनमोहनी कर्म के क्षयोपशम से उन्हें सम्यक्त्वरूपी परम रत्न की प्राप्ति हो गई-उससे उनका मन बहुत प्रसन्न रहने लगा ।

अब उन्हें निरन्तर जिनधर्म के तत्वों की मीमांसाके सिवा कुछ सूझने ही न लगा-वे उनके विचार में मग्न रहने लगे । उनकी यह हालत देखकर उनसे उन ब्राह्मणों ने पूछा—आज कल हम देखते हैं कि आपने मीमांसा, गीतमन्याय, वेदान्त आदिका पठन-पाठन बिलकुल ही छोड दिया है और उनकी जगह जिनधर्म के तत्वों का ही आप विचार किया करते हैं, यह क्यों ? सुनकर पात्रकेसरी ने उत्तर दिया-आप लोगों को अपने वेदों का अभिमान है, उन पर ही आपका विश्वास है, इसलिये आपकी दृष्टि सत्य बात की ओर नहीं जाती । पर मेरा विश्वास आपसे उल्टा है, मुझे वेदों पर विश्वास न होकर जैन धर्म पर विश्वास है, वही मुझे संसार में सर्वोत्तम धर्म दिखता है । मैं आप लोगों से भी आग्रह पूर्वक कहता हूँ, कि आप विद्वान हैं, सच झूठ की परीक्षा कर सकते हैं, इसलिये जो मिथ्या हो, झूठा हो, उसे छोडकर सत्य को ग्रहण कीजिये और ऐसा सत्य धर्म एक जिनधर्म ही है, इसलिये वह ग्रहण करने योग्य है ।

पात्रकेसरी के इस उत्तर से उन ब्राह्मणों को सन्तोष नहीं हुआ । वे इसके विपरीत उनसे शास्त्रार्थ करने को तैयार हो गये । राजा के पास

जाकर उन्होंने पात्रकेसरी के साथ शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की । राजाज्ञा के अनुसार पात्रकेसरी राजसभा में बुलवाये गये । उनका शास्त्रार्थ हुआ । उन्होंने वहाँ सब ब्राह्मणों को पराजित कर संसारपूज्य और प्रजा को सुख देने वाले जिनधर्म का खूब प्रभाव प्रगट किया और सम्यग्दर्शन की महिमा प्रकाशित की ।

उन्होंने एक जिनस्तोत्र बनाया, उसमें जिनधर्म के तत्वों का विवेचन और अन्यमतों के तत्वों का बड़े पाण्डित्य के साथ खण्डन किया गया है । उसका पठन-पाठन सबके लिये सुखका कारण है । पात्रकेसरी के श्रेष्ठ गुणों और अच्छे विद्वानों द्वारा उनका आदर सम्मान देखकर अवनिपाल राजा ने तथा उन ब्राह्मणों ने मिथ्यामत को छोड़कर शुभ भावों के साथ जैनमत को ग्रहण कर लिया ।

इस प्रकार पात्रकेसरी के उपदेश से संसार समुद्र से पार करने वाले सम्यग्दर्शन को और स्वर्ग तथा मोक्ष के देने वाले पवित्र जिनधर्म को स्वीकार कर अवनिपाल आदि ने पात्रकेसरी की बड़ी श्रद्धा के साथ प्रशंसा की कि द्विजोत्तम, तुमने जैन धर्म को बड़े पाण्डित्य के साथ खोज निकाला है, तुम्हीं ने जिन भगवान् के उपदेशित तत्वों के मर्मको अच्छी तरह समझा है, तुम ही जिन भगवान् के चरण कमलों की सेवा करने वाले सच्चे भ्रमर हो, तुम्हारी जितनी स्तुति की जाय थोड़ी है । इस प्रकार पात्रकेसरी के गुणों और पाण्डित्य की हृदय से प्रशंसा करके उन सबने उनका बड़ा आदर सम्मान किया ।

जिस प्रकार पात्रकेसरी ने सुख के कारण, परम पवित्र सम्यग्दर्शन का उद्योतकर उसका संसार में प्रकाश कर राजाओं के द्वारा सम्मान प्राप्त किया उसी प्रकार और भी जो जिनधर्म का श्रद्धानी होकर भक्ति पूर्वक सम्यग्दर्शन का उद्योत करेगा वह भी यशस्वी बनकर अंत में स्वर्ग या मोक्ष का पात्र होगा ।

कुन्दपुष्प, चन्द्र आदि के समान निर्मल और कीर्तियुक्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में श्री मल्लिभूषण भट्टारक हुए । श्रुतसागर उनके गुरूभाई हैं । उन्हीं की आज्ञा से मैंने यह कथा श्री सिंहनन्दी मुनि के पास रहकर बनाई है । यह इसलिये कि इसके द्वारा मुझे सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हो ।

भट्टाकलंकदेव की कथा

भट्टाकलंकदेव की कथा

कथा :

मैं जीवों को सुख के देने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर, इस अध्याय में भट्टाकलंक देव की कथा लिखता हूँ जो कि सम्यग्ज्ञानका उद्योत करने वाली है ।

भारत वर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था । उसके राजा थे शुभतुंग और उनके मंत्री का नाम पुरूषोत्तम था । पुरूषोत्तम की गृहिणी पद्मावती थी । उसके दो पुत्र हुए । उनके नाम थे अकलंक और निकलंक। वे दोनों भाई बड़े बुद्धिमान-गुणी थे ।

एक दिन की बात है कि अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन पुरूषोत्तम और उसकी गृहिणी बड़ी विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गई । साथ में दोनों भाई भी गये । मुनिराज की वन्दना कर इनके माता-पिता ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रों को भी उन्होंने ब्रह्मचर्य दे दिया ।

कुछ दिनों के बाद पुरूषोत्तम ने अपने पुत्रों के ब्याह की आयोजना की । यह देख दोनों भाइयों ने मिलकर पिता से कहा—पिता जी ! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किसलिये कर रहे हैं ? अपने पुत्रों की भोली बात सुनकर पुरूषोत्तम ने कहा- यह सब आयोजन तुम्हारे ब्याह के लिये है । पिता का उत्तर सुनकर दोनों भाईयों ने फिर कहा— पिता जी । अब हमारा ब्याह कैसा ? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य दे दिया था न ? पिता ने कहा नहीं, वह तो केवल विनोद से दिया गया था । उन बुद्धिमान् भाइयों ने कहा—पिता जी ! धर्म और व्रत में विनोद कैसा ? यह हमारी समझ में नहीं आया । अच्छा आपने विनोद ही से दिया सही, तो अब उसके पालन करने में भी हमें लज्जा कैसी ? पुरूषोत्तम ने फिर कहा—अस्तु ! जैसा तुम कहते हो वही सही, पर तब तो केवल आठ ही दिन के लिये ब्रह्मचर्य दिया था न ? दोनों भाइयों ने कहा- पिता जी, हमें आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे खुलासा कहा था और न आचार्य महाराज ने ही । तब हम कैसे समझें कि वह व्रत आठ ही दिन के लिये था । इसलिये हम तो अब उसका आजन्म पालन करेंगे, ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है । हम अब विवाह नहीं करेंगे । यह कहकर दोनों भाइयों ने घर का सब कारोबार छोड़कर और अपना चित्त शास्त्राभ्यास की ओर लगाया । थोड़े ही दिनों में ये अच्छे विद्वान् बन गये । इनके समय में बौद्धधर्म का बहुत जोर था । इसलिये इन्हें उसके

तत्व जानने की इच्छा हुई । उस समय मान्यखेट में ऐसा कोई बौद्ध विद्वान् नहीं था, जिससे ये बौद्धधर्म का अभ्यास करते । इसलिये ये एक अज्ञ विद्यार्थी का वेश बनाकर महाबोधि नामक स्थान बौद्धधर्माचार्य के पास गये । आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि कहीं ये छली तो नहीं हैं, और जब उन्हें इनकी ओर से विश्वास हो गया तब वे और और शिष्यों के साथ-साथ इन्हें भी पढ़ाने लगे । ये भी अन्तरंग में तो पक्के जिनधर्मी और बाहिर एक महामूर्ख बनकर स्वर व्यंजन सीखने लगे । निरन्तर बौद्धधर्म सुनते रहने से अकलंक देव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गयी उन्हें एक ही बार के सुनने से कठिन से कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलंक को दो बार सुनने से । **अर्थ**ात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गये । इस प्रकार वहाँ रहते दोनों भाइयों को बहुत समय बीत गया ।

एक दिन की बात है बौद्धगुरू अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे । उस समय प्रकरण था जैनधर्म के सप्तभंगी सिद्धान्त का । वहाँ कोई ऐसा अशुद्ध पाठ आ गया जो बौद्धगुरू की समझ में न आया, तब वे अपने व्याख्यान को वहीं समाप्त कर कुछ समय के लिये बाहर चले आये । अकलंक बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरू के भाव समझ गये, इसलिये उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और उसकी खबर किसी को न होने दी । इतने में पीछे बौद्धगुरू आये । उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया । जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझ में आ गया । यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्म रूप समुद्र का बढ़ाने वाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म के नष्ट करने की इच्छा से बौद्ध वेष धारणकर बौद्धशास्त्र का अभ्यास कर रहा है । उसका जल्दी ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिये । इस विचार के साथ ही बौद्धगुरू ने सब विद्यार्थियों को शपथ, प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, पर जैनधर्मी का पता उन्हें नहीं लगा । इसके बाद उन्होंने जिन प्रतिमा मंगवाकर उसे लाँघ जाने के लिये सबको कहा। सब विद्यार्थी तो लाँघ गये, अब अकलंक की बारी आई, उन्होंने अपने कपड़े में से एक सूत का सूक्ष्म धागा निकालकर उसे प्रतिमा पर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे झट से लाँघ गये । यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसी की समझ में न आया । बौद्ध गुरू इस युक्ति में भी जब कृतकार्य नहीं हुए तब उन्होंने एक और नई युक्ति की । उन्होंने बहुत से काँसों के बर्तन इकट्ठे करवाये और उन्हें एक बड़ी भारी गौन में भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियों के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियों की देख रेख के लिये अपना एक-एक गुप्तचर रख दिया ।

आधी रात का समय था । सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवी की गोद में सुख का अनुभव कर रहे थे । किसी को कुछ मालूम न था कि हमारे लिये क्या-क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं । एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ । मानों आसमान से बिजली टूटकर पड़ी । सब विद्यार्थी उस भयंकर आवाज से कांप उठे । वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिये समझकर अपने उपास्य परमात्मा का स्मरण कर उठे । अकलंक और निकलंक भी पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करने लग गये । पास ही बौद्धगुरू का जासूस खड़ा हुआ था । वह उन्हें बुद्ध भगवान् का स्मरण करने की जगह जिन भगवान् स्मरण करते देखकर बौद्धगुरू के पास ले गया और गुरू से उसने प्रार्थना की । प्रभो ! आज्ञा कीजिये कि इन दोनों धूर्तों का क्या किया जाये ? ये ही जैनी हैं । सुनकर वह दुष्ट बौद्धगुरू बोला— इस समय रात थोड़ी बीती है, इसलिये इन्हें ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दो, जब आधी रात हो जाये तब इन्हें मार डालना । गुप्तचर ने दोनों भाइयों को ले जाकर कैदखाने में बंद कर दिया ।

अपने पर एक महाविपत्ति आई देखकर निकलंक ने बड़े भाई से कहा— भैया ! हम लोगों ने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, पर कष्ट है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्म की सेवा न कर सके और एकाएक हमें मृत्यु का सामना करना पड़ा । भाई की दु:ख भरी बात सुनकर महा धीरवीर अकलंक ने कहा— प्रिय ! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं । घबराओ मत । अब भी हम अपने जीवन की रक्षा कर सकेंगे । देखो मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपने को छुपा कर हम लोग यहाँ से निकल चलते है और शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुँचते है | यह विचार कर वे दोनों भाई दबे पाँव निकल गये और जल्दी-जल्दी रास्ता तय करने लगे ।

इधर जब आधी रात बीत चुकी और बौद्धगुरू को आज्ञानुसार उन दोनों भाइयों के मारने का समय आया' तब उन्हें पकड़ लाने के लिये नौकर लोग दौड़े गये, पर वे कैदखाने में जाकर देखते हैं तो वहाँ उनका पता नहीं । उन्हें उनके एकाएक गायब हो जाने से बड़ा आश्चर्य हुआ । पर कर क्या सकते थे । उन्हें उनके कहीं आस-पास ही छुपे रहने का सन्देह हुआ । उन्होंने आस-पास के वन, जंगल, खंडहर, बावड़ी, कुएँ, पहाड़ गुफायें आदि सब एक-एक करके ढूँढ़ डाले, पर उनका कहीं पता न चला । उन पापियों को तब भी सन्तोष न हुआ सो उनके मारने की इच्छा से अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की । उनकी दयारूपी बेल क्रोधरूपी दावाग्नि से खूब ही झुलस गई थी, इसीलिये उन्हें ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर-फिर कर देखते जाते थे, कि कहीं किसी ने हमारा पीछा तो नहीं

किया है । पर उनका सन्देह ठीक निकला । निकलंक ने दूर तक देखा तो उसे आकाश में धूल उठती हुई देख पड़ी । उसने बड़े भाई से कहा — भैया ! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जाता है । जान पड़ता है दैव ने अपने से पूर्ण शत्रुता बाँधी है । खेद है परम पवित्र जिनशासन की हम लोग कुछ भी सेवा न कर सके और मृत्यु ने बीच ही में आकर धर दबाया । भैया ! देखो तो, पापी लोग हमें मारने के लिये पीछा किये चले आ रहे हैं । अब रक्षा होना असंभव है । हां मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है उसे आप करेंगे तो जैनधर्म का बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धिमान हैं, एक संस्थ हैं । आपके द्वारा जैनधर्म का खूब प्रकाश होगा । देखते हैं- वह सरोवर है । उसमें बहुत से कमल हैं । आप जल्दी जाइये और तालाब में उतरकर कमलों में अपने को छुपा लीजिये । जाइये, जल्दी कीजिये देरी का काम नहीं है । शत्रु पास पहुँचे आ रहे हैं । आप मेरी चिन्ता न कीजिये । मैं भी जहाँ तक बन पड़ेगा, जीवन की रक्षा करूंगा । और यदि मुझे अपना जीवन दे देना भी पड़े तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं, जब कि मेरे प्यारे भाई जीते रहकर पवित्र जिन-शासन की भरपूर सेवा करेंगे । आप जाइये, मैं भी अब यहाँ से भागता हूँ ।

अकलंक की आँखो से आँसुओं की धार बह चली । उनका गला भ्रातृ-प्रेम से भर आया । वे भाई से एक अक्षर भी न कह पाये कि निकलंक वहाँ से भाग खड़ा हुआ । लाचार होकर अकलंक को अपने जीवन की नहीं, पवित्र जिन शासन की रक्षा के लिये कमलों में छुपना पड़ा उनके लिये कमलों का आश्रय केवल दिखाऊ था । वास्तव में तो उन्होंने जिसके बराबर संसार में कोई आश्रय नहीं हो सकता, उस जिनशासन का आश्रय लिया था ।

निकलंक भाई से विदा हो जी छोड़कर भागा जा रहा था । रास्ते में उसे एक धोबी कपड़े धोते हुये मिला । धोबी ने आकाश में धूल की घटा छाई हुई देखकर निकलंक से पूछा, यह क्या हो रहा है ? और तुम ऐसे जी छोडकर क्यों भागे जा रहे हो ? निकलंक ने कहा- पीछे शत्रुओं की सेना आ रही है । उन्हें जो मिलता है उसे ही वह मार डालती है । इसीलिये मैं भागा जा रहा हूँ । ऐसा सुनते ही धोबी भी कपड़े बगैरह सब वैसे ही छोडकर निकलंक के साथ भाग खड़ा हुआ । वे दोनों बहुत भागे, पर आखिर कहाँ तक भाग सकते थे ? सवारों ने उन्हें धर पकडा और उसी समय अपनी चमचमाती हुई तलवार से दोनों का शिर काटकर वे अपने मालिक के पास ले गये । सच हैं पवित्र जिनधर्म अहिंसा धर्म से रहित मिथ्यात्व को अपनाये हुए पापी लोगों के लिए ऐसा कौन महापाप बाकी रह जाता है, जिसे वे नहीं करते । जिनके हृदय में जीव मात्र को सुख पहुँचाने वाले जिनधर्म का लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरों पर दया आ भी कैसे सकती है ?

उधर शत्रु अपना कामकर वापिस लौटे और इधर अकलंक अपने को निर्विघ्न समझ सरोवर से निकले और निडर होकर आगे बढ़े । वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिनों बाद कलिंग देशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहर में पहुँचे । इसके बाद का हाल हम नीचे लिखते हैं ।

उस समय रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल थे । उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था । वह जिन भगवान् की बड़ी भक्त थी । उसने स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिये अपने बनवाये हुये जिन मंदिर में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था । उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था ।

वहाँ संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान रहता था । उसे महारानी का कार्य सहन नहीं हुआ । उसने महाराज से कहकर रथयात्रोत्सव अटका दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिये घोषणा भी करवा दी । महाराज शुभतुंग ने अपनी महारानी से कहा — प्रिये, जब तक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरू के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव न फैलावेगा तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है । महाराज की बातें सुनकर रानी को बड़ा खेद हुआ । पर वह कर ही क्या सकती थी । उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था । वह उसी समय जिनमंदिर गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर उनसे बोली— प्रभो, बौद्धगुरू ने मेरा रथयात्रोत्सव रूकवा दिया है । वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो, फिर रथोत्सव करना । बिना ऐसा किये उत्सव न हो सकेगा । इसलिये मैं आपके पास आई हूँ । बतलाइए जैनदर्शन का अच्छा विद्वान कौन है, जो बौद्धगुरू को जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे ? सुनकर मुनि बोले- इधर आसपास तो ऐसा विद्वान अवश्य हैं । उनके बुलवाने का आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है । रानी ने कहा- वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो शिर के पास फुंकार कर रहा है और कहते हैं कि गारूड़ी दूर है । भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु । जान पड़ा कि आप लोग इस विपत्ति का सद्य: प्रतिकार नहीं कर सकते । दैव को जिनधर्म पतन कराना ही इष्ट मालूम देता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्दशा होगी तब मैं ही जीकर क्या करूँगी ? यह कहकर महारानी राजमहल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिनमंदिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की—“जब संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठबाट के साथ निकलेगा और

जिनधर्म की खूब प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूँगी, नहीं तो वैसे ही निराहार रहकर मर मिटूँगी; पर अपनी आँखों से पवित्र जैन शासन की दुर्दशा कभी नहीं देखूंगी ।'' ऐसा हृदय में निश्चयकर मदनसुन्दरी जिन भगवान् सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर पंचनमस्कार मंत्र की आराधना करने लगी । उस समय उसकी ध्यान निश्चल अवस्था बड़ी ही मनोहर दीख पड़ती थी । मानों सुमेरूगिरि की श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो ।

''भव्यजीवों को जिनभक्ति का फल अवश्य मिलता है ।'' इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही । महारानी के निश्चय ध्यान- के प्रभाव से पद्मावती का आसन कंपित हुआ । वह आधीरात के समय आई और महारानी से बोली- देवी, जबकि तुम्हारे हृदय में जिनभगवान् के चरण कमल शोभित हैं, जब तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं । उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा । सुनो, कल प्रात:काल ही अकलंक देव इधर आवेंगे, वे जैनधर्म के बड़े भारी विद्वान् हैं । वे ही संघश्री का दर्प चूर्णकर जिनधर्म की खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव का कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे । उन्हें अपने मनोरथों के पूर्ण करने वाले मूर्तिमान शरीर समझो । यह कहकर पद्मावती अपने स्थान चली गई ।

देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसने बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान् की स्तुति की और प्रात:काल होते ही महाभिषेक पूर्वक पूजा की । इसके बाद उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरूषों को अकलंक देव के ढूँढने को चारों ओर दौड़ाये । उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गये थे, उन्होंने एक बगीचे में अशोक वृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यों के साथ एक महात्मा को बैठे देखा । उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का परिचय और नाम धाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आये और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया । सुनकर ही वह धर्मवत्सला खानपान आदि सब लेकर सामने गई, वहाँ पहुँचकर उसने बड़े प्रेम और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया । उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ । जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी को और मुनियों का तत्वज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द होता है । इसके बाद रानी ने धर्म प्रेम के वश होकर अकलंक देव की चन्दन, अगुरू, फल, फूल, वस्त्रादि से बडे विनय के साथ पूजा की और पुन: प्रणाम कर वह उनके सामने बैठ गई । उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले-देवी, तुम अच्छी तरह तो हो, और सब संघ भी अच्छी तरह है न ? महात्मा के वचनों को सुनकर रानी की आँखों से आँसू बह निकले, उसका गला भर आया । वह बड़ी कठिनता से बोली- प्रभो, संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; उसका मुझे बड़ा कष्ट है । यह कहकर उसने संघश्री का सब हाल अकलंक से कह सुनाया । पवित्र धर्म का अपमान अकलंक न सह सके । उन्हें क्रोध हो आया । वे बोले- वह बराक संघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है, पर वह मेरे सामने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है । अच्छा देखूँगा उसके अभिमान को कि वह कितना पाण्डित्य रखता है । मेरे साथ खास बुद्ध तक तो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत नहीं रखता, तब वह बेचारा किस गिनती में है ? इस तरह रानी को सन्तुष्ट करके अकलंक ने संघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बडे उत्सव साथ जिनमंदिर आ पहुँचे ।

पत्र संघश्री के पास पहुँचा । उसे देखकर और उसकी लेखन शैली को पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा । आखिर उसे शास्त्रार्थ के लिये तैयार होना ही पड़ा ।

अकलंक के आने के समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुँचे । उन्होंने उसी समय बडे आदर सम्मान के साथ उन्हें राजसभा में बुलवाकर संघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया । संघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलंक के प्रश्नोत्तर करने का पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्ति की तुलना की तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने में अशक्त हूँ, पर राजसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा । क्योंकि उससे उनका अपमान होता । तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजा से कहा- महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निकाल होना कठिन है । इसलिये मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलना चाहिये जब तक कि एक पक्ष पूर्ण निरूत्तर न हो जाय । राजा ने अकलंक की अनुमति लेकर संघश्री के कथन को मान लिया । उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ । राजसभा भंग हुई ।

अपने स्थान पर आकर संघश्री ने जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म के विद्वान् रहते थे, उनके बुलवाने को अपने शिष्यों को दौड़ाया और आपने रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की । देवी उपस्थित हुई । संघश्री ने उससे कहा- देखती हो, धर्म पर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है । उसे दूरकर धर्म की रक्षा करनी होगी । अकलंक बड़ा पंडित है । उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असम्भव

था । इसीलिये मैंने तुम्हें कष्ट दिया है । यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंक को पराजित कर बुद्धधर्म की महिमा प्रगट करनी होगी । बोलो-क्या कहती हो ? उत्तर में देवी ने कहा—हाँ मैं शास्त्रार्थ करूँगी सही, पर खुली सभा में नहीं; किन्तु परदे के भीतर घड़े में रहकर । 'तथास्तु' कहकर संघश्री ने देवी को विसर्जित किया और आप प्रसन्ना के साथ दूसरी निद्रा देवी की गोद में जा लेटा ।

प्रात:काल हुआ । शौच, स्थान, देवपूजन आदि नित्य कर्म से छुट्टी पाकर संघश्री राजसभा में पहुँचा और राजा से बोला- महाराज, हम आज से शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे । हम शास्त्रार्थ के समय किसी का मुँह नहीं देखेंगे । आप पूछेंगे क्यों ? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के समय के अन्त में दिया जायेगा । राजा संघश्री के कपट जाल को कुछ नहीं समझ सके । उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक परदा लगवा दिया। संघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान् की पूजा की और देवी की पूजाकर एक घड़े में आह्वान किया । धूर्त लोग बहुत कुछ छल कपट करते हैं, पर अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है ।

इसके बाद घड़े की देवी अपने में जितनी शक्ति थी उसे प्रगट कर अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने लगी । इधर अकलंक देव भी देवी के प्रति-पादन किये हुये विषय का अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन तथा परपक्ष का खण्डन करने वाले परम पवित्र अनेकान्त–स्याद्वादमत का समर्थन बड़े ही पाण्डित्य के साथ निडर होकर करने लगे । इस प्रकार शास्त्रार्थ होते-होते छह महीना बीत गये, पर किसी की विजय न हो पाई । यह देख अकलंक देव को बड़ी चिंता हुई । उन्होंने सोचा- संघश्री साधारण पढ़ा-लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था, वह आज बराबर छह महीना से शास्त्रर्थ करता चला आता है; इसका क्या कारण है, सो नहीं जान पड़ता । उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता हुई । पर वे कर ही क्या सकते थे । एक दिन इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि इतने में जिनशासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंक देव से बोली—प्रभो ! आपके साथ शास्त्रार्थ करने की मनुष्यमात्र में शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मुनष्य है तब उसकी क्या मजाल जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे ? पर यहाँ तो बात ही कुछ और ही है आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नहीं है, किन्तु बुद्धधर्म-की अधिष्ठात्री तारा नाम की देवी हैं । इतने दिनों से वही शास्त्रार्थ कर रही है । संघश्री ने उसकी आराधना कर यहाँ उसे बुलाया है । इसलिये कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करें तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन करने के लिये कहिये । वह उसे फिर न कह सकेगी और तब उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा यह कहकर देवी अपने स्थान पर चली गई । अकलंक देव की चिन्ता दूर हुई । वे बड़े प्रसन्न हुए ।

प्रात:काल हुआ । अकलंक देव अपने नित्यकर्म से मुक्त होकर जिन-मन्दिर गये । बड़े भक्तिभाव से उन्होंने भगवान् की स्तुति की । इसके बाद वे वहाँ से सीधे राजसभा में आये । उन्होंने महाराज शुभतुंग को सम्बोधन करके कहा—राजन् ! इतने दिनों तक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह मतलब नहीं था कि मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सका । परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म का प्रभाव बतलाने का था । वह मैंने बतलाया । पर अब मैं इस वाद का अन्त करना चाहता हूँ । मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस वाद की समाप्ति करके ही भोजन करूँगा । ऐसा कहकर उन्होंने परदे की ओर देखकर कहा— क्या जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूँ ? वे कहकर जैसे ही चुप रहे कि परदे की ओर से फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ । देवी अपना पक्ष समर्थन करके चुप हुई कि अकलंक देव ने उसी समय कहा— जो विषय अभी कहा गया है, उसे फिर से कहो ? वह मुझे ठीक नहीं सुन पड़ा । आज अकलंक का यह नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया । देवता जो कुछ बोलते वे एक ही बार बोलते हैं- उसी बात को वे पुन: नहीं बोल पाते । तारा देवी का भी यही हाल हुआ । वह अकलंक देव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी । आखिर उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा । जैसे सूर्योदय से रात्रि भाग जाती है ।

इसके बाद ही अकलंक देव उठे और परदे को फाड़कर उसके भीतर घुस गये । वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया था, उसे उन्होंने पाँव की ठोकर से फोड़ डाला । संघश्री सरीखे जिनशासन के शत्रुओं का, मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया । अकलंक के इस विजय और जिन-धर्म की प्रभावना से मदनसुन्दरी और सर्वसाधारण को बड़ा आनन्द हुआ । अकलंक ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा-सज्जनो ! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था, किन्तु इतने दिन जो मैंने देवी के साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्म का माहात्म्य प्रगट करने के लिये और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय पर प्रकाश डालने के लिये था । यह कहकर अकलंक देव ने इस श्लोक को पढ़ा –

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,

नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारूण्यबुध्या माया।
राज्ञ: श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धीधान्स कलान्विजित्य सुगत: पादेन विस्फालित:।।

अर्थात्— महाराज, हिमशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को ठुकराया, यह न तो अभिमान के वश होकर किया गया और न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा ।

उस दिन से बौद्धों का राजा और प्रजा के द्वारा चारों ओर अपमान होने लगा । किसी की बुद्धधर्म पर श्रद्धा नहीं रही । सब उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे । यही कारण है बौद्ध लोग यहाँ से भागकर विदेशों में जा बसे ।

महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए । सबने मिथ्यात्वमत छोड़कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलंक देव का सोने, रत्न आदि के अलंकारों से खूब आदर सम्मान किया, खूब उनकी प्रशंसा की । सच बात है जिन भगवान् के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नहीं होता ।

अकलंक देव के प्रभा से जिनशासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरी ने पहले से भी कई गुणे उत्साह से रथ निकलवाया । रथ बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था । उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी । वह वेशकीमती वस्त्रों से शोभित था, छोटी-छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लगी हुई थीं, उनकी मधुर आवाज एक बड़े घंटे की आवाज में मिलकर, जो कि उन घंटियों को ठीक बीच में था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उस पर रत्नों और मोतियों की मालायें अपूर्व शोभा दे रही थीं, उसके ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिन भगवान् की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी । वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल आदि से अलंकृत थी । रथ चलता जाता था और उसके आगे-आगे भव्यपुरूष बड़ी भक्ति के साथ जिन भगवान् की जय बोलते हुए और भगवान् पर अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों की, जिनकी महक से सब दिशायें सुगन्धित होती थीं, वर्षा करते चले जाते थे । चारणलोग भगवान् की स्तुति पढ़ते जाते थे । कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर गीत गाती जाती थीं । नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं । अनके प्रकार के बाजों का सुन्दर शब्द दर्शकों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता था । इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पड़ता था, मानों पुण्यरूपी रत्नों के उत्पन्न करने को चलने वाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है । उस समय जो याचकों को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किये जाते थे, उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्ष की सी जान पड़ती थी । हम रथ की शोभा का कहाँ तक वर्णन करें ? आप इसी से अनुमान कर लीजिये कि जिसकी शोभा को देखकर ही बहुत से अन्यधर्मी लोगों ने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया तब उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना है ? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओं से सजाकर रथ निकाला गया, उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानों महादेवी मदन-सुन्दरी की यशोराशि ही चल रहीं है । वह रथ भव्य-पुरूषों के लिए सुख का देने वाला था । सुन्दर रथ की प्रतिदिन भावना करते हैं, उसका ध्यान करते है । वह हमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्रदान करे ।

जिस प्रकार अकलंक देव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की, उसका महत्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अंकित कर दिया उसी प्रकार और-और भव्य पुरूषों को भी उचित है कि वे भी अपने जिस तरह बन पड़े जिनधर्म की प्रभावना करें, जैनधर्म के प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करें ।

संसार में जिनभगवान् की सदा जय हो, जिन्हें इन्द्र, धरणेन्द्र नमस्कार करते है और जिनका ज्ञानरूपी प्रदीप सारे संसार को सुख देनेवाला है ।

श्री प्रभाचन्द्र मुनि मेरा कल्याण करें, जो गुण रत्नों के उत्पन्न होने के स्थान पर्वत हैं और ज्ञान के समुद्र हैं ।

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की कथा

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की कथा

कथा :

स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले श्री अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके मैं सम्यक्चारित्र का उद्योत करने वाले चौथे सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा लिखता हूँ ।

अनन्तवीर्य भारत वर्ष के अन्तर्गत वीतशोक नामक शहर के राजा थे । उनकी महारानी का नाम सीता था । हमारे चरित्रनायक सनत्कुमार इन्हीं के पुण्य के फल थे । वे चक्रवर्ती थे । सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे । उन्होंने छहों खण्ड पृथ्वी अपने वश कर ली थी । उनकी विभूति का प्रमाण ऋषियों ने इस प्रकार लिखा है— नवनिधि, चौदहरत्न, चौरासी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छयानवें करोड़ धान्य से भरे हुए ग्राम, छयानवें हजार सुन्दरियाँ और सदा सेवा में तत्पर रहने वाले बत्तीस हजार बड़े-बड़े राजा, इत्यादि संसार श्रेष्ठ सम्पत्ति से वे युक्त थे । देव विद्याधर उनकी सेवा करते थे । वे बड़े सुन्दर थे, बड़े भाग्यशाली थे । जिनधर्म पर उनकी पूर्ण श्रद्धा थी । वे अपना नित्य–नैमित्तिक कर्म श्रद्धा के साथ करते, कभी उनमें विघ्न नहीं आने देते । इसके सिवा अपने विशाल राज्य का वे बड़ी नीति के साथ पालन करते और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते ।

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में पुरूषों के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहा था । सभा में बैठे हुये एक विनोदी देव ने उनसे पूछा— प्रभो ! जिस रूप गुण की आप बेहद तारीफ कर रहे हैं, भला, ऐसा रूप भारतवर्ष में किसी का है भी या केवल यह प्रसंशा ही मात्र है ?

उत्तर में इन्द्र ने कहा— हाँ, इस समय भी भारतवर्ष में एक ऐसा पुरूष है जिसके रूप की मनुष्य तो क्या देव भी तुलना नहीं कर सकते उसका नाम है सनतकुमार चक्रवर्ती ।

इन्द्र द्वारा देव दुर्लभ सनतकुमार चक्रवर्ती के रूपसौन्दर्य की प्रसंशा सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नाम के दो देव चक्रवर्ती की रूपसुधा के पान की बढ़ी हुई लालसा को किसी तरह नहीं रोक सके । वे उसी समय गुप्त वेश में स्वर्गधरा को छोड़कर भारतवर्ष में आये और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का वस्त्रालंकार रहित, पर उस हालत में भी त्रिभुवन प्रिय और सर्वसुन्दर रूप को देखकर उन्हें अपना शिर हिलाना ही पड़ा । उन्हें मानना पड़ा कि चक्रवर्ती का रूप वैसा ही सुन्दर है, जैसा इन्द्र ने कहा था और सचमुच यह रूप देवों के लिये भी दुर्लभ है । इसके बाद उन्होंने अपना असली वेष बनाकर पहरेदार से कहा तुम जाकर अपने महाराज से कहो कि आपके रूप को देखने के लिये स्वर्ग से दो देव आये हुए हैं । पहरेदार ने जाकर महाराज से देवों के आने का हाल कहा । चक्रवर्ती ने इसी समय अपने श्रृंगार भवन में पहुँचकर अपने को बहुत अच्छी तरह वस्त्राभूषणों से सिंगारा । इसके बाद वे सिंहासन पर आकर बैठे और देवों को राजसभा में आने की आज्ञा दी ।

देव राजसभा में आये और चक्रवर्ती का रूप उन्होंने देखा । देखते ही वे खेद के साथ बोल उठे, महाराज ! क्षमा कीजिये; हमें बड़े दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि स्नान करते समय वस्त्राभूषणरहित आपके रूप में जो सुन्दरता, जो माधुरी हमने छुपकर देख पाई थी, वह अब नहीं रही । इससे जैन धर्म का यह सिद्धान्त बहुत ठीक है कि संसार की सब वस्तुएँ क्षण-क्षण में परिवर्तित होती हैं सब क्षणभंगुर हैं ।

देवों की विस्मय उत्पन्न करने वाली बात सुनकर राजकर्मचारियों तथा और उपस्थित सभ्यों ने देवों से कहा—हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी नहीं दिखती, न जाने तुमने कैसे पहली सुन्दरता से इसमें कमी बतलाई है । सुनकर देवों ने सबको उसका निश्चय कराने के लिये एक जल भरा हुआ घड़ा मँगवाया और उसे सबको बतलाकर फिर उसमें- से तृण द्वारा एक जल की बूँद निकाल ली । उसके बाद फिर घड़ा सबको दिखलाकर उन्होंने उनसे पूछा—बतलाओ पहले जैसे घड़े में जल भरा था अब भी वैसा ही भरा है, पर तुम्हें पहले से इसमें कुछ विशेषता दिखती है क्या ? सबने एक मत होकर यही कहा कि नहीं । तब देवों ने राजा से कहा— महाराज, घड़ा पहले जैसा था, उसमें से एक बूँद जल की निकाल ली गई तब भी वह इन्हें वैसा ही दिखता है । इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा । वह कमी हमें दिखती है, पर इन्हें नहीं दिखती । यह कहकर दोनों देव स्वर्ग की ओर चले गये ।

चक्रवर्ती ने इस चमत्कार को देखकर विचारा— स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चाँदी आदि जितनी सम्पत्ति है, वह सब बिजली की तरह क्षणभर में देखते-देखते नष्ट होने वाली है और संसार दु:ख-का समुद्र है । यह शरीर भी, जिसे दिनरात प्यार किया जाता है, घिनौना है, संताप को बढ़ाने वाला है, दुर्गन्धयुक्त है और अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है । तब इस क्षणविनाशी शरीर के साथ कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा ? ये पाँच इन्द्रियों के विषय ठगों से भी बढ़कर ठग है । इनके द्वारा ठगाया हुआ प्राणी एक पिशाचिनी की तरह उनके वश होकर अपनी सब सुधि भूल जाता है और फिर जैसा वे नाच नचाते हैं नाचने लगता है मिथ्यात्व जीव का शत्रु है, उसके वश हुए जीव अपने आत्महित के करने वाले, संसार के दु:खों से छुटाकर अविनाशी सुख के देने वाले, पवित्र जिनधर्म से भी प्रेम नहीं करते । सच भी तो है- पित्तज्वर वाले पुरूष को दूध भी कड़वा ही लगता है । परन्तु मैं तो अब इन विषयों के जाल से अपने आत्मा को छुड़ाऊँगा । मैं

आज ही मोहमाया का नाशकर अपने हित के लिये तैयार होता हूँ । यह विचार कर वैरागी चक्रवर्ती ने जिनमंदिर में पहुँचकर सब सिद्धि की प्राप्ति कराने वाले भगवान् की पूजा की, याचकों को दयाबुद्धि से दान दिया और उसी समय पुत्र को राज्यभार देकर आप वन की ओर रवाना हो गये; और चारित्रगुप्त मुनिराज के पास पहुँचकर उनसे जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार का हित करने वाली है । इसके बाद वे पंचाचार आदि मुनिव्रतों का निरतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगे । उन्हें न शीत सताती है और न आताप सन्तापित करता है । न उन्हें भूख की परवा है और न प्यास की । वन के जीव-जन्तु उन्हें खूब सताते हैं, पर वे उससे अपने को कुछ भी दुखी ज्ञान नहीं करते । वास्तव में जैन साधुओं का मार्ग बड़ा कठिन है, उसे ऐसे ही धीर वीर महात्मा पाल सकते हैं । साधारण पुरूषों की उसके पास गम्य नहीं । चक्रवर्ती इस प्रकार आत्मकल्याण के मार्ग में आगे-आगे बढ़ने लगे ।
एक दिन की बात है कि वे आहार के लिये शहर में गये । आहार करते समय कोई प्रकृति-विरूद्ध वस्तु उनके खाने में आ गई । उसका फल यह हुआ कि उनका सारा शरीर खराब हो गया, उसमें अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो गई और सबसे भारी व्याधि तो यह हुई कि उनके सारे शरीर में कोढ़ फूट निकला । उससे रूधिर, पीप बहने लगा, दुर्गन्ध आने लगी । यह सब कुछ हुआ पर इन व्याधियों का असर चक्रवर्ती के मन पर कुछ भी नहीं हुआ । उन्होंने कभी इस बात की चिन्ता तक भी नहीं की कि मेरे शरीर की क्या दशा है ? किन्तु वे जानते थे कि—
बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम् ।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि ।।
इसलिये वे शरीर से सर्वथा निर्मोही रहे और बड़ी सावधानी से तपश्चर्या करते रहे— अपने व्रत पालते रहे ।
एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्म-प्रेम के वश हो मुनियों के पाँच प्रकार के चारित्र का वर्णन कर रहा था । उस समय एक मदनकेतु नामक देव ने उससे पूछा— प्रभो ! जिस चारित्र का आपने अभी वर्णन किया उसका ठीक पालने वाला क्या कोई इस समय भारतवर्ष में है ? उत्तर में इन्द्र ने कहा, सनत्कुमार चक्रवर्ती हैं । वे छह खण्ड पृथ्वी को तृण की तरह छोड़कर संसार, शरीर, भोग आदि से अत्यन्त उदास हैं और दृढ़ता के साथ तपश्चर्या तथा पंच प्रकार का चारित्र पालन करते हैं ।
मदन केतु सुनते ही स्वर्ग से चलकर भारत वर्ष में जहाँ सनत्कुमार मुनि तपश्चर्या करते थे, वहाँ पहुँचा । उसने देखा कि उनका सारा शरीर रोगों का घर बन रहा है, तब भी चक्रवर्ती सुमेरू के समान निश्चल होकर तप कर रहे हैं । उन्हें अपने दु:ख की कुछ परवा नहीं है । वे अपने पवित्र चारित्र का धीरता के साथ पालन कर पृथ्वी को पावन कर रहे हैं । उन्हें देखकर मदनकेतु बहुत प्रसन्न हुआ । तब भी वे शरीर से कितने निर्मोही हैं, इस बात की परीक्षा करने के लिये उसने वैद्य का वेष बनाया और लगा वन में घूमने । वह घूम-घूम कर यह चिल्लाता था कि ''मैं एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य हूँ, सब वैद्यों का शिरोमणि हूँ । कैसी ही भयंकर से भयंकर व्याधि क्यों न हो उसे देखते-देखते शरीर को क्षणभर में मैं निरोग कर सकता हूँ ।'' देखकर सनत्कुमार मुनिराज ने उसे बुलाया और पूछा तुम कौन हो ? किसलिये इस निर्जन वन में घूमते फिरते हो ? और क्या कहते हो ? उत्तर में देव ने कहा— मैं एक प्रसिद्ध वैद्य हूँ । मेरे पास अच्छी से अच्छी दवायें है । आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दें तो मैं क्षणमात्र में इसकी सब व्याधियाँ खोकर इसे सोने सरीखा बना सकता हूँ । मुनिराज बोले- हाँ तुम वैद्य हो ? यह तो बहुत अच्छा हुआ जो तुम इधर अनायास आ निकले । मुझे एक बड़ा भारी और महाभयंकर रोग हो रहा है, मैं उसके नष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ पर सफल प्रयत्न नहीं होता । क्या तुम उसे दूर कर दोगे ?
देवने कहा— निःसंदेह मैं आपके रोग को जड़ मूल से खो दूँगा । वह रोग शरीर से गलने वाला कोढ़ ही है न ।
मुनिराज बोले— नहीं, यह तो एक तुच्छ रोग है । इसकी तो मुझे कुछ भी परवा नहीं । जिस रोग की बाबत मैं तुमसे कह रहा हूँ, वह तो बड़ा ही भयंकर है ।
देव बोला- अच्छा, तब बतलाइये वह क्या रोग है, जिसे आप इतना भयंकर बतला रहे हैं ?
मुनिराज ने कहा- सुनो, वह रोग है संसार का परिभ्रमण । यदि तुम मुझे उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा । बोलो क्या कहते हो ?
सुनकर देव बड़ा लज्जित हुआ । वह बोला, मुनिनाथ ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं । आप ही इसके दूर करने को शूरवीर और बुद्धिमान हैं । तब मुनिराज ने कहा— भाई, जब इस रोग को तुम नष्ट नहीं कर सकते तब मुझे तुम्हारी आवश्यकता भी नहीं । कारण विनाशीक, अपवित्र निर्गुण और दुर्जन के समान इस शरीर की व्याधियों को तुमने नष्ट कर भी दिया तो उसकी मुझे जरूरत नहीं । जिस

व्याधि का वमन के स्पर्शमात्र से ही जब क्षय हो सकता है, तब उसके लिये बड़े-बड़े वैद्य-शिरोमणि की और अच्छी-अच्छी दवाओं की आवश्यकता ही क्या है ? यह कहकर मुनिराज ने अपने वमन द्वारा एक हाथ के रोग को नष्टकर उसे सोने-सा निर्मल बना दिया । मुनि की इस अतुल शक्ति को देखकर देव भौंचकसा रह गया । वह अपने कृत्रिम वेष को पलटकर मुनिराज से बोला— भगवन् ! आपके विचित्र और निर्दोष चारित्र की तथा शरीर में निर्मोहपने-की सौधर्मेन्द्र ने धर्मप्रेम के वश होकर जैसी प्रशंसा की थी, वैसा ही मैंने आपको पाया । प्रभो ! आप धन्य हैं, संसार में आपही का मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देनेवाला है । इस प्रकार मदनकेतु सनत्कुमार मुनिराज की प्रशंसा कर और बड़ी भक्ति के साथ उन्हें बारम्बार नमस्कार कर स्वर्ग में चला गया ।
इधर सनत्कुमार मुनिराज क्षणक्षण में बढ़ते हुए वैराग्य के साथ अपने चारित्र को क्रमश: उन्नत करने लगे,अंत में शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और इन्द्र धरणेन्द्रादि द्वारा पूज्य हुए ।
इसके बाद वे संसार दु:खरूपी अग्नि से झुलसते हुए अनेक जीवों को सद्धर्मरूपी अमृत की वर्षा से शान्त कर उन्हें युक्ति का मार्ग बतलाकर, और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाशकर मोक्ष में जा विराजे, जो कभी नाश नहीं होने वाला है ।
उन स्वर्ग और मोक्ष-सुख देने वाले श्रीसनत्कुमार केवली को हम भक्ति और पूजन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं । वे हमें भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ।
जिस प्रकार सनत्कुमार मुनिराज ने सम्यक्चारित्र का उद्योत किया उसी तरह सब भव्य पुरूषों को भी करना उचित है । वह सुख का देने वाला है ।
श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छ में चारित्रचूड़ामणी श्री मल्लिभूषण भट्टारक हुए । सिंहनन्दी मुनि उनके प्रधान शिष्यों में थे । वे बड़े गुणी थे और सत्पुरूषों का आत्मकल्याण का मार्ग बतलाते थे । मुझे भी संसार समुद्र से पार करें ।

समन्त भद्राचार्य की कथा

समन्त भद्राचार्य की कथा
कथा :
संसार के द्वारा पूज्य और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले श्री जिनभगवान् को नमस्कार कर श्री समन्त भद्राचार्य की पवित्र कथा लिखता हूँ, जो कि सम्यक्चारित्र की प्रकाशक है ।
भगवान् समन्त भद्र का पवित्र जन्म दक्षिण प्रान्त के अन्तर्गत काँची नाम की नगरी में हुआ था । वे बड़े तत्वाज्ञानी और न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों के भी बड़े भारी विद्वान् थे । संसार में उनकी बहुत ख्याति थी । वे कठिन से कठिन चारित्र का पालन करते, दुस्सह तप तपते और बड़े आनन्द से अपना समय आत्मानुभव, पठन-पाठन, ग्रन्थ-रचना आदि में व्यतीत करते ।
कर्मों का प्रभाव दुर्निवार है । उसके लिये राजा हो या रंक हो, धनी हो या निर्धन हो, विद्वान् हो या मूर्ख हो, साधु हो या गृहस्थ हो सब समान हैं, सब को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है । भगवान् समन्तभद्र के लिये भी एक ऐसा ही कष्ट का समय आया । वे बड़े भारी तपस्वी थे, विद्वान् थे, पर कर्मों ने इन बातों की कुछ परवा न कर उन्हें अपने चक्र में फँसाया ।
असाता-वेदनीय के तीव्र उदय से भस्म-व्याधि नाम का एक भयंकर रोग उन्हें हो गया । उससे वे जो कुछ खाते वह उसी समय भस्म हो जाता और भूख वैसी की वैसी बनी रहती । उन्हें इस बात का बड़ा कष्ट हुआ कि हम विद्वान् हुए और पवित्र जिन-शासन का संसार भर में प्रचार करने के लिये समर्थ भी हुए तब भी उसका कुछ उपकार नहीं कर पाते । इस रोग ने असमय में बड़ा कष्ट पहुँचाया । अस्तु ! अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे इसकी शान्ति हो । अच्छे-अच्छे स्निग्ध, सचिक्कण और पौष्टिक पक्वान्न का आहार करने से इसकी शान्ति हो सकेगी; इसलिये ऐसे भोजन का योग मिलाना चाहिये । पर यहाँ तो इसका कोई साधन नहीं दीख पड़ता ।
इसलिये जिस जगह, जिस तरह ऐसे भोजन की प्राप्ति हो सकेगी मैं वहीं जाऊँगा और वैसा ही उपाय करूँगा । यह विचार कर वे काँची से निकले और उत्तर की ओर रवाना हुए । कुछ दिनों तक चलकर वे पुण्ढ नगर में आये ।
वहाँ बौद्धों की एक बड़ी भारी दानशाला थी । उसे देखकर आचार्य ने सोचा, यह स्थान अच्छा है । यहाँ अपना रोग नष्ट हो सकेगा । इस विचार के साथ ही उन्होंने बुद्ध-साधु का वेष बनाया और दानशाला में प्रवेश किया । पर वहाँ उन्हें उनकी व्याधि-शान्ति के योग्य भोजन नहीं मिला । इसलिये वे फिर उत्तर की ओर आगे बढ़े और अनेक शहरों में घूमते हुए कुछ दिनों के बाद दशपुर-मन्दोसोर में आये । वहाँ

उन्होंने भागवत-वैष्णवों का एक बड़ाभारी मठ देखा । उसमें बहुत से भागवत-सम्प्रदाय (परिव्राजक) के साधु रहते थे । उनके भक्त लोग उन्हें खूब अच्छा-अच्छा भोजन देते थे । यह देखकर उन्होंने बौद्ध-वेष को छोड़कर भागवत-साधु का वेष ग्रहण कर लिया ।
वहाँ वे कुछ दिनों तक रहे, पर उनकी व्याधि के योग्य उन्हें वहाँ भी भोजन नहीं मिला । तब वे वहाँ से भी निकलकर और अनेक देशों और पर्वतों में घूमते हुए बनारस आये । उन्होंने यद्यपि बाह्य में जैनमुनियों के वेष को छोड़कर कुलिंग धारण कर रक्खा था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदय में सम्यग्दर्शन की पवित्र ज्योति जगमगा रही थी । इस वेष में वे ठीक ऐसे जान पड़ते थे, मानों कीचड़ से भरा हुआ कान्तिमान् रत्न हो । इसके बाद आचार्य योगलिंग धारणकर शहर में घूमने लगे ।
उस समय बनारस के राजा थे शिवकोटी थे । वे शिव के बड़े भक्त थे । उन्होंने शिव का एक विशाल मंदिर बनवाया था । वह बहुत सुन्दर था । उसमें प्रतिदिन अनेक प्रकार के व्यंजन शिव को भेंट चढ़ा करते थे । आचार्य ने देखकर सोचा कि यदि किसी तरह अपनी इस मन्दिर में कुछ दिनोंके लिये स्थिति हो जाय, तो निस्सन्देह अपना रोग शान्त हो सकता है । यह विचार वे कर ही रहे थे कि इतने में पुजारी लोग महादेव की पुजा करके बाहर आये और उन्होंने एक बड़ी भारी व्यंजनों की राशि, जो कि शिव की भेंट चढ़ाई गई थी, लाकर बाहर रख दी । उसे देखकर आचार्य ने कहा, क्या आप लोगों में ऐसी किसी की शक्ति नहीं जो महाराज के भेजे हुए इस दिव्य-भोजन को शिव की पूजा के बाद शिव को ही खिला सकें ? तब उन ब्राह्माणों ने कहा, तो क्या आप अपने में इस भोजन को शिव को खिलाने की शक्ति रखते हैं ? आचार्य ने कहा -- हाँ मुझमें ऐसी शक्ति है । सुनकर उन बेचारों को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने उसी समय जाकर यह हाल राजा से कहा -- प्रभो ! आज एक योगी आया है । उसकी बातें बड़ी विलक्षण हैं । हमने महादेव की पूजा करके उनके लिये चढ़ाया हुआ नैवेद्य बाहर लाकर रक्खा, उसे देखकर वह योगी बोला कि आश्चर्य है, आप लोग इस महा-दिव्य भोजन को पूजन के बाद महादेव को न खिलाकर पीछे उठा ले आते हो ! भला ऐसी पूजा से क्या लाभ ? उसने साथ ही यह भी कहा कि मुझमें ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा यह सब भोजन मैं महादेव को खिला सकता हूँ । यह कितने खेद की बात है कि जिसके लिये इतना आयोजन किया जाता है, इतना खर्च उठाया जाता है, वह यों ही रह जाय और दूसरे ही उससे लाभ उठावें ? यह ठीक नहीं । इसके लिये कुछ प्रबन्ध होना चाहिये, जो जिसके लिये इतना परिश्रम और खर्च उठाया जाता है वही उसका उपयोग भी कर सके ।
महाराज को भी इस अभूतपूर्व बात के सुनने से बड़ा अचंभा हुआ । वे इस विनोद को देखने के लिये उसी समय अनेक प्रकार के सुन्दर और सुस्वादु पकवान अपने साथ लेकर शिव मन्दिर गये और आचार्य से बोले -- योगिराज ! सुना है कि आपमें कोई ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा शिवमूर्ति को भी आप खिला सकते हैं, तो क्या यह बात सत्य है तो लीजिये यह भोजन उपस्थित है, इसे महादेव की खिलाइये ।
उत्तर में आचार्य ने 'अच्छी बात है' यह कहकर राजा के लाये हुए सब पकवानों की मंदिर के भीतर रखवा दिया और सब पुजारी पंडों को मंदिर बाहर निकालकर भीतर से आपने मंदिर के किवाड़ बन्द कर लिये । आप भूखे तो खूब थे ही इसलिये थोड़ी ही देर में सब आहार को हजमकर आपने झट से मंदिर का दरवाजा खोल दिया और निकलते ही नौकरों को आज्ञा की कि सब बरतन बाहर निकाल लो । महाराज इस आश्चर्य को देखकर भौंचक से रह गये । वे राजमहल लौट गये । उन्होंने बहुत तर्क-वितर्क उठाये पर उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया कि वास्तव में बात क्या है ?
अब प्रतिदिन एक से एक बढ़कर पक्वान आने लगे और आचार्य महाराज भी उनके द्वारा अपनी व्याधि नाश करने लगे । इस तरह पूरे छह महिना बीत गये । आचार्य का रोग भी नष्ट हो गया ।
एक दिन आहारराशि को ज्यों की त्यों बनी हुई देखकर पुजारी-पण्डो ने उनसे पूछा, योगिराज ! क्या है ? क्यों आज यह सब आहार यों ही पड़ा रहा ? आचार्य ने उत्तर दिया -- राजा की परम भक्ति से भगवान् बहुत खुश हुए, वे अब तृप्त हो गये हैं । पर इस उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । उन्होंने जाकर आहार के बाकी बचे रहने का हाल राजा से कहा । सुनकर राजा ने कहा -- अच्छा इस बात का पता लगाना चाहिये, कि वह योगी मंदिर के किवाड़ देकर भीतर क्या करता है ? जब इस बात का ठीक-ठीक पता लग जाय तब उससे भोजन के बचे रहने का कारण पूछा जा सकता है और फिर उसपर विचार भी किया जा सकता है । बिना ठीक हाल जाने उससे कुछ पूछना ठीक नहीं जान पड़ता ।
एक दिन की बात है कि आचार्य कहीं गये हुए थे और पीछे से उन सबने मिलकर एक चालाक लड़के को महादेव के अभिषेक जल के

निकलने की नाली में छुपा दिया और उसे खूब फूल पत्तों से ढक दिया । वह वहाँ छिपकर आचार्य की गुप्त क्रिया देखने लगा ।

सदा के माफिक आज भी खूब अच्छे-अच्छे पक्वान्न आये । योगिराज ने उन्हें भीतर रखवाकर भीतर से मंदिर का दरवाजा बन्द कर लिया और आप लगे भोजन करने । जब आपका पेट भर गया, तब किवाड़ खोलकर आप नौकरों से उस बचे सामान को उठा लेनेके लिये कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि सामने ही खड़े हुए राजा और ब्राह्मणों पर पड़ी । आज एकाएक उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । ये झट से समझ गये कि आज अवश्य कुछ न कुछ दाल में काला है । इतने ही में वे ब्राह्मण उनसे पूछ बैठे कि योगिराज ! क्या बात है, जो कई दिन से बराबर आहार बचा रहता है ? क्या शिवजी अब कुछ नहीं खाते ? जान पड़ता है, वे अब खूब तृप्त हो गये हैं । इसपर आचार्य कुछ कहना ही चाहते थे कि वह धूर्त लड़का उन फूल पत्तों के नीचे से निकलकर महाराज के सामने आ खड़ा हुआ और बोला -- राज राजेश्वर ! वे योगी तो यह कहते थे कि मैं शिवजी को भोजन कराता हूँ, पर इनका यह कहना बिलकुल झूठ है । असल में ये शिवजी को भोजन न कराकर स्वयं ही खाते है । इन्हें खाते हुए मैंने अपनी आँखों से देखा है, इन सबकी आँखों में आपने तो बड़ी बुद्धिमानी से धूल झोंकी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप योगी नहीं, किन्तु एक बड़े भारी धूर्त हैं । और महाराज ! इनकी धूर्तता तो देखिये, जो शिवजी को हाथ जोड़ना तो दूर रहा उल्टा ये उनका अविनय करते है ।

इतने में वे ब्राह्मण भी बोल उठे, महाराज ! जान पड़ता है यह शिव-भक्त भी नहीं हैं । इसलिये इससे शिवजी को हाथ जोड़ने के लिये कहा जाय, तब सब पोल स्वयं खुल जायेगी । सब कुछ सुनकर महाराज ने आचार्यसे कहा -- अच्छा जो कुछ हुआ उसपर ध्यान न देकर हम यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारा असल धर्म क्या है ? इसलिये तुम शिवजी को नमस्कार करो । सुनकर भगवान् समन्तभद्र बोले -- राजन् ! मैं नमस्कार कर सकता हूँ, पर मेरा नमस्कार स्वीकार कर लेने को शिवजी समर्थ नहीं हैं । कारण वे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि विकारों से दूषित हैं । जिस प्रकार पृथ्वी के पालन का भार एक सामान्य मनुष्य नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र ओर निर्दोष नमस्कृति को एक राग-द्वेषादि विकारों से अपवित्र देव नहीं सह सकता । किन्तु जो क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह दोषों से रहित हैं, केवलज्ञानरूपी प्रचण्ड तेज का धारक है और लोकालोक का प्रकाशक है, वही जिनसूर्य मेरे नमस्कार के योग्य है और वही उसे सह भी सकता है । इसलिये मैं शिवजी को नमस्कार नहीं करूँगा इसके सिवा भी यदि आप आग्रह करेंगे तो आपको समझ लेना चाहिये कि इस शिवमूर्ति को कुशल नहीं है, यह तुरन्त ही फट पड़ेगी । आचार्य की इस बात से राजा का विनोद और भी बढ़ गया । उन्होंने कहा -- योगिराज ! आप इसकी चिन्ता न करें, यह मूर्ति यदि फट पड़ेगी तो इसे फट पड़ने दीजिये, पर आपको तो नमस्कार करना ही पड़ेगा । राजा का बहुत ही आग्रह देख आचार्य ने 'तथास्तु' कहकर कहा, अच्छा तो कल प्रात:काल ही मैं अपनी शक्ति का आपको परिचय कराऊँगा । 'अच्छी बात है', यह कहकर राजा ने आचार्य को मंदिर में बन्द करवा दिया और मंदिर के चारों ओर नंगी तलवार लिये सिपाहियों का पहरा लगवा दिया । इसके बाद 'आचार्य की सावधानी के साथ देखरेख की जाय, वे कहीं निकल न भागें' इस प्रकार पहरेदारों को खूब सावधानकर आप राजमहल लौट आये ।

आचार्य ने कहते समय तो कह डाला, पर अब उन्हें खयाल आया कि मैंने यह ठीक नहीं किया । क्यों मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे जल्दी से ऐसा कह डाला । यदि मेरे कहने के अनुसार शिवजी की मूर्ति न फटी तब मुझे कितना नीचा देखना पड़ेगा और उस समय राजा क्रोध में आकर न जाने क्या कर बैठें ! खैर उसकी भी कुछ परवा नहीं, पर इससे धर्म की कितनी हँसी होगी । जिस परमात्मा की राजा के सामने मैं इतनी प्रशंसा कर चुका हूँ, उसपर मेरे झूठ को देखकर सर्व साधारण क्या विश्वास करेंगे, आदि एक पर एक चिन्ता उनके हृदय में उठने लगी । पर अब हो भी क्या सकता था । आखिर उन्होंने यह सोचकर कि जो होना था वह तो हो चुका और कुछ बाकी है वह कल सबेरे हो जायगा, अब व्यर्थ चिन्ता से लाभ क्या । जिनभगवान् की आराधना में अपने ध्यान को लगाया और बड़े पवित्र भावों से उनकी स्तुति करने लगे ।

आचार्य की पवित्र-भक्ति और श्रद्धा के प्रभाव से शासनदेवी का आसन कम्पित हुआ । वह उसी समय आचार्य के पास आई और उनसे बोली -- 'हे जिनचरण-कमलों के भ्रमर ! हे प्रभो ! आप किसी बात की चिन्ता न कीजिये । विश्वास रखिये कि जैसा आपने कहा है वह अवश्य ही होगा । आप 'स्वयंभुवाभूतहितेन-भूतले' इस पद्यांश को लेकर चतुर्विंशति तीर्थकरों का एक स्तवन रचियेगा । उसके प्रभाव से आपका कहा हुआ सत्य होगा और शिवमूर्ति भी फट पड़ेगी । इतना कहकर अम्बिका-देवी अपने स्थान पर चली गई ।

आचार्य को देवी के दर्शन से बड़ी प्रसन्नता हुई । उनके हृदय की चिन्ता मिटी, आनन्द ने अब उसपर अपना अधिकार किया । उन्होंने उसी

समय देवी के कहे अनुसार एक बहुत सुन्दर जिनस्तवन बनाया, जो कि इस समय 'स्वयंभूस्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है ।

रात सुखपूर्वक बीती । प्रात:काल हुआ । राजा भी इसी समय वहाँ आ उपस्थित हुआ । उसके साथ और भी बहुत से अच्छे-अच्छे विद्वान् आये । अन्य साधारण जन-समूह भी बहुत इकठ्टा हो गया । राजा ने आचार्य को बाहर ले आने की आज्ञा दी । वे बाहर लाये गये । अपने सामने आते हुए आचार्य को खूब प्रसन्न और उनके मुहँ को सूर्य के समान तेजस्वी देखकर राजा ने सोचा इनके मुहँ पर तो चिन्ता के बदले स्वर्गीय तेज की छटायें छूट रही हैं, इससे जान पड़ता है ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे । अस्तु ! तब भी देखना चाहिये कि ये क्या करते हैं । इसके साथ ही उसने आचार्य से कहा -- योगिराज ! कीजिये नमस्कार, जिससे हम भी आपकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा सकें ।

राजा की आज्ञा होते ही आचार्य ने संस्कृत भाषा में एक बहुत ही सुन्दर और **अर्थ**-पूर्ण जिन-स्तवन आरम्भ किया । स्तवन रचते-रचते वहाँ चन्द्रप्रभ भगवान् की चतुर्मुख प्रतिमा प्रगट हुई । इस आश्चर्य के साथ ही जय-ध्वनि के मारे आकाश गूंज उठा ।

आचार्य के इस अप्रतिम प्रभाव को देखकर उपस्थित जन-समूह को दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी । सबके-सब आचार्य की ओर देखते के देखते ही रह गये ।

इसके बाद राजा ने आचार्य महाराजसे कहा -- योगिराज ! आपकी शक्ति, आपका प्रभाव, आपका तेज देखकर हमारे आश्चर्य का कुछ ठिकाना नहीं रहता । बतलाइये तो आप हैं कौन ? और आपने वेष तो शिव-भक्त का धारण कर रक्खा है, पर आप शिवभक्त हैं नहीं ।

सुनकर आचार्य ने नीचे लिखे दो श्लोक पढ़े --

कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुलम्बुिशे पाण्डुपिण्ड:,
पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्र ।
बाणारस्यामभूवं शशधरधवल: पाण्डुराङ्गस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्तिशक्ति: स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।।
पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे मेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काँचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटै: संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।

भावार्थ –- मैं काँची में नग्न दिगम्बर साधु होकर रहा । इसके बाद शरीर में रोग हो जाने से पुंढ्र नगर में बुद्धभिक्षुक, दशपुर (मन्दोसोर) में मिष्टान्न भोजी परिव्राजक और बनारस में शैव-साधु बनकर रहा । राजन् मैं जैन निग्रन्थवादी स्याद्वादी हूँ । जिसकी शक्ति वाद करने की हो, वह मेरे सामने आकर वाद करें।

पहले मैंने पाटलीपुत्र (पटना) में वादभेरी बजाई । इसके बाद मालवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका-बंगाल) काँचीपुर और विदिश नामक देश में भेरी बजाई । अब वहाँ से चलकर मैं बड़े-बड़े विद्वानों से भरे हुए इस करहाटक (कराड़जिला सतारा) में आया हूँ । राजन् शास्त्रार्थ करने की इच्छा से मैं सिंह के समान निर्भय होकर इधर-उधर घूमता ही रहता हूँ ।

यह कहकर ही समन्तभद्र-स्वामी ने शैव-वेष छोड़कर पीछे जिनमुनि वेष ग्रहण किया । जिन्हें पाण्डित्य का अभिमान था, अनेकान्त-स्याद्वाद के बल से पराजित किया और जैन-शासन की खूब प्रभावना की, जो स्वर्ग ओर मोक्ष की देनेवाली है । भगवान् समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं । उन्होंने कुदेव को नमस्कार न कर सम्यग्दर्शन का खूब प्रकाश किया, सबके हृदय पर उसकी श्रेष्ठता अंकित कर दी । उन्होंने अनेक ऐकान्तवादियों को जीतकर सम्यग्ज्ञान को भी उद्योत किया ।

आश्चर्य में डालनेवाली इस घटना को देखकर राजा की जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा हुई । विवेक-बुद्धि ने उसके मन को खूब ऊँचा बना दिया और चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाने से उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह बह निकला । उसने उसे सब राज्य-भार छोड़ देने के लिये बाध्य किया । शिवकोटी ने क्षणभर में सब माया-मोह के जाल को तोड़कर जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । साधु बनकर उन्होंने गुरू के पास खूब शास्त्रों का अभ्यास किया । इसके बाद उन्होंने श्रीलोहाचार्य के बनाये हुए चौरासी हजार श्लोक प्रमाण आसधना-ग्रन्थ को संक्षेप में लिखा । वह इसलिये कि अब दिन-पर-दिन मनुष्यों की आयु और बुद्धि घटती जाती है, और वह ग्रन्थ बड़ा और गंभीर था, सर्व

साधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे । शिवकोटी-मुनि के बनाये हुए ग्रन्थ के चवालीस भाग हैं और उसकी श्लोक-संख्या साढ़े तीन हजार है । उससे संसार का बहुत उपकार हुआ ।

वह आराधना-ग्रन्थ और समन्तभद्राचार्य तथा शिवकोटी मुनिराज मुझे सुख के देनेवाले हों । तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम रत्नों के समुद्र और कामरूपी प्रचंड बलवान् हाथी के नष्ट करने को सिंह समान विद्यानन्दी गुरू और छहों शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् तथा श्रुतज्ञान के समुद्र श्रीमल्लिभूषण मुनि मुझे मोक्षश्री प्रदान करें ।

संजयन्त मुनि की कथा

संजयन्त मुनि की कथा

कथा :

सुख के देने वाले श्रीजिनभगवान के चरण-कमलों को नमस्कार श्री संजयन्त मुनिराज की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक्-तप का उद्योत किया था ।

सुमेरू के पश्चिम की ओर विदेह के अन्तर्गत गन्धमालिनी नाम का देश है । उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है । जिस समय की बात हम लिख रहे हैं उस समय उसके राजा वैजयन्त थे । उसकी महारानी का नाम भव्य था । उनके दो पुत्र थे । उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त ।

एक दिन की बात है कि बिजली के गिरने से महाराज वैजयन्त का प्रधान हाथी मर गया । यह देख उन्हें संसार से बडा वैराग्य हुआ । उन्होंने राज्य छोड़ने का निश्चयकर अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उन्हें राज्यभार सौंपना चाहा; तब दोनों भाइयों ने उनसे कहा -- पिताजी, राज्य तो संसार के बढ़ाने का कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुख की जगह दु:ख भोगना पड़ेगा । इसलिये हम तो इसे नहीं लेते । आप भी तो इसीलिये छोड़ते हैं न ? कि वह बुरा है, पाप का कारण है । इसीलिये हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानों को, आत्मा हित के चाहनेवालों को, राज्य सरीखी झंझटों को सिर पर उठाकर अपनी स्वाभाविक शान्ति को नष्ट नहीं करना चाहिये । यही विचारकर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते । बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्माहित करेंगे ।

वैजयन्त ने पुत्रों पर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें साधु बनने की आज्ञा दे दी और राज्य का भार संजयन्त के पुत्र वैजयन्त को देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये । साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये ।

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिन से कठिन परीषह सहने लगे । अन्त में ध्यानरूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर उन्होंने लोकाकोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया । उस समय उनके ज्ञान-कल्याणक की पूजा करने को स्वर्ग से देव आये । उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरता को देखकर संजयन्त के छोटे भाई जयन्त ने निदान किया – 'मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूँ कि उसके प्रभाव से मुझे दूसरे जन्म में ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो ।' वही हुआ । उसका किया निदान उसे फला । वह आयु के अन्त में मरकर धरणेन्द्र हुआ ।

इधर संजयन्त मुनि पन्द्रह-पन्द्रह दिन के, एक-एक महीना के उपवास करने लगे, भूख प्यास की कुछ परवा न कर बड़ी धीरता के साथ परीषह सहने लगे । शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, तब भी भयंकर वनों में सुमेरू के समान निश्चल रहकर सूर्य की ओर मुँह किये वे तपश्चर्या करने लगे । गरमी के दिनों में अत्यन्त गरमी पड़ती, शीत के दिनों में जाड़ा खूब सताता, वर्षा के समय मूसलाधार पानी वर्षा करता और आप वृक्षों के नीचे बैठकर ध्यान करते । वन के जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टों की कुछ परवा न कर आप सदा आत्मध्यान में लीन रहते ।

एक दिन की बात है, संजयन्त मुनिराज तो अपने ध्यान में डूबे हुए थे कि उसी समय एक विद्युददंष्ट्र नाम का विद्याधर आकाश-मार्ग से उधर होकर निकला । पर मुनि के प्रभाव से उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया । एकाएक विमान को रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने नीचे की ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दीख पड़े । उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य क्रोध के रूप में परिणत हो गया । उसने मुनिराज को अपने विमान को रोकनेवाले समझकर उनपर नाना तरह के भयंकर उपद्रव करना शुरू किया उससे जहाँ तक बना उसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया । पर मुनिराज उसके उपद्रवों से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए । वे जैसे निश्चल थे वैसे ही खड़े रहे । सच है वायु का कितना ही भयंकर वेग क्यों न चले, पर सुमेरू हिलता तक भी नहीं ।

इन सब भयंकर उपद्रवों से भी जब उसने मुनिराज को पर्वत समान अचल देखा तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया । वह अपने विद्या-बल से मुनिराज को वहाँ से उठा ले चला और भारत-वर्ष में पूर्व दिशा की ओर बहनेवाली सिंहवती नाम की एक बड़ी भारी नदी में, जिसमें कि पाँच बड़ी-बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया । भाग्य से उस प्रान्त के लोग भी बड़े पापी थे । सो उन्होंने मुनि को एक राक्षस समझकर और सर्व-साधारण में यह प्रचार कर, कि यह हमें खाने के लिये आया है, पत्थरों से खूब मारा । उन्होंने पूर्ण आत्मबल के प्रभाव से हृदय को लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया । क्योंकि सच्चे साधु वे ही हैं --

तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रथवा,
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ ।
सुख वा दु:खं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा,
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् । ।

जिनके पास रागद्वेष का बढ़ाने वाला परिग्रह नहीं है, जो निर्ग्रन्थ हैं, और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओं के लिये तृण हो या रत्न, शत्रु हो या मित्र, उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई, वे जीवें अथवा मर जायें, उन्हें सुख हो या दु:ख और उनके रहने को श्मशान हो या महल, पर उनकी दृष्टि सब पर समान रहेगी । वे किसी से प्रेम या द्वेष न कर सब पर समभाव रक्खेंगे । यही कारण था कि संजयन्त मुनि ने विद्याधर-कृत सब कष्ट समभाव से सहकर अपने अलौकिक धैर्य का परिचय दिया । इस अपूर्व पद को प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मों का भी नाश कर वे मोक्ष चले गये । उनके निर्वाण-कल्याण की पूजन करने को देव आये । वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनि का छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था । धरणेन्द्र को अपने भाई के शरीर की दुर्दशा देखकर बड़ा क्रोध आया । उसने भाई को कष्ट पहुँचाने का कारण वहाँ के नगरवासियों को समझकर उन सबको अपने नागपाश से बाँध लिया और लगा उन्हें दु:ख देने । नगरवासियों ने हाथ जोड़कर उससे कहा -- प्रभो हम तो इस अपराध से सर्वथा निर्दोष हैं । आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो । यह सब कर्म तो पापी विद्युद्दष्ट्र विद्याधर का है । आप उसे ही पकडिये न ? सुनते ही धरणेन्द्र विद्याधर को पकड़ने के लिये दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे उसने नागपाश से बाँध लिया । इसके बाद उसे खूब मार पीटकर धरणेन्द्र ने समुद्र में डालना चाहा ।

धरणेन्द्र का इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नाम के दयालु देव ने उससे कहा -- तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो ? इसकी तो संजयन्त मुनि के साथ कोई चार भव से शत्रुता चली आती है । इसी से उसने मुनि पर उपसर्ग किया था ।

धरणेन्द्र बोला यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये ? दिवाकर देव ने तब यों कहना आरंभ किया ।

पहले समय में भारतवर्ष में एक सिंहपुर नाम का शहर था । उसके राजा सिंहसेन थे । वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीति के अच्छे जानकार थे । उनकी रानी का नाम रामदत्ता था । वह बुद्धिमान और बड़ी सरल स्वभाव की थी । राजमंत्री का नाम श्रीभूति था । वह बड़ा कुटिल था । दूसरों को धोखा देना, उन्हें ठगना यह उसका प्रधान कर्म था ।

एक दिन पद्मखंडपुर के रहने वाले सुमित्र सेठ का पुत्र समुद्रदत्त श्रीभूति के पास आया और उससे बोला—महाशय, मैं व्यापार के लिये विदेश जा रहा हूँ । देव की विचित्र लीला से न जाने कौन समय कैसा आवे ? इसलिये मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षा में रक्खें तो अच्छा होगा और मुझ पर भी आपको बड़ी दया होगी । मैं पीछा आकर अपने रत्न ले लूँगा ।'' यह कहकर और श्रीभूति को रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया ।

कई वर्ष बाद समुद्रदत्त पीछा लौटा । वह बहुत धन कमाकर लाया था । जाते समय जैसा उसने सोचा था, दैव की प्रतिकूलता से वही घटना उसके भाग्य में घटी । किनारे लगते-लगते जहाज फट पड़ा । सब माल असबाब समुद्र के विशाल उदर में समा गया । पुण्योदय से समुद्रदत्त को कुछ ऐसा सहारा मिल गया, जिससे उसकी जान बच गई । वह कुशलपूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट आया ।

दूसरे दिन वह श्रीभूति के पास गया और अपने पर जैसी विपत्ति आई थी उसे उसने आदि से अन्त तक कहकर श्रीभूति से अपने अमानत रखे हुए रत्न पीछे माँगे । श्रीभूति ने आँखें चढ़ाकर कहा कैसे रत्न तूँ मुझसे माँगता है ? जान पड़ता है जहाज डूब जाने से तेरा मस्तक बिगड़ गया है । श्रीभूति ने बेचारे समुद्रदत्त की मनमानी फटकार बताकर और अपने पास बैठे हुए लोगों से कहा देखिये न साहब, मैंने आपसे अभी ही कहा था न ? कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और झूठा ही बखेड़ाकर झगड़ा करेगा । वही सत्य निकला । कहिये तो ऐसे दरिद्री के पास रत्न आ कहाँ से सकते ? भला, किसी ने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं । यों ही व्यर्थ गले

पड़ता है । ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को निकलवा दिया । बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्ति का मारा हुआ था, इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी उसे भी पापी श्रीभूति ने नष्ट कर दिया । वह सब ओर से अनाथ हो गया । निराशा के अथाह समुद्र में गोते खाने लगा । पहले उसे अच्छा होने पर भी श्रीभूति ने पागल बना डाला था; पर अब वह सचमुच ही पागल हो गया वह शहर में घूम-घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूति ने मेरे पाँच रत्न ले लिये और अब वह उन्हें देता नहीं है । राजमहल के पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं सुनाई नहीं हुई । सब उसे पागल समझकर दुतकार देते थे । अन्त में निरूपाय हो उसने एक वृक्ष पर चढ़कर, जो कि रानी के महल के पीछे ही था, पिछली रात को बड़े जोर से चिल्लाना आरंभ किया । रानी ने बहुत दिनों तक तो उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया । उसने भी समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा । पर एक दिन उसे ख्याल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता ? सारे दिन ही इसी तरह आकर क्यों न चिल्लाता फिरता ? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है । यह विचार कर उसने एक दिन राजा से कहा -- प्राणनाथ ! आप इस चिल्लानेवाले को पागल बताते हैं, पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती । क्योंकि यदि वह पागल होता तो न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता । इसलिये इसका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये कि बात क्या है ? ऐसा न हो कि अन्याय से बेचारा एक गरीब बिना मौत मारा जाय । रानी के कहने के अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं । समुद्रदत्त ने जैसी अपने पर बीती थी, वह ज्यों-की-त्यों महाराज से कह सुनाई । तब रत्न कैसे प्राप्त किये जाँय, इसके लिये राजा को चिन्ता हुई । रानी बड़ी बुद्धिमती थी । इसलिये रत्नों के मँगा लेने का भार उसने अपने पर लिया । रानी ने एक दिन श्रीभूति को बुलाया और उससे कहा मैं आपकी शतरंज खेलने में बड़ी तारीफ सुना करती हूँ । मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूँ । आज बड़ा अच्छा सुयोग मिला जो आप यहीं पर उपस्थित हैं । यह कहकर उसने दासी को शतरंज ले आने की आज्ञा दी ।

श्रीभूति रानी की बात सुनते ही घबरा गया । उसके मुँह से एक शब्द तक निकलना मुश्किल पड़ गया । उसने बड़ी घबराहट के साथ काँपते-काँपते कहा -- महारानीजी, आज आप यह क्या कह रही हैं । मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूँ ? यह मुझसे न होगा । भला, राजा साहब सुन पावें तो मेरा क्या हाल हो ?

रानी ने कुछ मुस्कराते हुए कहा -- वाह, आप तो बड़े ही डरते हैं । आप घबराइये मत । मैंने खुद राजा साहब से पूछ लिया है । और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं । इसमें डर की बात ही क्या है । मैं तो केवल विनोदवश होकर खेल रहीं हूँ ।

'राजा की मैंने स्वयं आज्ञा ले ली' जब रानी के मुँह से यह वाक्य सुना तब श्रीभूति के जी में जी आया और वह रानी के साथ खेलने के लिये तैयार हुआ ।

दोनों का खेल आरम्भ हुआ । पाठक जानते हैं कि रानी के लिये खेल का तो केवल बहाना था । असल में तो उसे अपना मतलब गाँठना था । इसीलिये उसने यह चाल चली थी । रानी खेलते-खेलते श्रीभूति को अपनी बातों में लुभाकर उसके घर की सब बातें जान ली और इशारे से अपनी दासी को कुछ बातें बतलाकर उसे श्रीभूति के यहाँ भेजा । दासी ने जाकर श्रीभूति की पत्नी से कहा -- तुम्हारे पति बड़े कष्ट में फँसे हैं, इसलिये तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रक्खे हैं, उनके लेने को मुझे भेजा हैं । कृपा करके वह रत्न जल्दी दे दो जिससे उनका छुटकारा हो जाय ।

श्रीभूति की स्त्री ने उसे फटकार दिखला कर कहा -- चल, मेरे पास रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ मालूम है । जाकर उन्हीं से कह दे कि जहाँ रत्न रक्खे हों, वहाँ से तुम्हीं जाकर ले आओ ।

दासी ने पीछी लौट आकर सब हाल अपनी मालकिन से कह दिया । रानी ने अपनी चाल का कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति सोची, श्रीभूति ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर 'रानी के पास धन का तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा' यह सोचकर वह खेलने को तैयार हो गया ।

रानी बड़ी चतुर थी । उसने पहले ही पासे में श्रीभूति की एक कीमती अंगूठी जीत ली । उस अंगूठी को चुपके से दासी के हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूति के घर फिर भेजा और आप उसके साथ खेलने लगी ।

अब की बार रानी का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया । दासी ने पहुँचते ही बड़ी घबराहट के साथ कहा -- देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, उसमें उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा । अब उन्होंने यह अँगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरी जान प्यारी हो, तो इस

अँगूठी को देखते ही रत्नों को दे देना और रत्न प्यारे हों तो न देना । इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहता ।
अब तो वह एक साथ घबरा गई । उसने कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अँगूठी के भरोसे पर रत्न निकालकर दासी के हाथ सौंप दिये । दासी ने रत्नों को लाकर रानी को दे दिये और रानी ने उन्हें महाराज के पास पहुँचा दिये ।
राजा को रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने रानी की बुद्धिमानी को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया । इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्त को बुलाया और उन रत्नों को और बहुत से रत्नों में मिलाकर उससे कहा देखो, इन रत्नों में तुम्हारे रत्न हैं क्या ? और हों तो उन्हें निकाल लो । समुद्रदत्त ने अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया । सच है बहुत समय बीत जाने पर भी अपनी वस्तु को कोई नहीं भूलता ।
इसके बाद राजा ने श्रीभूति को राजसभा में बुलाया ओर रत्नों को उसके सामने रखकर कहा -- कहिये आप तो इस बेचारे के रत्नों को हड़पकर भी उल्टा इसे ही पागल बनाते थे न ? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करतीं और अपनी बुद्धिमानी से इन रत्नों को प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिर पर कलंक का टीका लगता । क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्रजा का इसी तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है ?
राजा को बड़ा क्रोध आया । उसने अपने राज्य के कर्मचारियों से पूछा -- कहो, इस महा-पापी को इसके पाप का क्या प्रायश्चित दिया जाय, जिससे आगे के लिये सब सावधान हो जायँ और इस दुरात्मा का जैसा भयंकर कर्म है, उसी के उपयुक्त इसे उसका प्रायश्चित भी मिल जाय ?
राज्य-कर्मचारियों ने विचार कर और सबकी सम्मति मिलाकर कहा -- महाराज, जैसा इस महाशय का नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दण्ड उपयुक्त समझते हैं और उनमें से जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें ।
१ .एक सेर पक्का गोमय खिलाया जाय; २. मल्ल के द्वारा बत्तीस घूँसे लगवाये जाँय; या ३. सर्वस्व हरण पूर्वक देश निकाला दे दिया जाय ।
राजा ने अधिकारियों के कहे माफिक दण्ड की योजना कर श्रीभूति से कहा कि तुम्हें जो दण्ड पसन्द हो, उसे बतलाओ । पहले श्रीभूति ने गोमय खाना स्वीकार किया, पर उसका उससे एक ग्रास भी नहीं खाया गया । तब उसने मल्ल के घूँसे खाना स्वीकार किया । मल्ल बुलवाया गया । घूँसे लगना आरम्भ हुआ । कुछ घूँसों की मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा शरीर छोड़कर चल बसा । उसकी मृत्यु बड़े आर्तध्यान से हुई । वह मरकर राजा के खजाने पर ही एक विकराल सर्प हुआ ।
इधर समुद्रदत्त को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ । उसने संसार की दशा देखकर उसमें अपने को फँसाना उचित नहीं समझा । वह उसी समय अपना सब धन परोपकार के कर्मों में लगाकर वन की ओर चल दिया और धर्माचार्य नाम के महामुनि से पवित्र धर्म का उपदेश सुनकर साधु बन गया । बहुत दिनों तक उसने तपश्चर्या की । इसके बाद आयु के अन्त में मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजा के सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ ।
एक दिन राजा अपने खजाने को देखने लिये गये थे, उन्हें देखकर श्रीभूति के जीव को, जो कि खजाने पर सर्प हुआ था बड़ा क्रोध आया । क्रोध के वश हो उसने महाराज को काट खाया । महाराज आर्त्त-ध्यान से मरकर सल्लकी नामक वन में हाथी हुए । राजा की सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मंत्री को बड़ा क्रोध आया । उसने अपने मन्त्र-बल से बहुत से सर्पो को बुलाकर कहा यदि तुम निर्दोष हो, तो इस अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाओ । तुम्हें ऐसा करने से कुछ भी कष्ट न होगा । जितने बाहर के सर्प आये थे वे सब तो चले गये । अब श्रीभूति का जीव बाकी रह गया । उससे कहा गया कि या तो तू विष खींचकर महाराज को छोड़ दे, या इस अग्नि-कुण्ड में प्रवेश कर । पर वह महा-क्रोधी था उसने अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा । वह क्रोध के वश हों अग्नि में प्रवेश कर गया । प्रवेश करते ही वह देखते-देखते जलकर खाक हो गया । जिस सल्लकी वन में महाराज का जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ । सच है पापियों का कुयोनियों में उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इधर तो ये सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार दूसरे भवों में उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेन की रानी पति-वियोग से बहुत दु:खी हुई । उसे संसार की क्षणभंगुर लीला देखकर वैराग्य हुआ । वह उसी समय संसार का मायाजाल तोड़कर वनश्री आर्यिका के पास साध्वी बन गई । सिंहसेन का पुत्र सिंहचन्द्र भी वैराग्य के वश हो, अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्र को राज्यभार सौंपकर सुव्रत नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया । साधु होकर सिंहचन्द्र मुनि ने खूब तपश्चर्या की, शान्ति और धीरता के साथ परीषहों पर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियों को

वश किया और चंचल मन को दूसरी ओर से रोककर ध्यान की ओर लगाया, अन्त में ध्यान के बल से उन्हें मन:पर्ययज्ञान प्राप्त हुआ । उन्हें मन:पर्ययज्ञान से युक्त देखकर उनकी माता ने, जो कि इन्हीं के पहले आर्यिका हुई थी, नमस्कार कर पूछा -- साधुराज ! मेरी कूँख धन्य है, वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरूषोत्तम को धारण किया । पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचन्द्र आत्महित के लिये कब उद्यत होंगे ?

उत्तर में सिंहचन्द्र मुनि बोले -- माता, सुनो तो मैं तुम्हें संसार की विचित्र लीला सुनाता हूँ, जिसे सुनकर तुम भी आश्चर्य करोगी । तुम जानती हो कि पिताजी को सर्प ने काटा था और उसी से उनकी मृत्यु हो गई थी । वे मरकर सल्लकी वन में हाथी हुए । वे ही पिता एक दिन मुझे मारने के लिये मेरे पर झपटे, तब मैंने उस हाथी को समझाया और कहा गजेन्द्रराज, जानते हो, तुम पूर्व जन्म में राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणों से भी प्यारा सिंहचन्द्र नाम का तुम्हारा पुत्र था । कैसा आश्चर्य है कि आज पिता ही पुत्र को मारना चाहता है । मेरे इन शब्दों को सुनते ही गजेन्द्र को जाति-स्मरण हो आया पूर्व-जन्म की उसे स्मृति हो गई । वह रोने लगा, उसकी आँसुओं की धारा बह चली । वह मेरे सामने चित्र लिखा सा खड़ा रह गया । उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिन-धर्म का उपदेश दिया और पंचाणुव्रत का स्परूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करने को कहा । उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात वह प्रासुक भोजन प्रासुक जल में अपना निर्वाह कर व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करने लगा ।

एक दिन वह जल पीने के लिये नदी पर पहुँचा । जल के भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़ में फँस गया । उसने निकलने की बहुत चेष्टा की, पर वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ । अपना निकलना असंभव समझकर उसने समाधिमरण की प्रतिज्ञा ले ली । उस समय वह श्रीभूति का जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथी के सिरपर बैठकर उसका मांस खाने लगा । हाथी पर बड़ा उपसर्ग आया, पर उसने उसकी कुछ परवा न कर बड़ी धीरता के साथ पंच नमस्कार मंत्र की आराधना करना शुरू कर दिया, जो कि सब पापों का नाश करने बाला है । आयु के अन्त में शान्ति के साथ मृत्यु प्राप्त कर वह सहस्त्रार स्वर्ग में देव हुआ । सच है धर्म के सिवा और कल्याण का कारण हो ही क्या सकता है ? वह सर्प भी बहुत कष्टों को सहन कर मरा और तीव्र पाप कर्म के उदय से चौथे नरक में जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दु:ख हैं और जब तक आयु पूर्ण नहीं होती तब तक पलक गिराने मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता ।

सिंहसेन का जीव जो हाथी होकर मरा था, उसके दाँत और कपोलों में से निकले हुए मोती, एक भील के हाथ लगे । भील ने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकार के हाथ बेच दिये और धनमित्र ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचंद्र को भेंट कर दिये । राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उनके बदले में धनमित्र को खूब धन दिया । इसके बाद राजा ने दाँतों के तो अपने पलंग के पाये बनवाये और मोतियों का रानी के लिये हार बनवा दिया । इस समय वे विषय-सुख में खूब मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं । यह संसार की विचित्र दशा है । क्षण-क्षण में क्या होता है सो सिवा ज्ञानी के कोई नहीं जान पाता और इसी से जीवों को संसार के दु:ख भोगना पड़ते हैं । माता, पूर्णचन्द्र के कल्याण का एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ, तो वह अवश्य अपने कल्याण की ओर दृष्टि देगा ।

सुनते ही वह उठी और पूर्णचन्द्र के महल पहुँची । अपनी माता को देखते ही पूर्णचंद्र उठे और बड़े विनय से उसका सत्कार कर उन्होंने उसके लिये पवित्र आसन दिया और हाथ जोड़कर वे बोले -- माताजी, आपने अपने पवित्र चरणों से इस समय भी इस घर को पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती । मैं अपने जीवन को सफल समझूँगा यदि मुझे आप अपनी आज्ञा का पात्र बनावेंगी । वह बोली मुझे एक आवश्यक बात की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है । इसीलिये मैं यहाँ आई हूँ । और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न ?

इसके बाद आर्यिका ने यों कहना आरंभ किया -- पुत्र जानते हो, तुम्हारे पिता को सर्प ने काटा था, उसको वेदना से मरकर वे सल्लकी वन में हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ । एक दिन हाथी जल पीने गया । वह नदी के किनारे पर खूब गहरे कीचड़ में फँस गया । वह उसमें से किसी तरह निकल नहीं सका । अन्त में निरूपाय होकर वह मर गया । उसके दाँत और मोती एक भील के हाथ लगे । भील ने उन्हें एक सेठ के हाथ बेच दिये । सेठ के द्वारा वे ही दाँत और मोती तुम्हारे पास आये । तुमने दाँतों के तो पलंग के पाये बनवाये और मोतियों का अपनों पत्नी के लिये हार बनवाया । यह संसार की विचित्र लीला है । इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो । आर्यिका इतना कहकर चुप हो रही । पूर्णचन्द्र अपने पिता की कथा सुनकर एक साथ रो पड़े । उनका हृदय पिता के शोक से सन्तप्त हो

उठा । जैसे दावाग्नि से पर्वत सन्तप्त हो उठता है । उनके रोने के साथ ही सारे अन्त:पुर में हाहाकार मच गया । उन्होंने पितृप्रेम के वश हो उन पलंग के पायों को छाती से लगाया । इसके बाद उन्होंने पलंग के पायों और मोतियों की चन्दनादि से पूजा कर उन्हें जला दिया । ठीक है मोह के वश होकर यह जीव क्या-क्या नहीं करता ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोह का चक्र जब अच्छे–अच्छे महात्माओं पर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है । पर पूर्णचन्द्र बुद्धिमान् थे, उन्होंने झट से अपने को सम्हाल लिया और पवित्र श्रावक-धर्म को ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उनका वे पालन करने लगे । फिर आयु के अन्त में वे पवित्र भावों से मृत्यु लाभकर महाशुक्र नामक स्वर्ग में देव हुए । उनकी माता भी अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चर्या कर उसी स्वर्ग में देव हुई । सच है संसार में जन्म लेकर कौन-कौन काल के ग्रास नहीं बने ? मन:पर्यय ज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्र के प्रभाव से मृत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयक में जाकर देव हुए ।

भारतवर्ष के अन्तर्गत सूर्याभपुर नामक एक शहर है । उसके राजा का नाम सुरावर्त्त है ! वे बड़े बुद्धिमान और तेजस्वी हैं । उनकी महारानी का नाम था यशोधरा । वह बड़ी सुन्दरी थी, बुद्धिमती थी, सती थी, सरल स्वभाव वाली थी और विदुषी थी । वह सदा दान देती, जिन भगवान् की पूजा करती, और बड़ी श्रद्धा के साथ उपवासादि करती ।

सिंहसेन राजा का जीव, जो हाथी की पर्याय से मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानी का पुत्र हुआ । उसका नाम था रश्मिवेग । कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त्त तो राज्यभार रश्मिवेग के लिये सौंपकर साधु बन गये और राज्यकार्य रश्मिवेग चलाने लगा ।

एक दिन की बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग सिद्धकूट जिनालय की वन्दना के लिये गया । वहाँ उसने एक हरिचन्द्र नाम के मुनिराज को देखा; उनसे धर्मोपदेश सुना । धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा । उसे बहुत वैराग्य हुआ । संसार शरीर-भोगादिकों से उसे बड़ी घृणा हुई । उसने उसी समय मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर ली ।

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वत की गुफा में कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगर ने, जो कि श्रीभूति का जीव सर्प पर्याय से मरकर चौथे नरक गया था और वहाँ से आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया । मुनिराज तब भी ध्यान में निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए । अन्त में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे कापिष्ठ-स्वर्ग में जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा मरकर पाप के उदय से फिर चौथे नरक गया । वहाँ उसे नारकियों ने कभी तलवार से काटा और कभी करौती से, कभी उसे अग्नि में जलाया और कभी धानी में पेला, कभी अतिशय गरम तेल की कढ़ाई में डाला और कभी लोहे के गरम खंभों से आलिंगन कराया । मतलब यह कि नरक में उसे घोर दु:ख भोगना पड़े ।

चक्रपुर नाम का एक सुन्दर शहर है । उसके राजा है चक्रायुध और उनकी महारानी का नाम चित्रादेवी है । पूर्वजन्म के पुण्य से सिंहसेन राजा का जीव स्वर्ग से आकर इनका पुत्र हुआ । उसका नाम था वज्रायुध । जिन धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी । जब वह राज्य करने को समर्थ हो गया तब महाराज चक्रायुध ने राज्य का भार उसे सौंप कर जिन दीक्षा ग्रहण कर ली । वज्रायुध सुख और नीति के साथ राज्य का पालन करने लगे । उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य सुख भोगा । पश्चात् एक दिन किसी कारण से उन्हें भी वैराग्य हो गया ।वे अपने पिता के पास दीक्षा लेकर साधु बन गये । वज्रायुध मुनि एक दिन पियंगु नामक पर्वत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इतने में एक दुष्ट भीलने, जो कि सर्प का जीव चौथे नरक गया था और वहाँ से अब यही भील हुआ, उन्हें बाण से मार दिया । मुनिराज तो समभावों से प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्र भाव से मरकर सातवें नरक गया ।

सर्वार्थसिद्धि से आकर वज्रायुध का जीव तो संजयन्त हुआ, जो संसार में प्रसिद्ध है और पूर्णचन्द्र का जीव उनका छोटा भाई जयन्त हुआ । वे दोनों भाई छोटी ही अवस्था में कामभोगों से विरक्त होकर पिता के साथ मुनि हो गये । और वह भील का जीव सातवें नरक से निकल कर अनेक कुगतियों में भटका । उनमें उसने बहुत कष्ट सहा । अन्त में वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वन में बहने वाली वेगवती नाम की नदी के किनारे पर गोश्रृंगतापस की शंखिनी नाम की स्त्री के हरिणश्रृंग नामक पुत्र हुआ । वही पंचाग्नितप तप कर यह विद्युद्दष्ट्र विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनि पर पूर्वजन्म के बैर से घोर उपसर्ग किया । और उनके छोटे भाई जयन्त मुनि निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो ।

संजयन्त मुनि पर पापी विद्युद्दष्ट्र ने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रन्च मात्र विचलित नहीं हुए सुमेरू के समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहों को सहा और सम्यक्तप का उद्योत कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया । वहाँ उन के अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रगट

हुए । वे अनन्त काल तक मोक्ष में ही रहेंगे । अब वे संसार में नहीं आवेंगे ।
दिवाकर ने कहा -- नागेन्द्रराज ! यह संसार की स्थिति है । इसे देखकर इस बेचारे पर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं । इसे दया करके छोड दीजिये । सुनकर धरणेन्द्र बोला, मैं आपके कहने से इसे छोड़ देता हूँ; परन्तु इसे अपने अभिमान का फल मिले, इसलिये मैं शाप देता हूँ कि 'मनुष्य पर्याय में इसे कभी विद्या की सिद्धि न हो ।' इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्त मुनि के मृत शरीर की बड़ी भक्ति के साथ पूजा कर अपने स्थान पर चला गया ।
इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या कर के श्री संजयन्त मुनि ने अविनाशी मोक्षश्री को प्राप्त किया । वे हमें भी उत्तम सुख प्रदान करें ।
श्री मल्लिभूषण गुरू कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में हुए । वे भगवान् के चरण कमलों के भ्रमर थे, उनकी भक्ति में सदा लीन रहते थे, सम्यग्ज्ञान के समुद्र थे, पवित्र चारित्र के धारक थे और संसार समुद्र से भव्य जीवों को पार करने वाले थे । वे ही मल्लिभूषण गुरू मुझे भी सुख-सम्पत्ति प्रदान करें ।

अंजन चोर की कथा

अंजन चोर की कथा
कथा :
सुख के देने वाले श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर अंजन चोर की कथा लिखता हूँ, जिसने सम्यग्दर्शन के नि:शंकित अंग का उद्योत किया है |
भारतवर्ष-मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नामक शहर में एक जिनदत्त सेठ रहता था । वह बड़ा धर्मात्मा था । वह निरन्तर जिन भगवान् की पूजा करता, दीन दुखियों को दान देता, श्रावकों के व्रतों का पालन करता और सदा शान्त और विषय भोगों से विरक्त रहता । एक दिन जिनदत्त चतुर्दशी के दिन आधी रात के समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था । उस समय वहाँ दो देव आये । उनके नाम अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ थे । अमितप्रभ जैन धर्म का विश्वासी था और विद्युत्प्रभ दूसरे धर्म का । वे अपने-अपने स्थान से परस्पर के धर्म की परीक्षा की । वह अपने ध्यान से विचलित हो गया । इसके बाद उन्होंने जिनदत्त को श्मशान में ध्यान करते देखा । तब अमितप्रभ ने विद्युत्प्रभ से कहा— प्रिय, उत्कृष्ट चारित्र के पालने वाले जिनधर्म के सच्चे साधुओं की परीक्षा की बात को तो जाने दो, परन्तु देखते हो, वह गृहस्थ जो कायोत्सर्ग से खड़ा हुआ है, यदि तुम में कुछ शक्ति हो, तो तुम उसे ही अपने ध्यान से विचलित कर दो यदि तुमने उसे ध्यान से चला दिया तो हम तुम्हारा ही कहना सत्य मान लेंगे ।
अमितप्रभ से उत्तेजना पाकर विद्युत्प्रभ ने जिनदत्त पर अत्यन्त दुस्सह और भयानक उपद्रव किया, पर जिनदत्त उस से कुछ भी विचलित न हुआ और पर्वत की तरह खड़ा रहा । जब सबेरा हुआ तब दोनों देवों ने अपना असली वेष प्रगट कर बड़ी भक्ति के साथ उसका खूब सत्कार किया और बहुत प्रशंसा कर जिनदत्त को एक आकाशगामिनी विद्या दी । इसके बाद वे जिनदत्त से यह कहकर, कि श्रावकोत्तम ! तुम्हें आज से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई; तुम पंच नमस्कार मंत्र की साधन विधि के साथ इसे दूसरों को प्रदान करोगे तो उन्हें भी यह सिद्ध होगी—अपने स्थान पर चले गये ।
विद्या की प्राप्ति से जिनदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ । उसकी अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने की इच्छा पूरी हुई । वह उसी समय विद्या के प्रभाव से अकृत्रिम चैत्यालय दर्शन करने को गया और खूब भक्ति भाव से उसने जिनभागवान् की पूजा की, जो कि स्वर्ग मोक्ष की देने वाली है ।
इसी प्रकार अब जिनदत्त प्रतिदिन अकृत्रिम जिनमन्दिरों के दर्शन करने के लिये जाने लगा । एक दिन वह जाने के लिये तैयार खड़ा हुआ था कि उससे एक सोमदत्त नाम के माली ने पूछा— आप प्रतिदिन सबेरे ही उठकर कहाँ जाया करते हैं ? उत्तर में जिनदत्त सेठ ने कहा— मुझे दो देवों की कृपा से आकाशगामिनी विद्या की प्राप्ति हुई है । सो उसके बल से सुवर्णमय अकृत्रिम जिनमंदिरों की पूजा करने के लिये जाया करता हूँ, जो कि सुख शान्ति की देने वाली है । तब सोमदत्त ने जिनदत्त से कहा— प्रभो, मुझे भी विद्या प्रदान कीजिये न ? जिससे मैं भी अच्छे सुन्दर सुगन्धित फूल लेकर प्रतिदिन भगवान् की पूजा करने को जाया करूँ और उसके द्वारा शुभ कर्म उपार्जन करूँ । आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे विद्या प्रदान करेंगे ।
सोमदत्त की भक्ति और पवित्रता को देखकर जिनदत्त ने उसे विद्या साधन करने की रीति बतला दी । सोमदत्त उससे सब विधि ठीक-

ठीक समझ कर विद्या साधने के लिये कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की अन्धेरी रात में श्मशान में गया, जो कि बड़ा भयंकर था । वहाँ उसने एक बड़की डाली में एक सौ आठ लड़ी का एक दूबा का सींका बाँधा और उसके नीचे अनेक भयंकर तीखे-तीखे शस्त्र सीधे मुँह गाड़कर उनकी पुष्पादि से पूजा की । इसके बाद वह सींके पर बैठ कर पंच नमस्कार मंत्र जपने लगा । मंत्र पूरा होने पर जब सींका के काटने का समय आया और उसकी दृष्टि चमचमाते हुए शस्त्रों पर पड़ी तब उन्हें देखते ही वह कांप उठा । उसने विचारा— यदि जिनदत्त ने मुझे झूठ कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायंगे; यह सोचकर वह नीचे उतर आया । उसके मन में फिर कल्पना उठी कि भला जिनदत्त को मुझसे क्या लेना है जो वह कहकर मुझे ऐसे मृत्यु के मुख में डालेगा ? और फिर वह तो जिनधर्म का परम श्रद्धालु है, उस के रोम रोम में दया भरी हुई है, उसे मेरी जान लेने से क्या लाभ ? इत्यादि विचारों से अपने मन की संतुष्ट कर वह फिर सींके पर चढ़ा पर जैसे ही उसकी दृष्टि फिर शस्त्रों पर पड़ी कि वह फिर भय के मारे नीचे उतर आया । इसी तरह वह बार-बार उतरने चढ़ने लगा, पर उसकी हिम्मत सींका काट देने की नहीं हुई । सच है जिन्हें स्वर्गमोक्ष का सुख देने वाले जिनभगवान् के वचनों पर विश्वास नहीं, मन में उन पर निश्चय नहीं, उन्हें संसार में कोई सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होती ।

उसी रात को एक और घटना हुई वह उल्लेख योग्य है और खास कर उसका इसी घटना से सम्बन्ध है । इसलिये उसे लिखते हैं । वह इस प्रकार है-

इधर तो सोमदत्त सशंक होकर क्षण भर में वृक्ष पर चढ़ता और क्षण भर में उस पर से उतरता था, और दूसरी ओर इसी समय माणिकांजन सुन्दरी नाम की एक वैश्या ने अपने पर प्रेम करने वाले एक अंजन नाम के चोर से कहा—प्राणबल्लभ, आज मैंने प्रजापाल महाराज की कनकवती नाम की पट्टरानी के गले में रत्न का हार देखा है । वह बहुत ही सुन्दर है । मेरा तो यह भी विश्वास है कि संसार भर में उसकी तुलना करने वाला कोई और हार होगा ही नहीं । सो आप उसे लाकर मुझे दीजिये, तब ही आप मेरे स्वामी हो सकेंगे अन्यथा नहीं । माणिकांजन सुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो वह कुछ हिचका, पर साथ ही उसके प्रेम ने उसे वैसा करने को बाध्य किया । वह अपने जीवन की भी कुछ परवा न कर हार चुरा लाने के लिये राजमहल पहुँचा और मौका देखकर महल में घुस गया । रानी के शयनागार में पहुँचकर उसने उसके गले में से बड़ी कुशलता के साथ हार निकाल लिया । हार लेकर वह चलता बना । हजारों पहरेदारों की आँखों मे धूल डालकर साफ निकल जाता, पर अपने दिव्य प्रकाश से गाढ़े से गाढ़े अन्धकार को भी नष्ट करने वाले हार ने उसे सफल प्रयत्न नहीं होने दिया । पहरे वालों ने उसे हार ले जाते हुए देख लिया । वे उसे पकड़ने को दौड़े । अंजन चोर भी खूब जी छोड़कर भागा, पर आखिर कहाँ तक भाग सकता था । पहरेदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे कि उसने एक नई युक्ति की । वह हार को पीछे की ओर जोर से फेंक कर भागा । सिपाही लोग तो हार उठाने में लगे और इधर अंजन चोर बहुत दूर तक निकल आया । सिपाहियों ने तब भी उसका पीछा न छोड़ा । वे उसका पीछा किये चले ही गये । अंजन चोर भागता-भागता श्मशान की ओर जा निकला, जहाँ जिनदत्त के उपदेश से सोमदत्त विद्या साधन के लिये व्यग्र हो रहा था । उसका यह भयंकर उपक्रम देखकर अंजन ने उससे पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो ? क्यों अपनी जान दे रहे हो ? उत्तर में सोमदत्त की बातों से अंजन को बड़ी खुशी हुई । उसने सोचा कि सिपाही लोग तो मुझे मारने के लिये पीछे आ ही रहे हैं और वे अवश्य मुझे मार भी डालेंगे । क्योंकि मेरा अपराध कोई साधारण अपराध नहीं है । फिर यदि मरना ही है तो धर्म के आश्रित रहकर ही मरना अच्छा है । यह विचार कर उसने सोमदत्त से कहा— बस इसी थोड़ी सी बात के लिये इतने डरते हो ? अच्छा लाओ, मुझे तलवार दो, मैं भी तो जरा आजमा लूँ । यह कहकर उसने सोमदत्त से तलवार ले ली ओर वृक्ष पर चढ़कर सींके पर जा बैठा । वह सींके को काटने के लिये तैयार हुआ कि सोमदत्त के बताये मन्त्र को भूल गया । पर उसकी वह कुछ परवा न कर और केवल इस बात पर विश्वास करके कि ''जैसा सेठ ने कहा उसका कहना मुझे प्रमाण है ।'' उसने नि:शंक होकर एक ही झटके में सारे सीकें को काट दिया । काटने के साथ ही जब तक वह शस्त्रों पर गिरता है तब तक आकाशगामिनी विद्या ने आकर उससे कहा- देव, आज्ञा कीजिये, मैं उपस्थित हूँ । विद्या को अपने सामने खड़ी देखकर अंजन चोर को बड़ी खुशी हुई । उसने विद्या से कहा, मेरू पर्वत पर जहाँ जिनदत्त सेठ भगवान् की पूजा कर रहा है, वहीं मुझे पहुँचा दे । उसके कहने के साथ ही विद्या ने उसे जिनदत्त के पास पहुँचा दिया । सच है, जिन धर्म के प्रसाद से क्या नहीं होता ?

सेठ के पास पहुँचकर अंजन ने बड़ी भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम किया और वह बोला- हे दया के समुद्र ! मैंने आपकी कृपा से आकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, पर अब आप मुझे कोई ऐसा मंत्र बतलाइये जिससे मैं संसार समुद्र से पार होकर मोक्ष में पहुँच जाऊँ

सिद्ध हो जाऊँ ।
अंजन की इस प्रकार वैराग्य भरी बातें सुनकर परोपकारी जिनदत्त ने उसे एक चारणऋद्धि के धारक मुनिराज के पास लिवा ले जाकर उनसे जिनदीक्षा दिलवा दी । अंजन चोर साधु बनकर धीरे-धीरे कैलास पर जा पहुँचा। वहाँ खूब तपश्चर्या कर ध्यान के प्रभाव से उसने घातिया कर्मों का नाश किया और केवल ज्ञान प्राप्त कर वह त्रैलोक्य द्वारा पूजित हुआ । अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अंजन मुनिराज ने अविनाशी, अनन्त गुणों के समुद्र मोक्षपद को प्राप्त किया ।
सम्यग्यर्शन के नि:शंकित गुण का पालन कर अंजन चोर भी निरंजन हुआ, कर्मों के नाश करने में समर्थ हुआ । इसलिये भव्यपुरूषों को तो नि:शंकित अंग का पालन करना ही चाहिये ।
मूलसंघ में श्रीमल्लिभूषण भट्टाकर हुए । वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नों से अलंकृत थे, बुद्धिमान थे, और ज्ञान के समुद्र थे । सिंहनन्दी मुनि उनके शिष्य थे । वे मिथ्यात्वमतरूपी पर्वतों को तोड़ने के लिये वज्र के समान थे, बड़े पाण्डित्य के साथ वे अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करते थे और भव्यपुरूषरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये वे सूर्य के समान थे । वे चिरकाल तक जीयें उनका यश:शरीर इस नश्वर संसार में सदा बना रहे ।

अनन्तमतीकी कथा

अनन्तमतीकी कथा
कथा :
मोक्ष सुख के देने वाले श्रीअर्हन्त भगवान् के चरणों को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अनन्तमती की कथा लिखता हूँ, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन के नि:कांक्षित गुण का प्रकाश हुआ है ।
संसार में अंगदेश बहुत प्रसिद्ध देश है । जिस समय की हम कथा लिखते है, उस समय उसकी प्रधान राजधानी चम्पापुरी थी । उसके राजा थे वसुवर्धन और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था । वह सती थी, गुणवती थी और बड़ी सरल स्वभाव की थी । उनके एक पुत्र था । उसका नाम था प्रियदत्त । प्रियदत्त को जिनधर्मपर पूर्ण श्रद्धा थी । उसकी गृहिणी का नाम अंगवती था । वह बड़ी धर्मात्मा थी, उदार थी । अंगवती के एक पुत्री थी । उसका नाम अनन्तमती था । वह बहुत सुन्दर थी, गुणों की समुद्र थी ।
अष्टाह्निका पर्व आया । प्रियदत्त ने धर्म कीर्ति मुनिराज के पास आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया । साथ ही में उसने अपनी प्रिय पुत्री को भी विनोद वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया । कभी कभी सत्पुरूषों का विनोद भी सत्य मार्ग का प्रदर्शक बन जाता है । अनन्तमती के चित्त पर भी प्रियदत्त के दिलाये व्रत का ऐसा ही प्रभाव पड़ा । जब अनन्तमती के ब्याह का समय आया और उसके लिये आयोजन होने लगा, तब अनन्तमती ने अपने पिता से कहा—पिताजी ! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिया था न ? फिर यह ब्याह का आयोजन आप किसलिये करते हैं ?
उत्तर में प्रियदत्त कहा— पुत्री, मैंने तो तुझे जो व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था । क्या तू उसे सच समझ बैठी है ?
अनन्तमती बोली- पिताजी, धर्म और व्रत में हँसी विनोद कैसा, यह मैं नहीं समझी ?
प्रियदत्त ने फिर कहा— मेरे कुल की प्रकाशक प्यारी पुत्री, मैंने तो तुझे ब्रह्मचर्य केवल विनोद से दिया था । और तू उसे सच ही समझ बैठी है, तो भी वह आठ ही दिन के लिये था । फिर अब तू ब्याह से क्यों इंकार करती है ?
अनन्तमती ने कहा— मैं मानती हूँ कि आपने अपने भावों से मुझे आठ ही दिन का ब्रह्मचर्य दिया होगा; परन्तु न तो आपने उस समय मुझसे ऐसा कहा और न मुनि महाराज ने ही, तब मैं कैसे समझूं कि वह आठ ही दिन के लिये था । इसलिये अब जैसा कुछ हो, मैं तो जीवन पर्यन्त ही उसे पालूँगी । मैं अब ब्याह नहीं करूँगी ।
अनन्तमती की बातों से उसके पिता को बड़ी निराशा हुई; पर वे कर भी क्या सकते थे। उन्हें अपना सब आयोजन समेट लेना पड़ा । इसे बाद उन्होंने अनन्तमती के जीवन को धार्मिक-जीवन बनाने के लिये उसके पठन पाठन का अच्छा प्रबन्ध कर दिया । अनन्तमती भी निराकुलता से शास्त्रों का अभ्यास करने लगी ।
इस समय अनन्तमती पूर्ण युवती है । उसकी सुन्दरता ने स्वर्गीय सुन्दरता धारण की है । उसके अंग-अंग से लावण्यसुधा का झरना बह रहा है । चन्द्रमा उसके अप्रतिम मुख की शोभा को देखकर फीका पड़ रहा है और नखों के प्रतिबिम्ब के बहाने से उसके पावों में पड़कर

अपनी इज्जत बचा लेने के लिये उससे प्रार्थना करता है । उसकी बड़ी-बड़ी और प्रफुल्लित आँखों को देखकर बेचारे कमलों से मुख भी ऊँचा नहीं किया जाता है । यदि सच पूछो तो उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करना मानों उसकी मर्यादा बाँध देना है, पर वह तो अमर्याद है, स्वर्ग की सुन्दरियों को भी दुर्लभ है ।

चैत्र का महिना था । एक दिन अनन्तमती विनोद वश हो, अपने बगीचे में अकेली झूले पर झूल रही थी । इसी समय एक कुण्डलमंडित नाम का विद्याधरों का राजा, जो कि विद्याधरों की दक्षिणश्रेणी के किन्नरपुर का स्वामी था, इधर ही होकर अपनी प्रिया के साथ वायुयान में बैठा हुआ जा रहा था । एकाएक उसकी दृष्टि झूलती हुई अनन्तमती पर पड़ी उसकी स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर कुण्डलमंडित काम के बाणों से बुरी तरह बीधा गया । उसने अनन्तमती की प्राप्ति के बिना अपने जन्म को व्यर्थ समझा । वह उस बेचारी बालिका को उड़ा तो उसी वक्त ले जाता, पर साथ में प्रिया के होने से ऐसा अनर्थ करने के लिये उसकी हिम्मत न पड़ी । पर उसे बिना अनन्तमती के कब चैन पड़ सकता था ? इसलिये वह अपने विमान को शीघ्रता से घर लौटा ले गया और वहाँ अपनी प्रिया को रखकर उसी समय अनन्तमती के बगीचे में आ उपस्थित हुआ और बड़ी फुर्ती से उस भोली बालिका को उठा ले चला । उधर उसकी प्रिया को भी इसके कर्म का कुछ-कुछ अनुसन्धान लग गया था । इसलिये कुण्डलमंडित तो उसे घर पर छोड़ आया था, पर वह घर पर न ठहर कर उसके पीछे-पीछे हो चली । जिस समय कुण्डलमंडित अनन्तमती को लेकर आकाश की ओर जा रहा था, कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी । क्रोध के मारे लाल मुख किये हुई देखकर कुण्डलमंडित के प्राणदेवता एक साथ शीतल पड़ गये । उसके शरीर को काटो तो खून नहीं । ऐसे स्थिति में अधिक गोलमाल होने के भय से उसने बड़ी फुर्ती के साथ अनन्तमती को एक पर्णलध्वी नाम की विद्या के आधीन कर उसे एक भयंकर वनी में छोड़ देने की आज्ञा दे दी और आप पत्नी के साथ घर लौट गया और उसके सामने अपनी निर्दोषता का यह प्रमाण पेश कर दिया कि अनन्तमती न तो विमान में उसे देखने को मिली और न विद्या के सुपुर्द करते समय कुण्डलमंडित ने ही उसे देखने दी ।

उस भयंकर वनी में अनन्तमती बड़े जोर-जोर से रोने लगी, पर उसके रोने को सुनता भी कौन ? वह तो कोसों तक मनुष्यों के पदचार से रहित थी । कुछ समय बाद एक भीलों का राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला । उसने अनन्तमती को देखा । देखते ही वह भी काम के बाणों से घायल हो गया और उसी समय उसे उठाकर अपने गाँव में ले गया । अनन्तमती तो यह समझी कि देव ने मुझे इसके हाथ सौंपकर मेरी रक्षा की है और अब मैं अपने घर पहुँचा दी जाऊँगी । पर नहीं, उसकी यह समझ ठीक नहीं थी । वह छुटकारे के स्थान में एक और नई विपत्ति के मुख में फँस गई ।

राजा उसे अपने महल ले जाकर बोला— बाले, आज तुम्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि एक राजा तुम पर मुग्ध है, और वह तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाना चाहता है । प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागम सें उसे सुखी करो । वह तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा है तुम्हें वनदेवी समझकर अपना मन चाहा वर माँगता है । उसे देकर उसकी आशा पूरी करो । बेचारी भोली अनन्तमती उस पापी की बातों का क्या जवाब देती ? वह फूट-फूटकर रोने लगी और आकाश पाताल एक करने लगी । पर उसकी सुनता कौन ? वह तो राज्य ही मनुष्य जाति के राक्षसों का था ।

भील राजा के निर्दयी हृदय में तब भी अनन्तमती के लिये कुछ भी दया नहीं आई । उसने और भी बहुत-बहुत प्रार्थना की, विनय-अनुनय किया, भय दिखाया, पर अनन्तमती ने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया । किन्तु यह सोचकर, कि इन नारकियों के सामने रोने धोने से कुछ काम नहीं चलेगा, उसने उसे फटकारना शुरू किया । उसकी आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगीं, उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया । सब कुछ हुआ, पर उस भील राक्षस पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा । उसने अनन्तमती से बलात्कार करना चाहा । इतने में उसके पुण्यप्रभाव से, नहीं, शील के अखंड बल से वन देवी ने आकर अनन्तमती की रक्षा की और उस पापी को उसके पाप का खूब फल दिया और कहा- नीच, तू नहीं जानता यह कौन है ? याद रख यह संसार की पूज्य एक महादेवी है, जो इसे तूने सताया कि समझ तेरे जीवन की कुशल नहीं है । यह कहकर वनदेवी अपने स्थान पर चली गई । उसके कहने का भील राजा पर बहुत असर पड़ा और पड़ना चाहिये था । क्योंकि थी तो वह देवी ही न ? देवी के डर के मारे दिन निकलते ही उसने अनन्तमती को एक साहूकार के हाथ सौंपकर उससे कह दिया कि इसे इसके घर पहुँचा दीजियेगा। पुष्पक सेठ ने उस समय तो अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देने का इकरार कर भील राज से ले ली । पर यह किसने जाना कि उसका हृदय भी भीतर से पापपूर्ण होगा । अनन्तमती को पाकर वह समझने लगा कि मेरे हाथ अनायास स्वर्ग की सुन्दरी लग गई । यह यदि मेरी बात प्रसन्नता पूर्वक मान ले तब तो अच्छा ही है, नहीं तो मेरे पंजे से छूट कर भी तो यह नहीं जा सकती

। यह विचारकर उस पापी ने अनन्तमती से कहा- सुन्दरी, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नर पिशाच के हाथ से छूटकर पुण्यपुरूष के सुपुर्द हुई । कहाँ तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्वर्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भील राक्षस कि जिसे देखते ही हृदय काँप उठता है ? मैं तो आज अपने को देवों से भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूँ, जो मुझे अनमोल स्त्री रत्न सुलभता के साथ प्राप्त हुआ । भला, बिना महाभाग्य के कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है ? सुन्दरी, देखती हो, मेरे पास अटूट धन है, अनन्त वैभव है, पर उस सबको तुम पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ और तुम्हारे चरणों का अत्यन्त दास बनता हूँ । कहो, मुझ पर प्रसन्न हो ? मुझे अपने हृदय में जगह दोगी न ? दो, और मेरे जीवन को, मेरे धन-वैभव को सफल करो ।

अनन्तमती ने समझा था कि इस भले मानस की कृपा से मैं सुख पूर्वक पिताजी के पास पहुँच जाऊँगी, पर वह बेचारी पापियों के पापी हृदय की बात को क्या जाने ? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी । यह स्वाभाविक बात है कि अच्छे को संसार अच्छा ही दिखता है । अनन्तमती ने पुष्पक सेठ की पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दों में कहा--महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये कोई डर की बात नहीं रही मैं निर्विघ्न अपने घर पर पहुँच जाऊँगी । क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षा के लिये आ गये हैं । पर मुझे अत्यन्त दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि आप सरीखे भले मानस के मुँह से और ऐसी नीच बातें ? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथ में लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा । क्या यह बाहरी चमक-दमक और सीधापन केवल दाम्भिकपना है ? केवल बगुलों की हंसो में गणना कराने के लिये है ? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें, तुम्हारे कुल को तुम्हारे धन- वैभव को और तुम्हारे जीवन को धिक्कार देती हूँ, अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखती हूँ । जो मनुष्य केवल संसार को ठगने के लिये ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बनने का ढोंग रचता है, लोगों को धोखा देकर अपने मायाजाल में फँसाया है, वह मनुष्य नहीं है; किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है । वह पापी मुँह देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं । उसे जितना धिक्कार दिया जाय थोड़ा है । मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्हीं पुरूषों में से एक होंगे । अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुल कलंक नीचों के मुँह लगना उचित नहीं समझ चुप हो रही । अपने क्रोध को वह दबा गई ।

उस की जली भुनी बातें सुनकर पुष्पक सेठ की अक्ल ठिकाने आ गई । वह जलकर खाक हो गया, क्रोध से उसका सारा शरीर काँप उठा, पर तब भी अनन्तमती के दिव्य तेज के सामने उससे कुछ करते नहीं बना । उसने अपने क्रोध का बदला अनन्तमती से इस रूप में चुकाया कि वह उसे अपने शहर में ले जाकर एक कामसेना नाम की कुट्टिनी के हाथ सौंप दिया । सच बात तो यह है कि यह सब दोष दिया किसे जा सकता है, किन्तु कर्मों की ही ऐसी विचित्र स्थिति है, जो जैसा कर्म करता है उसका उसे वैसा फल भोगना ही पड़ता है । इसमें नई बात कुछ नहीं है ।

कामसेना ने भी अनन्तमती को कष्ट देने में कुछ कसर नहीं रखी । जितना उससे बना उसने भय से, लोभ से उसे पवित्र पथ से गिराना चाहा, उसके सतीत्व धर्म को भ्रष्ट करना चाहा, पर अनन्तमती उससे नहीं डिगी । वह सुमेरू के समान निश्चल बनी रही । ठीक तो है जो संसार के दु:खों से डरते हैं, वे ऐसे भी सांसारिक कामों के करने से घबरा उठते हैं, जो न्यायमार्ग से भी क्यों न प्राप्त हुए हों, तब भला उन पुरूषों की ऐसे घृणित और पाप कार्यो में कैसे प्रीति हो सकती है ? कभी नहीं होती ।

कामसेना ने उस पर अपना चक्र चलता न देखकर उसे एक सिंहराज नाम के राजा को सौंप दिया । बेचारी अनन्तमती का जन्म ही न जाने कैसे बुरे समय में हुआ था, जो वह जहाँ पहुँचती वहीं आपत्ति उसके सिर पर सवार रहती । सिंहराज भी एक ऐसा ही पापी राजा था । वह अनन्तमती के देवांगना दुर्लभ रूप को देखकर उस पर मोहित हो गया । उसने भी उससे बहुत हाथा जोड़ी की, पर अनन्तमती ने उसकी बातों पर कुछ ध्यान न देकर उसे भी फटकार डाला । पापी सिंहराज ने अनन्तमती का अभिमान नष्ट करने को उससे बलात्कार करना चाहा । पर जो अभिमान मानवी प्रकृति का न होकर अपने पवित्र आत्मीय तेज का होता है, भला, किसकी मजाल जो उसे नष्ट कर सके ? जैसे ही पापी सिंहराज ने उस तेजोमय मूर्ति की ओर पाँव बढ़ाया कि उसी वनदेवी ने, जिसने एक बार पहले भी अनन्तमती की रक्षा की थी, उपस्थित होकर कहा -खबरदार ! इस सती देवी का स्पर्श भूलकर भी मत करना, नहीं तो समझ लेना कि तेरा जीवन जैसे संसार में था ही नहीं । इसके साथ ही देवी उसे उसके पापकर्मों का उचित दण्ड देकर अन्तर्हित हो गई । देवी को देखते ही सिंहराज का कलेजा काँप उठा । वह चित्रलिखे सा निश्चेष्ट हो गया । देवी के चले जाने पर बहुत देर बाद उसे होश हुआ । उसने उसी समय नौकर को बुलवाकर अनन्तमती को जंगल में छोड़ आने की आज्ञा दी । राजा की आज्ञा का पालन हुआ । अनन्तमती एक भयंकर वन में छोड़ दी गई

।

अनन्तमती कहाँ जायगी, किस दिशामें उसका शहर है, और वह कितनी दूर है ? इन सब बातों का यद्यपि उसे कुछ पता नहीं था, तब भी वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर वहाँ से आगे बढ़ी और फल फूलादि से अपना निर्वाह कर वन, जंगल, पर्वतों को लांघती हुई अयोध्या में पहुँच गई । वहाँ उसे एक पद्मश्री नाम की आर्यिका के दर्शन हुए । आर्यिका ने अनन्तमती से उसका परिचय पूछा । उसने अपना सब परिचर देकर अपने पर जो-जो विपत्ति आई थी और उससे जिस-जिस प्रकार अपनी रक्षा हुई थी उसका सब हाल आर्यिका को सुना दिया । आर्यिका उसकी कथा सुनकर बहुत दुखी हुई । उसे उसने एक सती-शिरोमणि रमणी-रत्न समझ कर अपने पास रख लिया। सच है सज्जनों का व्रत परोपकारार्थ ही होता है।

उधर प्रियदत्त को जब अनन्तमती के हरे जाने का समाचार मालूम हुआ तब वह अत्यन्त दु:खी हुआ । उसके वियोग से वह अस्थिर हो उठा । उसे घर श्मशान सरीखा भयंकर दिखने लगा । संसार उसके लिये सूना हो गया । पुत्री के विरह से दु:खी होकर तीर्थयात्रा के बहाने से वह घर से निकल खड़ा हुआ । उसे लोगों ने बहुत समझाया, पर उसने किसी की बात को न मानकर अपने निश्चय को नहीं छोड़ा । कुटुम्ब के लोग उसे घर पर न रहते देखकर स्वयं भी उसके साथ-साथ चले । बहुत से सिद्ध्द क्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रों की यात्रा करते-करते वे अयोध्या में आये । वहीं पर प्रियदत्त का साला जिनदत्त रहता था । प्रियदत्त उसी के घर पर ठहरा । जिनदत्त ने बड़े आदर सम्मान के साथ अपने बहनोई की पाहुनगति की । इसके बाद स्वस्थता के समय जिनदत्त ने अपनी बहिन आदि का समाचार पूछा । प्रियदत्त ने जैसी घटना बीती थी, वह सब उससे कह सुनाई । सुनकर जिनदत्त को भी अपनी भानजी के बाबत बहुत दु:ख हुआ । सभी को हुआ पर उसे दूर करने के लिये सब लाचार थे । कर्मों की विचित्रता देखकर सब ही को सन्तोष करना पड़ा ।

दूसरे दिन प्रात:काल उठकर और स्नानादि करके जिनदत्त तो जिनमंदिर चला गया । इधर उसकी स्त्री भोजन की तैयारी करके पद्मश्री आर्यिका के पास जो बालिका थी, उसे भोजन करने को और आंगन में चौक पूरने को बुला लाई । बालिका ने आकर चौक पूरा और बाद भोजन करके वह अपने स्थान पर लौट आई ।

जिनदत्त के साथ प्रियदत्त भी भगवान् की पूजा करके घर पर आया । आते ही उसकी दृष्टि चौक पर पड़ी । देखते ही उसे अनंतमती की याद हो उठी । वह रो पड़ा । पुत्री के प्रेम से उसका हृदय व्याकुल हो गया । उसने रोते-रोते कहा जिसने यह चौक पूरा है, क्या मुझ अभागे को उसके दर्शन होंगे । जिनदत्त अपनी स्त्री से उस बालिका का पता पूछ कर जहाँ वह थी, वहीं दौड़ा गया और झट से उसे अपने घर लिवा लाया । बालिका को देखते ही प्रियदत्त के नेत्रों से आँसू वह निकले । उसका गला भर आया । आज वर्षो बाद उसे अपनी पुत्री के दर्शन हुए । बड़े प्रेम के साथ उसने अपनी प्यारी पुत्री को छाती से लगाया और उसे गोदी में बैठाकर उससे एक-एक बातें पूछना शुरू की । उसके दु:खों का हाल सुनकर प्रियदत्त बहुत दु:खी हुआ । उसने कर्मों का, इसलिये कि अनन्तमती इतने कष्टों को सहकर भी अपने धर्मपर दृढ़ रहीं और कुशलपूर्वक अपने पिता से आ मिलीं, बहुत-बहुत उपकार माना । पिता-पुत्र का मिलाप हो जाने से जिनदत्त को बहुत प्रसन्नता हुई । उसने इस खुशी में जिनभगवान् का रथ निकलवाया, सबका यथायोग्य आदर सम्मान किया और खूब दान किया ।

इसके बाद प्रियदत्त अपने घर जाने को तैयार हुआ । उसने अनन्तमती से भी चलने को कहा । वह बोली- पिताजी, मैंने संसार की लीला को खूब देखा है । उसे देखकर तो मेरा जी काँप उठता है । अब मैं घर पर नहीं चलूँगी । मुझे संसार के दु:खों से बहुत डर लगता है । अब तो आप दया करके मुझे दीक्षा दिलवा दीजिये । पुत्री की बात सुनकर प्रियदत्त बहुत दु:खी हुआ, पर अब उसने उससे घर पर चलने की विशेष आग्रह न करके केवल इतना कहा कि पुत्री, तेरा यह नवीन शरीर अत्यन्त कोमल है और दीक्षा का पालन करना बड़ा कठिन है उसमें बड़ी-बड़ी कठिन परीषह सहनी पड़ती है । इसलिये अभी कुछ दिनों के लिये मंदिर ही में रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान पूर्वक अपना समय बिता । इसके बाद जैसा तू चाहती है, वह स्वयं ही हो जायगा । प्रियदत्त ने इस समय दीक्षा लेने से अनन्तमती को रोका, पर उसके तो रोम-रोम में वैराग्य प्रवेश कर गया था; फिर वह कैसे रूक सकती थी ? उसने मोहजाल तोड़कर उसी समय पद्मश्री आर्यिका के पास जिनदीक्षा ग्रहण कर ही ली । दीक्षित होकर अनन्तमती खूब दृढ़ता के साथ तप तपने लगी । महिना-महिना के उपवास करने लगी, परीषह सहने लगी । उसकी उमर और तपश्चर्या देखकर सबको दाँतो तले अंगुली दबानी पड़ती थी । अनन्तमती का जब तक जीवन रहा तब तक उसने बड़े साहस से अपने व्रत का निर्वहन किया, अंत में वह संन्यास मरण कर सहस्त्रार स्वर्ग में जाकर देव हुई । वहाँ वह नित्य नये रत्नों के स्वर्गीय भूषण पहनती है, जिनभगवान् की भक्ति के साथ पूजा करती है, हजारों देव देवांगनायें उसकी सेवा में रहती हैं ।

उसके ऐश्वर्य का पार नहीं और न उसके सुख ही की सीमा है । बात यह है कि पुण्य के उदय से क्या-क्या नहीं होता ?
अनन्तमती को उसके पिता ने केवल विनोद से शीलव्रत दे दिया था । पर उसने उसका बड़ी दृढ़ता के साथ पालन किया, कर्मों के पराधीन सांसारिक सुख की उसने स्वप्न में भी चाह नहीं की । उस के प्रभाव से वह स्वर्ग में जाकर देव हुई, जहाँ सुख का पार नहीं । वहाँ वह सदा जिनभगवान् के चरणों में लीन रह कर बड़ी शान्ति के साथ अपना समय बिताती है । सती-शिरोमणि अनन्तमती हमारा भी कल्याण करें ।

उद्दायन राजा की कथा

उद्दायन राजा की कथा

कथा :

संसार-श्रेष्ठ जिनभगवान् जिनवाणी और जैन ऋषियों को नमस्कार कर उद्दायन राजा की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक्त्व के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग का पालन किया है ।

उद्दायन रौरवक नामक शहर के राजा थे, जो कि कच्छ देश के अन्तर्गत था । उद्दायन सम्यग्दृष्टि थे, दानी थे, विचारशील थे, जिनभगवान् के सच्चे भक्त थे और न्यायी थे । सुतरां प्रजा का उन पर बहुत प्रेम था और वे भी प्रजा के हित में सदा उद्यत रहा करते थे ।

उन की रानी का नाम प्रभावती था । वह भी सती थी, धर्मात्मा थी । उसका मन सदा पवित्र रहता था । वह अपने समय को प्राय: दान, पूजा, व्रत, उपवास स्वाध्यायादि में बिताती थी ।

उद्दायन अपने राज्य का शान्ति और सुख से पालन करते और अपनी शक्ति के अनुसार जितना बन पड़ता, उतना धार्मिक काम करते । कहने का मतलब यह कि वे सुखी थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी । उनका राज्य भी शत्रु-रहित निष्कंटक था ।

एक दिन सौधर्म-स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्मोपदेश कर रहा था ''कि संसार में सच्चे देव अरहन्त भगवान् हैं, जो कि भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषों से रहित और जीवों को संसार के दु:खों से छुटाने वाले है; सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदि दश लक्षण रूप है; गुरू निर्ग्रन्थ है; जिसके पास परिग्रह का नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि से रहित है और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवादिक पदार्थों में रूचि होती है । वही रूचि स्वर्ग मोक्ष की देने वाली है । यह रूचि **अर्थ**ात् श्रद्धा धर्म में प्रेम करने से, तीर्थ यात्रा करने से, रथोत्सव कराने से, जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार कराने से, प्रतिष्ठा कराने से, प्रतिमा बनवाने से और साधर्मियों से वात्सल्य अर्थात् प्रेम करने से उत्पन्न होती है । आप लोग ध्यान रखिये कि सम्यग्दर्शन संसार में एक सर्वश्रेष्ठ वस्तु है । और कोई वस्तु उसकी समानता नहीं कर सकती । यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियों का नाश करके स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला है । इसे तुम धारण करो ।'' इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अंगों का वर्णन करते समय इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाले उद्दायन राजा की बहुत प्रशंसा की । इन्द्र के मुँह से एक मध्यलोक के मनुष्य की प्रशंसा सुनकर एक बासव नाम का देव उसी समय स्वर्ग से भारत में आया और उद्दायन राजा की परीक्षा करने के लिय एक कोढ़ी मुनि का वेश बनाकर भिक्षा के लिये दोपहर ही को उद्दायन के महल गया ।

उस के शरीर से कोढ़ गल रहा था, उस की वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे, सारे शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था । उसकी यह हालत होने पर भी जब वह राजद्वार पर पहुँचा और महाराज उद्दायन की उस पर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से उठकर आये और बड़ी भक्ति से उन्होंने उस छली मुनि का आह्वान किया । इसके बाद नवधा भक्ति पूर्वक हर्ष के साथ राजा ने मुनि को प्रासुक आहार कराया । राजा आहार कराकर निवृत हुए कि इतने में उस कपटी-मुनि ने अपनी माया से महा-दुर्गन्धित वमन कर दिया । उसकी असह्य दुर्गन्ध के मारे जितने और लोग पास खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए; किन्तु केवल राजा और रानी मुनि की सम्हाल करने को वहीं रह गये । रानी मुनि का शरीर पोंछने को उसके पास गई । कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्धित उछाट कर दी । राजा और रानी ने इसकी कुछ परवा न कर उलटा इस बात पर बहुत पश्चात्ताप किया कि हम से मुनि की प्रकृति-विरूद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया, जिससे मुनिराज को इतना कष्ट हुआ । हम लोग बड़े पापी हैं । इसीलिये तो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरन्तराय आहार नहीं हुआ । सच है, जैसे पापी लोगों को मनोवांछित देने वाला चिन्तामणि-रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियों को नहीं मिलता है । इस प्रकार अपनी आत्म-निन्दा कर और अपने प्रमाद पर बहुत-बहुत खेद प्रकाश कर राजा रानी ने मुनि का सब शरीर जल से धोकर साफ किया । उनकी इस प्रकार अचल भक्ति देखकर देव अपनी

माया समेट कर बड़ी प्रसन्नता के साथ बोला -- राजराजेश्वर, सचमुच ही तुम सम्यग्दृष्टि हो, महादानी हो । निर्विचिकित्सा अंग के पालन करने में इन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वह अक्षर-अक्षर ठीक निकली, वैसा ही मैंने तुम्हें देखा । वास्तव में तुमही ने जैनशासन का रहस्य समझा है । यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धित उछाट अपने हाथों से उठाता ? राजन् ! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वी मंडल पर इस समय तुम सरीखा सम्यग्दृष्टियों में शिरोमणि कोई होगा ? इस प्रकार उद्दायन की प्रशंसा कर देव अपने स्थान पर चला गया और राजा फिर अपने राज्य का सुख पूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा व्रत आदि में अपना समय बिताने लगे ।
इसी तरह राज्य करते-करते उद्दायन का कुछ और समय बीत गया । एक दिन वे अपने महल पर बैठे हुए प्रकृतिक शोभा देख रहे थे कि इतने में एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा उनकी आँखों के सामने से निकला । वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते-देखते नामशेष कर दिया । क्षण भर में एक विशाल मेघखण्ड की यह दशा देखकर उद्दायन की आँखे खुली । उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा । उन्होंने उसी समय महल से उतरकर अपने पुत्र को बुलाया और उसके मस्तक पर राज-तिलक करके आप भगवान् वर्द्धमान के समवसरण में पहुँचे और भक्ति के साथ भगवान् की पूजा कर उनके चरणों के पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं ।
साधु होकर उद्दायन राजा ने खूब तपश्चर्या की, संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ रत्नत्रय प्राप्त किया । इसके बाद ध्यान रूपी अग्नि से घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया । उसके द्वारा उन्होंने संसार के दु:खों से तड़पते हुए अनेक जीवों को उबार कर, अनेकों को धर्म के पथ पर लगाया । और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी अनन्त मोक्षपद प्राप्त किया ।
उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर तपश्चर्या करने लगी और अन्त में समाधि मृत्यु प्राप्त कर ब्रह्मस्वर्ग में जाकर देव हुई ।
वे जिन-भगवान् मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें, जो सब श्रेष्ठ गुणों के समुद्र हैं जिनका केवलज्ञान संसार के जीवों का हृदयस्थ अज्ञानरूपी आताप नष्ट करने को चन्द्रमा समान है, जिनके चरणों को इन्द्र, नरेन्द्र आदि सभी नमस्कार करते हैं, जो ज्ञान के समुद्र और साधुओं के शिरोमणि हैं ।

रेवती रानी की कथा

रेवती रानी की कथा
कथा :
संसार का हित करने वाले जिनभगवान् को परम भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करने वाली रेवती रानी की कथा लिखता हूँ ।
विजयार्ध पर्वत की दक्षिणश्रेणी में मेघकूट नाम का एक सुन्दर शहर है । उसके राजा हैं चन्द्रप्रभ । चन्द्रप्रभ ने बहुत दिनों तक सुख के साथ अपना राज्य किया । एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हें तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई । राज्य का करोबार अपने चन्द्रशेखर नाम के पुत्र को सौंपकर वे तीर्थयात्रा के लिये चल दिये । वे यात्रा करते हुए दक्षिण मथुरा में आये । उन्हें पुण्य से वहाँ गुप्ताचार्य के दर्शन हुए । आचार्य से चन्द्रप्रभ ने धर्मोपदेश सुना । उनके उपदेश का उन पर बहुत असर पड़ा । वे आचार्य के द्वारा--
प्रोक्त: परोपकारो अत्र महापुण्याय भूतले । --ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात परोपकार करना महान् पुण्य का कारण है, यह जानकर और तीर्थयात्रा करने के लिये एक विद्या का अपने अधिकार में रखकर क्षुल्लक बन गये ।
एक दिन उनकी इच्छा उत्तर मथुरा की यात्रा करने की हुई । जब वे जाने को तैयार हुए तब उन्होंने अपने गुरू महाराज से पूछा-- हे दया के समुद्र, मैं यात्रा के लिये जा रहा हूँ, क्या आपको कुछ समाचार तो किसी के लिये नहीं कहना है ? गुप्ताचार्य बोले— मथुरा में एक सूरत नाम के बड़े ज्ञानी और गुणी मुनिराज हैं, उन्हें मेरा नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टिनी धर्मात्मा रेवती लिये मेरी धर्मवृद्धि कहना ।
क्षुल्लक ने और पूछा कि इसके सिवा और भी आपको कुछ कहना है क्या ? आचार्य ने कहा- नहीं । तब क्षुल्लक ने विचारा कि क्या कारण है जो आचार्य ने एकादशांग के ज्ञाता श्रीभव्यसेन मुनि तथा और-और मुनियों को रहते उन्हें कुछ नहीं कहा और केवल सूरत मुनि और रेवती के लिये ही नमस्कार किया तथा धर्म वृद्धि दी? इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये । अस्तु । जो कुछ होगा वह आगे स्वयं

मालूम हो जायेगा । यह सोचकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक वहाँ से चल दिये । उत्तर मथुरा पहुँचकर उन्होंने सूरत मुनि को गुप्ताचार्य की वन्दना कह सुनाई । उससे सूरत मुनि बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने चन्द्रप्रभ के साथ खूब वात्सल्य का परिचय दिया । उससे चन्द्रप्रभ को बड़ी खुशी हुई । बहुत ठीक कहा है-

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागत: ।

साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ।। --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्— संसार में उन्हीं का जन्म लेना सफल है जो धर्मात्माओं से वात्सल्य प्रेम करते हैं ।

इसके बाद क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांग के ज्ञाता, पर नाम मात्र के भव्यसेन मुनि के पास गये । उन्होंने भव्यसेन को नमस्कार किया | पर भव्यसेंन मुनि ने अभिमान में आकर चन्द्रभप्र को धर्मवृद्धि तक भी न दी । ऐसे अभिमान को धिक्कार है ! जिन अविचारी पुरूषों के वचनों में भी दरिद्रता है जो वचनों से भी प्रेम पूर्वक आये हुए अतिथि से नहीं बोलते— वे उनका और क्या सत्कार करेंगे ? उनसे तो स्वप्न में भी अतिथिसत्कार नहीं बन सकेगा । जैन शास्त्रों का ज्ञान सब दोषों से रहित है, निर्दोष है । उसे प्राप्त कर हृदय पवित्र होना ही चाहिए । पर खेद है कि उसे पाकर भी मान होता है । पर यह शास्त्र का दोष नहीं, किन्तु यों कहना चाहिए कि पापियों के लिए अमृत भी विष हो जाता है । जो हो, तब भी देखना चाहिए कि इन में कुछ भी भव्यपना है भी, या केवल नाम मात्र के ही भव्य हैं ? यह विचार कर दूसरे दिन सबेरे जब भव्यसेन कमण्डलु लेकर शौच के लिये चले तब उनके पीछे-पीछे चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी हो लिए । आगे चलकर क्षुल्लक महाशय ने अपने विद्या बल से भव्यसेन के आगे की भूमि को कोमल और हरे-हरे तृणों से युक्त कर दिया । भव्यसेन उसकी कुछ परवा न कर और यह विचार कर कि जैनशास्त्रों में तो इन्हें एकेन्द्री कहा है, इनकी हिंसा का विशेष पाप नहीं होना, उसपर से निकल गए । आगे चलकर जब वे शौच हो लिए और शुद्धि के लिए कमण्डलु की ओर देखा तो उसमें जल नहीं और वह औंधा पड़ा हुआ है, तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई । इतने में एकाएक क्षुल्लक महाशय भी उधर आ निकले । कमण्डलु का जल यद्यपि क्षुल्लकजी ने ही अपने विद्या बल से सुखा दिया था, तब भी वे बड़े आश्चर्य के साथ भव्यसेन से बोले - मुनिराज, पास ही एक निर्मल जल का सरोवर भरा हुआ है, वहीं जाकर शुद्धि कर लीजिए न ? भव्यसेन ने अपने पदस्थ पर, अपने कर्त्तव्य पर कुछ भी ध्यान न देकर जैसा क्षुल्लक ने कहा, वैसा ही कर लिया । सच बात तो यह है—

किं करोति न मूढ़ात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषित: ।

न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञानं चरित्रं दुर्दशामपि ।

उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते ।।

मिथ्यादृष्टे: श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते ।

यथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ।। --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्-- मूर्ख पुरूष मिथ्यात्व के वश होकर कौन बुरा काम नहीं करते ? मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नहीं होता । जैसे सूर्य के उदय से उल्लू को कभी सुख नहीं होता । मिथ्यादृष्टियों का शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्ग में प्रवृत होने का कारण है । जैसे मीठा दूध भी तूबड़ी के सम्बन्ध से कड़वा हो जाता है । इन सब बातों को विचार क्षुल्लक ने भव्यसेन के आचरण से समझ लिया कि ये नाम मात्र के जैनी हैं, पर वास्तव में इन्हें जैन धर्म पर श्रद्धान नहीं, ये मिथ्यात्वी हैं । उस दिन से चन्द्रप्रभ ने भव्यसेन का नाम अभव्यसेन रक्खा । सच बात है दुराचार से क्या नहीं होता ?

क्षुल्लक ने भव्यसेन की परीक्षा कर अब रेवती रानी की परीक्षा करने का विचार किया । दूसरे दिन उसने अपने विद्या बल से कमल पर बैठे हुए और वेदों का उपदेश करते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा का वेष बनाया और शहर से पूर्व दिशा को ओर कुछ दूरी पर जंगल में वह ठहरा । यह हाल सुनकर राजा, भव्यसेन आदि सभी वहाँ गए और ब्रह्माजी को उन्होंने नमस्कार किया । उनके पावों पड़ कर वे बड़े खुश हुए । राजा ने चलते समय अपनी प्रिया रेवती से भी ब्रह्माजी की वन्दना के लिए चलने को कहा था पर रेवती सम्यक्त्व रत्न से भूषित थी, जिनभगवान् की अनन्यभक्त थी; इसलिये वह नहीं गई । उसने राजा से कहा-- महाराज, मोक्ष और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्राप्त कराने वाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासन में आदि जिनेन्द्र कहा गया है, उसके सिवा अन्य ब्रह्मा हो ही नहीं सकता और जिस ब्रह्मा की वन्दना के लिए आप जा रहे हैं, वह ब्रह्मा नहीं हैं; किन्तु कोई धूर्त ठगने के लिए ब्रह्मा का वेष लेकर आया है । मैं तो नहीं

चलूँगी ।

दूसरे दिन क्षुल्लक ने गरूड़ पर बैठे हुए, चतुर्बाहु, शंख, चक्र, गदा आदि से युक्त और दैत्यों को कँपाने वाले वैष्णव भगवान् का वेष बनाकर दक्षिण दिशा में अपना डेरा जमाया ।

तीसरे दिन उस बुद्धिमान् क्षुल्लक ने बैल पर बैठे हुए, पार्वती के मुखकमल को देखते हुए, सिर पर जटा रखाये हुए, गणपति युक्त और जिन्हें हजारों देव आ आकर नमस्कार कर रहे हैं, ऐसा शिव का वेष धारण कर पश्चिम दिशा की शोभा बढ़ाई ।

चौथे दिन उसने अपनी माया से सुन्दर समवशरण में विराजे हुए, आठ प्रातिहार्यो से विभूषित, मिथ्यादृष्टियों के मान को नष्ट करने वाले मानस्तंभादि से युक्त, निर्ग्रन्थ और जिन्हें हजारों देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आ आकर नमस्कार करते है, ऐसा संसार श्रेष्ठ तीर्थंकर का वेष बनाकर पूर्व दिशा को अलंकृत किया । तीर्थंकर भगवान् का आगमन सुनकर सबको बहुत आनन्द हुआ । सब प्रसन्न होते हुए भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना करने को गये । राजा, भव्यसेन आदि भी उन में शामिल थे । तीर्थंकर भगवान के दर्शनों के लिये भी रेवती रानी को न जाती हुई देखकर सब को बड़ा आश्चर्य हुआ । बहुतों ने उससे चलने का आग्रह भी किया, पर वह न गई । कारण वह सम्यक्त्व रूप मौलिक रत्न से भूषित थी, उसे जिनभगवन के वचनों पर पूरा विश्वास था कि तीर्थंकर परम देव चौबीस ही होते हैं, और वासुदेव नौ और रुद्र ग्यारह होते हैं । फिर उनकी संख्या को तोड़ने वाले ये दशवें वासुदेव और बारहवें रुद्र और पच्चीसवें तीर्थंकर आ कहाँ से सकते हैं ? वे तो अपने-अपने कर्मों के अनुसार जहाँ जाना था वहाँ चले गये । फिर यह नई सृष्टि कैसी ? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न वासुदेव, और न तीर्थंकर है, किंतु कोई मायावी ऐन्द्रजालिक अपनी धूर्तता से लोगों को ठगने के लिये आया है । यह विचार कर रेवती रानी तीर्थंकर की वन्दना के लिये भी नहीं गई । सच है कहीं वायु से मेरु पर्वत भी चला है ?

इसके बाद चन्द्रप्रभ, क्षुल्लक-वेश ही में, पर अनेक प्रकार की व्याधियों से युक्त तथा अत्यंत मलिन शरीर होकर रेवती के घर भिक्षा के लिये पहुँचे । आँगन में पहुँचते ही वे मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़े । उन्हें देखते ही धर्म वत्सला रेवती रानी हाय-हाय कहती हुई उन के पास दौड़ी, इसके बाद अपने महल में ले जाकर बड़े कोमल और पवित्र भावों से उसने उन्हें प्रासुक आहार कराया । सच है जो दयावान होते हैं, उनकी बुद्धि दान देने को स्वभाव ही से तत्पर रहती है ।

क्षुल्लक को अब तक भी रेवती की परीक्षा से संतोष नहीं हुआ । सो उन्होंने भोजन करने के साथ ही वमन कर दिया, जिसमें अत्यंत दुर्गन्ध आ रही थी । क्षुल्लक की यह हालत देखकर रेवती को बहुत दुःख हुआ । उसने बहुत पश्चात्ताप किया कि न जाने क्या अपथ्य मुझ पापिनी के द्वारा दे दिया गया, जिससे इन की यह हालत हो गई । मेरी इस असावधानता को धिक्कार है । इस प्रकार बहुत पश्चात्ताप करके उसने क्षुल्लक का शरीर पोंछा और बाद कुछ-कुछ गरम जल से उसे धोकर साफ किया ।

क्षुल्लक रेवती की भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए । वे अपनी माया समेट कर बड़ी खुशी के साथ रेवती से बोले- देवी, संसारश्रेष्ठ मेरे परम गुरु महाराज गुप्ताचार्य की धर्मवृद्धि तेरे मन को पवित्र करे, जो कि सब सिद्धियों की देने वाली है और तुम्हारे नाम से मैंने यात्रा में जहाँ-जहाँ जिनभगवान की पूजा की है वह भी तुम्हें कल्याण की देने वाली हो ।

देवी, तुमने जिस संसारश्रेष्ठ और संसार समुद्र से पार करने वाले अमूढ़दृष्टि अंग को ग्रहण किया है, उसकी मैंने नाना तरह से परीक्षा की, पर उसमें तुम्हें अचल पाया । तुम्हारे इस त्रिलोकपूज्य सम्यक्त्व की कौन प्रशंसा करने को समर्थ है ? कोई नहीं । इस प्रकार गुणवती रेवती रानी की प्रशंसा कर और उसे सब हाल कहकर क्षुल्लक अपने स्थान चले गए ।

इसके बाद वरुण नृपति और रेवती रानी का बहुत समय सुख के साथ बीता । एक दिन राजा को किसी कारण से वैराग्य हो गया । वे अपने शिव कीर्ति नाम के पुत्र को राज्य सौंपकर और सब मायाजाल तोड़कर तपस्वी बन गए । साधु बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की और आयु के अंत में समाधि मरण कर वे माहेन्द्रस्वर्ग में जाकर देव हुए ।

जिनभगवान् की परम भक्त महारानी रेवती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर और शक्ति के अनुसार तपश्चर्या कर आयु के अंत में ब्रह्मस्वर्ग में जाकर महर्द्धिक देव हुई ।

भव्य पुरुषों, यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष सुख को चाहते हो, तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानी ने मिथ्यात्व छोड़ा, उसी तरह तुम भी मिथ्यात्व को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले, अत्यंत पवित्र और बड़े-बड़े देव, विद्याधर, राजा-महाराजाओं से भक्ति पूर्वक ग्रहण किए हुए जैनधर्म का आश्रय स्वीकार करो ।

जिनेन्द्रभक्त की कथा

जिनेन्द्रभक्त की कथा

कथा :

स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले श्री जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं जिनेन्द्रभक्त की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने कि सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग का पालन किया था ।

नेमिनाथ भगवान् के जन्म से पवित्र और दयालु पुरुषों से परिपूर्ण सौराष्ट्र देश के अंतर्गत एक पाटलिपुत्र नाम का शहर था । जिस समय की कथा है, उस समय उसके राजा यशोध्वज थे । उनकी रानी का नाम सुसीमा था । वह बड़ी सुन्दर थी । उसका एक पुत्र था । उसका नाम था सुवीर । बेचारी सुसीमा के पाप के उदय से वह महाव्यसनी और चोर हुआ । सच तो यह है कि जिन्हें आगे कुयोनिओं के दुःख भोगने होते हैं, उनका न तो अच्छे कुल में जन्म लेना काम आता है और न ऐसे पुत्रों से बेचारे माता-पिता को कभी सुख होता है ।

गोड़ देश के अंतर्गत ताम्लिप्ता नाम की नगरी है । उसमें एक सेठ रहते थे । उनका नाम था जिनेन्द्रभक्त । जैसा नाम है वैसे ही वे जिन-भगवान् के भक्त हैं भी । जिनेन्द्रभक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि थे और अपने श्रावक धर्म का बराबर सदा पालन भी करते थे । उन्होंने विशाल जिनमन्दिर बनवाए, बहुत से जीर्ण मन्दिरों का उद्धार किया, जिन-प्रतिमायें बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई और चारों संघों को खूब दान दिया, उनका खूब सत्कार किया ।

सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्त का महल सात मंजिला था । उसकी अंतिम मंजिल पर एक बहुत ही सुन्दर जिन चैत्यालय था । चैत्यालय में श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की बहुत मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी । उस पर तीन छत्र जो रत्नों के बने हुए थे, बड़ी शोभा दे रहे थे । उन छत्रों पर एक वैडूर्यमणि नाम का अत्यंत कांतिमान बहुमूल्य रत्न लगा हुआ था । इस रत्न का हाल सुवीर ने सुना । उसने अपने साथियों को बुलाकर कहा- सुनते हो, जिनेन्द्रभक्त सेठ के चैत्यालय में प्रतिमा पर लगे हुए छत्रों में एक रत्न लगा हुआ है, वह अमोल है । क्या तुम लोगों मे से कोई उसे ला सकता है ? सुनकर उनमें से एक सूर्यक नाम का चोर बोला, यह तो एक अत्यंत साधारण बात है । यदि वह रत्न इन्द्र के सिर पर भी होता, मैं उसे क्षणभर में ला सकता था । यह सच भी है कि जो जितने ही दुराचारी होते हैं वे उतना ही पाप कर्म भी कर सकते हैं ।

सूर्यक के लिए रत्न लाने की आज्ञा हुई । वहाँ से आकर उसने मायावी क्षुल्लक का वेष धारण किया । क्षुल्लक बनकर वह व्रत उपवासादि करने लगा । उससे उसका शरीर बहुत दुबला-पतला हो गया । इसके बाद वह अनेक शहरों और ग्रामों में घूमता हुआ और लोगों को अपने कपटी वेश से ठगता हुआ कुछ दिनों में तामलिप्तापुरी में आ पहुँचा । जिनेन्द्रभक्त सच्चे धर्मात्मा थे, इसलिए उन्हें धर्मात्माओं को देखकर बड़ा प्रेम होता था । उन्होंने जब इस धूर्त क्षुल्लक का आगमन सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उसी समय घर का सब कामकाज छोड़कर क्षुल्लक महाराज की वन्दना करने के लिए गए । उसका तपश्चर्या से क्षीण शरीर देखकर उनकी उस पर और अधिक श्रद्धा हुई । उन्होंने भक्ति के साथ क्षुल्लक को प्रणाम किया और बाद वे उसे अपने महल लिवा लाये । सच बात यह है कि-

अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले ।

यस्य प्रपंचतो गाढं विद्वांसश्चापि वंचिता । ।--ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्-- जिनकी धूर्तता से अच्छे-अच्छे विद्वान भी जब ठगा जाते हैं, तब बेचारे साधारण पुरुषों की क्या मजाल जो वे उनकी धूर्त्तता का पता पा सकें ।

क्षुल्लकजी ने चैत्यालय में पहुँचकर जब उस मणि को देखा तो उनका हृदय आनन्द के मारे बाँसों उछलने लगा । वे बहुत संतुष्ट हुए । जैसे सुनार अपने पास कोई रकम बनवाने के लिये लाये हुए पुरुष के पास का सोना देखकर प्रसन्न होता है । क्योंकि उसकी नीयत सदा चोरी की ओर ही लगी रहती है ।

जिनेन्द्रभक्त को उसके मायाचार का कुछ पता नहीं लगा । इसलिये उन्होंने उसे बड़ा धर्मात्मा समझकर और मायाचारी से क्षुल्लक के मना करने पर भी जबरन अपने जिनालय की रक्षा के लिये उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्र यात्रा करने के लिये चल पड़े । जिनेन्द्रभक्त के घर के बाहर होते ही क्षुल्लकजी की बन पड़ी । आधी रात के समय आप उस तेजस्वी रत्न को कपड़ों में छिपाकर घर के बाहर हो गये । पर पापियों का पाप कभी नहीं छुपता । यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया । वे उसे

पकड़ने को दौड़े । क्षुल्लकजी दुबले-पतले तो पहले ही से हो रहे थे, इसलिये वे अपने को भागने में असक्त समझ लाचार होकर जिनेन्द्रभक्त की ही शरण में गये और प्रभो, बचाइये ! बचाइये !! यह कहते हुए उन के पाँवों में गिर पड़े । जिनेन्द्रभक्त ने, 'चोर भागा जाता है ! इसे पकड़ना' ऐसा हल्ला सुनकर जान लिया कि यह चोर है और क्षुल्लक वेष में लोगों को ठगता फिरता है । यह जानकर भी सम्यग्दर्शन की निन्दा के भय से जिनेन्द्रभक्त ने क्षुल्लक को पकड़ने को आये हुए सिपाहियों से कहा -- आप लोग बड़े कम समझ हैं ! आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वी को चोर बतला दिया । रत्न तो ये मेरे कहने से लाये हैं । आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं ? अस्तु । आगे से ध्यान रखिये ।

जिनेन्द्रभक्त के वचनों को सुनते ही सब सिपाही लोग ठण्डे पड़ गये और उन्हें नमस्कार कर चलते बने । जब सब सिपाही चले गये तब जिनेन्द्रभक्त ने क्षुल्लकजी से रत्न लेकर एकांत में उनसे कहा -- बड़े दुःख की बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेष को धारण कर उसे ऐसे नीच कर्मों से लजा रहे हो ? तुम्हें यही उचित है क्या ? याद रक्खो, ऐसे अनर्थों से तुम्हें कुगतियों में अनंत काल दुःख भोगना पड़ेंगे । शास्त्रकारों ने पापी पुरुषों के लिये लिखा है कि—

ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयंति स्वकं भुवि ।

त्यक्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे । ।--ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् - जो पापी लोग न्यायमार्ग को छोड़कर और पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसार समुद्र में अनंत काल दुःख भोगते हैं । ध्यान रक्खो कि अनीति से चलने वाले और अत्यंत तृष्णावान तुम सरीखे पापी लोग बहुत ही जल्दी नाश को प्राप्त होते हैं । तुम्हें उचित है तुम बड़ी कठिनता से प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्म को इस तरह बर्बाद न कर कुछ आत्महित करो । इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्त ने अपने स्थान से उसे अलग कर दिया ।

इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषों को, दुर्जनों के मलिन कर्मों से निन्दा को प्राप्त होने वाले सम्यगदर्शन की रक्षा करना उचित है । जिनभगवान का शासन पवित्र है, निर्दोष है, उसे जो सदोष बनाने की कोशिश करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्मत्त हैं । ठीक भी है उन्हें वह निर्दोष धर्म अच्छा भी जान नहीं पड़ता । जैसे पित्तज्वर वाले को अमृत के समान मीठा दूध भी कड़वा ही लगता है ।

वारिषेण मुनि की कथा

वारिषेण मुनि की कथा

कथा :

मैं संसार पूज्य जिन-भगवान् को नमस्कार कर श्री वारिषेण-मुनि की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण नामक अंग का पालन किया है ।

अपनी सम्पदा से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले मगधदेश के अंतर्गत राजगृह नाम का एक सुन्दर शहर है । उसके राजा हैं श्रेणिक । वे सम्यग्दृष्टि हैं, उदार हैं और राजनीति के अच्छे विद्वान हैं । उनकी महारानी का नाम चेलना है । वह भी सम्यक्त्व-रूपी रत्न से सुशोभित है, बड़ी धर्मात्मा है, सती है, और विदुषी है । उसके एक पुत्र है । उसका नाम है वारिषेण । वारिषेण बहुत गुणी है, धर्मात्मा है और श्रावक है ।

एक दिन मगधसुन्दरी नाम की वेश्या राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करने को आयी हुई थी । उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठ के गले में बहुत ही सुन्दर रत्नों का हार पड़ा हुआ देखा । उसे देखते ही मगधसुन्दरी उसके लिये लालायित हो उठी । उसे हार के बिना अपना जीवन निरर्थक जान पड़ने लगा । सारा संसार उसे हारमय दिखने लगा । वह उदास मुँह घर पर लौट आई । रात के समय जब उसका प्रेमी विद्युतचोर घर पर आया तब उसने मगधसुन्दरी को उदास मुँह देखकर बड़े प्रेम से पूछा -- प्रिये, आज मैं तुम्हें उदास देखता हूँ, क्या इसका कारण तुम बताओगी ? तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यंत दुखी कर रही है ।

मगधसुन्दरी ने विद्युत पर कटाक्षबाण चलाते हुए कहा -- प्राणवल्लभ, तुम मुझ पर इतना प्रेम करते हो, पर मुझे तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है और सचमुच ही तुम्हारा यदि मुझ पर प्रेम है तो कृपा कर श्रीकीर्ति सेठ के गले का हार, जिसे कि आज मैंने बगीचे में देखा है और जो बहुत ही सुन्दर है, लाकर मुझे दीजिये; जिससे मेरी इच्छा पूरी हो । तब ही मैं समझूँगी कि आप मुझ से सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होने के अधिकारी हो सकेंगे ।

मगधसुन्दरी के जाल में फँसकर उसे इस कठिन कार्य के लिये भी तैयार होना पड़ा । वह उसे संतोष देकर उसी समय वहाँ से चल दिया

और श्रीकीर्ति सेठ के महल पहुँचा । वहाँ से श्रीकीर्ति के शयनागार में गया और अपनी कार्यकुशलता से उसके गले में से हार निकाल लिया और बड़ी फुर्ती के साथ वहाँ से चल दिया । हार के दिव्य तेज को नहीं छुपा सका । सो भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया । वे उसे पकड़ने को दौड़े । वह भागता हुआ श्मशान की ओर निकल आया । वारिषेण इस समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था । सो विद्युत चोर मौका देखकर पीछे आने वाले सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिये उस हार को वारिषेण के आगे पटक कर वहाँ से भाग खड़ा हुआ । इतने में सिपाही भी वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वारिषेण ध्यान किये खड़ा हुआ था । वे वारिषेण को हार के पास खड़ा देखकर भौंचक्के से रह गये । वे उसे उस अवस्था में देखकर हँसे और बोले -- वाह चाल तो खूब खेली गई ? मानो मैं कुछ जानता ही नहीं । मुझे धर्मात्मा जानकर सिपाही छोड़ जायेंगे । पर याद रखिये हम अपने मालिक की सच्ची नौकरी करते हैं । हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे ! यह कहकर वे वारिषेण को बांधकर श्रेणिक के पास ले गये और राजा से बोले -- महाराज, ये हार चुराकर लिये जाते थे, सो हमने इन्हें पकड़ लिया । सुनते ही श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे लाल सुर्ख हो गया, उनके ओंठ काँपने लगे, आँखों से क्रोध की ज्वालायें निकलने लगीं । उन्होंने गरज कर कहा -- देखो इस पापी का नीच कर्म जो श्मशान में जाकर ध्यान करता है और लोगों को यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ, ठगता है, धोखा देता है । पापी ! कुल कलंक ! देखा मैंने तेरा धर्म का ढोंग ! सच है, दुराचारी, लोगों को धोखा देने के लिये क्या-क्या नहीं करते ? जिसे मैं राज्यसिंहासन पर बिठाकर संसार का अधीश्वर बनाना चाहता था, मैं नहीं जानता था कि वह इतना नीच होगा ? इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है ? अच्छा तो जो इतना दुराचारी है और प्रजा को धोखा देकर ठगता है उसका जीता रहना सिवा हानि के, लाभदायक नहीं हो सकता । इसलिये जाओ इसे ले जाकर मार डालो ।

अपने खास पुत्र के लिये महाराज की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र-लिखे से होकर महाराज की ओर देखने लगे । सबकी आँखों में पानी भर आया । पर किस की मजाल जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके । जल्लाद लोग उसी समय वारिषेण को वध्यभूमि में ले गये । उनमें से एक ने तलवार खींचकर बड़े जोर से वारिषेण की गर्दन पर मारी, पर यह क्या आश्चर्य ? जो उसकी गर्दन पर कोई घाव नहीं हुआ; किंतु वारिषेण को उल्टा यह जान पड़ा, मानो किसी ने उस पर फूलों की माला फेंकी है । जल्लाद लोग देखकर दाँतों में अंगुली दबा गये । वारिषेण के पुण्य ने उसकी रक्षा की । सच है --

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले, समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ।

शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते, तस्मात्सुखेषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥ --ब्रह्म नेमिदत्त्

अर्थात् -- पुण्य के उदय से अग्नि जल बन जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है । इसलिये जो लोग सुख चाहते हैं, उन्हें पवित्र कार्यों द्वारा सदा पुण्य उत्पन्न करना चाहिये । जिनभगवान् की पूजा करना, दान देना, व्रत उपवास करना, सदा विचार पवित्र और शुद्ध रखना, परोपकार करना, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कर्मों का न करना, ये पुण्य उत्पन्न करने के कारण हैं ।

वारिषेण की यह हालत देखकर सब उसकी जय जयकार करने लगे । देवों ने प्रसन्न होकर उस पर सुगन्धित फूलों की वर्षा की । नगरवासियों को इस समाचार से बड़ा आनन्द हुआ । सबने एक स्वर से कहा कि, वारिषेण तुम धन्य हो, तुम वास्तव में साधु पुरुष हो, तुम्हारा चरित्र बहुत निर्मल है, तुम जिनभगवान् के सच्चे सेवक हो, तुम पवित्र पुरुष हो, तुम जैनधर्म के सच्चे पालन करने वाले हो । पुण्य-पुरुष, तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है । सच है, पुण्य से क्या नहीं होता ?

श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का हाल सुना तो उन्हें भी अपने अविचार पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । वे दुःखी होकर बोले --

ये कुर्वन्ति जड़ात्मानः कार्यं लोकेअविचार्य च ।

ते सीदन्ति महन्तोपि मादृशा दुःख सागरे ॥ --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् -- जो मूर्ख लोग आवेश मे आकर बिना विचारे किसी काम को कर बैठते हैं, वे फिर बड़े भी क्यों न हों, उन्हें मेरी तरह दुःख ही उठाने पड़ते हैं । इसलिये चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे बड़े विचार के साथ करना चाहिए ।

श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप कर के पुत्र के पास श्मशान में आये । वारिषेण की पुण्य मूर्ति को देखते ही उनका हृदय पुत्र प्रेम से भर आया । उनकी आँखों से आँसू बह निकले । उन्होंने पुत्र को छाती से लगाकर रोते-रोते कहा -- प्यारे पुत्र, मेरी मूर्खता को क्षमा करो ! मैं क्रोध के मारे अन्धा बन गया था, इसलिए आगे पीछे का कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया । पुत्र, पश्चाताप से मेरा हृदय

जल रहा है; उसे अपने क्षमारूप जल से बुझाओ ! दुःख के समुद्र में गोते खा रहा हूँ, मुझे सहारा देकर निकालो !

अपने पूज्य पिता की यह हालत देखकर वारिषेण को बड़ा कष्ट हुआ । वह बोला -- पिताजी, आप यह क्या कहते हैं ? आप अपराधी कैसे ? आपने तो अपने कर्तव्य का पालन किया है और कर्तव्य का पालन करना कोई अपराध नहीं है । मान लीजिये कि यदि आप पुत्र-प्रेम के वश होकर मेरे लिये ऐसे दण्ड की आज्ञा न देते, उस से प्रजा क्या समझती ? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था तब भी क्या प्रजा इस बात को देखती ? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया । पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिता का काम किया है । आपकी नीतिपरायणता देखकर मेरा हृदय आनन्द के समुद्र में लहरें ले रहा है । आपने पवित्र वंश की आज लाज रख ली । यदि आप ऐसे समय में अपने कर्त्तव्य से जरा भी खिसक जाते, तो सदा के लिये अपने कुल में कलंक का टीका लग जाता । इसके लिये तो आपको प्रसन्न होना चाहिये न कि दुःखी । हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पाप का उदय था; इसलिये मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना । पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं । क्योंकि --

अवश्य ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् । --वादीभ सिंह

अर्थात् -- जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है । फिर मेरे लिए कर्मों का फल भोगना कोई नई बात नहीं है ।

पुत्र के ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए । वे सब दुःख भूल गये । उन्होंने कहा, पुत्र, सत्पुरुषों ने बहुत ठीक लिखा है --

चंदनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथाऽगुरुः ।
न याति विक्रियां साधुः पीडितो पि तथाऽपरैः ॥

अर्थात् -- चन्दन को कितना भी घिसिये, अगुरु को खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़ कर उलटा उन में से अधिक-अधिक सुगन्ध निकलेगी । उसी तरह सत्पुरुषों को दुष्ट लोग कितना ही सतावें, कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होते, सदा शांत रहते हैं और अपनी बुराई करने वाले का भी उपकार करते हैं ।

वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युतचोर को बड़ा भय हुआ । उसने सोचा कि राजा को मेरा हाल मालूम हो जाने से वे मुझे बहुत कड़ी सजा देंगे । इससे अच्छा यही है कि मैं स्वयं ही जाकर उनसे सब सच्चा-सच्चा हाल कह दूँ । ऐसा करने से वे मुझे क्षमा भी कर सकेंगे । यह विचार कर विद्युतचोर महाराज के सामने जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर उनसे बोला -- प्रभो, यह सब पाप कर्म मेरा है । पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है । पापिनी वेश्या के जाल में फँसकर मैंने यह नीच काम किया था; पर आज से मैं कभी ऐसा काम नहीं करूँगा । मुझे दया करके क्षमा कीजिये ।

विद्युत चोर को अपने कृतकर्म के पश्चात्ताप से दु:खी देख श्रेणिक उसे अभय देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेण से बोले -- पुत्र, अब राजधानी में चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग से बहुत दुखी हो रही होंगी ।

उत्तर में वारिषेण ने कहा -- पिताजी, मुझे क्षमा कीजिये । मैंने संसार की लीला देख ली । मेरा आत्मा उसमें प्रवेश करने से मुझे रोकता है । इसलिये मैं अब घर पर न जाकर जिनभगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करूँगा । सुनिये, अब से मेरा कर्त्तव्य होगा कि मैं हाथ ही में भोजन करूँगा, सदा वन में रहूँगा और मुनि मार्ग पर चलकर अपना आत्महित करूँगा । मुझे अब संसार में घूमने की इच्छा नहीं, विषय वासना से प्रेम नहीं । मुझे संसार दुःख मय जान पड़ता है, इसलिये मैं जान-बूझकर अपने को दुःखों में फँसाना नहीं चाहता । क्योंकि --

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां फलं किं तेन स्यादिति-- जीवंधर चम्पू

अर्थात् -- हाथ में प्रदीप लेकर भी यदि कोई कुएँ में गिरना चाहे, तो बतलाइये उस दीपक से क्या लाभ ? जब मुझे दो अक्षरों का ज्ञान है और संसार की लीला से मैं अपरिचित नहीं हूँ; इतना होकर भी फिर मैं यदि उसमें फँसूं, तो मुझसा मूर्ख और कौन होगा ? इसलिये आप मुझे क्षमा कीजिये कि मैं आपकी पालनीय आज्ञा का भी बाध्य होकर विरोध कर रहा हूँ । यह कहकर वारिषेण फिर एक मिनट के लिए भी न ठहर कर वन की ओर चल दिए और श्री सूरदेव मुनि के पास जाकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली ।

तपस्वी बनकर वारिषेण मुनि बड़ी दृढ़ता के साथ चारित्र का पालन करने लगे । वे अनेक देशों-विदेशों में घूम-घूम कर धर्मोपदेश करते हुए एक बार पलाशकूट नामक शहर में पहुँचे । वहाँ श्रेणिक का मंत्री अग्निभूति रहता था । उसका एक पुष्पडाल नामक पुत्र था । वह बहुत

धर्मात्मा था और दान, व्रत, पूजा आदि सत्कर्मों के करने में सदा तत्पर रहा करता था । वह वारिषेण मुनि को भिक्षार्थ आये हुए देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उनके सामने गया और भक्ति-पूर्वक उनका आह्वान कर उसने नवधा भक्ति सहित उन्हें प्रासुक आहार दिया । आहार करके जब वारिषेण मुनि वन में जाने लगे तब पुष्पडाल भी कुछ तो भक्ति से, कुछ बालपने की मित्रता के नाते और कुछ राज पुत्र होने के लिहाज से उन्हें थोड़ी दूर पहुँचा आने के लिए अपनी स्त्री से पूछ कर उनके पीछे-पीछे चल दिया । वह दूर तक जाने की इच्छा न रहते हुए भी मुनि के साथ-साथ चलता गया । क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर गये बाद ये मुझे लौट जाने के लिये कहेंगे ही । पर मुनि ने उसे कुछ नहीं कहा, तब उसकी चिंता बढ़ गई । उसने मुनि को यह समझाने के लिये, कि मैं शहर से बहुत दूर निकल आया हूँ, मुझे घर पर जल्दी लौट जाना है, कहा -- कुमार, देखते हैं यह वही सरोवर है, जहाँ हम आप खेला करते थे; यह वही छायादार और उन्नत आम का वृक्ष है, जिस के नीचे आप हम बाललीला का सुख लेते थे; और देखो, यह वही विशाल भू भाग है, जहाँ मैंने और आपने बालपन में अनेक खेल खेले थे । इत्यादि अपने पूर्व परिचित चिह्नों को बार-बार दिखलाकर पुष्पडाल ने मुनि का ध्यान अपने दूर निकल आने की ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौट जाने को न कह सके । कारण वैसा करना उनका मार्ग नहीं था । इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से उसे खूब वैराग्य का उपदेश देकर मुनिदीक्षा दे दी । पुष्पडाल मुनि हो गया, संयम का पालन करने लगा और खूब शास्त्रों का अभ्यास करने लगा; पर तब भी उसकी विषय वासना नहीं मिटी, उसे अपनी स्त्री की बार-बार याद आने लगी । आचार्य कहते हैं कि --

धिक्कामं धिङ् महामोहं धिङ्भोगान्येस्तु वंचितः ।
सन्मार्गेपि स्थितो जंतुर्न जानाति निजं हितम् ॥ --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात -- उस काम को, उस मोह को, उन भोगों को धिक्कार है, जिनके वश होकर उत्तम मार्ग में चलने वाले भी अपना हित नहीं कर पाते । यही हाल पुष्पडाल का हुआ, जो मुनि होकर भी वह अपनी स्त्री को हृदय से नहीं भुला सका ।

इसी तरह पुष्पडाल को बारह वर्ष बीत गये । उसकी तपश्चर्या सार्थक होने के लिये गुरु ने उसे तीर्थ यात्रा करने की आज्ञा दी और उसके साथ वे भी चले । यात्रा करते-करते एक दिन वे भगवान् वर्धमान के समवशरण में पहुँच गये । भगवान को उन्होंने भक्ति पूर्वक प्रणाम किया । उस समय वहाँ गन्धर्वदेव भगवान की भक्ति कर रहे थे । उन्होंने काम की निन्दा में एक पद्य पढ़ा । वह पद्य यह था --

मइलकुचेली दुम्मणी णाहे पवसियएण ।
कह जीवेसइ घणियधर उब्भते विरहेण ॥ --कोई कवि

अर्थात् -- स्त्री चाहे मैली हो, कुचैली हो, हृदय की मलिन हो, पर वह भी अपने पति के प्रवासी होने पर, विदेश में रहने पर, पति वियोग से वन-वन, पर्वतों-पर्वतों में मारी-मारी फिरती है । अर्थात् काम के वश होकर नहीं करने के काम भी कर डालती है ।

उक्त पद्य को सुनते ही पुष्पडाल मुनि भी काम से पीड़ित होकर अपनी स्त्री की प्राप्ति के लिये अधीर हो उठे । वे व्रत से उदासीन होकर अपने शहर की ओर रवाना हुए । उनके हृदय की बात जानकर वारिषेण मुनि भी उन्हें धर्म में दृढ़ करने के लिये उनके साथ-साथ चल दिये ।

गुरु और शिष्य अपने शहर में पहुँचे । उन्हें देखकर सती चेलना ने सोचा कि -- जान पड़ता है, पुत्र चारित्र से चलायमान हुआ है । नहीं तो ऐसे समय इसके यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी ? यह विचार कर उसने उसकी परीक्षा के लिये उसके बैठने को दो आसन दिये । उनमें एक काष्ठ का था और दूसरा रत्नजड़ित । वारिषेण मुनि रत्नजड़ित आसन पर न बैठकर काष्ठ के आसन पर बैठे । सच है -- जो सच्चे मुनि होते हैं, वे कभी ऐसा तप नहीं करते जिससे उनके आचरण पर किसी को सन्देह हो । इसके बाद वारिषेण मुनि ने अपनी माता के सन्देह को दूर करके उससे कहा -- माता, कुछ समय के लिये मेरी सब स्त्रियों को यहाँ बुलवा तो लीजिये । महारानी ने वैसा ही किया । वारिषेण की सब स्त्रियाँ खूब वस्त्राभूषणों से सजकर उनके सामने आ उपस्थित हुईं । वे बड़ी सुन्दरी थीं । देवकन्यायें भी उनके रूप को देखकर लज्जित होतीं थीं । मुनि को नमस्कार कर वे सब उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा के लिये खड़ी रहीं ।

वारिषेण तब अपने शिष्य पुष्पडाल से कहा -- क्यों देखते हो न ? ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं, तुम्हारा संसार से प्रेम है, तो इन्हें तुम स्वीकार करो । वारिषेण मुनिराज का यह आश्चर्य में डालने वाला कर्त्तव्य देखकर पुष्पडाल बड़ा लज्जित हुआ । उसे अपनी मूर्खता पर बहुत खेद हुआ । वह मुनि के चरणों को नमस्कार कर बोला -- प्रभो, आप धन्य हैं, आपने

लोभरूपी पिशाच को नष्ट कर दिया है, आप ही ने जिनधर्म का सच्चा सार समझा है । संसार में वे ही बड़े पुरुष हैं, महात्मा हैं, जो आपके समान संसार की सब सम्पत्ति को लात मार कर वैरागी बनते हैं । उन महात्माओं के लिये फिर कौन वस्तु संसार में दुर्लभ रह जाती है ? दयासागर, मैं तो सचमुच जन्मान्ध हूँ, इसीलिये तो मौलिक तप रत्न को प्राप्त कर भी अपनी स्त्री को चित्त से अलग नहीं कर सका । प्रभो, जहाँ आपने बारह वर्ष पर्यंत खूब तपश्चर्या की वहाँ मुझ पापी ने इतने दिन व्यर्थ गँवा दिये -- सिवा आत्मा को कष्ट पहुँचाने के कुछ नहीं किया । स्वामी, मैं बहुत अपराधी हूँ, इसलिये दया करके मुझे अपने पाप का प्रायश्चित्त देकर पवित्र कीजिये । पुष्पडाल के भावों का परिवर्तन और कृतकर्म के पश्चात्ताप से उनके परिणामों की कोमलता तथा पवित्रता देखकर वारिषेण मुनिराज बोले -- धीर, इतने दुखी न बनिये । पाप कर्म के उदय से कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान् भी हतबुद्धि हो जाते हैं । इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । यही अच्छा हुआ जो तुम पीछे अपने मार्ग पर आ गये । इसके बाद उन्होंने पुष्पडाल मुनि को उचित प्रायश्चित्त देकर धर्म में स्थिर किया, अज्ञान के कारण सम्यग्दर्शन से विचलित देख कर उन का धर्म में स्थितिकरण किया ।
पुष्पडाल मुनि गुरु महाराज की कृपा से अपने हृदय को शुद्ध बनाकर बड़े वैराग्य भावों से कठिन-कठिन तपश्चर्या करने लगे, भूख प्यास की परवाह न कर परीषह सहने लगे ।
इसी प्रकार अज्ञान व मोह से कोई धर्मात्मा पुरुष धर्म रूपी पर्वत से गिरता हो, उसे सहारा देकर न गिरने देना चाहिये । जो धर्मज्ञ पुरुष इस स्थितिकरण अंग का पालन करते हैं, समझो कि वे स्वर्ग और मोक्ष सुख देने वाले धर्म रूपी वृक्ष को सींचते हैं । शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि अस्थिर हैं, विनाशीक हैं, इन की रक्षा भी जब कभी-कभी सुख देने वाली हो जाती है तब अनंत सुख देने वाले धर्म की रक्षा का कितना महत्त्व होगा, यह सहज में जाना जा सकता है । इसलिये धर्मात्माओं को उचित है कि वे दुःख देने वाले प्रमाद को छोड़कर संसार-समुद्र से पार करने वाले पवित्र-धर्म का सेवन करें ।
श्री वारिषेण मुनि, जो कि सदा जिन-भगवान् की भक्ति में लीन रहते हैं, तप पर्वत से गिरते हुए पुष्पडाल मुनि को हाथ का सहारा देकर तपश्चर्या और ध्यानाध्ययन करने के लिये वन में चले गये, वे प्रसिद्ध महात्मा आत्म-सुख प्रदान कर मुझे भी संसार-समुद्र से पार करें ।

विष्णुकुमार मुनि की कथा

विष्णुकुमार मुनि की कथा
कथा :
अनंत सुख प्रदान करने वाले जिनभगवान् जिनवाणी और जैन साधुओं को नमस्कार कर मैं वात्सल्य अंग के पालन करने वाले श्रीविष्णुकुमार मुनिराज की कथा लिखता हूँ ।
अवंतिदेश के अंतर्गत उज्जयिनी बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगरी है । जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय उसके राजा श्रीवर्मा थे । वे बड़े धर्मात्मा थे, सब शास्त्रों के अच्छे विद्वान थे, विचारशील थे, और अच्छे शूरवीर थे । वे दुराचारियों को उचित दण्ड देते और प्रजा का नीति के साथ पालन करते । प्रजा उनकी बड़ी भक्त थी ।
उनकी महारानी का नाम था श्रीमती । वह भी विदुषी थी । उस समय की स्त्रियों में वह प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी । उसका हृदय बड़ा दयालु था । वह जिसे दुखी देखती, फिर उसका दुःख दूर करने के लिये जी जान से प्रयत्न करती । महारानी को सारी प्रजा देवी समझती थी ।
श्रीवर्मा के राजमंत्री चार थे । उनके नाम थे बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद, और नमुचि । ये चारों ही धर्म के कट्टर शत्रु थे । इन पापी मंत्रियों से युक्त राजा ऐसे जान पड़ते थे मानों जहरीले सर्प से युक्त जैसे चन्दन का वृक्ष हो ।
एक दिन ज्ञानी अकम्पनाचार्य देश-विदेशों में पर्यटन कर भव्य पुरुषों को धर्मरूपी अमृत से सुखी करते हुए उज्जयिनी में आये । उनके साथ सात सौ मुनियों का बड़ा भारी संघ था । वे शहर के बाहर एक पवित्र स्थान में ठहरे । अकम्पनाचार्य को निमित्तज्ञान से उज्जयिनी की स्थिति अनिष्ट कर जान पड़ी । इसलिये उन्होंने सारे संघ से कह दिया कि देखो, राजा वगैरह कोई आवे पर आप लोग उन से वाद विवाद न कीजियेगा । नहीं तो सारा संघ बड़े कष्ट में पड़ जायेगा, उस पर घोर उपसर्ग आयेगा ।
गुरु की हितकर आज्ञा स्वीकार कर सब मुनि मौन के साथ ध्यान करने लगे । सच है—
शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः ।

प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ।। --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्— शिष्य वे ही प्रशंसा के पात्र हैं, जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं । इसके विपरीत चलने वाले कुपुत्र के समान निन्दा के पात्र हैं ।

अकम्पनाचार्य के आने का समाचार शहर के लोगों को मालूम हुए । वे पूजा द्रव्य लेकर बड़े भक्ति के साथ आचार्य की वन्दना को जाने लगे । आज एकाएक अपने शहर में आनन्द की धूमधाम देखकर महल पर बैठे हुए श्रीवर्मा ने मंत्रियों से पूछा— ये सब लोग आज ऐसे सजधजकर कहाँ जा रहे हैं ? उत्तर में मंत्रियों ने कहा— महाराज सुना जाता है कि अपने शहर में नंगे जैन साधु आये हुए हैं । ये सब उनकी पूजा के लिये जा रहे हैं । राजा ने प्रसन्नता के साथ कहा— तब तो हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिए । वे महापुरुष होंगे ! यह विचार कर राजा भी मंत्रियों के साथ आचार्य के दर्शन करने को गए । उन्हें आत्मध्यान में लीन देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने क्रम से एक-एक मुनिको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया । सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञानुसार मौन रहे । किसी ने भी उन्हें धर्मवृद्धि नहीं दी । राजा उनकी वन्दना कर वापिस महल लौट चले । लौटते समय मंत्रियों ने उनसे कहा— महाराज, देखें साधुओं को ? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं । यही तो कारण है कि सब मौनी बैठे हुए हैं । उन्हें देखकर सर्वसाधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं, बड़े तपस्वी हैं । पर यह इनका ढोंग है । अपनी सब पोल न खुल जाय, इसलिये उन्होंने लोगों को धोखा देने को यह कपटजाल रचा है । महाराज, ये दाम्भिक हैं । इस प्रकार त्रैलोक्यपूज्य और परम शांत मुनिराजों की निन्दा करते हुए ये मलिनहृदयी मंत्री राजा के साथ लौटे आ रहे थे कि रास्ते में इन्हें एक मुनि मिल गए, जो कि शहर से आहार करके वन की ओर आ रहे थे । मुनि को देखकर इन पापियों ने उनकी हँसी की, महाराज, देखिए एक बैल और पेट भरकर चला आ रहा है । मुनि ने मंत्रियों के निन्दावचनों को सुन लिया । सुनकर भी उनका कर्त्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सके । कारण वे आहार के लिए शहर में चले गये थे, इसलिये उन्हें अपने आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम न थी । मुनि ने यह समझकर, कि इन्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, उसे मैं चूर्ण करूँगा, कहा— तुम व्यर्थ क्यों किसी की बुराई करते हो ? यदि तुम में कुछ विद्या हो, आत्म बल हो, तो मुझ से शास्त्रार्थ करो । फिर तुम्हें जान पडेगा कि बैल कौन है ? भला वे भी तो राजमंत्री थे, उस पर भी दुष्टता उन के हृदय में कूट-कूट कर भरी हुई थी; फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधु के वचनों को सह सकते थे ? उन्होंने मुनि के साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया । अभिमान में आकर उन्होंने कह तो दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे, पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चों का खेल नहीं है । एक ही मुनि ने अपने स्याद्वाद के बल से बात की, बात में चारों मंत्रियों को पराजित कर दिया । सच है— एक ही सूर्य सारे संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए समर्थ है ।

विजय लाभकर श्रुतसागर मुनि अपने आचार्य के पास आये । उन्होंने रास्ते की सब घटना आचार्य से ज्यों की त्यों कह सुनाई । सुनकर आचार्य खेद के साथ बोले— हाय ! तुमने बहुत ही बुरा किया । तुमने अपने हाथों से सारे संघ का घात किया, जो उन से शास्त्रार्थ किया । अस्तु, जो हुआ, अब यदि तुम सारे संघ की रक्षा चाहते हो, तो पीछे जाओ और जहाँ मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ है, वहीं जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करो । आचार्य की आज्ञा को सुनकर श्रुतसागर मुनिराज जरा भी विचलित नहीं हुए । वे संघ की रक्षा के लिये उसी समय वहाँ से चल दिये और शास्त्रार्थ की जगह पर आकर मेरु की तरह निश्चल हो बड़े धैर्य के साथ कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे ।

शास्त्रार्थ में मुनि से पराजित होकर मंत्री बड़े लज्जित हुए । अपने मान भंग का बदला चुकाने का विचार कर मुनिवध के लिये रात्रि के समय वे चारों शहर से बाहर हुए । रास्ते में श्रुतसागर मुनि ध्यान करते हुए मिले । पहले उन्होंने अपने मान भंग करने वाले ही को परलोक पहुँचा देना चाहा । उन्होंने मुनि की गर्दन काटने को अपनी तलवार को म्यान से खींचा और एक ही साथ उनका काम तमाम करने के विचार से उन पर वार करना चाहा कि, इतने में मुनि के पुण्य प्रभाव से पुरदेवी ने आकर उन्हें तलवार उठाये हुए ही कील दिये ।

प्रातः काल होते ही बिजली की तरह सारे शहर में मंत्रियों की दुष्टता का हाल फैल गया । सब शहर उनके देखने को आया । राजा भी आये । सब ने एक स्वर से उन्हें धिक्कारा । है भी तो ठीक, जो पापी लोग निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं वे इस लोक में भी घोर दुःख उठाते हैं और परलोक में नरकों के असह्य दुःख सहते हैं । राजा ने उन्हें बहुत धिक्कार कर कहा— जब तुमने मेरे सामने इन निर्दोष और संसार मात्र का उपकार करने वाले मुनियों की निन्दा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वास पर निर्भर रहकर यह समझा था कि सम्भव है मुनि लोग ऐसे ही हों, पर आज मुझे तुम्हारी नीचता का ज्ञान हुआ, तुम्हारे पापी हृदय का पता लगा । तुम इन्हीं निर्दोष साधुओं की हत्या करने को आये

थे न ? पापियों, तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है । तुम्हें तुम्हारे इस घोर कर्म का उपयुक्त दण्ड यही चाहिये था कि जैसा तुम करना चाहते थे, वही तुम्हारे लिये किया जाता । पर पापियों, तुम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियाँ मेरे यहाँ मंत्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं, इसलिये उसके लिहाज से तुम्हें अभय देकर अपने नौकरों को आज्ञा करता हूँ कि वे तुम्हें गधों पर बैठाकर मेरे देश की सीमा से बाहर कर दें । राजा की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ । चारों मंत्री देश से निकाल दिये गये । सच है— पापियों की ऐसी दशा होना उचित ही है ।

धर्म के ऐसे प्रभाव को देखकर लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा । वे अपने हृदय में बढ़ते हुए हर्ष के वेग को रोकने में समर्थ नहीं हुए । उन्होंने जयध्वनि के मारे आकाश पाताल एक कर दिया। मुनि संघ का उपद्रव टला । सबके चित्त स्थिर हुए । अकम्पनाचार्य भी उज्जयिनी से विहार कर गये ।

हस्तिनापुर नाम का एक शहर है । उसके राजा हैं महापद्म । उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था । उसके पद्म और विष्णु नाम के दो पुत्र हुए ।

एक दिन राजा संसार की दशा पर विचार कर रहे थे । उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वैराग्य़ हुआ उन्हें संसार दुःख मय दिखने लगा । वे उसी समय अपने बड़े पुत्र पद्म को राज्य देकर अपने छोटे पुत्र विष्णु कुमार के साथ वन में चले गये और श्रुतसागर मुनि के पास पहुँचकर दोनों पिता-पुत्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली । विष्णु कुमार बालपने से ही संसार से विरक्त थे, इसलिये पिता के रोकने पर भी वे दीक्षित हो गये । विष्णु कुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे । कुछ दिनों बाद तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई ।

पिता के दीक्षित हो जाने पर हस्तिनापुर का राज्य पद्मराज करने लगे । उन्हें सब कुछ होने पर भी एक बात का बड़ा दुःख था । वह यह कि, कुम्भपुर का राजा सिंहबल उन्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया करता था । उनके देश में अनेक उपद्रव किया करता था । उस के अधिकार में एक बड़ा भारी सुदृढ़ किला था । इसलिये वह पद्मराज की प्रजा पर एकाएक धावा मार कर अपने किले में जाकर छिप जाता है । तब पद्मराज उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर पाते थे । इस कष्ट की उन्हें सदा चिंता रहा करती थी ।

इसी समय श्रीवर्मा के चारों मंत्री उज्जयिनी से निकलकर कुछ दिनों बाद हस्तिनापुर की ओर आ निकले । उन्हें किसी तरह राजा के इस दुःख सूत्र का पता लग गया । वे राजा से मिले और उन्हें चिंता से निर्मुक्त करने का वचन देकर कुछ सेना के साथ सिंहबल पर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानी से किले को तोड़कर सिंहबल को उन्होंने बाँध लिया और लाकर पद्मराज के सामने उपस्थित कर दिया । पद्मराज उनकी वीरता और बुद्धिमानी से बहुत प्रसन्न हुआ । उसने उन्हें मंत्री बनाकर कहा—तुमने मेरा उपकार किया है । तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूँ । यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो वह मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ । उत्तर में बलि नाम के मंत्री ने कहा—प्रभो, आपकी हम पर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका । इस पर भी आपका आग्रह है, तो उसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते । अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है । जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे ही ।

इसी समय श्री अकम्पनाचार्य अनेक देशों में विहार करते हुए और धर्मोपदेश द्वारा संसार के जीवों का हित करते हुए हस्तिनापुर के बगीचे में आकर ठहरे । सब लोग उत्सव के साथ उनकी वन्दना करने को गये । अकम्पनाचार्य के आने का समाचार राजमंत्रियों को मालूम हुआ । मालूम होते ही उन्हें अपने अपमान की बात याद हो आई । उनका हृदय प्रतिहिंसा से उद्विग्न हो उठा । उन्होंने परस्पर में विचार किया कि समय बहुत उपयुक्त है, इसलिये बदला लेना ही चाहिये । देखो न, इन्हीं दुष्टों के द्वारा अपने को कितना कष्ट उठाना पड़ा था ? सबके हम धिक्कार पात्र बने और अपमान के साथ देश से निकाले गये । पर अपने मार्ग में एक बड़ा काँटा है । राजा इनका बड़ा भक्त है । वह अपने रहते हुए इनका अनिष्ट कैसे होने देगा ? इसके लिये कुछ उपाय सोच निकालना आवश्यक है । नहीं तो ऐसा न हो कि ऐसा अच्छा समय हाथ से निकल जाय ? इतने में बलि मंत्री बोल उठा कि, हाँ इसकी आप चिंता न करें । सिंहबल के पकड़ लाने का पुरस्कार राजा से बाकी है, उसके ऐवज में उससे सात दिन का राज्य ले लेना चाहिये । फिर जैसा हम करेंगे वही होगा । राजा को उसमें दखल देने का कोई अधिकार न रहेगा । यह प्रयत्न सबको सर्वोत्तम जान पड़ा । बलि उसी समय राजा के पास पहुँचा और बड़ी विनीतता से बोला—महाराज, आप पर हमारा एक पुरस्कार बाकी है । आप कृपाकर अब उसे दीजिये । इस समय उससे हमारा बड़ा उपकार होगा । राजा उसका कूट कपट नहीं समझ और यह विचार कर, कि इन लोगों ने मेरा बड़ा उपकार किया था, अब उसका बदला चुकाना मेरा कर्त्तव्य है,

बोला— बहुत अच्छा, जो तुम्हें चाहिए वह मांग लो, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके तुम्हारे ऋण से उऋण होने का यत्न करूँगा ।
बलि बोला— महाराज, यदि आप वास्तव में ही हमारा हित चाहते हैं, तो कृपा करके सात दिन के लिए अपना राज्य हमें प्रदान कीजिये ।
राजा सुनते ही अवाक् रह गया । उसे किसी बड़े भारी अनर्थ की आशंका हुई । पर अब वश ही क्या था ? उसे वचनबद्ध होकर राज्य दे देना ही पड़ा । राज्य के प्राप्त होते ही उनकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा । उन्होंने मुनियों के मारने के लिए यज्ञ का बहाना बनाकर षड्यंत्र रचा, जिससे कि सर्वसाधारण न समझ सकें ।
मुनियों को बीच में रखकर यज्ञ के लिए एक बड़ा भारी मंडप तैयार किया गया । उनके चारों ओर काष्ठ ही काष्ठ रखवा दिया गया । हजारों पशु इकट्ठे किये गये । यज्ञ आरम्भ हुआ । वेदों के जानकार बड़े-बड़े विद्वान ग़्ज्ञ कराने लगे । वेदध्वनि से यज्ञमण्डप गूँजने लगा । बेचारे निरपराध पशु बड़ी निर्दयता से मारे जाने लगे । उनकी आहुतियाँ दी जाने लगीं । देखते-देखते दुर्गन्धित धुएँ से आकाश परिपूर्ण हुआ । मानो इस महापाप को न देख सकने के कारण सूर्य अस्त हुआ । मनुष्यों के हाथ से राज्य राक्षसों के हाथों में गया ।
सारे मुनिसंघ पर भयंकर उपसर्ग हुआ । परंतु उन शांति की मूर्तियों ने इसे अपने किये कर्मों का फल समझकर बड़ी धीरता के साथ सहना आरम्भ किया । वे मेरु समान निश्चल रहकर एक चित्त से परमात्मा का ध्यान करने लगे । सच है—जिन्होंने अपने हृदय को खूब उन्नत और दृढ़ बना लिया है, जिनके ह्दय में निरंतर यह भावना बनी रहती है—
अरि मित्र, महल मसान, कंचन काँच, निन्दन थुतिकरन ।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन ।।
वे क्या कभी ऐसे उपसर्गों से विचलित होते हैं ? नहीं । पाण्डवों को शत्रुओं ने लोहे के गरम-गरम भूषण पहना दिये । अग्नि की भयानक ज्वाला उनके शरीर को भस्म करने लगी । पर वे विचलित नहीं हुए । धैर्य के साथ उन्होंने सब उपसर्ग सहा । जैन साधुओं का यही मार्ग है कि वे आये हुए कष्टों को शांति से सहें और वे ही यथार्थ साधु हैं । जिनका हृदय दुर्बल है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओं को जीतने के लिये ऐसे कष्ट नहीं सह सकते, दुःखों के प्राप्त होने पर समभाव नहीं रख सकते, वे न तो अपने आत्महित के मार्ग में आगे बढ़ पाते हैं और न वे साधुपद स्वीकार करने योग्य हो सकते हैं ।
मिथिला में श्रुतसागर मुनि को निमित्तज्ञान से इस उपसर्ग का हाल मालूम हुआ । उनके मुँह से बड़े कष्ट के साथ वचन निकले—हाय ! हाय !! इस समय मुनियों पर बड़ा उपसर्ग हो रहा है । वहीं एक पुष्पदंत नामक क्षुल्लक भी उपस्थित थे । उन्होंने मुनिराज से पूछा—प्रभो, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ? उत्तर में श्रुतसागर मुनि बोले—हस्तिनापुर में सातसौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है । उसके संरक्षक अकम्पनाचार्य हैं । उस सारे संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है ।
क्षुल्लक ने फिर पूछा—प्रभो, कोई ऐसा भी है, जिससे यह उपसर्ग दूर हो ?
मुनिने कहा—हाँ, उसका एक उपाय है । श्री विष्णु कुमार मुनि को विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई । वे अपनी ऋद्धि के बल से उपसर्ग को रोक सकते हैं ।
पुष्पदंत फिर एक क्षण भर भी वहाँ न ठहरे और जहाँ विष्णु कुमार मुनि तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर उन्होंने सब हाल विष्णु कुमार मुनि से कह सुनाया । विष्णु कुमार को ऋद्धि प्राप्त होने की पहले खबर नहीं हुई थी । पर जब पुष्पदंत के द्वारा उन्हें मालूम हुआ, तब उन्होंने परीक्षा के लिये एक हाथ पसारकर देखा । पसारते ही उनका हाथ बहुत दूर तक चला गया । उन्हें विश्वास हुआ । वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाई से बोले—भाई, आप किस नींद मे सोते हुए हो ? जानते हो, शहर में कितना बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है ? अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया ? क्या पहले किसी ने भी अपने कुल में ऐसा घोर अनर्थ आज तक किया है ? हाय ! धर्म के अवतार, परम शांत और किसी से कुछ लेते देते नहीं, उन मुनियों पर ये अत्याचार ? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में ? खेद ! भाई, राजाओं का धर्म तो यह कहा गया है कि वे सज्जनों की धर्मात्माओं की रक्षा करें और दुष्टों को दण्ड दें । पर आप तो बिलकुल इससे उल्टा कर रहे हैं । समझते हो साधुओं का सताना ठीक नहीं । ठण्डा जल भी गरम होकर शरीर को जला डालता है । इसलिये जब तक कोई आपत्ति तुम पर न आवे, उसके पहले ही उपसर्ग की शांति करवा दीजिये ।
अपने भाई का उपदेश सुनकर पद्मराज बोले— मुनिराज, मैं क्या करूँ ? मुझे क्या मालूम था ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे ? अब तो मैं बिलकुल विवश हूँ । मैं कुछ नहीं कर सकता । सात दिन तक जैसा कुछ ये करेंगे वह सब मुझे सहना होगा । क्योंकि मैं

वचनबद्ध हो चुका हूँ । अब तो आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिये । आप इसके लिये समर्थ भी हैं और सब जानते हैं । उसमें मेरा दखल देना तो ऐसा है जैसा सूर्य को दीपक दिखलाना । आप अब जाइये और शीघ्रता कीजिये । विलम्ब करना उचित नहीं ।

विष्णु कुमार मुनि ने विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से बावन ब्राह्मण का वेश बनाया और बड़ी मधुरता से वेदध्वनि का उच्चारण करते हुए वे यज्ञमंडप पहुँचे । उनका सुन्दर स्वरूप और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए । बलि तो उन पर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा । उसने बड़ी प्रसन्नता से उनसे कहा— महाराज, आपने पधारकर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी । मैं बहुत खुश हुआ । आपको जो इच्छा हो, मांगिये । इस समय मैं सब कुछ देने को समर्थ हूँ ।

विष्णुकुमार बोले— मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ । मुझे अपने जैसी कुछ स्थिति है, उसमे सन्तोष है । मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं । पर आपका जब इतना आग्रह है, तो आपको असंतुष्ट करना भी मैं नहीं चाहता । मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है । यदि आप कृपा करके उतनी भूमि मुझे प्रदान कर देंगे तो मैं उससे टूटी फूटी झोपड़ी बनाकर रह सकूँगा । स्थान की निराकुलता से मैं अपना समय वेदाध्ययनादि में बड़ी अच्छी तरह बिता सकूँगा । बस, इसके सिवा मुझे और कुछ आशा नहीं है ।

विष्णुकुमार की यह तुच्छ याचना सुनकर और-और ब्राह्मणों को उनकी बुद्धि पर बड़ा खेद हुआ । उन्होंने कहा भी कृपानाथ, आपको थोड़े में ही संतोष था, तब भी आपका यह कर्त्तव्य तो था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जाति भाइयों का ही उपकार करते ? उसमें आपका बिगड़ क्या जाता था ?

बलि ने भी उन्हें बहुत समझाया और कहा कि आपने तो कुछ भी नहीं माँगा । मैं तो यह समझा था कि आप अपनी इच्छा से माँगते हैं, इसलिये जो कुछ माँगेंगे वह अच्छा ही माँगेंगे; परन्तु आपने तो मुझे ही हताश किया । यदि आप मेरे वैभव और मेरी शक्ति के अनुसार माँगेंगे तो मुझे बहुत संतोष होता । महाराज, अब भी आप चाहें तो और भी अपनी इच्छानुसार माँग सकते हैं । मैं देने को प्रस्तुत हूँ ।

विष्णुकुमार बोले— नहीं, मैंने जो कुछ मांगा है, मेरे लिए वही बहुत है । अधिक मुझे चाह नहीं । आपको देना ही है तो और बहुत से ब्राह्मण मौजूद हैं; उन्हें दीजिये । बलि ने कहा कि जैसी आपकी इच्छा । आप अपने पाँवों से भूमि माप लीजिये । यह कहकर उसने हाथ में जल लिया और संकल्प कर उसे विष्णुकुमार के हाथ में छोड दिया । संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरु की । पहला पाँव उन्होंने सुमेरु पर्वत पर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, अब तीसरा पाँव रखने को जगह नहीं । उसे वे कहाँ रक्खें ? उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठी, सब पर्वत चल गये, समुद्रों ने मर्यादा तोड़ दी, देवों और ग्रहों के विमान एक से एक टकराने लगे और देवगण आश्चर्य के मारे भौंचक्के से रह गए । वे सब विष्णुकुमार के पास आये और बलि को बाँधकर बोले— प्रभो, क्षमा कीजिये ! क्षमा कीजिये !! यह सब दुष्कर्म इसी पापी का है । यह आपके सामने उपस्थित है । बलि ने मुनिराज के पाँवों में गिरकर उनसे अपना अपराध क्षमा कराया और अपने दुष्कर्म पर बहुत पश्चात्ताप किया ।

विष्णुकुमार मुनि ने संघ का उपद्रव दूर किया । सबको शांति हुई । राजा और चारों मंत्री तथा प्रजा के सब लोग बड़ी भक्ति के साथ अकम्पनाचार्य की वन्दना करने गये । उनके पाँवों में पड़कर राजा और मंत्रियों ने अपना अपराध उनसे क्षमा कराया और उसी दिन से मिथ्यात्वमत छोड़कर सब अहिंसामयी पवित्र जिनशासन के उपासक बने ।

देवों ने प्रसन्न होकर विष्णुकुमार की पूजन के लिये तीन बहुत ही सुन्दर स्वर्गीय वीणायें प्रदान कीं, जिनके द्वारा उनका गुणानुवाद गा-गाकर लोग बहुत पुण्य उत्पन्न करेंगे । जैसा विष्णुकुमार ने वात्सल्य अंग का पालन कर अपने धर्म बन्धुओं के साथ प्रेम का अपूर्व परिचय दिया, उसी प्रकार और-और भव्य पुरुषों को भी अपने और दूसरों के हित के लिये समय समय पर दूसरों के दुखों में शामिल होकर वात्सल्य, उदार प्रेम का परिचय देना उचित है ।

इस प्रकार जिनभगवान् के परम भक्त विष्णुकुमार ने धर्मप्रेम के वश हो मुनियों का उपसर्ग दूर कर वात्सल्य अंग का पालन किया और पश्चात ध्यानाग्नि द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्ष गये । वे ही विष्णुकुमार मुनिराज मुझे भवसमुद्र से पार कर मोक्ष प्रदान करें ।

वज्रकुमार की कथा

वज्रकुमार की कथा

कथा :

संसार के परम गुरु श्रीजिनभगवान् को नमस्कार कर मैं प्रभावना-अंग के पालन करने वाले श्रीवज्रकुमार-मुनि की कथा लिखता हूँ । जिस समय की यह कथा है, उस समय हस्तिनापुर के राजा थे बल । वे राजनीति के अच्छे विद्वान थे, बड़े तेजस्वी थे और दयालु थे । उनके मंत्री का नाम था गरुड़ । उसका एक पुत्र था उसका नाम सोमदत्त था । वह सब शास्त्रों का विद्वान था और सुन्दर भी बहुत था । उसे देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था । एक दिन सोमदत्त अपने मामा के यहाँ गया, जो कि अहिछत्रपुर में रहता था । उसने मामा से विनयपूर्वक कहा -- मामाजी, यहाँ के राजा से मिलने की मेरी बहुत उत्कंठा है । कृपाकर आप उनसे मेरी मुलाकात करवा दीजिये न ? सुभूति ने अभिमान में आकर अपने महाराज से सोमदत्त की मुलाकात नहीं कराई । सोमदत्त को मामा की यह बात बहुत खटकी । आखिर वह स्वयं ही दुर्मुख महाराज के पास गया और मामा का अभिमान नष्ट करने के लिये राजा को अपने पाण्डित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धि का परिचय कराकर स्वयं भी उनका मंत्री बन गया । ठीक भी है सबको अपनी ही शक्ति सुख देने वाली होती है । सुभूति को अपने भानजे का पाण्डित्य देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने उसके साथ अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री को ब्याह दिया । दोनों दम्पत्ति सुख से रहने लगे । कुछ दिनों बाद यज्ञदत्ता के गर्भ रहा ।

समय चातुर्मास का था । यज्ञदत्ता को दोहद उत्पन्न हुआ । उसे आम खाने की प्रबल उत्कण्ठा हुई । स्त्रियों को स्वभाव से गर्भावस्था में दोहद उत्पन्न हुआ ही करते हैं । सो आम का समय न होने पर भी सोमदत्त वन में आम ढूँढने को चला । बुद्धिमान पुरुष असमय में भी अप्राप्त वस्तु के लिये साहस करते ही हैं । सोमदत्त वन में पहुँचा, तो भाग्य से उसे सारे बगीचे में केवल एक आम का वृक्ष फला हुआ मिला । उसके नीचे एक परम महात्मा योगिराज बैठे हुए थे । उन से वह वृक्ष ऐसा जान पड़ता था, मानो मूर्तिमान धर्म है । सारे वन में एक ही वृक्ष को फला हुआ देखकर उसने समझ लिया कि यह मुनिराज का प्रभाव है । नहीं तो असमय आम कहाँ ? वह बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने उस पर से बहुत से फल तोड़कर अपनी प्रिया के पास पहुँचा दिये और आप मुनिराज को नमस्कार कर भक्ति से उनके पाँवों के पास बैठ गया । उसने हाथ जोड़कर मुनि से पूछा -- प्रभो, संसार में सार क्या है ? इस बात को आपके श्रीमुख से सुनने की मेरी बहुत उत्कण्ठा है । कृपा कर कहिये ।

मुनिराज बोले -- वत्स, संसार में सार, आत्मा को कुगतियों से बचाकर सुख देने वाला, एक धर्म है । उसके दो भेद हैं, १-मुनिधर्म, २-श्रावकधर्म । मुनियों का धर्म- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग ऐसे पाँच महाव्रत तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप आदि दशलक्षण धर्म और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे तीन रत्नत्रय, पाँच समिति, तीन गुप्ति, खड़े होकर आहार करना, स्नान न करना, सहन शक्ति बढ़ाने के लिये सिर के बालों का हाथों से ही लौंच करना, वस्त्र का न रखना आदि है । और श्रावक धर्म- बारह व्रतों का पालन करना, भगवान् की पूजा करना, पात्रों को दान देना और जितना अपने से बन सके दूसरों का उपकार करना, किसी की निन्दा बुराई न करना, शांति के साथ अपना जीवन बिताना आदि है । मुनिधर्म का पालन सर्वदेश किया जाता है और श्रावक धर्म का एक देश । जैसे अहिंसा धर्म का पालन मुनि तो सर्वदेश करेंगे । **अर्थ**ात् स्थावर जीवों की भी हिंसा वे नहीं करेंगे और श्रावक इसी धर्म का पालन एक-देश अर्थात् स्थूल रूप से करेगा । वह त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा और स्थावर जीव, वनस्पति आदि को अपने काम लायक उपयोग में लाकर शेष की रक्षा करेगा ।

श्रावकधर्म परम्परा मोक्ष का कारण है और मुनिधर्म द्वारा उसी पर्याय से भी मोक्ष जा सकता है । श्रावक को मुनिधर्म धारण करना ही पड़ता है । क्योंकि उसके बिना मोक्ष होता ही नहीं । जन्म-जरा-मरण का दुःख बिना मुनि धर्म के कभी नहीं छूटता । इसमें भी एक विशेषता है । वह यह कि जितने मुनि होते हैं, वे सब मोक्ष में ही जाते होंगे ऐसा नहीं समझना चाहिये । उसमें परिणामों पर सब बात निर्भर है । जिसके जितने-जितने परिणाम उन्नत हो जायेंगे और राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्म-शत्रु नष्ट होकर अपने स्वभाव की प्राप्ति होती जायगी वह उतना ही अंतिम साध्य मोक्ष के पास पहुँचता जायगा । पर यह पूर्ण रीति से ध्यान में रखना चाहिए कि मोक्ष होगा तो मुनि धर्म ही से ।

इस प्रकार श्रावक और मुनिधर्म तथा उनकी विशेषतायें सुनकर सोमदत्त को मुनिधर्म ही बहुत पसन्द पड़ा । उसने अत्यंत वैराग्य के वश होकर मुनि धर्म की ही दीक्षा ग्रहण की, जो कि सब पापों को नाश करने वाली है । साधु बनकर गुरु के पास उसने खूब शास्त्राभ्यास किया । सब शास्त्रों में उसने बहुत योग्यता प्राप्त कर ली । इसके बाद सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी नामक पर्वत पर जाकर तपश्चर्या करने लगे और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने लगे ।

इधर यज्ञदत्ता के समय पाकर पुत्र हुआ । उसकी दिव्य सुन्दरता और तेज को देखकर यज्ञदत्ता बड़ी प्रसन्न हुई । एक दिन उसे किसी के द्वारा अपने स्वामी के समाचार मिले । उसने वह हाल अपने और घर के लोगों से कहा और उनके पास चलने के लिये आग्रह किया । उन्हें साथ लेकर यज्ञदत्ता नाभिगिरी पर पहुँची । मुनि इस समय तापस योग से **अर्थ**ात् सूर्य के सामने मुँह किये ध्यान कर रहे थे । उन्हें मुनिवेश में देखकर यज्ञदत्ता के क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहा उसने गरज कर कहा—दुष्ट ! पापी !! यदि तुझे ऐसा करना था मेरी जिन्दगी बिगाड़नी थी, तो पहले ही से मुझे न ब्याहता ? बतला तो अब मैं किस के पास जाकर रहूँ ? निर्दय ! तुझे दया भी न आई जो मुझे निराश्रय छोड़कर तप करने को यहाँ चला आया ? अब इस बच्चे का पालन कौन करेगा ? जरा कह तो सही ! मुझसे इसका पालन नहीं होता । तू ही इसे लेकर पाल । यह कहकर निर्दयी यज्ञदत्ता बेचारे निर्दोष बालक को मुनि के पाँवों में पटक कर घर चली गई । उस पापिनी को अपने हृदय के टुकड़े पर इतनी भी दया नहीं आई कि मैं सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र जीवों से भरे हुए ऐसे भयंकर पर्वत पर उसे कैसे छोड़ जाती हूँ ? उसकी रक्षा कौन करेगा ? सच तो यह है- क्रोध के वश हो स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं ?

इधर तो यज्ञदत्ता पुत्र को मुनि के पास छोड़कर घर पर गई और इतने ही में दिवाकर देव नाम का एक विद्याधर इधर आ निकला । वह अमरावती का राजा था । पर भाई-भाई में लड़ाई हो जाने से उसके छोटे भाई पुरसुन्दर ने उसे युद्ध में पराजित कर देश से निकाल दिया था । सो वह अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिये चल दिया । यात्रा करते हुए वह नाभिपर्वत की ओर आ निकला । पर्वत पर मुनिराज को देखकर उनकी वन्दना के लिये नीचे उतरा । उसकी दृष्टि उस खेलते हुए तेजस्वी बालक के प्रसन्न मुख कमल पर पड़ी ! बालक को भाग्यशाली समझकर उसने अपनी गोद में उठा लिया और बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे अपनी प्रिया से कहा- प्रिये, यह कोई बड़ा पुण्य पुरुष है । आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ जो हमें अनायास ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई । उसकी स्त्री भी बच्चे को पाकर बहुत खुश हुई । उसने बड़े प्रेम के साथ उसे अपनी छाती से लगाया और अपने को कृतार्थ माना । बालक होनहार था । उसके हाथों में वज्र का चिह्न था । उसका सारा शरीर शुभ लक्षणों से विभूषित था । वज्र का चिह्न देखकर विद्याधर महिला ने उसका नाम वज्रकुमार रख दिया । इसके बाद वे दम्पत्ति मुनि को प्रणाम कर अपने घर पर लौट आये । यज्ञदत्ता तो अपने और सुपुत्र को भी छोड़कर चली आई, पर जो भाग्यवान होता है उसका कोई न कोई रक्षक बनकर आ ही जाता है । बहुत ठीक लिखा है—

प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात- पुण्यवानों को कहीं कष्ट प्राप्त नहीं होता । विद्याधर के घर पर पहुँचकर वज्रकुमार द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा और अपनी बाललीलाओं से सबको आनन्द देने लगा जो उसे देखता वही उसकी स्वर्गीय सुन्दरता पर मुग्ध हो उठता था ।

दिवाकर देव के सम्बन्ध से वज्रकुमार का मामा कनकपुरी का राजा विमल वाहन हुआ । अपने मामा के यहाँ रहकर वज्रकुमार ने खूब शास्त्राभ्यास किया । छोटी ही उमर में वह एक प्रसिद्ध विद्वान बन गया । उसकी बुद्धि को देखकर विद्याधर बड़ा आश्चर्य करने लगे ।

एक दिन वज्रकुमार ह्रीमंत पर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने को गया हुआ था । वहीं पर एक गरुड़ वेग विद्याधर की पवन वेगा नाम की पुत्री विद्या साध रही थी । सो विद्या साधते-साधते भाग्य से एक काँटा हवा से उड़कर उसकी आँख में गिर गया । उसके दुःख से उसका चित्त चंचल हो उठा । उससे विद्या सिद्ध होने में उसके लिये बड़ी कठिनाई आ उपस्थित हुई । इसी समय वज्रकुमार इधर आ निकला । उसे ध्यान से विचलित देखकर उसने उसकी आँख में से काँटा निकाल दिया । पवन वेगा स्वस्थ होकर फिर मंत्र साधने में तत्पर हुई । मंत्रयोग पूरा होने पर उसे विद्या सिद्ध हो गई । वह सब उपकार वज्रकुमार का समझकर उस के पास आई और उस से बोली—आपने मेरा बहुत उपकार किया है । ऐसे समय यदि आप उधर नहीं आते तो कभी संभव नहीं था, कि मुझे विद्या सिद्ध होती । इसका बदला मैं एक क्षुद्र बालिका क्या चुका सकती हूँ, पर यह जीवन आपको समर्पण कर आपकी चरणदासी बनना चाहती हूँ । मैंने संकल्प कर लिया है कि इस जीवन में आपके सिवा किसी को मैं अपने हृदय में स्थान नहीं दूँगी । मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये । यह कहकर वह सतृष्ण नैनों से वज्रकुमार की ओर देखने लगी । वज्रकुमार ने मुस्कुरा कर उस के प्रेमोपहार को बड़े आदर के साथ ग्रहण किया । दोनों वहाँ से विदा होकर अपने-अपने घर गये । शुभ दिन में गरुड़ वेग ने पवन वेगा का परिणय संस्कार वज्रकुमार के साथ कर दिया । दोनों दम्पत्ति सुख से रहने लगे ।

एक दिन वज्रकुमार को मालूम हो गया कि मेरे पिता थे तो राजा, पर उन्हें उनके छोटे भाई ने लड़ झगड़ कर अपने राज्य से निकाल दिया है । यह देख उसे अपने काका पर बड़ा क्रोध आया । वह पिता के बहुत कुछ मना करने पर भी कुछ सेना और अपनी पत्नी की विद्या

लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा । पुरन्दर देव को इस चढ़ाई का हाल कुछ मालूम नहीं हुआ था, इसलिये वह बात की बात में पराजित कर बाँध लिया गया । राज्य सिंहासन पीछा दिवाकर देव के अधिकार में आया । सच है "सुपुत्रः कुलदीपकः" **अर्थ**ात् सुपुत्र से कुल की उन्नति होती है । इस वीर वृत्तांत से वज्रकुमार बहुत प्रसिद्ध हो गया । अच्छे-अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर काँपने लगे । इसी समय दिवाकर देव की प्रिया जयश्री के भी एक और पुत्र उत्पन्न हो गया । अब उसे वज्रकुमार से डाह होने लगी । उसे एक भ्रम सा हो गया कि इसके सामने मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? खैर, यह भी मान लूँ कि मेरे आग्रह से प्राणनाथ अपने ही पुत्र को राज्य दे भी दें तो यह क्यों उसे देने देगा ? ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो—

आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत् । --वादीभसिंह

आती हुई लक्ष्मी को पाँव से ठुकरावेगा ? तब अपने पुत्र को राज्य मिलने में यह एक कंटक है । इसे किसी तरह उखाड़ फेंकना चाहिये । यह विचार कर वह मौका देखने लगी । एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुँह से यह सुन लिया कि "वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है । देखो, तो कहाँ तो उत्पन्न हुआ और किसे कष्ट देता है ?" उसकी माता किसी के सामने उसकी बुराई कर रही थी । सुनते ही वज्रकुमार के हृदय में मानो आग बरस गई । उसका हृदय जलने लगा । उसे फिर एक क्षण भर भी उस घर में रहना नर्क बराबर भयंकर हो उठा । वह उसी समय अपने पिता के पास गया और बोला - पिताजी, जल्दी बतलाइये मैं किसका पुत्र हूँ ? और क्यों यहाँ आया ? मैं जानता हूँ कि आपने मेरा अपने बच्चे से कहीं बढ़कर पालन किया है, तब भी मुझे कृपा कर बतला दीजिये कि मेरे सच्चे पिता कौन हैं ? और कहाँ है ? यदि आप मुझे ठीक-ठीक हाल नहीं कहेंगे तो मैं आज से भोजन नहीं करूँगा !

दिवाकर देव ने आज एकाएक वज्रकुमार के मुँह से अचम्भे में डालने वाली बातें सुनकर वज्रकुमार से कहा—पुत्र, क्या आज तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया है, जो बहकी-बहकी बातें करते हो ? तुम समझदार हो, तुम्हें ऐसी बातें करना उचित नहीं, जिससे मुझे कष्ट हो ।

वज्रकुमार बोला—पिताजी मैं यह नहीं कहता कि मैं आपका पुत्र नहीं, क्योंकि मेरे सच्चे पिता तो आप ही हैं, आप ही ने मुझे पालापोषा है । पर जो सच्चा वृत्तांत है, उसके जानने की मेरी बड़ी उत्कण्ठा है; इसलिए उसे आप न छिपाइये । उसे कहकर आप मेरे अशांत हृदय को शांत कीजिए । बहुत सच है बड़े पुरुषों के हृदय में जो बात एक बार समा जाती है, फिर वे उसे तब तक नहीं छोड़ते जब तक उसका उन्हें आदि अंत न मालूम हो जाय । वज्रकुमार के आग्रह से दिवाकर देव को उसका पूर्व हाल सब ज्यों का त्यों कह देना ही पड़ा । क्योंकि आग्रह से कोई बात छुपाई नहीं जा सकती । वज्रकुमार बड़ा विरक्त हुआ । उसे संसार का माया जाल बहुत भयंकर जान पड़ा । वह उसी समय विमान में चढ़कर अपने पिता की वन्दना करने को गया । उसके साथ ही उसका पिता और-और बन्धु लोग भी गये सोमदत्त मुनिराज मथुरा के पास एक गुफा में ध्यान कर रहे थे । उन्हें देखकर सब ही बहुत आनन्दित हुए । सब बड़ी भक्ति के साथ मुनि को प्रणाम कर जब बैठे, तब वज्रकुमार ने मुनिराज से कहा—पूज्यपाद, आज्ञा दीजिए, जिससे मैं साधु बनकर तपश्चर्या द्वारा अपना आत्म कल्याण करूँ वज्रकुमार को एक साथ संसार से विरक्त देखकर दिवाकर देव को बहुत आश्चर्य हुआ । उसने इस अभिप्राय से, कि सोमदत्त मुनिराज वज्रकुमार को कहीं मुनि हो जाने की आज्ञा न दे दें, उन से वज्रकुमार उन्हीं का पुत्र है, और उसी पर मेरा राज्यभार भी निर्भर है आदि सब हाल कह दिया । इसके बाद वह वज्रकुमार से भी बोला—पुत्र, तुम यह क्या करते हो ? तप करने का मेरा समय है या तुम्हारा ? तुम अब सब तरह योग्य हो गये, राजधानी में जाओ और अपना कारोबार सम्हालो । अब मैं सब तरह निश्चिंत हुआ । मैं आज ही दीक्षा ग्रहण करूँगा । दिवाकर देव ने उसे बहुत समझाया और दीक्षा लेने से रोका, पर उसने किसी की एक न सुनी और सब वस्त्राभूषण फेंक कर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली । कन्दर्पकेसरी वज्रकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे कठिन से कठिन परीषह सहने लगे । वे जिनशासनरूप समुद्र को बढ़ाने वाले चन्द्रमा के समान शोभने लगे ।

वज्रकुमार के साधु बन जाने के बाद की कथा अब लिखी जाती है । इस समय मथुरा के राजा थे पूतगन्ध । उनकी रानी का नाम था उर्विला । वह बड़ी धर्मात्मा थी, सती थी, विदुषी थी और सम्यग्दर्शन से भूषित थी । उसे जिन भगवान की पूजा से बहुत प्रेम था । वह प्रत्येक नन्दीश्वर पर्व में आठ दिन तक खूब पूजा महोत्सव करवाती, खूब दान करती । उससे जिनधर्म की बहुत प्रभावना होती । सर्व साधारण पर जैनधर्म का अच्छा प्रभाव पड़ता । मथुरा ही में एक सागरदत्त नाम का सेठ था । उसकी गृहणी का नाम था समुद्रदत्ता । पूर्व पाप के उदय से उसके दरिद्रा नाम की पुत्री हुई । उसके जन्म से माता-पिता को सुख न होकर दुःख हुआ । धन सम्पत्ति सब जाती रही । माता-पिता मर गये । बेचारी दरिद्रा के लिए अब अपना पेट भरना भी मुश्किल पड़ गया । अब वह दूसरों का झूठा खा-खाकर दिन काटने

लगी । सच है पाप के उदय से जीवों को दुःख भोगना ही पड़ता है ।
एक दिन दो मुनि भिक्षा के लिये मथुरा में आये । उनके नाम थे नन्दन और अभिनन्दन । उनमें नन्दन बड़े थे और अभिनन्दन छोटे । दरिद्रा को एक-एक अन्न का झूठा कण खाती हुई देखकर अभिनन्दन ने नन्दन से कहा—मुनिराज देखिये हाय ! यह बेचारी बालिका कितनी दुःखी है ? कैसे कष्ट से अपना जीवन बिता रही है ! तब नन्दन मुनि ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—हाँ यद्यपि इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं है,तथापि इसका पुण्य कर्म बहुत प्रबल है उससे यह पूतगन्ध राजा की पट्टरानी बनेगी । मुनि ने दरिद्रा का जो भविष्य सुनाया, उसे भिक्षा के लिए आये हुए एक बौद्ध भिक्षु ने भी सुन लिया । उसे जैन ऋषिओं के विषय में बहुत विश्वास था, इसलिए वह दरिद्र को अपने स्थान पर लिवा लाया और उसका पालन करने लगा ।
दरिद्रा जैसी-जैसी बड़ी होती गई वैसे ही वैसे यौवन ने उसकी श्री को सम्मान देना आरम्भ किया । वह अब युवती हो चली । उसके सारे शरीर से सुन्दरता की सुधा धारा बहने लगी । आँखों ने चंचल मीन को लजाना शुरु किया । मुँह ने चन्द्रमा को अपना दास बनाया । नितम्बों को अपने से जल्दी बढ़ते देखकर शर्म के मारे स्तनों का मुँह काला पड़ गया । एक दिन युवती दरिद्रा शहर के बगीचे में जाकर झूले पर झूल रही थी कि कर्म योग से उसी दिन राजा भी वहीं आ गये । उनकी नजर एकाएक दरिद्रा पर पड़ी । उसे देखकर वे अचम्भे में आ गये कि यह स्वर्ग सुन्दरी कौन है ? उन्होंने दरिद्रा से उसका परिचय पूछा । उसने निस्संकोच होकर अपना स्थान वगैरह सब उन्हें बता दिया । यह बेचारी भोली थी । उसे क्या मालूम कि मुझसे खास मथुरा के राजा पूछताछ कर रहे हैं । राजा तो उसे देखकर कामान्ध हो गये । वे बड़ी मुश्किल से अपने महल पर आये । आते ही उन्होंने अपने मंत्री को श्रीवन्दक के पास भेजा मंत्री ने पहुँचकर श्रीवन्दक से कहा—आज तुम्हारा और तुम्हारी कन्या का बड़ा ही भाग्य है, जो मथुराधीश्वर उसे अपनी महारानी बनाना चाहते हैं । कहो, तुम्हें भी यह बात सम्मत है न ? श्रीवन्दक बोला—हाँ मुझे महाराज की बात स्वीकार है, पर एक शर्त के साथ । वह शर्त यह है कि महाराज बौद्ध धर्म स्वीकार करें तो मैं इसका ब्याह महाराज के साथ कर सकता हूँ । मंत्री ने महाराज से श्रीवन्दक की शर्त कह सुनाई । महाराज ने उसे स्वीकार किया । सच है लोग काम के वश होकर धर्म परिवर्तन तो क्या बड़े-बड़े अनर्थ भी कर बैठते हैं ।
आखिर महाराज का दरिद्रा के साथ ब्याह हो गया । दरिद्रा मुनिराज के भविष्य कथनानुसार पट्टरानी हुई । दरिद्रा इस समय बुद्धदासी के नाम से प्रसिद्ध है । इसलिये आगे हम भी इसी नाम से उसका उल्लेख करेंगे । बुद्धदासी पट्टरानी बनकर बुद्ध धर्म का प्रचार बढ़ाने में सदा तत्पर रहने लगी । सच है, जिनधर्म संसार में सुख का देने वाला और पुण्य प्राप्ति का खजाना है, पर उसे प्राप्त कर पाते हैं भाग्यशाली ही । बेचारी अभागिनी बुद्धदासी के भाग्य में उसकी प्राप्ति कहाँ ?
अष्टाह्निका पर्व आया । उर्विला महारानी ने सदा के नियमानुसार अब की बार भी उत्सव करना आरम्भ किया । जब रथ निकालने का दिन आया और रथ, छत्र, चँवर, वस्त्र, भूषण, पुष्पमाला आदि से खूब सजाया गया, उस में भगवान् की प्रतिमा विराजमान की जाकर वह निकाला जाने लगा, तब बुद्धदासी ने राजा से यह कह कर, कि पहले मेरा रथ निकलेगा, उर्विला रानी का रथ रुकवा दिया । राजा ने भी उस पर कुछ बाधा न देकर उस के कहने को मान लिया । सच है—
मोहान्धा नैव जानंति गोक्षोरार्कपयोंतरम । --ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात् मोह से अन्धे हुए मनुष्य गाय के दूध में और आकड़े के दूध में कुछ भी भेद नहीं समझते । बुद्धदासी के प्रेम ने यही हालत पूतगंध राजा की कर दी । उर्विला को इससे बहुत कष्ट पहुँचा ।
उसने दुखी होकर प्रतिज्ञा कर ली कि अब पहले मेरा रथ निकलेगा तब ही मैं भोजन करूँगी । यह प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिया नाम की गुहा में पहुँची । वहाँ योगिराज सोमदत्त और वज्रकुमार महामुनि रहा करते हैं । वह उन्हें भक्ति पूर्वक नमस्कार कर बोली—हे जिन शासन रूप समुद्र के बढ़ाने वाले चन्द्रमाओं और हे मिथ्यात्व रूप अन्धकार के नष्ट करने वाले सूर्य ! इस समय आप ही मेरे लिये शरण हैं । आप ही मेरा दुख दूर कर सकते हैं । जैन धर्म पर इस समय बड़ा संकट उपस्थित है, उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिये । मेरा रथ निकलने वाला था, पर उसे बुद्धदासी ने महाराज से कहकर रुकवा दिया है । आज कल वह महाराज की बड़ी कृपा पात्र है, इसलिये जैसा वह कहती है महाराज भी बिना विचारे वही कहते हैं । मैनें प्रतिज्ञा कर ली है कि सदा की भाँति मेरा रथ पहले यदि निकलेगा तब ही मैं भोजन करूँगी । अब जैसा आप उचित समझें वह कीजिये । उर्विला अपनी बात कर रही थी कि इतने में वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनि की वन्दना करने को दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आये । वज्रकुमार मुनि ने उन से कहा—आप लोग समर्थ हैं और इस समय जैन धर्म पर कष्ट

उपस्थित है । बुद्धदासी ने महारानी उर्विला का रथ रुकवा दिया है । सो आप जाकर जिस तरह बन सके इसका रथ निकलवाइये । वज्रकुमार मुनि की आज्ञानुसार सब विद्याधर लोग अपने-अपने विमान पर चढ़कर मथुरा आये । सच है जो धर्मात्मा होते हैं वे धर्म प्रभावना के लिए स्वयं प्रयत्न करते हैं, तब उन्हें तो मुनिराज ने स्वयं प्रेरणा की है, इसलिये रानी उर्विला को सहायता देना तो उन्हें आवश्यक ही था । विद्याधरों ने पहुँचकर बुद्धदासी को बहुत समझाया और कहा, जो पुरानी रीति है उसे ही पहले होने देना अच्छा है । पर बुद्धदासी को तो अभिमान आ रहा था, इसलिये वह क्यों मानने चली ? विद्याधरों ने सीधेपन से अपना कार्य न होते हुए देखकर बुद्धदासी के नियुक्त किये हुए सिपाहियों से लड़ना शुरु किया और बात की बात में उन्हें भगाकर बड़े उत्सव और आनन्द के साथ उर्विला रानी का रथ निकलवा दिया । रथ के निर्विघ्न निकलने से सबको बहुत आनन्द हुआ । जैनधर्म की भी खूब प्रभावना हुई । बहुतों ने मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया । बुद्धदासी और राजा पर भी इस प्रभावना का खूब प्रभाव पड़ा । उन्होंने भी शुद्धांतःकरण से जैन धर्म स्वीकार किया ।

जिस प्रकार श्रीवज्रकुमार मुनिराज ने धर्म प्रेम के वश होकर जैन धर्म की प्रभावना करवाई उसी तरह और धर्मात्मा पुरुषों को भी संसार का उपकार करने वाली और स्वर्ग सुख की देने वाली धर्म प्रभावना करना चाहिये । जो भव्य पुरुष, प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार, रथयात्रा, विद्यादान, आहारदान, अभयदान आदि द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होकर त्रिलोक पूज्य होते हैं और अंत में मोक्षसुख प्राप्त करते हैं ।

धर्म प्रेमी श्रीवज्रकुमार मुनि मेरी बुद्धि को सदा जैन धर्म में दृढ़ रक्खें, जिसके द्वारा मैं भी कल्याण पथ पर चलकर अपना अंतिम साध्य मोक्ष प्राप्त कर सकूँ ।

श्री मल्लि भूषण गुरु मुझे मंगल प्रदान करें, वे मूलसंघ के प्रधान शारदागच्छ में हुए हैं । वे ज्ञान के समुद्र हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों से अलंकृत हैं । मैं उनकी भक्ति पूर्वक आराधना करता हूँ ।

नागदत्त मुनि की कथा

नागदत्त मुनि की कथा

कथा :

मोक्ष राज्य के अधीश्वर श्रीपंचपरम गुरु को नमस्कार कर श्रीनागदत्त मुनि का चरित मैं लिखता हूँ ।

मगध देश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह में प्रजापाल नाम के राजा हैं । वे विद्वान हैं, उदार हैं, धर्मात्मा हैं, जिनभगवान के भक्त हैं और नीति पूर्वक प्रजा का पालन करते हैं उनकी रानी का नाम है प्रियधर्मा । वह भी बड़ी सरल स्वभाव की और सुशीला है । उसके दो पुत्र हुए । उन के नाम थे प्रियधर्म और प्रियमित्र । दोनों भाई बड़े बुद्धिमान और सुचरित थे ।

किसी कारण से दोनों भाई संसार से विरक्त होकर साधु बन गये । और अंतसमय समाधि मरण कर अच्युत स्वर्ग में जाकर देव हुए । उन्होंने वहाँ परस्पर में प्रतिज्ञा की कि, 'जो दोनों में से पहले मनुष्य पर्याय प्राप्त करे उसके लिये स्वर्गस्थ देव का कर्त्तव्य होगा कि वह उसे जाकर सम्बोधे और संसार से विरक्त कर मोक्ष सुख की देने वाली जिन दीक्षा ग्रहण करने के लिये उसे उत्साहित करे ।' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वे वहाँ सुख से रहने लगे । उन दोनों में से प्रियदत्त की आयु पहले पूर्ण हो गयी । वह वहाँ से उज्जयिनी के राजा नागधर्म की प्रिया नागदत्ता के, जो बहुत ही सुन्दरी थी, नागदत्त नामक पुत्र हुआ । नागदत्त सर्पों के साथ क्रीड़ा करने में बहुत चतुर था, सर्प के साथ उसे विनोद करते देखकर सब लोग बड़ा आश्चर्य प्रगट करते थे ।

एक दिन प्रियधर्म, जो कि स्वर्ग में नागदत्त का मित्र था, गारुड़ि का वेष लेकर नागदत्त को सम्बोधने को उज्जयिनी में आया । उसके पास दो भयंकर सर्प थे । वह शहर में घूम-घूमकर लोगों को तमाशा बताता और सर्व साधारण में यह प्रगट करता कि मैं सर्प-क्रीड़ा का अच्छा जानकार हूँ । कोई और भी इस शहर में सर्प क्रीड़ा का अच्छा जानकार हो, तो फिर उसे मैं अपना खेल दिखलाऊँ । यह हाल धीरे-धीरे नागदत्त के पास पहुँचा । वह तो सर्प क्रीड़ा का पहले ही से बहुत शौकीन था,फिर अब तो एक और उसका साथी मिल गया । उसने उसी समय नौकरों को भेजकर उसे अपने पास बुला मँगाया । गारुड़ि तो इस कोशिश में था ही कि नागदत्त को किसी तरह मेरी खबर लग जाय और वह मुझे बुलावे । प्रियधर्म उसके पास गया । उसे पहुँचते ही नागदत्त ने अभिमान में आकर कहा - मंत्रवित्त तुम अपने सर्पों को बाहर निकालो न ? मैं उनके साथ कुछ खेल तो देखूँ कि वे कैसे जहरीले हैं ।

प्रियधर्म बोला - मैं राजपुत्रों के साथ ऐसी हँसी, दिल्लगी या खेल करना नहीं चाहता कि जिसमें जान की जोखिम तक हो । बतलाओ मैं तुम्हारे सामने सर्प निकाल कर रख दूँ और तुम उनके साथ खेलो, इस बीच में कुछ तुम्हें जोखम पहुँच जाय तब राजा मेरी क्या बुरी दशा करेंगे ? क्या उस समय वे मुझे छोड़ देंगे ? कभी नहीं । इसलिये न तो मैं ही ऐसा कर सकता हूँ और न तुम्हें ही इस विषय में कुछ आग्रह करना उचित है । हाँ तुम कहो तो मैं कुछ खेल दिखा सकता हूँ ।

नागदत्त बोला - तुम्हें पिताजी की ओर से कुछ भय नहीं करना चाहिये । वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मैं इस विषय में कितना विज्ञ हूँ और इस पर भी संतोष न हो तो आओ मैं पिताजी से तुम्हें क्षमा करवाये देता हूँ । यह कहकर नागदत्त प्रियदत्त को पिता के पास ले गया और मारे अभिमान में आकर बड़े आग्रह के साथ महाराज से उसे अभय दिलवा दिया । नागधर्म कुछ तो नागदत्त का सर्पों के साथ खेलना देख चुके थे और इस समय पुत्र का बहुत आग्रह था, इसलिये उन्होंने विशेष विचार न कर प्रियदत्त को अभय प्रदान कर दिया । नागदत्त बहुत प्रसन्न हुआ । उसने प्रियदत्त से सर्पों को बाहर निकालने के लिये कहा । प्रियदत्त ने पहले एक साधारण सर्प निकाला । नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा और थोड़ी देर में उसे उसने पराजित कर दिया; निर्विष कर दिया । अब तो नागदत्त का साहस खूब बढ़ गया । उसने दूने अभिमान के साथ कहा कि तुम क्या ऐसे मुर्दे सर्प को निकालकर और मुझे शर्मिन्दा करते हो ? कोई अच्छा विषधर सर्प निकालो न ? जिससे मेरी शक्ति का तुम भी परिचय पा सको ।

प्रियधर्म बोला - आपका कहा पूरा हुआ । आपने एक सर्प को हरा भी दिया है । अब आप अधिक आग्रह न करें तो अच्छा है । मेरे पास एक सर्प और है, पर वह बहुत जहरीला है; दैवयोग से उसने काट खाया तो समझिये फिर उसका कुछ उपाय ही नहीं है । उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है । इसलिये उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये । उसने नागदत्त से बहुत-बहुत प्रार्थना की पर नागदत्त ने उसकी एक नहीं मानी । उलटा उस पर क्रोधित होकर बोला - तुम अभी नहीं जानते कि इस विषय में मेरा कितना प्रवेश है ? इसीलिये ऐसी डरपोकपने की बातें करते हो । पर मैनें ऐसे-ऐसे हजारों सर्पों को जीतकर पराजित किया है । मेरे सामने यह बेचारा तुच्छ जीव कर ही क्या सकता है ? और फिर इसका डर तुम्हें हो या मुझे ? वह काटेगा तो मुझे ही न ? तुम मत घबराओ, उसके लिये मेरे पास बहुत से ऐसे साधन हैं, जिससे भयंकर सर्प का जहर भी क्षण-मात्र में उतर सकता है ।

प्रियधर्म ने कहा - अच्छा यदि तुम्हारा अत्यंत ही आग्रह है तो उससे मुझे कुछ हानि नहीं । इसके बाद उसने राजा आदि की साक्षी से अपने दूसरे सर्प को पिटारे में से निकाल बाहर कर दिया । सर्प निकलते ही फुंकार मारना शुरु किया । वह इतना जहरीला था कि उसके साँस की हवा ही से लोगों के सिर घूमने लगते थे । जैसे ही नागदत्त उसे हाथ में पकड़ने को उसकी ओर बढ़ा कि सर्प ने उसे बड़े जोर से काट खाया । सर्प का काटना था कि नागदत्त उसी समय चक्कर खाकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा और अचेत हो गया । उसकी यह दशा देखकर हाहाकार मच गया । सबकी आँखों से आँसू की धारा बह चली । राजा ने उसी समय नौकरों को दौड़ाकर सर्प का विष उतारने वालों को बुलवाया । बहुत से तांत्रिक-मांत्रिक इकट्ठे हुए । सबने अपनी-अपनी करनी में कोई बात उठा नहीं रक्खी । पर किसी का किया कुछ नहीं हुआ । सबने राजा को यही कहा कि महाराज, युवराज को तो काल-सर्प काटा है, अब ये नहीं जी सकेंगे । राजा बड़े निराश हुए । उन्होंने सर्पवाले से यह कहकर, कि यदि तू इसे जिला देगा तो मैं तुझे अपना आधा राज्य दे दूँगा, नागदत्त को उसी के सुपुर्द कर दिया ।

प्रियधर्म तब बोला - महाराज, इसे काटा तो है काल-सर्प ने, और इसका जी जाना भी असंभव है, पर मेरा कहा मानकर यदि यह जी जाय तो आप इसे मुनि हो जाने की आज्ञा दें तो, मैं भी एक बार इसके जिलाने का प्रयत्न कर देखूँ ।

राजा ने कहा - मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ । तुम इसे किसी तरह जिला दो, यही मुझे इष्ट है ।

इसके बाद प्रियधर्म ने कुछ मंत्र पढ़-पढ़ाकर उसे जिन्दा कर दिया । जैसे मिथ्यात्वरूपी विष से अचेत हुए मनुष्यों को परोपकारी मुनिराज अपना स्वरूप प्राप्त करा देते हैं । जैसे ही नागदत्त सचेत होकर उठा और उसे राजा ने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई । वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ । पश्चात एक क्षण भी वह वहाँ न ठहर कर वन की ओर रवाना हो गया और यमधर मुनिराज के पास पहुँचकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । उसे दीक्षित हो जाने पर प्रियधर्म, जो गारुड़ि का वेष लेकर स्वर्ग से नागदत्त के सम्बोधने को आया था, उसे सब हाल कहकर और अंत में नमस्कार कर स्वर्ग चला गया ।

मुनि बनकर नागदत्त खूब तपश्चर्या करने लगे और अपने चारित्र को दिन पर दिन निर्मल करके अंत में जिनकल्पी मुनि हो गये । **अर्थ**ात् जिन-भगवान् की तरह अब वे अकेले ही विहार करने लगे । एक दिन वे तीर्थयात्रा करते हुए एक भयानक वन में निकल आये । वहाँ चोरों

का अड्डा था, सो चोरों ने मुनिराज को देख लिया । उन्होंने यह समझकर कि ये हमारा पता लोगों को बता देंगे और फिर हम पकड़ लिए जायेंगे, उन्हें पकड़ लिया और अपने मुखिया के पास लिवा ले गये । मुखिया का नाम था सूरदत्त । वह मुनि को देखकर बोला - तुमने इन्हें क्यों पकड़ा ? ये तो बड़े सीधे और सरल स्वभावी हैं । इन्हें किसी से कुछ लेना देना नहीं, किसी पर इनका राग-द्वेष नहीं । ऐसे साधु को तुमने कष्ट देकर अच्छा नहीं किया । इन्हें जल्दी छोड़ दो । जिस भय की तुम इनके द्वारा आशंका करते हो, वह तुम्हारी भूल है । ये कोई बात ऐसी नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे । अपने मुखिया की आज्ञा के अनुसार चोरों ने उसी समय मुनिराज को छोड़ दिया । इसी समय नागदत्त की माता अपनी पुत्री को साथ लिये हुए वत्स देश की ओर जा रही थी । उसे उसका ब्याह कौशाम्बी के रहने वाले जिनदत्त सेठ के पुत्र धनपाल से करना था । अपने जमाई को दहेज देने के लिये उसने अपने पास उपयुक्त धन-सम्पत्ति भी रख ली थी । उसके साथ और भी पुरजन परिवार के लोग थे । सो उसे रास्ते में अपने पुत्र नागदत्त मुनि के दर्शन हो गये । उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा - प्रभो, आगे रास्ता तो अच्छा है न ? मुनिराज इसका कुछ उत्तर न देकर मौन सहित चले गये । क्योंकि उनके लिये तो शत्रु और मित्र दोनों ही समान हैं ।

आगे चलकर नागदत्ता को चोरों ने पकड़कर उसका सब माल असबाब छीन लिया और उसकी कन्या भी पापियों ने छुड़ा ली । तब सूरदत्त उनका मुखिया उनसे बोला - क्यों आपने देखी न उन मुनि की उदासीनता और निस्पृहता ? जो इस स्त्री ने मुनि को प्रणाम किया और उनकी भक्ति भी की, तब भी उन्होंने इससे कुछ नहीं कहा और हम लोगों ने उन्हें बाँधकर कष्ट पहुँचाया तब उन्होंने हमसे कुछ द्वेष नहीं किया । सच बात तो यह है कि उनकी वह प्रवृत्ति ही इतने ऊँचे दरजे की है, जो उसमें भक्ति करने वाले पर तो प्रेम नहीं और शत्रुता करने वाले से द्वेष नहीं । दिगम्बर मुनि बड़े ही शान्त, धीर, गम्भीर और तत्त्व-दर्शी हुआ करते हैं ।

नागदत्ता यह सुनकर, कि यह सब कारस्तानी मेरे ही पुत्र की है, यदि वह मुझे इस रास्ते का सब हाल कह देता, तो क्यों आज मेरी यह दुर्दशा होती ? क्रोध के तीव्र आवेग से थरथर काँपने लगी । उसने अपने पुत्र की निर्दयता से दुःखी होकर चोरों के मुखिया सूरदत्त से कहा - भाई, जरा अपनी छुरी तो मुझे दे, जिससे मैं अपनी कूँख को चीरकर शान्ति लाभ करूँ । जिस पापी का जिकर तुम कर रहे हो, वह मेरा ही पुत्र है । जिसे मैंने नौ महीने कूँख में रक्खा और बड़े-बड़े कष्ट सहे उसी ने मेरे साथ इतनी निर्दयता की कि मेरे पूछने पर भी उसने मुझे रास्ते का हाल नहीं बतलाया । तब ऐसे कुपुत्र को पैदाकर मुझे जीते रहने से ही क्या लाभ ? नागदत्ता का हाल जानकर सूरदत्त को बड़ा वैराग्य हुआ । वह उससे बोला - जो उस मुनि की माता है, वह मेरी भी माता है । माता क्षमा करो ! यह कहकर उसने उसका सब धन असबाब उसी समय लौटा दिया और आप मुनि के पास पहुँचा । उसने बड़ी भक्ति के साथ परम गुणवान नागदत्त मुनि की स्तुति की और पश्चात् उन्हीं के द्वारा दीक्षा लेकर वह तपस्वी बन गया ।

साधु बनकर सूरदत्त ने तपश्चर्या और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अनेक भव्य जीवों को कल्याण का रास्ता बतलाया और अंत में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी, अनंत, मोक्ष पद प्राप्त किया ।

श्री नागदत्त और सूरदत्त मुनि संसार के दुःखों को नष्ट कर मेरे लिये शांति प्रदान करें, जो कि गुणों के समुद्र हैं, जो देवों द्वारा सदा नमस्कार किये जाते हैं और जो संसारी जीवों के नेत्ररूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्रमा के समान हैं जिन्हें देखकर नेत्रों को बड़ा आनन्द मिलता है, शांति मिलती है ।

आत्मतत्त्व का श्रद्धान करना यही शुद्ध सम्यक्त्व है उसे जानना वही सम्यक्ज्ञान है और उसी में अपने मन को निश्चल कर ठहराना वही सम्यक्चारित्र है | यही रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है **अर्थ**ात तत्त्व को देखना, जानना व उसी में लीन होना यही मोक्ष का निश्चल मार्ग है |

शिवभूति पुरोहित की कथा

शिवभूति पुरोहित की कथा

कथा :

मैं संसार के हित करने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर दुर्जनों की संगति से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उससे सम्बन्ध रखने वाली एक कथा लिखता हूँ, जिससे कि लोग दुर्जनों की संगति छोड़ने का प्रयत्न करें ।

यह कथा उस समय की है, जब कि कौशाम्बी का राजा धनपाल था । धनपाल अच्छा बुद्धिमान और प्रजाहितैषी था । शत्रु तो उसका नाम सुनकर काँपते थे । राजा के यहाँ एक पुरोहित था । उसका नाम था शिवभूति । वह पौराणिक अच्छा था |

वहीं दो शूद्र रहते थे । उनके नाम कल्पपाल और पूर्णचन्द्र थे । उनके पास कुछ धन भी था । उनमें पूर्णचन्द्र की स्त्री का नाम था मणिप्रभा । उसके एक सुमित्रा नाम की लड़की थी । पूर्णचन्द्र ने उसके विवाह में उसके जातीय भाइयों को जिमाया और उसका राजपुरोहित से कुछ परिचय होने से उसने उसे भी निमंत्रित किया । पर पुरोहित महाराज ने उसमें यह बाधा दी कि भाई, तुम्हारा भोजन तो मैं नहीं कर सकता । तब कल्पपाल ने बीच में ही कहा- अस्तु ! आप हमारे यहाँ भोजन न करें । हम ब्राह्मणों के द्वारा आपके लिये भोजन तैयार करवा देंगे तब तो आपको कुछ उजर न होगा । पुरोहित जी आखिर थे तो ब्राह्मण ही न ? जिनके विषय में यह नीति प्रसिद्ध है कि "असंतुष्टा द्विजा नष्टाः" **अर्थ**ात् लोभ में फँसकर ब्राह्मण नष्ट हुए । सो वे अपने एक बार के भोजन का लोभ नहीं रोक सके । उन्होंने यह विचार कर, कि जब ब्राह्मण भोजन बनाने वाले हैं, तब तो कुछ नुकसान नहीं, उसका भोजन करना स्वीकार कर लिया । पर इस बात पर उन्होंने तनिक भी विचार नहीं किया कि ब्राह्मणों ने ही भोजन बना दिया तो हुआ क्या ? आखिर पैसा तो उसका है और न जाने उसने कैसे-कैसे पापों द्वारा उसे कमाया है ।

जो हो, नियमित समय पर भोजन तैयार हुआ । एक ओर पुरोहित देवता भोजन के लिये बैठे और दूसरी ओर पूर्णचन्द्र का परिवार वर्ग । इस जगह इतना और ध्यान में रखना चाहिये कि दोनों का चौका अलग-अलग था । भोजन होने लगा । पुरोहित जी ने मनभर माल उड़ाया । मानो उन्हें कभी ऐसे भोजन का मौका ही नसीब नहीं हुआ था । पुरोहित जी को वहाँ भोजन करते हुए कुछ लोगों ने देख लिया । उन्होंने पुरोहित जी की शिकायत महाराज से कर दी । महाराज ने एक शूद्र के साथ भोजन करने वाले, वर्ण व्यवस्था को धूल में मिलाने वाले ब्राह्मण को अपने राज्य में रखना उचित न समझ देश से निकलवा दिया । सच है—"कुसंगो कष्टदो ध्रुवम्" **अर्थ**ात् बुरी संगति दुःख देने वाली ही होती है । इसलिये अच्छे पुरुषों को उचित है कि वे बुरों की संगति न कर सज्जनों की संगति करें, जिससे वे अपने धर्म, कुल, मान, मर्यादा की रक्षा कर सकें |

पवित्र हृदय वाले एक बालक की कथा

पवित्र हृदय वाले एक बालक की कथा

कथा :

बालक जैसा देखता है, वैसा ही कह भी देता है । क्योंकि उसका हृदय पवित्र रहता है । यहाँ मैं जिनभगवान् को नमस्कार कर एक ऐसी ही कथा लिखता हूँ, जिसे पढ़कर सर्वसाधारण का ध्यान पाप कर्मों के छोड़ने की ओर जाय ।

कौशाम्बी में जयपाल नाम के राजा हो गये हैं । उनके समय में वहीं एक सेठ हुआ है । उसका नाम समुद्रदत्त था और उसकी स्त्री का नाम समुद्रदत्ता । उसके एक पुत्र हुआ । उसका नाम सागरदत्त था । वह बहुत ही सुन्दर था । उसे देखकर सबका चित्त उसे खिलाने के लिये व्यग्र हो उठता था । समुद्रदत्त का एक गोपायन नाम का पड़ोसी था । पूर्वजन्म के पापकर्म के उदय से वह दरिद्री हुआ । इसलिये धन की लालसा ने उसे व्यसनी बना दिया । उसकी स्त्री का नाम सीमा था । उसके भी एक सोमक नाम का पुत्र था । वह धीरे-धीरे कुछ बड़ा हुआ और अपनी मीठी और तोतली बोली से माता पिता को आनन्दित करने लगा ।

एक दिन गोपायन के घर पर सागरदत्त और सोमक अपना बाल सुलभ खेल खेल रहे थे । सागरदत्त इस समय गहना पहने हुए था । उसी समय पापी गोपायन आ गया । सागरदत्त को देखकर उसके हृदय में पाप वासना हुई । दरवाजा बन्द कर वह कुछ लोभ के बहाने सागरदत्त को घर के भीतर लिवा ले गया । उसी के साथ सोमक भी दौड़ा गया । भीतर ले जाकर पापी गोपायन ने उस अबोध बालक का बड़ी निर्दयता से छुरी द्वारा गला घोंट दिया और उसका सब गहना उतारकर उसे गड्ढे में गाड़ दिया ।

कई दिनों तक बराबर कोशिश करते रहने पर भी जब सागरदत्त के माता पिता को अपने बच्चे का कुछ हाल नहीं मिला, तब उन्होंने जान लिया कि किसी पापी ने उसे धन के लोभ से मार डाला है । उन्हें अपने प्रिय बच्चे की मृत्यु से जो दुःख हुआ उसे वे ही पाठक अनुभव कर सकते हैं जिन पर कभी ऐसा दैवी प्रसंग आय हो । आखिर बेचारे अपना मन मसोस कर रह गये । इसके सिवा वे और करते भी तो क्या ?

कुछ दिन बीतने पर एक दिन सोमक समुद्रदत्त के घर के आँगन में खेल रहा था । तब समुद्रदत्ता के मन में न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई सो उसने सोमक को बड़े प्यार से अपने पास बुलाकर उससे पूछा- भैया, बतला तो तेरा साथी समुद्रदत्त कहाँ गया है ? तूने उसे देखा है ?

सोमक बालक था और साथ ही बालस्वभाव के अनुसार पवित्र हृदयी था । इसलिये उसने झट से कह दिया कि वह तो मेरे घर में एक खाड़े में गड़ा हुआ है । बेचारी सागरदत्ता अपने बच्चे की दुर्दशा सुनते ही धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी । इतने में सागरदत्त भी वहीं आ पहुँचा । उसने उसे होश में लाकर उसके मूर्च्छित हो जाने का कारण पूछा । सागरदत्ता ने सोमक का कहा हाल उसे सुना दिया । सागरदत्त ने उसी समय दौड़े जाकर यह खबर पुलिस को दी । पुलिस ने आकर मृत बच्चे की लाश सहित गोपायन को गिरफ्तार किया, मुकदमा राजा के पास पहुँचा । उन्होंने गोपायन के कर्म के अनुसार उसे फाँसी की सजा दी । बहुत ठीक कहा है—

पापी पापं करोत्यत्र प्रच्छन्नमपि पापतः ।

तत्प्रसिद्धं भवत्येव भवभ्रमण दायकः ।। --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात् पापी लोग बहुत छुपकर भी पाप करते हैं, पर वह नहीं छुपता और प्रगट हो ही जाता है । और परिणाम में अनंत काल तक संसार के दुःख भोगना पड़ता है । इसलिये सुख चाहने वाले पुरुषों को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाप, जो कि दुःख देने वाले हैं, छोड़कर सुख देने वाला दयाधर्म, जिनधर्म ग्रहण करना उचित है ।

बालपने में विशेष ज्ञान नहीं होता, इसलिये बालक अपना हिताहित नहीं जान पाता, युवावस्था में कुछ ज्ञान का विकास होता है, पर काम उसे अपने हित की ओर नहीं फटकने देता और वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ जर्जर हो जाती हैं, किसी काम के करने में उत्साह नहीं रहता और न शक्ति ही रह जाती है । इसके सिवा और जो अवस्थायें हैं, उनमें कुटुम्ब परिवार के पालन पोषण का भार सिर पर रहने के कारण सदा अनेक प्रकार की चिंतायें घेरे रहतीं हैं कभी स्वस्थचित्त होने ही नहीं पाता, इसलिये तब भी आत्महित का कुछ साधन प्राप्त नहीं होता । आखिर होता यह है कि जैसे पैदा हुए, वैसे ही चल बसते हैं । अत्यंत कठिनता से प्राप्त हुई मनुष्य पर्याय को समुद्र में रत्न फेंक देने की तरह गँवा बैठते हैं । और प्राप्त करते हैं वही एक संसार भ्रमण । जिसमें अनंत काल ठोकरें खाते-खाते बीत गये । पर ऐसा करना उचित नहीं; किंतु प्रत्येक जीवमात्र को अपने आत्महित की ओर ध्यान देना परम आवश्यक है । उन्हें सुख प्रदान करने वाला जिनधर्म ग्रहण कर शांतिलाभ करना चाहिये ।

धनदत्त राजा की कथा

धनदत्त राजा की कथा

कथा :

देवादि के द्वारा पूज्य और अनन्त ज्ञान, दर्शनादि आत्मीयश्री से विभूषित जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं धनदत्त राजा की पवित्र कथा लिखता हूँ ।

अन्धदेशान्तर्गत कनकपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर शहर था । उसके राजा थे धनदत्त । वे सम्यग्दृष्टि थे, गुणवान् थे, और धर्मप्रेमी थे । राजमंत्री का नाम श्रीवन्दक था । वह बौद्धधर्मानुयायी था । परंतु तब भी राजा अपने मंत्री की सहायता से राजकार्य अच्छा चलाते थे । उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती थी ।

एक दिन राजा और मंत्री राजमहल के ऊपर बैठे हुए कुछ राज्य सम्बन्धी विचार कर रहे थे कि राजा को आकाश मार्ग से दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए । राजा ने हर्ष के साथ उठकर मुनिराज को बड़े विनय से नमस्कार किया और अपने महल में उनका आह्वान किया । ठीक भी है— “साधुसंगः सतां प्रियः” **अर्थ**ात्— साधुओंकी संगति सज्जनों को बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है ।

इसके बाद राजा के प्रार्थना करने पर मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया और चलते समय वे श्रीवन्दक मंत्री को अपने साथ लिवा ले गये । ले जाकर उन्होंने उसे समझाया और आत्महित की इच्छा से उसके प्रार्थना करने पर उसे श्रावक के व्रत दे दिये । श्रीवन्दक अपने स्थान लौट आया । इसके पहले श्रीवन्दक अपने बुद्धगुरु की वन्दनाभक्ति करने को प्रतिदिन उनके पास जाया करता था । सो जब उसने श्रावक व्रत ग्रहण कर लिये तब से वह नहीं जाने लगा । यह देख बौद्धगुरु ने उसे बुलाया, पर जब श्रीवन्दक ने आकर भी उसे नमस्कार नहीं किया तब संघश्री ने उससे पूछा—क्यों आज तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया ? उत्तर में मंत्री ने मुनि के आने, उपदेश करने और अपने व्रत ग्रहण करने का सब हाल संघश्री से कह सुनाया । सुनकर संघश्री बड़े दुःख के साथ बोला— हाय ! तू ठगा गया, पापियों ने तुझे बड़ा धोखा दिया । क्या कभी यह संभव है निराश्रय आकाश में भी कोई चल सकता है ? जान पड़ता है तुम्हारा राजा बड़ा कपटी और ऐन्द्रजालिक है । इसीलिये उसने तुम्हें ऐसा आश्चर्य दिखला कर अपने धर्म में शामिल कर लिया । तुम तो भगवान् के इतने विश्वासी थे, फिर भी तुम उस

पापी राजा की बहकावट में आ गये ? इस तरह उसे बहुत कुछ ऊँचा नीचा समझाकर संघश्री ने कहा—अब तुम कभी राजसभा मे नहीं जाना और जाना भी पड़े तो यह आज का हाल राजा से नहीं कहना । कारण वह जैनी है । सो बुद्धधर्म पर स्वभाव से ही उसे प्रेम नहीं होगा । इसलिये क्या मालूम कब वह बुद्धधर्म का अनिष्ट करने को तैयार हो जाये ? बेचारा श्रीवन्दक फिर संघश्री की चिकनी चुपड़ी बातों में आ गया । उसने श्रावक धर्म को भी उसी समय तिलाञ्जलि दे दी ।

बहुत ठीक कहा गया है—

स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम् ।

यथा संतप्तमानोसौ दहत्यग्निर्न संशयः ।। --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात—जो स्वयं पापी होते हैं वे औरों को भी पापी बना डालते हैं । यह उनका स्वभाव ही होता है । जैसे अग्नि स्वयं भी गरम होती है और दूसरों को भी जला देती है ।

दूसरे दिन धनदत्त ने राज्यसभा में बड़े आनन्द और धर्म प्रेम के साथ चारण मुनि का हाल सुनाया । उनमें प्रायः लोगों को, जो कि जैन नहीं थे, बहुत आश्चर्य हुआ । उनका विश्वास राजा के कथन पर नहीं जमा । सब आश्चर्य भरी दृष्टि से राजा के मुँह की ओर देखने लगे । राजा को जान पड़ा कि मेरे कहने पर लोगों को विश्वास नहीं हुआ । तब उन्होंने अपनी गंभीरता को हँसी के रूप में परिवर्तित कर झट से कहा, हाँ मैं यह कहना तो भूल ही गया कि उस समय हमारे मंत्री महाशय भी मेरे पास ही थे । यह कहकर ही मंत्री पर नजर दौड़ाई पर वे उन्हें नहीं दीख पड़े । तब राजा ने उसी समय सैनिकों को भेजकर श्रीवन्दक को बुलवाया । उसके आते ही राजा ने अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उससे कहा— मंत्रीजी, कल दोपहर का हाल तो इन सबको सुनाइये कि वे चारण मुनि कैसे थे ? तब बौद्धगुरु का बहकाया हुआ पापी श्रीवन्दक बोल उठा कि महाराज मैंने तो उन्हें नहीं देखा और न यह सम्भव ही है कि आकाश में कोई चल सके ? पापी श्रीवन्दक के मुँह से उक्त वाक्यों का निकलना था कि उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनि निन्दा के तीव्र पाप के उदय से फूट गईं । सच है—

प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये ।

नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना ।।

--ब्रह्म नेमिदत्त

जैसे संसार में फैले हुए सूर्य के प्रभाव को उल्लू नहीं रोक सकता, ठीक उसी प्रकार पापी लोग पवित्र जैन धर्म के प्रभाव को कभी नहीं रोक सकते ।

उक्त घटना को देखकर राजा वगैरह ने जिनधर्म की खूब प्रशंसा की और श्रावक धर्म स्वीकार कर वे उपासक बन गये । इस प्रकार निर्मल और देवादि के द्वारा पूज्य जिनशासन का प्रभाव देखकर भव्य पुरुषों को उचित है कि वे निर्भ्रांत होकर सुख के खजाने और स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले पवित्र जिनधर्म की और अपनी निर्मल और मनोवाँछित की देने वाली बुद्धि को लगावें ।

ब्रह्मदत्त की कथा

ब्रह्मदत्त की कथा

कथा :

परम भक्ति से संसार पूज्य जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्त की कथा लिखता हूँ । वह इसलिये कि सत्पुरुषों को इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले ।

काम्पिल्य नामक नगर में एक ब्रह्मरथ नाम का राजा रहता था । उसकी रानी का नाम था रामिली । वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजा को प्राणों से भी प्यारी थी, बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इसी के पुत्र थे । वे छह खण्ड पृथ्वी को अपने वश में करके सुख पूर्वक अपना राज्य शासन का काम परम भक्ति से संसार पूज्य जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्त की कथा लिखता हूँ । वह इसलिये कि सत्पुरुषों को इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले ।

काम्पिल्य नामक नगर में एक ब्रह्मरथ नाम का राजा रहता था । उसकी रानी का नाम था रामिली । वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजा को प्राणों से भी प्यारी थी, बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इसी के पुत्र थे । वे छह खण्ड पृथ्वी को अपने वश में करके सुख पूर्वक अपना राज्य

शासन का काम करते थे ।
एक दिन राजा भोजन करने को बैठे उस समय उनके विजयसेन नाम के रसोइये ने उन्हें खीर परोसी । पर वह बहुत गरम थी, इसलिये राजा खा न सके । उसे इतनी गरम देखकर राजा रसोइये पर बहुत गुस्सा हुए । गुस्से में आकर उन्होंने खीर के उसी बर्तन को रसोइये के सिर पर दे मारा । उसका सिर सब जल गया । साथ ही वह मर गया । हाय ! ऐसे क्रोध को धिक्कार है, जिससे मनुष्य अपना हिताहित न देखकर बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है और फिर अनंत काल तक कुगतियों में भोगता रहता है ।
रसोइया बड़े दुःख से मरा सही, पर उसके परिणाम उस समय भी शांत रहे । वह मर कर लवण समुद्रान्तर्गत विशालरत्न नामक द्वीप में व्यन्तर देव हुआ । विभंगावधिज्ञान से वह अपने पूर्वभव की कष्ट कथाजानकर क्रोध के मारे काँपने लगा । वह एक संन्यासी के वेष में राजा के पास आया और राजा को उसने केला, आम, सेब, संतरा आदि बहुत से फल भेंट किये । राजा जीभ की लोलुपता से उन्हें खाकर संन्यासी से बोला—साधुजी, कहिये आप ये फल कहाँ से लाये ? और कहाँ मिलेंगे ? ये तो बड़े ही मीठे हैं । मैंने तो आज तक ऐसे फल कभी नहीं खाये । मैं आपकी इस भेंट से बहुत खुश हुआ ।
संन्यासी ने कहा, महाराज, मेरा घर एक टापू में है । वहीं एक बहुत सुन्दर बगीचा है । उसी के ये फल हैं । और अनंत फल उसमें लगे हुए हैं । संन्यासी की रसभरी बात सुनकर राजा के मुँह में पानी भर आया । उसने संन्यासी के साथ जाने की तैयारी की ।
सच है —
शुभाअशुभं न जानाति हा कष्टं लंपटः पुमान । --ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात्— जिह्वालोलुपी पुरुष भला बुरा नहीं जान पाते, यह बड़े दुःख की बात है । यही हाल राजा का हुआ । जब वह लोलुपता के वश हो उस संन्यासी के साथ समुद्र के बीच में पहुँचा, तब उसने राजा को मारने के लिये बड़ा कष्ट देना शुरु किया । चक्रवर्ती अपने को कष्ट में घिरा देखकर पंच नमस्कार मंत्र की आराधना करने लगा । उसके प्रभाव से कपटी संन्यासी की सब शक्ति रुद्ध हो गयी । वह राजा को कुछ कष्ट न दे सका । आखिर प्रगट होकर उसने राजा से कहा— दुष्ट, याद है ? मैं जब तेरा रसोइया था, तब तूने मुझे जान से मार डाला था ? वही आग आज मेरे हृदय को जला रही है, और उसी को बुझाने के लिये, अपने पूर्व भव का वैर निकालने के लिये मैं तुझे यहाँ छलकर लाया हूँ और बहुत कष्ट के साथ तुझे जान से मारूँगा, जिससे फिर कभी तू ऐसा अनर्थ न करे । पर यदि तू एक काम करे तो बच सकता है । वह यह कि तू अपने मुँह से पहले तो यह कह दे कि संसार में जिनधर्म ही नहीं है और जो कुछ है वह अन्य धर्म है । इसके सिवा पंच नमस्कार मंत्र को जल में लिखकर उसे अपने पाँव से मिटा दे, तब मैं तुझे छोड़ सकता हूँ । मिथ्यादृष्टि ब्रह्मदत्त ने उसके बहकाने में आकर वही किया जैसा उसे देव ने कहा था । उसका व्यंतर के कहे अनुसार करना था कि उसने चक्रवर्ती को उसी समय मार कर समुद्र में फेंक दिया । अपना वैर उससे निकाल लिया । चक्रवर्ती मरकर मिथ्यात्व के उदय से सातवें नरक गया । सच है मिथ्यात्व अनंत दुःखों का देने वाला है । जिसका जिनधर्म पर विश्वास नहीं, क्या उसे इस अनंत दुःखमय संसार में कभी सुख हुआ है ? नहीं । मिथ्यात्व के समान संसार में और कोई इतना निन्द्य नहीं है । उसी से तो चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सातवें नरक गया । इसलिये आत्महित के चाहने वाले पुरुषों को दूर से ही मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति का कारण सम्यक्त्व ग्रहण करना उचित है ।
संसार में सच्चे देव अरहंत भगवान् हैं, जो क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, रोग, शोक, चिंता, भय, आदि दोषों से और धन-धान्य, दासी-दास, सोना-चाँदी आदि दस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, जो इन्द्र, चक्रवर्ती, देव, विद्याधरों द्वारा वन्द्य हैं, जिनके वचन जीव मात्र को सुख देने वाले और भव समुद्र से तिरने के लिये जहाज समान हैं, उन अरहंत भगवान् का आप पवित्र भावों से सदा ध्यान किया कीजिये कि जिससे वे आपके लिये कल्याण पथ के प्रदर्शक हों ।

श्रेणिक राजा की कथा

श्रेणिक राजा की कथा
कथा :
केवलज्ञान रूपी नेत्रों के द्वारा समस्त संसार के पदार्थों के देखने जानने वाले और जगत् पूज्य जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर मैं राजा श्रेणिक की कथा लिखता हूँ, जिसके पढ़ने से सर्वसाधारण का हित हो ।
श्रेणिक मगध देश के अधीश्वर थे । मगध की प्रधान राजधानी राजगृह थी । श्रेणिक कई विषयों के सिवा राजनीति के बहुत अच्छे विद्वान्

थे । उनकी महारानी चेलना बड़ी धर्मात्मा, जिनभगवान् की भक्त और सम्यग्दर्शन से विभूषित थी ।

एक दिन श्रेणिक ने उनसे कहा— देखो, संसार में वैष्णव धर्म की बहुत प्रतिष्ठा है और वह जैसा सुख देने वाला है, वैसा और धर्म नहीं । इसलिये तुम्हें भी उसी धर्म का आश्रय स्वीकार करना उचित है ।

सुनकर चेलना देवी, जिसे कि जिनधर्म पर अगाध विश्वास था, बड़े विनय से बोली— नाथ, अच्छी बात है, समय पाकर मैं इस विषय की परीक्षा करूँगी ।

इस के कुछ दिनों बाद चेलना ने कुछ भागवत साधुओं का अपने यहाँ निमंत्रण किया और बड़े गौरव के साथ उन्हें अपने यहाँ बुलाया । वहाँ आकर अपना ढोंग दिखलाने के लिये वे कपट मायाचार से ईश्वराराधन करने को बैठे । उस समय चेलना ने उनसे पूछा, आप लोग क्या करते हैं ? उत्तर में उन्होंने कहा— देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओं से भरे हुए शरीर को छोड़कर अपने आत्मा को विष्णु अवस्था में प्राप्त कर स्वानुभवजन्य सुख भोगते हैं ।

सुन कर देवी चेलना ने उस मण्डप में, जिसमें सब साधु ध्यान करने को बैठे थे, आग लगवा दी । आग लगते ही वे सब कौए की तरह भाग खड़े हुए । यह देखकर श्रेणिक ने बड़े क्रोध के साथ चेलना से कहा— आज तुमने साधुओं के साथ बड़ा अनर्थ किया । यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह **अर्थ** है कि उन्हें जान से ही मार डालना ? बतलाओ तो उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे कि तुम उनके जीवन की ही प्यासी हो उठी ?

रानी बोली— नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हीं के कहे अनुसार उनके सुख का कारण था । मैंने तो केवल परोपकार बुद्धि से ऐसा किया था । जब वे लोग ध्यान करने को बैठे तब मैंने उन लोगों से पूछा कि आप लोग क्या करते हैं ? तब उन्होंने मुझे कहा था कि हम अपवित्र शरीर छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद प्राप्त करते हैं । तब मैंने सोचा कि ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे उत्तम यह होगा कि यदि ये निरंतर विष्णु बने रहें । संसार में बार-बार आना और जाना यह इनके पीछे पचड़ा क्यों ? यह विचारकर वे निरंतर विष्णुपद में रहकर सुखभोग करें, इस परोपकार बुद्धि से मैंने मंडप में आग लगवा दी थी । आप ही अब विचार कर बतलाइये कि इसमें मैंने सिवा परोपकार के कौन बुरा काम किया ? और सुनिये मेरे वचनों पर आपको विश्वास हो, इसलिये एक कथा भी आपको सुना देती हूँ ।

“जिस समय की यह कथा है, उस समय वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी के राजा प्रजापाल थे । वे अपना राज्य शासन नीति के साथ करते हुए सुख से समय बिताते थे । कौशाम्बी में दो सेठ रहते थे । उनके नाम थे समुद्रदत्त और सागरदत्त । दोनों सेठों में परस्पर बहुत प्रेम था । उनका प्रेम उन्होंने सदा दृढ़ बना रहे, इसलिये परस्पर में एक शर्त की । वह यह कि, “मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़के के साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़की का ब्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा ।“

दोनों ने उक्त शर्त स्वीकार की । इसके कुछ बाद सागरदत्त के घर पुत्रजन्म हुआ । उसका नाम वसुमित्र था । उसमें एक बड़े भारी आश्चर्य की बात थी । वह यह कि वसुमित्र न जाने किस कर्म उदय से रात के समय तो एक दिन दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिन में एक भयानक सर्प ।

उधर समुद्रदत्त के घर कन्या हुई । उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता । वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी । उसके पिता ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह वसुमित्र के साथ कर दिया । सच है—

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्—सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते । वसुमित्र का ब्याह हो गया । वह अब प्रतिदिन दिन में तो सर्प बनकर एक पिटारे में रहता और रात में एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रिया के साथ सुखोभोग करता । सचमुच संसार की विचित्र ही स्थिति होती है । इसी तरह उसे कई दिन बीत गये । एक दिन नागदत्ता की माता अपनी पुत्री को एक ओर तो यौवन अवस्था में पदार्पण करती हुई और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्य को देखकर दुखी होकर बोली—हाय ! देव की कैसी विडम्बना है; जो कहाँ तो देवबाला सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प ? उसकी दुःख आह को नागदत्ता ने सुन लिया । वह दौड़ी आकर अपनी माता से बोली—माता, इसके लिये आप क्यों दुःख करती हैं ? मेरा जब भाग्य ही ऐसा था, तब उसके लिये दुःख करना व्यर्थ है । और अभी मुझे विश्वास है मेरे स्वामी का इस दशा से उद्धार हो सकता है । इसके बाद नागदत्ता ने

अपनी माता को स्वामी के उद्धार सम्बन्ध की बात समझा दी ।
सदा के नियमानुसार आज भी रात के समय वसुमित्र अपना सर्प का शरीर छोड़कर मनुष्य रूप में आया और अपने शय्या भवन में पहुँचा । इधर समुद्रदत्ता छुपी हुई आकर वसुदत्त के पिटारे को वहाँ से उठा ले आयी और उसे उसी समय उसने जला डाला । तब से वसुमित्र मनुष्य रूप ही अपनी प्रिया के साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्द से बिताने लगा ।" नाथ ! उसी तरह ये साधु भी निरंतर विष्णुलोक में रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिये मैंने वैसे किया था । महारानी चेलनी की कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सकें, पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोध को उस समय दबा भी गये ।
एक दिन श्रेणिक शिकार के लिये गये हुए थे । उन्होंने वन में यशोधर मुनिराज को देखा । वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे । श्रेणिक ने उन्हें शिकार के लिये विघ्नरूप समझकर मारने का विचार किया और बड़े गुस्से में आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ दिया । कुत्ते बड़ी निर्दयता से मुनि को मारने को झपटे । पर मुनिराज की तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके । बल्कि उनकी प्रदिक्षणा देकर उनके पाँवों के पास खड़े रह गये । यह देखकर श्रेणिक को और भी क्रोध आया । उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर शर चलाना आरम्भ किया । पर यह कैसा आश्चर्य जो शरीर के द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँचकर वे ऐसे जान पड़े मानो किसी ने उन पर फूलों की वर्षा की है । सच बात यह है कि तपस्वियों का प्रभाव कह कौन सकता है ? श्रेणिक ने मुनि हिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरक की आयु का बन्ध किया, जिसकी स्थिति तैतीस सागर की है ।
इन सभी अलौकिक घटनाओं को देखकर श्रेणिक का पत्थर के समान कठोर हृदय फूल सा कोमल हो गया । उनके हृदय की सब दुष्टता निकलकर उसमें मुनि के प्रति पूज्य भाव पैदा हो गया वे मुनिराज के पास गये और भक्ति से उन्होंने मुनि के चरणों को नमस्कार किया । यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक के हित के लिये उपयुक्त समझकर उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया । उसका श्रेणिक के हृदय पर बहुत ही असर पड़ा । उसके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हुआ । उन्हें अपने कृतकर्म पर अत्यंत पश्चात्ताप हुआ । मुनिराज के उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया । उसके प्रभाव से, उन्होंने जो सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरक का रह गया, जहाँ की स्थिति चौरासी हज़ार वर्षों की है । ठीक है सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भव्य पुरुषों को क्या प्राप्त नहीं होता ?
इसके बाद श्रेणिक ने श्रीचित्रगुप्त मुनिराज के पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया और अंत में भगवान वर्धमान स्वामी के द्वारा शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, जो कि मोक्ष का कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध किया । श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे ।
वे केवल ज्ञान रूपी प्रदीप श्रीजिनभगवान् संसार में सदा काल विद्यमान रहें, जो इन्द्र, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, द्वारा पूज्य हैं और जिनके पवित्र उपदेश के हृदय में मनन और ग्रहण द्वारा मनुष्य निर्मल लक्ष्मी को प्राप्त करने का पात्र होता है, मोक्षलाभ करता है ।

पद्मरथ राजा की कथा

पद्मरथ राजा की कथा

कथा :

इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर मैं पद्मरथ राजा की कथा लिखना हूँ, जो प्रसिद्ध जिनभक्त हुआ है ।
मगध देश के अंतर्गत एक मिथिला नाम की सुन्दर नगरी थी । उसके राजा थे पद्मरथ । वे बड़े बुद्धिमान और राजनीति के अच्छे जानने वाले थे, उदार और परोपकारी थे । सुतरा वे खूब प्रसिद्ध थे ।
एक दिन पद्मरथ शिकार के लिये वन में गये हुए थे । उन्हें एक खरगोश दीख पड़ा । उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया । खरगोश उनकी नजर से बाहर होकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गया । पद्मरथ भाग्य से कालगुफा नाम की एक गुहा में जा पहुँचे । वहाँ एक मुनिराज रहा करते थे । वे बड़े तपस्वी थे । उनका दिव्य देह तप के प्रभाव से अपूर्व तेज धारण कर रहा था । उनका नाम था सुधर्म । पद्मरथ रत्नत्रय विभूषित और परम शांत मुनिराज के पवित्र दर्शन से बहुत शांत हुए । जैसे तपा हुआ लौहपिण्ड जल से शांत हो जाता है । वे उसी समय घोड़े पर से उतर पड़े और मुनिराज को भक्ति पूर्वक नमस्कार कर उन्होंने उनके द्वारा धर्म का पवित्र उपदेश सुना । उपदेश उन्हें

बहुत रुचा । उन्होंने सम्यक्त्व पूर्वक अणुव्रत ग्रहण किये । इसके बाद उन्होंने मुनिराज से पूछा— हे प्रभो ! हे संसार के आधार ! कहिये तो जिनधर्म रूपी समुद्र को बढ़ाने वाले आप सरीखे गुणज्ञ चन्द्रमा और भी कोई है या नहीं ? और है तो कहाँ हैं ? हे करुणा सागर ! मेरे इस सन्देह को मिटाइये ।

उत्तर में मुनिराज ने कहा— राजन् ! चम्पानगरी में इस समय बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य विराजमान हैं । उनके भौतिक शरीर के तेज की समानता तो अनेक सूर्य मिलकर भी नहीं कर सकते और उनके अनंत ज्ञानादि गुणों को देखते हुए मुझमें और उनमें राई और सुमेरु का अंतर है । भगवान् वासुपूज्य का समाचार सुनकर पद्मरथ को उनके दर्शन की अत्यंत उत्कण्ठा हुई । वे उसी समय फिर वहाँ से बड़े वैभव के साथ भगवान् के दर्शनों के लिये चले । यह हाल धन्वन्तरी और विश्वानुलोम नाम के दो देवों को जान पड़ा । सो वे पद्मरथ की परीक्षा के लिये मध्यलोक में आये । उन्होंने पद्मरथ की भक्ति की दृढ़ता देखने के लिये रास्ते में उन पर उपद्रव करना शुरु किया । पहले उन्होंने उन्हें एक भयंकर काल सर्प दिखलाया, इसके बाद राज्यछत्र का भंग, अग्नि का लगना, प्रचण्ड वायु द्वारा पर्वत और पत्थरों का गिरना, असमय में भयंकर जल वर्षा और खूब कीचड़ मय मार्ग और उसमें फँसा हाथी आदि दिखलाया । यह उपद्रव देखकर साथ के सब लोग भय के मारे अधमरे हो गये । मंत्रियों ने यात्रा अमंगलमय बतलाकर पद्मरथ से पीछे लौट चलने के लिये आग्रह किया । परंतु पद्मरथ ने किसी की बात नहीं सुनी और बड़ी प्रसन्नता के साथ “नमः श्रीवासुपूज्याय” कहकर अपना हाथी आगे बढ़ाया । पद्मरथ की इस प्रकार अचल भक्ति देखकर दोनों देवों ने उनकी बहुत-बहुत प्रशंसा की । इसके बाद पद्मरथ को सब रोगों को नष्ट करने वाला एक दिव्य हार और बहुत सुन्दर वीणा, जिस की आवाज एक योजन पर्यंत सुनाई पड़ती है, देकर अपने स्थान चले गये । ठीक है— जिनके हृदय में जिनभगवान् की भक्ति सदा विद्यमान रहती है, उनके सब काम सिद्ध हों, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

पद्मरथ ने चम्पानगरी में पहुँचकर समवशरण में विराजे हुए, आठ प्रतिहार्यों से विभूषित, देव, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य, केवल ज्ञान द्वारा संसार के सब पदार्थों को जानकर धर्म का उपदेश करते हुए और अनंत जन्मों में बाँधे हुए मिथ्यात्व को नष्ट करने वाले भगवान् वासुपूज्य के पवित्र दर्शन किये, उनकी पूजा की, स्तुति की और उपदेश सुना । भगवान के उपदेश का उन के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा । वे उसी समय जिनदीक्षा लेकर तपस्वी बन गये । प्रव्रजित होते ही उनके परिणाम इतने विशुद्ध हुए कि उन्हें अवधि और मनःपर्यय ज्ञान हो गया । भगवान वासुपूज्य के वे गणधर हुए । इसलिये भव्य पुरुषों को उचित है कि वे मिथ्यात्व को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली जिनभगवान् की भक्ति निरंतर पवित्र भावों के साथ करें और जिस प्रकार पद्मरथ सच्चा जिनभक्त हुआ उसी प्रकार वे भी हों ।

जिनभक्ति सब प्रकार का सुख देती है और परम्परा मोक्ष की प्राप्ति का कारण है, जो केवलज्ञान द्वारा संसार के प्रकाशक हैं और सत्पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, वे भगवान वासुपूज्य सारे संसार को मोक्ष सुख प्रदान करें कर्मों के उदय से घोर दुःख सहते हुए जीवों का उद्धार करें ।

पंच नमस्कारमंत्र-माहात्म्य कथा

पंच नमस्कारमंत्र-माहात्म्य कथा

कथा :

मोक्षसुख प्रदान करने वाले श्रीअर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार कर पंच नमस्कारमंत्र की आराधना द्वारा फल प्राप्त करने वाले सुदर्शन की कथा लिखी जाती है ।

अंगदेश की राजधानी चम्पा नगरी में गजवाहन नाम के एक राजा हो चुके हैं । वे बहुत खूबसूरत और साथ ही बड़े भारी शूरवीर थे । अपने तेज से शत्रुओं पर विजय प्राप्तकर सारे राज्य को उन्होंने निष्कण्टक बना लिया था । वहीं एक वृषभदत्त नाम के सेठ रहा करते थे । उनकी गृहिणी का नाम था अर्हद्दासी । अपनी प्रिया पर सेठ का बहुत प्रेम था । वह भी सच्ची पति भक्तिपरायणा थी, सुशीला थी, सती थी, वह सदा जिनभक्ति में तत्पर रहा करती थी ।

वृषभदत्त के यहाँ एक ग्वाल नौकर था । एक दिन वह वन से अपने घर पर आ रहा था । समय शीतकाल का था । जाड़ा खूब पड़ रहा था । उस समय रास्ते में उसे एक ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन हुए, जो कि एक शिला पर ध्यान लगाये बैठे हुए थे । उन्हें देखकर ग्वाले को बड़ी दया आयी । वह यह विचार कर, कि अहा ! इनके पास कुछ वस्त्र नहीं हैं और जाड़ा बड़ी जोर का पड़ रहा है, तब भी ये इसी शिला

पर बैठे हुए ही रात बिता डालेंगे, अपने घर गया और आधी रात के समय अपनी स्त्री को साथ लिये मुनिराज के पास आया । मुनिराज को जिस अवस्था में बैठे हुए वह देख गया था, वे अब भी उसी तरह ध्यानस्थ बैठे हुए थे । उनका सारा शरीर ओस से भीग रहा था । उनकी यह हालत देखकर दयाबुद्धि से उसने मुनिराज के शरीर से ओस को साफ किया और सारी रात वह उनके पाँव दबाता रहा, सब तरह उनका वैयावृत्य करता रहा । सवेरा होते ही मुनिराज का ध्यान पूरा हुआ । उन्होंने आँख उठाकर देखा तो ग्वाले को पास ही बैठा पाया । मुनिराज ने ग्वाले को निकटभव्य समझ कर पंचनमस्कार मंत्र का उपदेश किया, जो कि स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति का कारण है । इसके बाद मुनिराज भी पंचनमस्कारमंत्र का उच्चारण कर आकाश में विहार कर गये ।

ग्वाले की धीरे-धीरे मंत्र पर बहुत श्रद्धा हो गयी । वह किसी भी काम को जब करने लगता तो पहले ही पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण कर लिया करता था । एक दिन जब ग्वाला मंत्र पढ़ रहा था, तब उसे उसके सेठ ने सुन लिया । वे मुस्कुराकर बोले- क्यों रे, तूने यह मंत्र कहाँ से उड़ाया ? ग्वाले ने पहले की सब बात अपने स्वामी से कह दी । सेठ ने प्रसन्न होकर ग्वाले से कहा- भाई, क्या हुआ यदि कि तू छोटे भी कुल में उत्पन्न हुआ ? पर आज तू कृतार्थ हुआ, जो तुझे त्रिलोकपूज्य मुनिराज के दर्शन हुए । सच बात है सत्पुरुष धर्म के बड़े प्रेमी हुआ करते हैं ।

एक दिन ग्वाला भैंसें चराने के लिये जंगल में गया । समय वर्षा का था । नदी नाले सब पूरे थे । उसकी भैंसें चरने के लिये नदी पार जाने लगीं । सो इन्हें लौटा लाने की इच्छा से ग्वाला भी उनके पीछे ही नदी में कूद पड़ा । जहाँ वह कूदा वहाँ एक नुकीला लकड़ा गड़ा हुआ था । सो उसके कूदते ही लकड़े की नोंक उसके पेट में जा घुसी । उससे उसका पेट फट गया । वह उसी समय मर गया । वह जिस समय नदी में कूदा था, उस समय सदा के नियमानुसार पंचनमस्कारमंत्र का उच्चारण कर कूदा था । वह मरकर मंत्र के प्रभाव से वृषभदत्त के यहाँ पुत्र हुआ । वह जाता तो कहीं स्वर्ग में, पर उसने वृषभदत्त के यहाँ ही उत्पन्न होने का निदान कर लिया था, इसलिये निदान उसकी ऊँची गति का बाधक बन गया । उसका नाम रक्खा गया सुदर्शन । सुदर्शन बड़ा सुन्दर था । उसका जन्म माता-पिता के लिये खूब उत्कर्ष का कारण हुआ । पहले से कई गुणी सम्पत्ति उनके पास बढ़ गयी । सच है पुण्यवानों के लिये कहीं भी कुछ कमी नहीं रहती ।

वहीं एक सागरदत्त सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम था सागरसेना । उसके एक पुत्री थी । उसका नाम मनोरमा था । वह बहुत सुन्दरी थी । देवकन्यायें भी उसकी रूपमाधुरी को देखकर शर्मा जाती थी । उसका ब्याह सुदर्शन के साथ हुआ । दोनों दम्पत्ति सुख से रहने लगे ।

एक दिन वृषभदत्त समाधिगुप्त मुनिराज के दर्शन करने के लिये गये । वहाँ उन्होंने मुनिराज के द्वारा धर्मोपदेश सुना । उपदेश उन्हें बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उनपर बहुत पड़ा । संसार की दशा देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ । वे घर का कारोबार सुदर्शन के सुपुर्द कर समाधिगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा लेकर तपस्वी बन गये ।

पिता के प्रव्रजित हो जाने पर सुदर्शन ने भी खूब प्रतिष्ठा सम्पादित की । राजदरबार में भी उसकी पिता के जैसी पूछताछ होने लगी । वह सर्वसाधारण में खूब प्रसिद्ध हो गया । सुदर्शन न केवल लौकिक कामों से ही प्रेम करता था; किंतु वह उस समय एक बहुत धार्मिक पुरुष गिना जाता था । वह सदा जिनभगवान् की भक्ति में तत्पर रहता, श्रावक को व्रतों का श्रद्धा के साथ पालन करता, दान देता, पूजन-स्वाध्याय करता । यह सब होने पर भी ब्रह्मचर्य में वह बहुत दृढ़ था ।

एक दिन मगधाधीश्वर गजवाहन के साथ सुदर्शन वनविहार के लिये गया । राजा के साथ राजमहिषी भी थी । सुदर्शन सुन्दर तो था ही, सो उसे देखकर राजरानी काम के पाश में बुरी तरह फँसी । उसने अपनी एक परिचारिका को बुलाकर पूछा- क्यों तू जानती है कि महाराज के साथ आगंतुक कौन है ? और ये कहाँ रहते हैं ?

परिचारिका ने कहा- देवी, आप नहीं जानतीं, ये तो अपने प्रसिद्ध राजश्रेष्ठी सुदर्शन हैं ।

राजमहिषी ने कहा- हाँ ! तब तो ये अपनी राजधानी के भूषण हैं । अरी ! देख तो इनका रूप कितना सुन्दर, कितना मन को अपनी ओर खींचने वाला है ? मैनें तो आज तक ऐसा सुन्दर नररत्न नहीं देखा । मैं तो कहती हूँ, इनका रूप स्वर्ग के देवों से भी कहीं बढ़कर है । तूने भी कभी ऐसा सुन्दर पुरुष देखा है ।

वह बोली- महारानी जी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके समान सुन्दर पुरुष तीन लोक में भी नहीं मिलेगा । राजमहिषी ने उसे अपने अनुकूल देखकर कहा- हाँ तो तुझ से मुझे एक बात कहना है ।

वह बोली- वह क्या महारानीजी ?

महारानी बोली- पर तू उसे कर दे तो मैं कहूँ ।
वह बोली- देवी, भला मैं तो आपकी दासी हूँ, फिर मुझे आपकी आज्ञा पालन करने में क्यों इंकार होगा । आप निःसंकोच होकर कहिये । जहाँ तक मेरा वश चलेगा, मैं उसे पूरा करूँगी ।
महारानी ने कहा- देख, मेरा तेरे पर पूर्ण विश्वास है, इसलिये मैं अपने मन की बात तुझ से कहती हूँ । देखना कहीं मुझे धोखा न देना ? तो सुन, मैं जिस सुदर्शन की बाबत ऊपर तुझ से कह आयी हूँ, वह मेरे हृदय में स्थान पा गया है । उसके बिना मुझे संसार निःसार और सूना जान पड़ता है । तू यदि किसी प्रयत्न से मुझे उससे मिला दे तब ही मेरा जीवन बच सकता है । अन्यथा संसार में मेरा जीवन कुछ ही दिनों के लिये है ।
वह महारानी की बात सुनकर पहले तो कुछ विस्मित सी हुई, पर थी तो आखिर पैसे की गुलाम ही न ? उसने महारानी की आशा पूरी कर देने के बदले में अपने को आशातीत धन की प्राप्ति होगी, इस विचार से कहा- महारानी जी बस यही बात है ? इसी के लिये आप इतनी निराश हुई जाती हैं ? जब तक मेरे दम में दम है तब तक आपको निराश होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता । मैं आपकी आशा अवश्य पूरी करूँगी । आप घबरायें नहीं । बहुत ठीक लिखा है-
असभ्य दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम् । --ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात्- असभ्य और दुष्ट स्त्रियाँ कौन बुरा काम नहीं करतीं ? अभया की धाय भी ऐसी ही स्त्रियों में थी । फिर वह क्यों वह इस काम में अपना हाथ नहीं डालती ? वह अब सुदर्शन को राजमहल में ले आने के प्रयत्न में लगी ।
सुदर्शन एक धर्मात्मा श्रावक था । वह वैरागी था । संसार में रहता तब भी सदा उससे छुटकारा पाने के उपाय में लगा रहता था । इसलिये वह ध्यान का भी अभ्यास करता रहता था । अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रि में वह भयंकर श्मशान में जाकर ध्यान करता । धाय को सुदर्शन के ध्यान की बात मालूम थी । उसने सुदर्शन को राजमहल में लिवा जाने को एक षड्यंत्र रचा । एक दिन वह एक कुम्हार के पास गई और उससे मनुष्य के आकार का एक मिट्टी का पुतला बनवाया और उसे वस्त्र पहराकर वह राजमहल लिवा ले चली । महल में प्रवेश करते समय पहरेदारों ने उसे रोका और पूछा कि यह क्या है ? वह उसका उत्तर न देकर आगे बढ़ी । पहरेदारों ने उसे नहीं जाने दिया । उसने गुस्से का ढौंग बनाकर पुतले को जमीन पर दे मारा । वह चूर-चूर हो गया । इसके साथ ही उसने कड़क कर कहा- पापियो, दुष्टो, तुमने आज बड़ा अनर्थ किया है । तुम नहीं जानते कि महारानी के नरव्रत था, सो वे इस पुतले की पूजा करके भोजन करतीं । सो तुमने इसे तोड़ डाला है । अब वे कभी भोजन नहीं करेंगी । देखो अब मैं महारानी से जाकर तुम्हारी दुष्टता का हाल कहती हूँ । फिर वे सवेरे ही तुम्हारी क्या गति करती हैं ? तुम्हारी दुष्टता सुनकर ही वे तुम्हें जान से मरवा डालेंगी । धाय की धूर्त्तता से बेचारे पहरेदारों के प्राण सूख गये । उन्हें काटो तो खून नहीं । मारे डर के थर-थर काँपने लगे । वे उसके पाँव में पड़कर अपने प्राण बचाने की उससे भीख माँगने लगे । बड़ी आरजू-मिन्नत करने पर उसने उनसे कहा- तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे दया आती है । खैर, मैं तुम्हारे बचाने का उपाय करूँगी । पर याद रखना तुम मुझे कोई काम करते समय मत छेड़ना । तुमने इस पुतले को तो फोड़ डाला, बतलाओ आज अपना व्रत कैसे पूरा करेंगी ? और न इसी समय और दूसरा पुतला ही बन सकता है । अस्तु ! फिर भी मैं कुछ उपाय करती हूँ । जहाँ तक बन पड़ा वहाँ तक तो दूसरा पुतला ही बनवा कर लाती हूँ और यदि नहीं बन सका तो किसी जिन्दा पुरुष को ही थोड़ी देर के लिये लाना पड़ेगा । तुम्हें सचेत करती हूँ कि उस समय मैं किसी से नहीं बोलूँगी, इसलिये मुझ से कुछ कहना सुनना नहीं । बेचारे पहरेदारों को तो अपनी जान की पड़ी हुई थी, इसलिये उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया कि- अच्छा, हम लोग अब आप से कुछ नहीं कहेंगे । आप अपना काम निडर होकर कीजिये । इस प्रकार वह धूर्त्ता सब पहरेदारों को अपने वश कर उसी समय श्मशान पहुँची । श्मशान जलती चिताओं से बड़ा भयंकर बन रहा था, उसी भयंकर श्मशान में सुदर्शन कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था । महारानी अभया की परिचारिका ने उसे उठा लाकर महारानी के सुपुर्द कर दिया । अभया अपनी परिचारिका पर बहुत प्रसन्न हुई । सुदर्शन को प्राप्त कर उसके आनन्द का कुछ ठिकाना न रहा, मानो उसे अपनी मनमानी निधि मिल गयी हो । वह काम से तो अत्यंत पीड़ित थी ही, उसने सुदर्शन से बहुत अनुनय-विनय किया, इसलिये कि वह उसकी इच्छा पूरी करके उसे सुखी करे, कामाग्नि से जलते हुए शरीर को आलिंगनसुधा प्रदान कर शीतल करे । पर सुदर्शन ने उसकी एक भी बात का उत्तर नहीं दिया । यह देख रानी ने उसके साथ अनेक प्रकार की कुचेष्टायें करनी आरम्भ कीं, जिससे वह विचलित हो जाय । पर तब भी रानी की इच्छा पूरी नहीं हुई । सुदर्शन मेरु सा निश्चल और समुद्र सा गम्भीर बना रहकर जिनभगवान् के चरणों का ध्यान करने

लगा । उसने प्रतिज्ञा की कि इस उपसर्ग से बच गया तो अब संसार में न रहकर साधु हो जाऊँगा । प्रतिज्ञा कर वह काष्ठ की तरह निश्चल होकर ध्यान करने लगा । बहुत ठीक लिखा है-

संतः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलत्य हो । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपने व्रत से कभी नहीं चलते । अनेक तरह का यत्न, अनेक कुचेष्टायें करने पर भी जब रानी सुदर्शन को शीलशैल से न गिरा सकी, उसे तिल भर भी विचलित नहीं कर सकी, तब शर्मिन्दा होकर उसने सुदर्शन को कष्ट देने के लिये एक नया ही ढोंग रचा । उसने अपने शरीर को नखों से खूब खुजा डाला, अपने कपड़े फाड़ डाले, भूषण तोड़-फोड़ डाले और यह कहती हुई वह जोर-जोर से हिचकियाँ ले लेकर रोने लगी कि हाय ! इस पापी दुराचारी ने मेरी यह हालत कर दी । मैंने तो इसे भाई समझकर अपने महल में बुलाया था । मुझे क्या मालूम था कि यह इतना दुष्ट होगा ? हाय ! दौड़ो ! मुझे बचाओ ! मेरी रक्षा करो ! यह पापी मेरा सर्वनाश करना चाहता है । रानी के चिल्लाते ही बहुत से नौकर-चाकर दौड़े आये और सुदर्शन को बाँधकर वे महाराज के पास लिवा ले गये । सच है-

किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निन्द्यं दुष्टस्त्रियी भुवि । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- पापिनी और दुष्ट स्त्रियाँ संसार में कौन बुरा काम नहीं करतीं ? अभया भी ऐसी ही स्त्रियों में एक थी । इसलिये उसने अपना चरित कर बतलाया । महाराज को जब यह हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने क्रोध में आकर सुदर्शन को मार डालने का हुकुम दे दिया । महाराज की आज्ञा होते ही जल्लाद लोग उसे श्मशान में लिवा ले गये । उनमें से एक ने अपनी तेज तलवार गले पर दे मारी । पर यह क्या हुआ ? जो सुदर्शन को उससे कुछ कष्ट नहीं पहुँचा और उल्टा, उसे वह तलवार का मारना ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने उस पर फूल माला फेंकी हो । जान पड़ा यह सब उसके अखण्ड शीलव्रत का प्रभाव था । ऐसे कष्ट के समय देवों ने आकर उसकी रक्षा की और स्तुति की कि सुदर्शन तुम धन्य हो,तुम सच्चे जिनभक्त हो, सच्चे श्रावक हो, तुम्हारा ब्रह्मचर्य अखण्ड है, तुम्हारा हृदय सुमेरु से भी कहीं अधिक निश्चल है । इस प्रकार प्रशंसा कर देवों ने उस पर सुगन्धित फूलों की वर्षा की और धर्मप्रेम के वश होकर उसकी पूजा की । सच है-

अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते ।

तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम् । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- पुण्यवानों के लिये दुःख भी सुख के रूप में परिणत हो जाता है । इसलिये भव्य पुरुषों को जिनभगवान के कहे मार्ग से पुण्यकर्म करना चाहिये । भक्तिपूर्वक जिनभगवान की पूजा करना, पात्रों को दान देना, ब्रह्मचर्य का पालना, अणुव्रतों का पालन करना, अनाथ, अपाहिज दुखियों को सहायता देना, विद्यालय, पाठशाला खुलवाना, उनमें सहायता देना, विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ देना आदि पुण्यकर्म हैं । सुदर्शन के व्रतमाहात्म्य का हाल महाराज को मालूम हुआ । वे उसी समय सुदर्शन के पास आये और उन्होंने उससे अपने अविचार के लिये क्षमा माँगी ।

सुदर्शन को संसार की इस लीला से बड़ा वैराग्य हुआ । वह अपना कारोबार सब सुकान्त पुत्र को सौंपकर वन में गया और त्रिलोकपूज्य विमलवाहन मुनिराज को नमस्कार कर उनके पास प्रव्रजित हो गया । मुनि होकर सुदर्शन ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चर्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अनेक भव्य पुरुषों को कल्याण का मार्ग दिखला कर तथा देवादि द्वारा पूज्य होकर अंत में निराबाध, अनंत सुखमय मोक्षधाम में पहुँच गया ।

इस प्रकार नमस्कार मंत्र का माहात्म्य जानकर भव्यों को उचित है कि वे प्रसन्नता के साथ उस पर विश्वास करें और प्रतिदिन उसकी आराधना करें ।

धर्मात्माओं के नेत्ररूपी कुमुद-पुष्पों के प्रफुल्लित करने वाले, आनन्द देने वाले और श्रुतज्ञान के समुद्र तथा मुनि, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि द्वारा पूज्य, केवलज्ञान रूपी कांति से शोभायमान भगवान् जिनचन्द्र संसार में सदा काल रहें ।

यम मुनि की कथा

यम मुनि की कथा

कथा :

मैं देव, गुरु, और जिनवाणी को नमस्कार कर यम मुनि की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने बहुत ही थोड़ा ज्ञान होने पर भी अपने को मुक्ति का

पात्र बना लिया और अंत में वे मोक्ष गये । यह कथा सब सुख की देने वाली है ।
उड्रदेश के अंतर्गत एक धर्म नाम का प्रसिद्ध और सुन्दर शहर है । उसके राजा थे यम । वे बुद्धिमान और शास्त्रज्ञ थे । उनकी रानी का नाम धनवती था । धनवती के एक पुत्र और एक पुत्री थी । उनके नाम थे गर्दभ और कोणिका । कोणिका बहुत सुन्दरी थी । धनवती के अतिरिक्त राजा की और भी कई रानियाँ थीं । उनके पुत्रों की संख्या पाँचसौ थी । ये पाँचसौ ही भाई धर्मात्मा थे और संसार से उदासीन रहा करते थे । राजमंत्री का नाम था दीर्घ । वह बहुत बुद्धिमान और राजनीति का अच्छा जानकार था । राजा इन सब साधनों से बहुत सुखी थे और अपना राज्य भी बड़ी शांति से करते थे ।
एक दिन एक राजज्योतिषी ने कोणिका के लक्षण वगैरह देखकर राजा से कहा- महाराज, राजकुमारी बड़ी भाग्यवती है । जो उसका पति होगा वह सारी पृथ्वी का स्वामी होगा । यह सुनकर राजा बहुत खुश हुए और उस दिन से वे उसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करने लगे, उन्होंने उसके लिये एक बहुत सुन्दर और भव्य तलग्रह बनवा दिया । वह इसलिये कि उसे और छोटा-मोटा बलवान राजा न देख पाये ।
एक दिन उसकी राजधानी में पाँचसौ मुनियों का संघ आया । संघ के आचार्य थे महामुनि सुधर्माचार्य । संसार का हित करना उनका एक मात्र व्रत था । बड़े आनन्द उत्साह के साथ शहर के सब लोग अनेक प्रकार के पूजन द्रव्य हाथों में लिये हुए आचार्य की पूजा के लिये गये । उन्हें जाते हुए देख राजा भी पाण्डित्य के अभिमान में आकर मुनियों की निन्दा करते हुए उनके पास गये । मुनिनिन्दा और ज्ञान का अभिमान करने से उसी समय उनके कोई ऐसा कर्मों का तीव्र उदय आया कि उनकी सब बुद्धि नष्ट हो गई । वे महामूर्ख बन गये । इसलिये जो उत्तम पुरुष हैं और जो ज्ञानी बनना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे कभी ज्ञान का गर्व न करें और ज्ञान का ही क्यों ? किंतु कुल, जाति, बल, ऋद्धि, ऐश्वर्य, शरीर, तप, पूजा, प्रतिष्ठा आदि किसी का भी गर्व, अभिमान न करें । इनका अभिमान करना बड़ा दुःख दायी है ।
अपनी यह हालत देखकर राजा का होश ठिकाने आया । वे एक साथ ही दाँतरहित हाथी की तरह गर्व रहित हो गये । उन्होंने अपने कृत कर्मों का बहुत पश्चात्ताप किया और मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, जो कि जीवमात्र को सुख देने वाला है । धर्मोपदेश से उन्हें बहुत शांति मिली । उसका असर भी उन पर बहुत पड़ा । वे संसार से विरक्त हो गये । वे उसी समय अपने गर्दभ नाम के पुत्र को राज्य सौंपकर अपने अन्य पाँचसौ पुत्रों के साथ, जो कि बालपन ही से वैरागी रहा करते थे, मुनि हो गये । मुनि हुए बाद उन सबने खूब शास्त्रों का अभ्यास किया । आश्चर्य है कि वे पाँचसौ भाई तो खूब विद्वान हो गये, पर राजा को (यम मुनिको) पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण करना तक भी नहीं आया । अपनी यह दशा देखकर यम मुनि बड़े शर्मिन्दा और दुःखी हुए । उन्होंने वहाँ रहना उचित न समझ अपने गुरु से तीर्थयात्रा करने की आज्ञा ली और अकेले ही वहाँ से वे निकल पड़े । यम मुनि अकेले ही यात्रा करते हुए एक दिन स्वच्छन्द होकर रास्ते में जा रहे थे । जाते हुए उन्होंने एक रथ देखा । रथ में गधे जुते हुए थे और उसपर एक आदमी बैठा हुआ था । गधे उसे एक हरे धान के खेत की ओर लिये जा रहे थे । रास्ते में मुनि को जाते हुए देखकर रथ पर बैठे हुए मनुष्य ने उन्हें पकड़ लिया और लगा वह उन्हें कष्ट पहुँचाने । मुनि ने कुछ ज्ञान का क्षयोपशम हो जाने से एक खण्ड गाथा बनाकर पढ़ी । वह गाथा यह थी-
कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि । --खादिदुमिति
अर्थात्- रे गधो, कष्ट उठाओगे तो तुम जब भी खा सकोगे ।
इसी तरह एक दिन कुछ बालक खेल रहे थे । वहीं कोणिका भी न जाने किसी तरह पहुँच गयी । उसे देखकर सब बालक डरे । उस समय कोणिका को देखकर यम मुनि ने एक और खण्ड गाथा बनाकर आत्मा के प्रति कहा । वह गाथा यह थी-
अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणिबुर्द्धि, या छिद्दे अच्छई कोणिआ इति ।
अर्थात्- दूसरी ओर क्या देखते हो? तुम्हारी पत्थर सरीखी बुद्धि को तोड़ने वाली कोणिका तो है।
एक दिन यम मुनि ने एक मेंढक को कमल पत्र की आड़ में छुपे हुए सर्प की ओर आते हुए देखा । देखकर वे मेंढक से बोले-
अम्हादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हे ति ।
अर्थात्- मुझे मेरे आत्मा को तो किसी से भय नहीं है । भय है, तो तुम्हें ।
बस, यम मुनि ने जो ज्ञान सम्पादन कर पाया वह इतना था । वे इन्हीं तीन खण्ड गाथाओं का स्वाध्याय करते, पाठ करते और कुछ उन्हें आता नहीं था । इसी तरह पवित्रात्मा और धर्मानुयायी यम मुनि ने अनेक तीर्थों की । यात्रा करते हुए धर्मपुर की ओर आ निकले । वे शहर के बाहर एक बगीचे में कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे । उनके पीछे लौट आने का हाल उनके पुत्र गर्दभ और राजमंत्री दीर्घ को ज्ञात हुआ ।

उन्होंने समझा कि ये हम से राज्य लेने को आये हैं । सो वे दोनो मुनि के मारने का विचार कर आधी रात के समय वन में गये । और तलवार खींचकर उनके पीछे खड़े हो गये । आचार्य कहते हैं कि-

धिक् राज्यं धिङ्मूर्खत्वंकातरत्वं च धिक्तराम् ।

निस्पृहाच्च मुनेर्येन शंका राज्येऽभक्त्तयोः ।।

अर्थात्- ऐसे राज्य को, ऐसी मूर्खता और ऐसे डरपोकपने को धिक्कार है, जिससे एक निस्पृह और संसारत्यागी मुनि के द्वारा राज्य के छिन जाने का भय उन्हें हुआ । गर्दभ और दीर्घ, मुनि की हत्या करने को तो आये पर उनकी हिम्मत उन्हें मारने की नहीं पड़ी । वे बार-बार अपनी तलवारों को म्यान में रखने लगे और बाहर निकालने लगे । उसी समय यम मुनि ने अपनी स्वाध्याय की पहली गाथा पढ़ी, जो कि ऊपर लिखी जा चुकी है । उसे सुनकर गर्दभ ने अपने मंत्री से कहा- जान पड़ता है मुनि ने हम दोनो को देख लिया । पर साथ ही जब मुनि ने आधी गाथा फिर पढ़ी तब उसने कहा- नहीं जी, मुनिराज राज्य लेने को नहीं आये हैं । मैंने जो वैसा समझा था वह मेरा भ्रम था । मेरी बहिन कोणिका को प्रेम के वश कुछ कहने ये आये हुए जान पड़ते हैं । उसके बाद जब मुनिराज ने तीसरी आधी गाथा भी पढ़ी तब उसे सुनकर गर्दभ ने अपने मन में उसका अर्थ यह अर्थ समझा कि “मंत्री दीर्घ बड़ा कूट है, और मुझे मारना चाहता है,” यही बात पिताजी प्रेम के वश हो तुझे कहकर सावधान करने को आये हैं । परंतु थोड़ी देर बाद ही उसका यह सन्देह भी दूर हो गया । उन्होंने अपने हृदय की सब दुष्टता छोड़कर बड़ी भक्ति के साथ पवित्र चारित्र के धारक मुनिराज को प्रणाम किया और उनसे धर्म का उपदेश सुना, जोकि स्वर्ग-मोक्ष का देने वाला है । उपदेश सुनकर वे दोंनो बहुत प्रसन्न हुए । इसके बाद वे श्रावकधर्म ग्रहण कर अपने स्थान लौट गये ।

इधर यमधर मुनि भी अपने चारित्र दिन दूना निर्मल करने लगे । परिणामों को वैराग्य की ओर खूब लगाने लगे । उसके प्रभाव से थोड़े ही दिनों में उन्हें सातों ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं ।

अहा ! नाम मात्र ज्ञान द्वारा भी यम मुनिराज बड़े ज्ञानी हुए, उन्होंने अपनी उन्नति को अंतिम सीढ़ी तक पहुँचा दिया । इसलिये भव्य पुरुषों को संसार का हित करने वाले जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्ज्ञान की सदा आराधना करना चाहिये ।

देखो, यम मुनिराज को बहुत थोड़ा ज्ञान था, पर उसकी उन्होंने बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ आराधना की । उसके प्रभाव से वे संसार में प्रसिद्ध हुए और सातों ऋद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुईं । इसलिये सज्जन धर्मात्मा पुरुषों को उचित है कि वे त्रिलोकपूज्य जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट, सब सुखों का देने वाला और मोक्ष-प्राप्ति का कारण अत्यंत पवित्र सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करें ।

दृढ़सूर्य की कथा

दृढ़सूर्य की कथा

कथा :

लोका लोक के प्रकाश करने वाले, केवल ज्ञान द्वारा संसार के सब पदार्थों को जानकर उनका स्वरूप कहने वाले और देवेन्द्रादि द्वारा पूज्य श्रीजिनभगवान को नमस्कार कर मैं दृढ़सूर्य की कथा लिखता हूँ, जो कि जीवों को विश्वास की देने वाली है ।

उज्जयिनी के राजा जिस समय धनपाल थे, उस समय की यह कथा है । धनपाल उस समय के राजाओं में एक प्रसिद्ध राजा थे । उनकी महारानी का नाम धनवती था । एक दिन धनवती अपनी सखियों के साथ वसन्तश्री देखने को उपवन में गयी । उसके गले में एक बहुत कीमती रत्नों का हार पड़ा हुआ था । उसे वहीं आयी हुई एक बसंतसेना नाम की वेश्या ने देखा । उसे देखकर उसका मन उसकी प्राप्ति के लिये आकुलित हो उठा । उसके बिना उसे अपना जीवन निष्फल जान पड़ा । वह दुःखी होकर अपने घर लौटी । सारे दिन वह उदास रही । जब रात के समय उसका प्रेमी दृढ़सूर्य आया तब उसने उसे उदास देखकर पूछा— प्रिये, कहो ! कहो ! जल्दी कहो !! तुम आज अप्रसन्न कैसी ? बसंतसेना ने उसे अपने लिये इस प्रकार खेदित देखकर कहा— आज मैं उपवन गयी हुई थी । वहाँ मैंने राजरानी के गले में एक हार देखा है । वह बहुत ही सुन्दर है । उसे आप लाकर दें तब ही मेरा जीवन रह सकता है और तब ही आप मेरे सच्चे प्रेमी हो सकते हैं ।

दृढ़सूर्य हार के लिये चला । वह सीधा राजमहल पहुँचा व भाग्य से हार उसके हाथ पड़ गया । वह उसे लिये हुए राजमहल से निकला । सच है लोभी, लंपटी कौन काम नहीं करते ? उसे निकलते ही पहरेदारों ने पकड़ लिया । सवेरा होने पर वह राजसभा में पहुँचाया गया । राजा ने उसे शूली की आज्ञा दी । वह शूली पर चढ़ाया गया । इसी समय धनदत्त नाम के एक सेठ दर्शन करने को जिनमन्दिर जा रहे थे

दृढ़सूर्य ने उनके चेहरे और चाल-ढाल से उन्हें दयालु समझ कर उनसे कहा— सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूँ, सो आप कहीं से थोड़ा सा जल लाकर मुझे पिला दें, तो आपका बड़ा उपकार हो । धनदत्त ने उसकी भलाई की इच्छा से कहा—भाई, मैं जल तो लाता हूँ, पर इस बीच तुम्हें एक बात करनी होगी । वह यह कि- मैंने कोई बारह वर्ष के कठिन परिश्रम द्वारा अपने गुरुमहाराज की कृपा से एक विद्या सीख पाई है, सो मैं तुम्हारे लिये जल लेने को जाते समय कदाचित उसे भूल जाऊँ तो उससे मेरा सब श्रम व्यर्थ जायगा और मुझे बहुत हानि भी उठानी पड़ेगी, इसलिये उसे मैं तुम्हें सौंप जाता हूँ । मैं जब जल लेकर आऊँ तब तुम मुझे पीछी लौटा देना । यह कहकर परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाला पंचनमस्कार मंत्र उसे सिखाकर आप जल लेने को चला गया । वह जल लेकर वापिस लौटा, इतने में दृढ़सूर्य की जान निकल गई, वह मर गया । पर वह मरा नमस्कार मंत्र का जाप करता हुआ । उसे सेठ के इस कहने पर पूर्ण विश्वास हो गया था कि वह विद्या महाफल के देने वाली है । नमस्कार मंत्र के प्रभाव से वह सौधर्मस्वर्ग में जाकर देव हुआ । सच है— पंच नमस्कारमंत्र के प्रभाव से मनुष्य को क्या प्राप्त नहीं होता ? इसी समय किसी एक दुष्ट ने राजा से धनदत्त की शिकायत कर दी कि, महाराज धनदत्त ने चोर के साथ कुछ गुप्त मंत्रणा की है, इसलिये उसके घर में चोरी का धन होना चाहिये । नहीं तो एक चोर से बात-चीत करने का उसे क्या मतलब ? ऐसे दुष्टों को और उनके दुराचारों को धिक्कार है जो व्यर्थ ही दूसरों के प्राण लेने के यत्न में रहते हैं और परोपकार करने वाले सज्जनों को भी जो दुर्वचन कहते रहते हैं । राजा सुनते ही क्रोध के मारे आग बबूला हो गए । उन्होंने बिना कुछ सोचे विचारे धनदत को बाँध ले आने के लिये अपने नौकरों को भेजा । इसी समय अवधिज्ञान द्वारा यह हाल सौधर्मेन्द्र को, जो कि दृढ़सूर्य का जीव था, मालूम हो गया । अपने उपकारी को, कष्ट में फँसा देखकर यह उसी समय उज्जनियों में आया और स्वयं ही द्वार पाल बनकर उससे घर के दरवाजे पर पहरा देने लगा । जब राजनौकर धनदत्त को पकड़ने के लिये घर में घुस ने लगे तब देव ने उन्हें रोका । पर जब वे हठ करने लगे और जबरन घर में घुसने ही लगे तब देव ने भी अपनी माया से उन सब को एक क्षणभर में धराशायी बना दिया। राजा ने यह हाल सुनकर और भी बहुत से अपने अच्छे-अच्छे शूरवीरों को भेजा, देव ने उन्हें भी देखते-देखते पृथ्वीपर लोटा दिया । इससे राजा का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया । तब वे स्वयं अपनी सेना को लेकर धनदत्त पर आ चढ़े । पर उस एक ही देव ने उनकी सारी सेना को तीन तेरह कर दिया । यह देखकर राजा भय के मारे भागने लगे । उन्हें भागते हुए देख कर देव ने उनका पीछा किया और वह उन से बोला- आप कहीं नहीं भाग सकते । आपके जीने का एक मात्र उपाय है, वह यह कि आप धनदत्त के आश्रय जाँय और उससे अपने प्राणों की भीख माँगे । बिना ऐसा किये आपकी कुशल नहीं । सुनकर ही राजा धनदत्त के पास जिनमंदिर गये और उन्होंने सेठ से प्रार्थना की कि-धनदत्त, मेरी रक्षा करो । मुझे बचाओ । मैं तुम्हारे शरण में प्राप्त हूँ । सेठ ने देव को पीछे ही आया हुआ देखकर कहा- तुम कौन हो ? और क्यों हमारे महराज को कष्ट दे रहे हो ? देव ने अपनी माया समेटी और सेठ को प्रमाण करके कहा- हे जिनभक्त सेठ, मैं वही पापी चोर का जीव हूँ, जिसे तुम ने नमस्कारमंत्र का उपदेश दिया था । उसी के प्रभाव से मैं सौधर्मस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ हूँ । मैंने अवधिज्ञान द्वारा जब अपना पूर्वभव का हाल जाना तब मुझे ज्ञात हुआ कि इस समय मेरे उपकारी पर बड़ी आपत्ति आ रही है, इसलिये ऐसे समय में अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिये और आपकी रक्षा के लिये मैं आया हूँ । यह सब माया मुझ सेवक की ही की हुई है । इस प्रकार सब हाल सेठ से कहकर और रत्नमय भूषणादि से उसका यथोचित सत्कार कर देव स्वर्ग में चला गया । जिनभक्त धनदत्त की परोपकार बुद्धि और दूसरों के दु:ख दूर करने की कर्त्तव्यपरता देखकर राजा बगैरह ने उसका खूब आदर सम्मान किया । सच है-‘

‘धार्मिक: कैर्न पूज्यते’’ **अर्थ**ात् धर्मात्मा का कौन सत्कार नहीं करता ?

राजा और प्रजा के लोग इस प्रकार नमस्कारमंत्र का प्रभाव देखकर बहुत खुश हुए और पवित्र जिनशासन में श्रद्धानी हुए । इसी तरह धर्मात्माओं को भी उचित है कि वे अपने आत्महित के लिये भक्तिपूर्वक जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म में अपनी बुद्धि को स्थिर करें ।

यमपाल चांडाल की कथा

यमपाल चांडाल की कथा

कथा :

मोक्ष सुख के देने वाले श्रीजिनभगवान् को धर्मप्राप्ति के लिये नमस्कार कर मैं एक ऐसे चाण्डाल की कथा लिखता हूँ, जिसकी कि देवों तक ने पूजा की है ।

काशी के राजा पाकशासन ने एक समय अपनी प्रजा को महामारी से पीड़ित देखकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि ‘’नन्दीश्वरपर्व में आठ दिन पर्यन्त किसी जीव का वध न हो । इस राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला प्राणदंड का भागी होगा ।'' वहीं एक सेठ पुत्र रहता था । उसका नाम तो था धर्म, पर असल में वह महा अधर्मी था । वह सात व्यसनों का सेवन करने वाला था । उसे माँस खाने की बुरी आदत पड़ी हुई थी । एक दिन भी बिना माँस खाये उससे नहीं रहा जाता था । एक दिन वह गुप्तरीति से राजा के बगीचे में गया । वहाँ एक राजा का खास मेंढा बँधा करता था । उसने उसे मार डाला और उसके कच्चे ही मांस को खाकर वह उसकी हड्डियों को एक गड्ढे में गाड़ गया । सच है-
व्यसनेन युती जीव: सत्यं पापपरो भवेत् । -ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात्- व्यसनी मनुष्य नियम से पाप में सदा तत्पर रहा करते हैं ।
दूसरे दिन जब राजा ने बगीचे में मेंढा नहीं देखा और उसके लिये बहुत खोज करने पर भी जब उसका पता नहीं चला, तब उन्होंने उसका शोध लगाने को अपने बहुत से गुप्तचर नियुक्त किये । एक गुप्तचर राजा के बाग में भी चला गया । वहाँ का बागमाली रात को सोते समय सेठ पुत्र के द्वारा मेढे के मारे जाने का हाल अपनी स्त्री से कह रहा था, उसे गुप्तचर ने सुन लिया । सुनकर उसने महाराज से जाकर सब हाल कह दिया । राजा को इससे सेठ पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने कोतवाल को बुलाकर आज्ञा की कि, पापी धर्म ने एक तो जीवहिंसा की और दूसरे राजाज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिये उसे ले जाकर शूली चढ़ा दो । कोतवाल राजाज्ञा के अनुसार धर्म को शूली के स्थान पर लिवा ले गया और नौकरों को भेजकर उसने यमपाल चाण्डाल को इसलिये बुलाया कि वह धर्म को शूली पर चढ़ा दे । क्योंकि यह कार्य उसके सुपुर्द था । पर यमपाल ने एक दिन सर्वोषधिऋद्धिधारी मुनिराज के द्वारा जिनधर्म का पवित्र उपदेश सुनकर, जो कि दोनों भवों में सुख को देने वाला है, प्रतिज्ञा की थी कि ''मैं चतुर्दशी के दिन कभी जीवहिंसा नहीं करूंगा ।'' इसलिये उसने राज नौकरों को आते हुए देखकर अपने व्रत की रक्षा के लिये अपनी स्त्री कहा- प्रिये, किसी को मारने के लिये मुझे बुलाने को राज-नौकर आ रहे है, सो तुम उनसे कह देना कि घर में वे नहीं हैं, दूसरे ग्राम गये हुए हैं। इस प्रकार वह चांडाल अपनी प्रिया को समझा कर घर के एक कोने में छुप रहा । जब राज-नौकर उसके घर पर आये और उनसे चांडालप्रिया ने अपने स्वामी के बाहर चले जाने का समाचार कहा, तब नौकरों ने बड़े खेद के साथ कहा- हाय ! वह बड़ा अभागा है। दैव ने उसे धोखा दिया । आज ही तो एक सेठ पुत्र के मारने का मौका आया था और आज ही वह चल दिया ! यदि वह आज सेठ पुत्र को मारता तो उसे उसके सब वस्त्राभूषण प्राप्त होते । वस्त्राभूषण का नाम सुनते ही चाण्डालिनी के मुँह में पानी भर आया । वह अपने लोभ के सामने अपने स्वामी का हानि-लाभ कुछ नहीं सोच सकी । उसने रोने का ढोंग बनाकर और यह कहते हुए, कि हाय वे आज ही गाँव को चले गये, आती हुई लक्ष्मी को उन्होंने पाँव से ठुकरा दी, हाथ के इशारे से घर के भीतर छुपे हुए अपने स्वामी को बता दिया । सच है-
स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे । प्रज्वलन्नपि दुर्वह्नि: किं वाते वाति दारूणे ।। -ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात्- स्त्रियाँ एक तो वैसे ही मायाविनी होती हैं, और फिर लोभादि का कारण मिल जाय तब तो उनकी माया का कहना ही क्या ? जलती हुई अग्नि वैसे ही भयानक होती है और यदि ऊपर से खूब हवा चल रही हो तब फिर उसकी भयानकता का क्या पूछना ?
यह देख राज-नौकरों ने उसे घर से बाहर निकाला । निकलते ही निर्भय होकर उसने कहा- आज चतुर्दशी है और मुझे आज अहिंसाव्रत है, इसलिये मैं किसी तरह, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न जायें कभी हिंसा नहीं करूँगा । यह सुन नौकर लोग उसे राजा के पास लिवा ले गये । वहाँ भी उसने वैसा ही कहा । ठीक है-
यस्य धर्मे सुविश्वास: क्वापि भोतिं न याति स:। -ब्रह्म नेमिदत्त
अर्थात्- जिसका धर्म पर दृढ़ विश्वास है, उसे कहीं भी भय नहीं होता ।
राजा सेठ पुत्र के अपराध के कारण उस पर अत्यन्त गुस्सा हो ही रहे थे कि एक चाण्डाल की निर्भयपने की बातों ने उन्हें और भी अधिक क्रोधी बना दिया । एक चाण्डाल को राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला और इतना अभिमानी देखकर उनके क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा । उन्होंने उसी समय कोतवाल को आज्ञा की कि जाओ, इन दोनों को ले जाकर अपने मगरमच्छादि क्रूर जीवों से भरे हुए तालाब में डाल आओ । वही हुआ । दोनों को कोतवाल ने तालाब में डलवा दिया । तालाब में डालते ही पापी धर्म को तो जलजीवों ने खा लिया । रहा यमपाल, सो वह अपने जीवन की कुछ परवा न कर अपने व्रतपालन में निश्चल बना रहा । उसके उच्च भावों और व्रत के प्रभाव से देवों ने आकर उसकी रक्षा की । उन्होंने धर्मानुराग से तालाब ही में एक सिंहासन पर यमपाल चाण्डाल को बैठाया, उसका अभिषेक किया और

उसे खूब स्वर्गीय वस्त्राभूषण प्रदान किये, खूब उसका आदर सम्मान किया । जब राजा प्रजा को यह हाल सुन पड़ा, तो उन्होंने भी उस चाण्डाल का बड़े आनन्द और हर्ष के साथ सम्मान किया । उसे खूब धन दौलत दी । जिनधर्म का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर और भव्य पुरूषों को उचित है कि वे स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाले जिनधर्म में अपनी बुद्धि को लगावें । स्वर्ग के देवों ने भी एक अत्यन्त नीच चाण्डाल का आदर किया, यह देखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को अपनी-अपनी जाति का कभी अभिमान नहीं करना चाहिये । क्योंकि पूजा जाति की नहीं होती, किन्तु गुणों की होती है ।

यमपाल जाति का चाण्डाल था, पर उसके हृदय में जिनधर्म की पवित्र वासना थी, इसलिये देवों ने उसका सम्मान किया, उसे रत्नादिकों के अलंकार प्रदान किये; अच्छे-अच्छे वस्त्र दिये, उस पर फूलों की वर्षा की । यह जिनभगवान के उपदिष्ट धर्म का प्रभाव है, वे ही जिनेन्द्रदेव, जिन्हें कि स्वर्ग के देव भी पूजते हैं, मुझे मोक्षश्री प्रदान करें । यह मेरी उनसे प्रार्थना है ।

मृगसेन धीवर की कथा

मृगसेन धीवर की कथा

कथा :

केवलज्ञान रूपी नेत्र के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर मैं अहिंसाव्रत का फल पाने वाले एक धीवर की कथा लिखता हूँ ।

सब सन्देहों को मिटाने वाली, प्रीति पूर्वक आराधना करने वाले प्राणियों के लिये सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली, जिनेन्द्र भगवान् की वाणी संसार में सदैव बनी रहे ।

संसार रूपी अथाह समुद्र से भव्य पुरूषों को पार कराने के लिये पुल के समान ज्ञान के सिन्धु मुनिराज निरन्तर मेरे हृदय में विराजमान रहें ।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठी का स्मरण और मंगल करके कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिये मैं अहिंसा व्रत की पवित्र कथा लिखता हूँ । जिस अहिंसा का नाम ही जीवों को अभय प्रदान करने वाला है, उसका पालन करना तो निस्सन्देह सुख का कारण है । अत: दयालु पुरूषों को मन, वचन और काय से संकल्पी हिंसा का परित्याग करना उचित है । बहुत से लोग अपने पितरों आदि की शान्ति के लिये श्राद्ध वगैरह में हिंसा करते हैं, बहुत से देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये उन्हें जीवों की बलि देते हैं और कितने ही महामारी, रोग आदि के मिट जाने के उद्देश्य से जीवों की हिंसा करते है; परन्तु यह हिंसा सुख के लिए न होकर दु:ख के लिये ही होती है । हिंसा द्वारा जो सुख की कल्पना करते हैं, यह उनका अज्ञान ही है । पाप कर्म कभी सुख का कारण हो ही नहीं सकता । सुख है अहिंसाव्रत के पालन करने में । भव्य जन ! मैं आपको भव भ्रमण का नाश करने वाला तथा अहिंसाव्रत का माहात्म्य प्रकट करने वाली एक कथा सुनाता हूँ; आप ध्यान से सुनें ।

अपनी उत्तम सम्पत्ति से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले सुरम्य अवन्ति देश के अन्तर्गत शिरीष नाम के एक छोटे से सुन्दर गाँव में मृगसेन नाम का एक धीवर रहा करता था । अपने कंधों पर एक बड़ाभारी जाल लटकाए हुए एक दिन वह मछलियाँ पकड़ने के लिये क्षिप्रा नदी की ओर जा रहा था । रास्ते में उसे यशोधर नामक मुनिराज के दर्शन हुए । उस समय अनेक राजा महाराजा आदि उनके पवित्र चरणों की पर्युपासना कर रहे थे, मुनिराज जैन सिद्धान्त के मूल रहस्य स्याद्वाद के बहुत अच्छे विद्वान् थे, जीवमात्र का उद्धार करने हेतु वे सदा कमर कसे तैयार रहते थे, जीवमात्र का उपकार करना ही एक मात्र उनका व्रत था, धर्मोपदेश रूपी अमृत से सारे संसार को उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया था, अपने वचन रूपी प्रखर किरणों के तेज से उन्होंने मिथ्यात्व रूपी गाढ़ान्धकार को नष्ट कर दिया था, उनके पास वस्त्र वगैरह कुछ नहीं थें, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी इन तीन मौलिक रत्नों से वे अवश्य अलंकृत थे । मुनिराज को देखते ही उसके कोई ऐसा पुण्य का उदय आया, जिससे उसके हृदय में कोमलता ने अधिकार कर लिया । अपने कंधे पर से जाल हटा कर वह मुनिराज के समीप पहुँचा, बहुत भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम कर उसने उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामी ! कामरूपी हाथी को नष्ट करने वाले हे केसरी !! मुझे भी कोई ऐसा व्रत दीजिए, जिससे मेरा जीवन सफल हो । ऐसी प्रार्थना कर विनय-विनीत मस्तक से वह मुनिराज के चरणों में बैठ गया । मुनिराज ने उसकी ओर देखकर विचार किया कि देखो ! कैसे आज इस महाहिंसक के परिणाम कोमल हो गये हैं और इसकी मनोवृत्ति व्रत लेने की हुई है । सत्य है-

युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि शुभाशुभनिभं मन: । --ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवों का मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है, अर्थात् जिसका भविष्यत् अच्छा होता है, उसका मन पवित्र हो जाता है और जिसका बुरा होनहार होता है उसका मन भी बुरा हो जाता है ।

इसके बाद मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा मृगसेन के भावी जीवन पर जब विचार किया तो उन्हें ज्ञान हुआ कि इसकी आयु अब बहुत कम रह गई है । यह देख उन्होंने करूणाबुद्धि से उसे समझाया कि हे भव्य ! मैं तुझे एक बात कहता हूँ, तू जब तक जीए तब तक उसका पालन करना । वह यह कि तेरे जाल में पहली बार जो मछली आये उसे तू छोड़ देना और इस तरह जब तक तेरे हाथ से मरे हुए जीव का मांस तुझे प्राप्त न हो, तब तक तू पाप से मुक्त ही रहेगा । इसके अतिरिक्त मैं तुझे पंचनमस्कार मंत्र सिखाता हूँ जो प्राणी मात्र का हित करनेवाला है, उसका तू सुख में, दु:ख में, सरोग या नीरोग अवस्था में सदैव ध्यान करते रहना । मुनिराज के स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले इस प्रकार के वचनों को सुनकर मृगसेन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने यह व्रत स्वीकार कर लिया । जो भक्तिपूर्वक अपने गुरूओं के वचनों को मानते हैं, उनपर विश्वास लाते हैं, उन्हें सब सुख मिलता है और वे परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते है ।

व्रत लेकर मृगसेन नदी पर गया । उसने नदी में जाल डाला । भाग्य से एक बड़ाभारी मत्स्य उसके जाल में फँस गया । उसे देखकर धीवर ने विचारा- हाय ! मैं निरन्तर ही तो महापाप करता हूँ और आज गुरू महाराज ने मुझे व्रत दिया है, भाग्य से आज ही इतना बड़ामच्छ जाल में आ फँसा । पर जो कुछ ही, मैं तो इसे कभी नहीं मारूँगा । यह सोचकर व्रती मृगसेन ने अपने कपड़े की एक चिन्दी फाड़कर उस मत्स्य के कान में इसलिये बाँध दी कि यदि वही मच्छ दूसरी बार जाल में आ जाय तो मालूम हो जाये । इसके बाद वह उसे बहुत दूर जाकर नदी में छोड़ आया । सच है, मृत्युपर्यन्त निर्विघ्न पालन किया हुआ व्रत सब प्रकार की उत्तम सम्पत्ति को देने वाला होता है ।

वह फिर दूसरी ओर जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा । पर भाग्य से इस बार भी वही मच्छ उसके जाल में आया । उसने उसे फिर छोड़ दिया । इस तरह उसने जितनी बार जाल डाला, उसमें वही-वही मत्स्य आया पर उससे वह क्षुब्ध नहीं हुआ अपितु अपने व्रत की रक्षा के लिए खूब दृढ़ हो गया । उसे वहाँ इतना समय हो गया कि सूर्य भी अस्त हो चला, पर उसके जाल में उस मत्स्य को छोड़कर और कोई मत्स्य नहीं आया । अन्त में मृगसेन निरूपाय होकर घर की ओर लौट पड़ा । उसे अपने व्रत पर खूब श्रद्धा हो गई । वह रास्ते भर गुरू महाराज द्वारा सिखाए पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ चला आया । जब वह अपने घर के दरवाजे पर पहुँचा तो उसकी स्त्री उसे खाली हाथ देखकर आग बबूला हो उठी उसने गुस्से से पूछा- रे मूर्ख घर पर खाली हाथ तो चला आया, पर बतला तो सही कि खायगा क्या पत्थर ? इतना कहकर वह घर के भीतर चली गई और गुस्से में उसने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिए । सच है- छोटे कुल की स्त्रियों का अपने पति पर प्रेम, लाभ होते रहने पर ही अधिक होता है । अपनी स्त्री का इस प्रकार दुर्व्यवहार देखकर बेचारा मृगसेन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया । उसकी कुछ नहीं चली । उसे घर के बाहर ही रह जाना पड़ा । बाहर एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था । मगृसेन निरूपाय होकर पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करता हुआ उसी पर सो गया । दिन भर के श्रम के कारण रात में वह तो भर नींद में सोया हुआ था कि उस लकड़े में से एक भयंकर और जहरीले साँप ने निकल कर उसे काट खाया । वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

प्रात:काल होने पर जब उसकी पत्नी ने मृगसेन की यह दुर्दशा देखी तो उसके दु:ख का कोई ठिकाना नहीं रहा । वह रोने लगी, छाती कूटने लगी और अपने नीच कर्म का बार-बार पश्चात्ताप करने लगी । उसका दु:ख बढ़ता ही गया । उसने भी यह प्रतिज्ञा ली कि जो व्रत मेरे स्वामी ने ग्रहण किया था वही मैं भी ग्रहण करती हूँ और निदान किया कि ‘‘ ये ही मेरे अन्य जन्म में भी स्वामी हों ।” अनन्तर साहस करके वह भी अपने स्वामी के साथ अग्नि प्रवेश कर गई । इस प्रकार अपघात से उसने अपनी जान गँवा दी ।

विशाला नाम की नगरी में विश्वम्भर राजा राज्य करते थे । उनकी प्रिया का नाम विश्वगुणा था । वहीं एक सेठ रहते थे । गुणपाल उनका नाम था । उनकी स्त्री का नाम धनश्री था । धनश्री के सुबन्धु नाम की एक अतिशय सुन्दरी और गुणवती कन्या थी । पुण्योदय से मृगसेन धीवर का जीव धनश्री के गर्भ में आया ।

अपने नर्मधर्म नामक मंत्री के अत्यन्त आग्रह और प्रार्थना से राजा ने सेठ गुणपाल से आग्रह किया कि वह मंत्रीपुत्र नर्मधर्म के साथ अपनी पुत्री सुबन्धु का ब्याह कर दे । यह जानकर गुणपाल को बहुत दु:ख हुआ । उसके सामने एक अत्यन्त कठिन समस्या उत्पन्न हुई । उसने विचारा कि पापी राजा, मेरी प्यारी सुन्दरी सुबन्धु का, जो कि मेरे कुलरूपी बगीचे पर प्रकाश डालने वाली है, नीच कर्म करने वाले नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देने को कहता है । उसने इस समय मुझे बड़ा संकट में डाल दिया । यदि सुबन्धु का नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देता हूँ,

तो मेरे कुल का क्षय होता है और साथ ही अपयश होता है और यदि नहीं करता हूँ, तो सर्वनाश होता है । राजा न जाने क्या करेगा ? आखिर उसने निश्चय किया जो कुछ हो, पर मैं ऐसे नीचों के हाथ तो कभी अपनी प्यारी पुत्री का जीवन नहीं सौपूंगा- उसकी जिन्दगी बरबाद नहीं करूँगा । इसके बाद वह अपने श्रीदत्त मित्र के पास गया और उससे सब हाल कह कर तथा उसकी सम्मति से अपनी गर्भिणी स्त्री को उसी के घर पर छोड़ कर आप रात के समय अपना कुछ धन और पुत्री को साथ लिये वहाँ गुपचुप से निकल खड़ा हुआ । वह धीरे-धीरे कौशाम्बी आ पहुँचा । सच है, दुर्जनों के सम्बन्ध से देश भी छोड़ देना पड़ता है ।

श्रीदत्त के घर के पास ही एक श्रावक रहता था । एक दिन उस के यहाँ पवित्र चारित्र के धारक शिवगुप्त और मुनिगुप्त नाम के दो मुनिराज आहार के लिये आये । उन्हें श्रावक महाशय ने अपने कल्याण की इच्छा से विधिपूर्वक आहार दिया, जो कि सर्वोत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति का कारण है । मुनिराज को आहार देकर उसने बहुत पुण्य उत्पन्न किया, जो कि दु:ख दरिद्रता आदि का नाश करने वाला है । मुनिराज आहार के बाद जब वन में जाने लगे तब उनमें से मुनिगुप्त की नजर धनश्री पर पड़ी, जो कि श्रीदत्त के आँगन में खड़ी हुई थी । उस समय उसकी दशा अच्छी नहीं थी । बेचारी पति और पुत्रों के वियोग से दु:खी थी, पराये घर पर रह कर अनेक दु:खों को सहती थी, आभूषण वगैरह सब उसने उतार डालकर शरीर को शोभाहीन बना डाला था, कुकवि की रचना के समान उसका सारा शरीर रूक्ष और श्रीहीन हो रहा था और इन सब दु:खों के होने पर भी वह गर्भिणी थी, इससे और अधिक दुर्व्यवस्था में वह फँसी थी । उसे इस हालत में देखकर मुनिगुप्त ने शिवगुप्त मुनिराज से कहा- प्रभो, देखिये तो इस बेचारी की कैसी दुर्दशा हो रही है, कैसे भयंकर कष्ट का इसे सामना करना पड़ा है ? जान पड़ता है इससे गर्भ में किसी अभागे जीव ने जन्म लिया है, इसी से इसकी यह दीन-हीन दशा हो रही है । सुनकर जैनसिद्धान्त के विद्वान् और अवधिज्ञानी श्रीशिवगुप्त मुनि बोले- मुनिगुप्त, तुम यह न समझो कि इसके गर्भ में कोई अभागा आया है; किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय उसकी अवस्था ठीक नहीं है और यह दु:खी है; परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद इसके दिन फिरेंगे और पुण्य का उदय आवेगा । इसके यहाँ जिसका जन्म होगा, वह बड़ामहात्मा, जिनधर्म का पूर्ण भक्त और राज सम्मान का पात्र होगा । होगा तो वह वैश्यवंश में पर उसका ब्याह इन्हीं विश्वंभर राजा की पुत्री के साथ होगा, राजवंश भी उसकी सेवा करेगा ।

मुनिराज की भविष्य वाणी पापी श्रीदत्त ने भी सुनी । वह था तो धनश्री के पति गुणपाल का मित्र, पर अपने एक जातीय बन्धु का उत्कर्ष होना उसे सहा नहीं हुआ । उसका पापी हृदय मत्सरता के द्वेष से अधीर हो उठा । उसने बालक को जन्मते ही मार डालने का निश्चय किया । अब से वह बाहर कहीं न जाकर बगुले की तरह सीधा साधा घर ही में रहने लगा । सच है-

कारणेन बिना वैरी दुर्जन: सुजनो भवेत्। -ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- दुर्जन-शत्रु बिना कारण के भी सुजन-मित्र बन जाया करते हैं । सो पहले तो श्रीदत्त बेचारी धनश्री को कष्ट दिया करता था और अब उसके साथ बड़ी सज्जनता का बर्ताव करने लगा । धनश्री सेठानी ने समय पाकर पुत्र को प्रसव किया । वास्तव में बालक बड़ा भाग्यशाली हुआ । वह उत्पन्न होते ही ऐसा तेजस्वी जान पड़ता था, मानो पुण्य समूह हो । धनश्री पुत्र की प्रसव वेदना से मूर्छित हो गई । उसे अचेत देखकर पापी श्रीदत्त ने अपने मन में सोचा- बालक प्रज्वलित अग्नि की तरह तेजस्वी है, अपने को आश्रय देने वाले का ही क्षय करने वाला होगा, इसलिये इसका जीता रहना ठीक नहीं । यह विचार कर उसने अपने घर की बड़ी बूढी़ स्त्रियों द्वारा यह प्रगट करवा कर, कि बालक मरा हुआ पैदा हुआ था, बालक को एक भंगी के हाथ सौंप दिया और उससे कह दिया कि इसे ले जाकर ही मार डालना । उचित तो यह था कि-

शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालक किं पुनर्वृथा ।

हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जना: फणिनो यथा।। -ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- शत्रु का भी यदि बच्चा हो, तो उसे नहीं मारना चाहिये, तब दूसरों के बच्चों के सम्बन्ध में तो क्या कहें ? परन्तु खेद है कि सर्प के समान दुष्ट पुरूष कोई भी बुरा काम करते नहीं हिचकते । चाण्डाल बच्चे को एकान्त में मारने को ले गया, पर जब उसने उजेले में उसे देखा तो उसकी सुन्दरता को देखकर उसे भी दया आ गई, करूणा से उसका हृदय भर आया । सो वह उसे न मारकर वहीं एक अच्छे स्थान पर रखरकर अपने घर चला गया ।

श्रीदत्त की एक बहिन थी । उसका ब्याह इन्द्रदत्त सेठ के साथ हुआ था । भाग्य से उसके सन्तान नहीं हुई थी । बालक के पूर्व पुण्य के उदय से इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ इसी ओर आ निकला । जब वह ग्वाल लोगों के मोहल्ले में आया तो उसने गुवालों को परस्पर बातें

करते हुए सुना कि ‘’एक बहुत सुन्दर बालक को न जाने कोई अमुक स्थान की सिला पर लेटा गया है, वह बहुत तेजस्वी है, उसके चारों ओर अपनी गायों के बच्चे खेल रहे हैं और यह उनके बीच में बड़े सुख से खेल रहा है ।'' उनकी बातें सुनकर ही इन्द्रदत्त बालक के पास आया । वह एक दूसरे बाल सूर्य को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ । उसके कोई सन्तान तो थी ही नहीं, इसलिये बच्चे को उठाकर वह अपने घर ले आया और अपनी प्रिया से बोला- प्यारी राधा ? तुम्हें इसकी खबर भी नहीं कि तुम्हारे गूढगर्भ से अपने कुल का प्रकाशक पुत्र हुआ है ? और देखो वह यह है । इसे ले लो और पा लो । आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ । यह कह कर उसने बालक को अपनी प्रिया की गोद में रख दिया । बालक की खुशी के उपलक्ष में इन्द्रदत्त ने खूब उत्सव किया । खूब दान दिया । सच है-

प्राणिनां पूर्वपुण्यानामापदा सम्पदायते। –ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- पुण्यवानों के लिये विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है । पापी श्रीदत्त को यह हाल मालूम हो गया । सो वह इन्द्रदत्त के घर आया और मायाचार से उसने अपने बहनोई से कहा- देखोजी, हमारा भानजा बड़ा तेजस्वी है, बड़ाभाग्यवान् है, इसलिये उसे हम अपने घर पर ही रक्खेंगे । आप हमारी बहिन को भेज दीजिये । बेचारा इन्द्रदत्त उसके पापी हृदय की बात नहीं जान पाया । इसलिये उसने अपने सीधे स्वभाव से अपनी प्रिया को पुत्र सहित उसके साथ कर दिया । बहुत ठीक लिखा है-

अहो दुष्टाशय: प्राणी चित्तेडन्यद्वचनेडन्यथा ।
कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वचन महत् ।।

अर्थात्- जिन लोगों का हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्त में कुछ और रहता है, वचनों से वे कुछ और ही कहते और शरीर से कुछ और ही करते हैं । दूसरों को ठगना, उन्हें धोखा देना ही एक मात्र ऐसे पुरूषों का उद्देश्य रहता है । पापी श्रीदत्त भी एक ऐसा ही दुष्ट मनुष्य था । इसीलिए तो वह निरपराध बालक के खून का प्यासा हो उठा । उसने पहले की तरह फिर भी उसे मार डालने की इच्छा से चाण्डाल को बहुत कुछ लोभ देकर उसके हाथ सौंप दिया । चाण्डाल ने भी बालक को ले तो लिया पर जब उसने उसकी स्वर्गीय सुन्दरता देखी तो उसके हृदय में भी दया देवी आ विराजी । उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कुछ हो, मैं कभी इस बच्चे को न मारूँगा और इसे बचाऊँगा । वह अपना विचार श्रीदत्त से नहीं कहकर बच्चे को लिवा ले गया । कारण श्रीदत्त की पाप वासना उसे कभी जिन्दा रहने न देगी, यह उसे उसकी बातचीत से मालूम हो गया था । चाण्डाल बच्चे को एक नदी के किनारे पर लिवा ले गया । वही एक सुन्दर गुहा थी, जिसके चारों ओर वृक्ष थे । वह बालक को उस गुहा में रखकर अपने घर पर लौट आया ।

संध्या का समय था । ग्वाल लोग अपनी-अपनी गायों को घर पर लौटाये ला रहे थे । उनमें से कुछ गायें इस गुहा की ओर आ गई थीं, जहाँ गुणपाल का पुत्र अपने पूर्वपुण्य के उदय से रक्षा पा रहा था । धाय के समान उन गायों ने आकर उस बच्चे को घेर लिया । मानों बच्चा प्रेम से अपनी माँ की ही गोद में बैठा हो । बच्चे को देखकर गायों के थनों में से दूध झरने लग गया । ग्वाल लोग प्रसन्नमुख बच्चे को गायों से घिरा हुआ और निर्भय खेलता हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे । उन्होंने जाकर अपनी जाति के मुखिया गोविन्द से यह सब हाल कह सुनाया । गोविन्द के कोई संतान नहीं थी, इसलिये वह दौड़ा गया और बालक को उठा लाकर उसने अपनी सुनन्दा नाम को प्रिया को सौंप दिया । उसका नाम उसने धनकीर्ति रखा । वहीं पर बड़े यत्न और प्रेम से उसका पालन व संरक्षण होने लगा । धनकीर्ति भी दिनों दिन बढ़ने लगा । वह ग्वाल महिलाओं के नेत्ररूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा था । उसे देखकर उनके नेत्रों को बड़ी शान्ति मिलती थी । वह सब सामुद्रिक लक्षणों से युक्त था । उसे देखकर सबको बड़ा प्रेम होता था । वह अपनी रूप मधुरिमा से कामदेव जान पड़ता था, कान्ति से चन्द्रमा और तेज से एक दूसरा सूर्य । जैसे-जैसे उसकी सुन्दरता बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे ही उसमें अनेक उत्तम-उत्तम गुण भी स्थान पाते चले जाते थे ।

एक दिन पापी श्रीदत्त घी की खरीद करता हुआ इधर आ गया । उसने धनकीर्ति को देखकर पहिचान लिया । अपना सन्देह मिटाने को और भी दूसरे लोगों से उसने उसका हाल जान किया । उसे निश्चय हो गया कि यह गुणपाल ही का पुत्र है । तब उसने फिर उसके मारने का षड्यंत्र रचा । उसने गोविन्द से कहा- भाई, मेरा एक बहुत जरूरी काम है, यदि तुम अपने पुत्र द्वारा उसे करा दो तो बड़ी कृपा हो । मैं अपने घर पर भेजने के लिये एक पत्र लिखे देता हूँ, उसे यह पहुँचा आवे । बेचारे गोविन्द ने कह दिया कि मुझे आपके काम से कोई इंकार नहीं है । आप लिख दीजिये, यह उसे दे आयगा । सच बात है-

अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगत: । -ब्रह्म नेमिदत्त

अर्थात्- दुष्टों की दुष्टता का पता जल्दी से कोई नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्त ने पत्र में लिखा- ‘‘पुत्र महाबल,
जो तुम्हारे पास पत्र लेकर आ रहा है, वह अपने कुल का नाश करने के लिये भयंकरता से जलता हुआ मानो प्रलय काल की अग्नि है, समर्थ होते ही यह अपना सर्वनाश कर देगा । इसलिये तुम्हें उचित है कि इसे गुप्तरीति से तलवार द्वारा वा मूसले से मार डालकर अपना कांटा साफ कर दो । काम बड़ी सावधानी से हो, जिसे कोई जान न पावे ।''
पत्र को अच्छी तरह बन्द कर के उसने कुमार धनकीर्ति को सौंप दिया । धनकीर्ति ने उसे अपने गले में पड़े हुए हार से बाँध लिया और सेठ की आज्ञा लेकर उसी समय वह वहाँ से निडर होकर चल दिया । वह धीरे-धीरे उज्जयिनी के उपवन में आ पहुँचा । रास्ते में चलते-चलते वह थक गया था । इसलिये थकावट मिटाने के लिये वह वहीं एक वृक्ष की ठंडी छाया में सो गया । उसे वहाँ नींद आ गई ।
इतने ही में वहाँ एक अनंगसेना नाम की वैश्या फूल तोड़ने के लिये आई । वह बहुत सुन्दरी थी । अनेक तरह के मौलिक भूषण और वस्त्र वह पहने थी । उससे उसकी सुन्दरता भी बेहद बढ़ गई थी । वह अनेक विद्या, कलाओं को जानने वाली और बड़ी विनोदिनी थी । उसने धनकीर्ति को एक वृक्ष के नीचे सोता देख पूर्वजन्म में अपना उपकार करने के कारण से उस पर उसका बहुत प्रेम हुआ । उसके वश होकर ही उसे न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई जो उसने उसके गले में बँधे हुए श्रीदत्त के कागज को खोल लिया । पर जब उसने उसे बाँचा तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा । एक निर्दोष कुमार के लिये श्रीदत्त का ऐसा घोर पैशाचिक अत्याचार का हाल पढ़कर उसका हृदय काँप उठा । वह उसकी रक्षा के लिये घबरा उठी । वह भी थी बड़ी बुद्धिमती सो उसे झट एक युक्ति सूझ गई । उसने उस लिखावट को बड़ी सावधानी से मिटाकर उसकी जगह अपनी आँखों में अंजे हुए काजल को पत्तों के रस से गीली की हुई सलाई से निकाल-निकाल कर उसके द्वारा लिख दिया कि --
''प्रिये! यदि तुम मुझे सच्चा अपना स्वामी समझती हो, और पुत्र महाबल ! तुम यदि वास्तव में मुझे अपना पिता समझते हो तो इस पत्र लाने वाले के साथ श्रीमती का ब्याह शीघ्र कर देना । अपने को बड़े भाग्य से ऐसे वर की प्राप्ति हुई है । मैंने इसकी साखें वगैरह सब अच्छे तरह देख ली है । कहीं कोई बाधा नहीं आती है । इस काम के लिए तुम मेरी भी अपेक्षा नहीं करना । कारण, सम्भव है मुझे आने में कुछ विलम्ब हो जाय । फिर ऐसा योग मिलना कठिन है । वर के मान सम्मान में तुम लोग किसी प्रकार की कमी मत रखना ।
इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेना ने पहले की तरह उसे धनकीर्ति के गले में बाँध दिया अथवा यों कह लीजिए कि उसने धनकीर्ति को मानो जीवन प्रदान किया । इस के बाद वह अपने घर पर लौट आई ।
अनंगसेना के चले जाने के बाद धनकीर्ति की भी नींद खुली, वह उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा । उसने पत्र निकाल कर श्रीदत्त की स्त्री के हाथ में सौंपा । पत्र को उसके पुत्र महाबल ने भी पढ़ा । पत्र पढकर उन्हें बहुत खुशी हुई । धनकीर्ति का उन्होने बहुत आदर-सम्मान किया तथा शुभ मुहुर्त में श्रीमती का ब्याह उसके साथ कर दिया । सच कहा है --
सम्भवेत्कृतपुण्यानांमहापायेपिसत्सुखम् । --ब्रह्मनेमिदत्त
अर्थात- पुण्यवान जीवों को महासंकट के समय भी जीवन के नष्ट होने के कारणों के मिलने पर भी सुख प्राप्त होता है । यह हाल जब श्रीदत्त को ज्ञात हुआ तो वह घबराकर उसी समय दौड़ा हुआ आया । उसने रास्ते में ही धनकीर्ति को मार डालने की युक्ति सोचकर अपनी नगरी के बाहर पार्वती के मन्दिर में एक मनुष्य को इसलिए नियुक्त कर दिया कि मैं किसी बहाने से धनकीर्ति को रात के समय यहाँ भेजूँगा सो उसे तुम मार डालना । इसके बाद वह अपने घर पर आया और एकान्त में अपने जमाई को बुलाकर उसने कहा - देखो जी, मेरी कुल परम्परा में एक रीति चली आ रही है, उसका पालन तुम्हें भी करना होगा । वह यह है कि नवविवाहित वर रात्रि के आरम्भ में उड़द के आटे के बनाए हुए तोता काक मुर्गा आदि जानवरों को लाल वस्त्र से ढककर और कंकण पहने हुए हाथ में रखकर बड़े आदर के साथ शहर के बाहर पार्वती के मन्दिर में ले जाय और शान्ति के लिए उनकी बली दे ।
यह सुनकर धनकीर्ति बोला – जैसे आपकी आज्ञा ! मुझे शिरोधार्य है । इसके बाद वह बलि लेकर घर से निकला । शहर के बाहर पहुँचते ही उसे उसका साला महाबल मिला । महाबल ने उससे पूछा क्यों जी ! ऐसे अन्धकार में अकेले कहाँ जा रहे हो उत्तर में धनकीर्ति ने कहा आपके पिताजी की आज्ञा से मैं पार्वती जी के मन्दिर में बलि देने के लिए जा रहा हूँ । यह सुनकर महाबल बोला - आप बलि मुझे दे दीजिए मैं चला जाता हूँ । आपके वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है । आप घर पधारिए । धनकीर्ति ने कहा - देखिए, इससे आपके पिताजी बुरा मानेंगे इसलिए आप मुझे ही जाने दीजिए । महाबल ने कहा - नहीं, मुझे बलि देने की सब विधि वगैरह मालूम है, इसलिए मैं

ही जाता हूँ यह कहकर उसने धनकीर्ति को तो घर लौटा दिया और आप दुर्गा के मन्दिर आकर काल के घर का पाहुना बना । सचहै - पुण्यवानों के लिए काल रूपी अग्नि जल हो जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, विष अमृत के रूप में परिणत हो जाता है, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है और विघ्न डर के मारे नष्ट हो जाते हैं । इसलिए बुद्धिमानों को सदा पुण्य कर्म करते रहना चाहिए । पुण्य उत्पन्न करने के कारण ये हैं – भक्ति से भगवान की पूजा करना, पात्रों को दान देना, व्रत पालना, उपवासादि के द्वारा इंद्रियो को जीतना, ब्रह्मचर्य रखना, दुखियों की सहायता करना, विद्या पढ़ाना, पाठशाला खोलना **अर्थ**ात अपने से जहाँ तक बन पड़े तन से, मन से और धन से दूसरों की भलाई करना ।

अपने पुत्र के मारे जाने की जब श्रीदत्त को खबर हुई तब वह बहुत दुखी हुआ । पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ । उसका ह्रदय अब प्रतिहिंसा से और अधिक जल उठा । उसने अपनी स्त्री को एकान्त में बुलाकर कहा - प्रिये, बतलाओ तो हमारे कुल रूपी वृक्ष को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस दुष्ट की हत्या कैसे हो ? कैसे यह मारा जा सके ? मैंने इस के मारने को जितने उपाय किये, भाग्य से वे सब व्यर्थ गये और उलटा उनसे मुझे ही अत्यन्त हानि उठानी पड़ी । सो मेरी बुद्धि तो बड़े असमंजस में फँस गई है । देखो कैसे अचंभे की बात है जो इसके मारने के लिए जितने उपाय किये, उन सब से रक्षा पाकर और अपना ही बैरी बना हुआ यह अपने घर में बैठा है ।

श्रीदत्त की स्त्री ने कहा – बात यह है कि अब आप बूढे हो गये । आपकी बुद्धि अब काम नहीं देती । अब जरा चुप होकर बैठे रहें मैं आपकी इच्छा बहुत जल्दी पूरी करूँगी । यह कहकर उस पापिनी ने दूसरे दिन विष मिले हुए कुछ लडडू बनाये और अपनी पुत्री से कहा – बेटी श्रीमती, देख मैं तो अब स्नान करने को जाती हूँ और तू इतना ध्यान रखना कि ये जो उजले लड्डू हैं; उन्हें तो अपने स्वामी को परोसना और जो मैले हैं, उन्हें अपने पिता को परोसना । यह कहकर श्रीमती की माँ नहाने को चली गई । श्रीमती अपने पिता और पति को भोजन कराने को बैठी । बेचारी श्रीमती भोलीभाली लड़की थी और न उसे अपनी माता का कूट-कपट ही मालूम था । इसलिए उसने अच्छे लड्डू अपने पिता के लिए ही परोसना उचित समझा, जिससे कि उसके पिता को अपने सामने श्रीमती का बरताव बुरा न जान पड़े और यही एक कुलीन कन्या के लिए उचित भी था । क्योंकि अपने माता पिता या बड़ों के सामने ऐसा बेहयापन का काम अच्छी स्त्रियाँ नही करतीं । इसलिये जो लड्डू उसके पति के लिए उसकी माँ ने बनाये थे, उन्हें उसने पिता की थाली मे परोस दिया । सच है --''विचित्राकर्मणांगति:'' **अर्थ**ात् कर्मों की गति विचित्र ही हुआ करती है ।

विष मिले हुए लड्डुओं के खाते ही श्रीदत्त ने अपने किए कर्म का उपयुक्त प्रायश्चित पा लिया, वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ । ठीक ही कहा है कि पाप कर्म करने वालों का कभी कल्याण नहीं होता ।

श्रीमती की माँ जब नहाकर लौटी और उसने स्वामी को इस प्रकार मरा पाया तो उसके दु:ख का कोई पार नहीं रहा । वह बहुत विलाप करने लगी – परन्तु अब क्या हो सकता था ! जो दूसरों के लिए कुआँ खोदते हैं, उसमें पहले वे स्वयं ही गिरते हैं, यह संसार का नियम है । श्रीमती की माँ और पिता इसके उदाहरण हैं । इसलिए जो अपना बुरा नहीं चाहते उन्हें दूसरों का बुरा करने का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं करना चाहिए । अन्त में श्रीमती की माता ने अपनी पुत्री से कहा – हे पुत्री ! तेरे पिता ने और मैनें निर्दय होकर अपने हाथों ही अपने कुल का सर्वनाश किया । हमने दूसरे का अनिष्ट करने के जितने प्रयत्न किए वे सब व्यर्थ गए और अपने नीच कर्मों का फल भी हमें हाथोंहाथ मिल गया । अब जो तेरे पिताजी की गति हुई, वही मेरे लिए भी इष्ट है । अन्त में मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि तू और तेरे पति इस घर में सुख शान्ति से रहें जैसे इन्द्र अपनी प्रिया के साथ रहता है । इतना कहकर उसने भी जहर के लड्डुओं को खा लिया । देखते-देखते उसकी आत्मा भी शरीर को छोड़कर चली गई । ठीक है- दुर्बुद्धियों की ऐसी ही गति हुआ करती है । जो लोग दुष्ट हृदय बनकर दूसरों का बुरा सोचते हैं, उनका बुरा करते हैं, वे स्वयं अपना बुरा कर अन्त में कुगतियों में जाकर अनन्त दुःख उठाते हैं । इस प्रकार धनकीर्ति पुण्य के प्रभाव से अनेक बड़ी-बड़ी आपत्तियों से भी सुरक्षित रहकर सुख पूर्वक जीवनयापन करने लगा ।

जब महाराज विश्वम्भर को धनकीर्ति के पुण्य, उसकी प्रतिष्ठा तथा गुणशालीनता का परिचय मिला तो वे उससे बहुत खुश हुए और उन्होंने अपनी राजकुमारी का विवाह भी शुभ दिन देखकर बड़े ठाटबाट सहित उसके साथ कर दिया । धनकीर्ति को उन्होंने दहेज में बहुत धन संपत्ति दी, उसका खूब सम्मान किया तथा 'राज्य' सेठ के पद भी उसे प्रतिष्ठित किया । इस पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि संसार में ऐसी कोई शुभ वस्तु नहीं जो जिनधर्म के प्रभाव से प्राप्त न होती हो ।

गुणपाल को जब अपने पुत्र का हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उसी समय कौशाम्बी से उज्जयिनी के लिए चला और बहुत

शीघ्र अपने पुत्र से आ मिला । सबका फिर पुण्य मिलाप हुआ । धनकीर्ति पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को भोगता हुआ अपना समय सुख से बिताने लगा । इस से कोई यह न समझ ले कि वह अब दिनरात विषयभोगों में ही फँसा रहता है, नहीं उसका अपने आत्म कल्याण की ओर भी पूरा ध्यान है । वह बड़ी सावधानी के साथ सुख देने वाले जिनधर्म की सेवा करता है, भगवान की प्रतिदिन पूजा करता है, पात्रों को दान देता है, दुखी अनाथों की सहायता करता है, और सदा स्वाध्याय-अध्ययन करता है । मतलब यह कि धर्म-सेवा और परोपकार करना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो गया है । पुण्य के उदय से जो प्राप्त होना चाहिए वह सब धनकीर्ति को इस समय प्राप्त है । इस प्रकार धनकीर्ति ने बहुत दिनों तक खूब सुख भोगा और सब को प्रसन्न रखने की वह सदा चेष्टा करता रहा ।

एक दिन धनकीर्ति का पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री पुत्र मित्र बन्धु बान्धव को साथ लिए यशोध्वज मुनिराज को वन्दना करने को गया । भाग्य से अनंगसेना भी इस समय पहुँच गई। संसार का उपकार करने वाले उन मुनिराज की सभी ने बड़ी भक्ति के साथ वन्दना की । इसके बाद गुणपाल ने मुनिराज से पूछा – प्रभो, कृपाकर बतलाइए कि मेरे इस धनकीर्ति पुत्र ने ऐसा कौन महापुण्य पूर्वजन्म में किया है, जिससे इसने इस बाल्पन में ही भयंकर से भयंकर कष्टों पर विजय प्राप्त कर बहुत कीर्ति कमाई, खूब धन कमाया और अच्छे-अच्छे पवित्र काम किये, सुख भोगा और यह बड़ा ज्ञानी हुआ, दानी हुआ तथा दयालु हुआ । भगवन, इन सब बातों को मैं सुनना चाहता हूँ ।

करूणा के समुद्र और चार ज्ञान के धारी यशोध्वज मुनिराज ने मृगसेन धीवर के अहिंसाव्रत ग्रहण करने, जाल में एक ही एक मच्छ के बारबार आने, घर पर सूने हाथ लौट आने, स्त्री के नाराज हो कर घर में न आने देने आदि की सब कथा गुणपाल से कहकर कहा – वह मृगसेन जो अहिंसा व्रत के प्रभाव से यह धनकीर्ति हुआ, जो कि सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति का मालिक और महाभव्य है; और मृगसेन की जो घण्टा नाम की स्त्री थी, वह निदान करके इस जन्म में भी धनकीर्ति की श्रीमती नाम की गुणवती स्त्री हुई है और जो मच्छ पाँच बार पकड़ कर छोड दिया गया था, वह यह अनंगसेना हुई, जिसने कि धनकीर्ति को जीवनदान देकर अत्यन्त उपकार किया है, सेठ महाशय यह सब एक अहिंसाव्रत के धारण करने का फल है । और परम अहिंसामयी जिनधर्म के प्रसाद से सज्जनों को क्या प्राप्त नहीं होता ! मुनिराज के द्वारा इस सुखदायी कथा को सुनकर सब ही बहुत प्रसन्न हुए । जिनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई। अपने पूर्वभव का हाल सुनकर धनकीर्ति श्रीमती और अनंगसेना को जातिस्मरण हो गया । उससे उन्हें संसार की क्षणस्थायी दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ । धर्मा-धर्म का फल भी उन्हें जान पड़ा । उनमें धनकीर्ति ने तो, जिसका कि सुयश सारे संसार में विस्तृत है, यशोध्वज मुनिराज के पास ही एक दूसरे मोहपाश की तरह जान पड़नेवाले अपने केश कलाप को हाथों से उखाड़कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली जो कि संसार के जीवों का उद्धार करने वाली है । साधु हो जाने के बाद धनकीर्ति ने खूब निर्दोष तपस्या की, अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग पर लगाया, जिनधर्म की प्रभावना की, पवित्र रत्नत्रय प्राप्त किया और अन्त में समाधि सहित मरकर सवार्थसिद्धि का श्रेष्ठ सुखलाभ किया । धनकीर्ति आगे केवली होकर मुक्ति प्राप्त करेगा । और ऋषियों ने भी अहिंसाव्रत का फल लिखते समय धनकीर्ति की प्रशंसा में लिखा है – धनकीर्ति ने पूर्वभव में एक मच्छ को पाँच बार छोड़ा था उसके फल से वह स्वर्गीय श्री का स्वामी हुआ । इसलिए आत्महित की इच्छा करनेवालों को यह व्रत मन, वचन, काय की पवित्रता पूर्वक निरन्तर पालते रहना चाहिए ।

धनकीर्ति को दीक्षित हुआ देखकर श्रीमती और अनंगसेना ने भी ह्रदय से विषय वासना को दूरकर अपने योग्य जिनदीक्षा ग्रहण कर ली जो कि सब दु:खों का नाश करनेवाली है । इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर उन दोनों ने भी मृत्यु के अन्त में स्वर्ग प्राप्त किया । सच है -- जिनशासन की आराधना कर किस किस ने सुख प्राप्त न किया ! **अर्थ**ात जिसने जिनधर्म ग्रहण किया उसे नियम से सुख मिला है ।

इसप्रकार मुझ अल्पबुद्धि ने धर्मप्रेम के वश हो यह अहिंसाव्रत की पवित्रकथा जैनशास्त्र के अनुसार लिखी है । यह सब सुखों की देने वाली माता है और विघ्नों को नाश करने वाली है । इसे आप लोग ह्रदय में धारण करें । वह इसलिए कि इसके द्वारा आपको शान्ति प्राप्त होगी ।

मूलसंघ के प्रधान प्रवर्तक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में मल्लिभूषण गुरू हुए । वे ज्ञान के समुद्र थे । उनके शिष्य श्रीसिंहनन्दीमुनि हुए । वे बड़े आध्यात्मिक विद्वान् थे । उन्हें अच्छे-अच्छे परमार्थवित्-अध्यात्म शास्त्र के जानकार विद्वान नमस्कार करते थे । वे सिंहनन्दी मुनि आप के लिए संसार-समुद्र से पार करने वाले होकर संसार में चिरकाल तक बढ़ें । उनका यश:शरीर बहुत समय तक प्रकाशित रहे ।

वसुराजा की कथा

वसुराजा की कथा

कथा :

संसार के बन्धु और देवों द्वारा पूज्य श्रीजिनेन्द्र को नमस्कार कर झूठ बोलने से नष्ट होने वाले वसुराजा का चरित्र मैं लिखता हूँ । स्वस्तिकावती नाम की एक सुन्दर नगरी थी । उसके राजा का नाम विश्वावसु था । विश्वावसु की रानी श्रीमती थी । उसके एक वसु नाम का पुत्र था । वहीं एक क्षीरकदम्ब उपाध्याय रहता था । वह बड़ा सुचरित्र और सरल स्वभावी था । जिनभगवान का वह भक्त था और होम, शान्ति-विधान आदि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थों के लिए शान्ति-सुखार्थ अनुष्ठान करना उसका काम था । उसकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती था । उसके पर्वत नाम का एक पुत्र था । भाग्य से वह पापी और दुर्व्यसनी हुआ । कर्मों की कैसी विचित्र स्थिति है जो पिता तो कितना धर्मात्मा और सरल, और उसका पुत्र दुराचारी । इसी समय एक विदेशी ब्राह्मण नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्ब के पास पढने के लिए आया । राजकुमार वसु, पर्वत और नारद ये तीनों साथ पढने लगे ।

वसु और नारद की बुद्धि अच्छी थी, सो वे तो थोड़े ही समय में अच्छे विद्वान हो गये । रहा पर्वत सो एक तो उसकी बुद्धि ही खराब, उस पर पाप के उदय से उसे कुछ नहीं आता जाता था । अपने पुत्र की यह हालत देखकर उसको माता ने एक दिन अपने पति से गुस्सा होकर कहा – जान पड़ता है, आप बाहर के लड़कों को तो अच्छी तरह पढ़ाते हैं और खास अपने पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है, उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते । इसीलिए उसे इतने दिन तक पढते रहने पर भी कुछ नहीं आया । क्षीरकदम्ब ने कहा - इस में मेरा कुछ दोष नहीं है, मैं तो सब के साथ एक ही सा श्रम करता हूँ । तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं । बोलो, अब इस के लिए मैं क्या करूँ ? स्वस्तिमती को इस बात पर विश्वास हो, इसलिए उसने तीनों शिष्यों को बुलाकर कहा - पुत्रो, देखो तुम्हें यह एक-एक पाई दी जाती है, इसे लेकर तुम बाजार जाओ; और अपने बुद्धिबल से इसके द्वारा चने लेकर खा आओ और पाई पीछी वापिस भी लौटा लाओ । तीनों गये । उनमें पर्वत एक जगह से चने मोल लेकर और वहीं खा पीकर सूने हाथ घर लौट आया । अब रहे वसु और नारद, सो इन्होंने पहले तो चने मोल लिये और फिर उन्हें इधर-उधर घूमकर बेचा, जब उनकी पाई वसूल हो गई तब बाकी बचे चनों को खाकर वे आये । आकर उन्होंने गुरूजी की अमानत उन्हें वापिस सौंप दी । इसके बाद क्षीरकदम्ब ने एक दिन तीनों को आटे के बने हुए तीन बकरे देकर उनसे कहा - देखो, इन्हें ले जाकर और जहाँ कोई न देख पाये ऐसे एकान्त स्थान में इनके कानों को छेद लाओ । गुरू की आज्ञानुसार तीनों फिर इस नये काम के लिए गये । पर्वत ने तो एक जंगल में जाकर बकरे का कान छेद डाला । वसु और नारद बहुत जगह गये सर्वत्र उन्होंने एकान्त स्थान ढूँढ डाला, पर उन्हें कहीं उनके मन लायक स्थान नहीं मिला । अथवा यों कहिए कि उनके विचारानुसार एकान्त स्थान कोई था ही नहीं वे जहाँ पहुँचते और मन में विचार करते वहीं उन्हें चन्द्र, सूर्य, तारा, देव, व्यन्तर, पशु, पक्षी और अवधिज्ञानी मुनि आदि जान पड़ते । वे उस समय यह विचार कर कि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ कोई न देखता हो, वापिस घर लौट आये । उन्होंने उन बकरों के कानों को नहीं छेदा आकर उन्होनें गुरूजी को नमस्कार किया और अपना सब हाल उन से कह सुनाया सच है बुद्धि कर्म के अनुसार ही हुआ करती है । उनकी बुद्धि की इस प्रकार चतुरता देखकर उपाध्याय जी ने अपनी प्रिया से कहा - क्यों ! देखी सबकी बुद्धि और चतुरता ? अब कहो, दोष मेरा या पर्वत के भाग्य का ?

एक दिन की बात है कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उपाध्याय ने उसे बहुत मारा । उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़कर वसु को बचा लिया । वसु ने अपनी बचाने वाली गुरूमाता से कहा - माता, तुमने मुझे बचाया इससे मैं बड़ा उपकृत हुआ । कहो तुम्हें क्या चाहिए ? वही लाकर मैं तुम्हें प्रदान करूँगा स्वस्तिमती ने उत्तर में राजकुमार से कहा - पुत्र, इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब होगी तब मागूँगी तू मेरे इस वर को अभी अपने ही पास रख ।

एक दिन क्षीरकदम्ब के मन में प्रकृति की शोभा देखने के लिए उत्कंठा हुई । वह अपने साथ तीनों शिष्यों को भी इसलिए ले गये कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूँगा । वह एक सुन्दर बगीचे में पहुँचा । वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देखकर वह अपने शिष्यों को बृहदारण्य का पाठ पढ़ाने लगा । वहीं और दो ऋद्धिधारी महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे । उनमें से छोटे मुनि ने क्षीरकदम्ब को पाठ पढ़ाते देखकर बड़े मुनिराज से कहा - प्रभो, देखिए कैसे पवित्र स्थान में उपाध्याय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा है । गुरू ने कहा - अच्छा है, पर देखो इनमें से दो तो पुण्यात्मा हैं और वे स्वर्ग में जायेंगे और दो पाप के उदय से नर्कों के दु:ख सहेंगे । सच है -

कर्मों के उदय से जीवों को सुख या दु:ख भोगना ही पड़ता है । मुनि के वचन क्षीरकदम्ब ने सुन लिए वह अपने विद्यार्थियों को घर भेजकर

मुनिराज के पास गया । उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा - हे भगवान, हे जैन सिद्धान्त के उत्तम विद्वान, कृपाकर मुझे कहिए कि हममें से कौन दो तो स्वर्ग जाकर सुखी होंगे और कौन दो नर्क जायेंगें । काम के शत्रु मुनिराज ने क्षीरकदम्ब से कहा - भव्य, स्वर्ग जाने वालो में एक तो तू जिनभक्त और दूसरा धर्मात्मा नारद है और वसु तथा पर्वत पाप के उदय से नर्क जायेंगें । क्षीरकदम्ब मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर आया । उसे इस बात का बड़ा दु:ख हुआ कि उसका पुत्र नरक में जायगा । क्योंकि मुनियों का कहा अनन्त काल में भी झूठा नहीं होता ।

एक दिन कोई ऐसा कारण दिख पड़ा, जिससे वसु के पिता विश्वावसु अपना राजकाज वसु को सौंपकर आप साधु हो गये । राज्य अब वसु करने लगा । एक दिन वसु वन विहार के लिए उपवन में गया हुआ था । वहाँ उसने आकाश से लुढ़ककर गिरते हुए एक पक्षी को देखा । देखकर उसे आश्चर्य हुआ । उसने सोचा पक्षी के लुढ़कते हुए गिरने का कोई कारण यहाँ अवश्य होना चाहिए । उसको शोध लगाने को जिधर से पक्षी गिरा था उधर ही लक्ष्य बाँधकर उसने बाण छोड़ा । उसका लक्ष्य व्यर्थ न गया । यद्यपि उसे ये नहीं जान पड़ा कि क्या गिरा, पर इतना विश्वास हो गया कि उसके बाण के साथ ही कोई भारी वस्तु गिरी जरूर है । जिधर से किसी वस्तु के गिरने की आवाज उसे सुन पड़ी थी वह उधर ही गया पर तब भी उसे कुछ नहीं दिखाई पड़ा । यह देख उसने उस भाग को हाथों से टटोलना शुरू किया । हस्तस्पर्श से उसे एक बहुत निर्मल खम्भा, जो कि स्फटिकमणि का बना था जान पड़ा । बसु राजा उसे गुप्त रीति से अपने महल पर ले आया । वसु ने उस खम्भे के चार पाये बनवाये और उन्हें अपने न्याय-सिंहासन के लगवा दिये । उन पायों के लगने से सिंहासन ऐसा जान पड़ने लगा मानों वह आकाश में ठहरा हुआ हो । धूर्त वसु अब उसी पर बैठकर राज्यशासन करने लगा उसने सब जगह यह प्रगट कर दिया कि ‘राजा वसु बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यता के प्रभाव से उसका न्याय-सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है’ । इस प्रकार कपट की आड़ में वह सर्वसाधारण के बहुत ही आदर का पात्र हो गया । सच है - मायावी पुरूष संसार में क्या ठगाई नहीं करते! इधर सम्यग्दृष्टि जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसार से विरक्त होकर तपस्वी हो गया और अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर अन्त में समाधिमरण द्वारा उसने स्वर्ग लाभ किया । पिता का उपाध्याय पद अब पर्वत को मिला । पर्वत को जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिता के विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा । उसी वृत्ति के द्वारा उसका निर्वाह होता था । क्षीरकदम्ब के साधु हुए बाद ही नारद भी वहाँ से कहीं अन्यत्र चल दिया । वर्षों तक नारद विदेशों में घूमा । घूमते फिरते वह फिर भी एक बार स्वस्तिपुरी की ओर आ निकला । वह अपने सहाध्यायी और गुरू-पुत्र पर्वत से मिलने को गया । पर्वत उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था । साधारण कुशल प्रश्न के बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वत का अध्यापन कार्य देखने लगा । प्रकरण कर्मकाण्ड का था । वहाँ एक श्रुति थी – ‘अज्जैर्यष्टव्यमिति ।‘ दुराग्रही पापी पर्वत ने उसका **अर्थ** किया कि ‘अजैश्छागै:प्रयष्टव्यमिति’ अर्थात् बकरों की बलि देकर होम करना चाहिए । उसमें बाधा देकर नारद ने कहा - नहीं इस श्रुति का यह अर्थ नहीं है । गुरूजी ने तो हमें इसका अर्थ बतलाया था कि ‘अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यै:प्रयष्टव्यम्’ अर्थात् तीन वर्ष के पुराने धान से जिसमें उत्पन्न होने की शक्ति न हो, होम करना चाहिए । पापी, तू यह क्या अनर्थ करता है जो उल्टा ही अर्थ कर दिया ? उस पर पापी पर्वत ने दुराग्रह के वश हो यही कहा कि नहीं तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है । असल में अज शब्द का अर्थ बकरा ही होता है और उसी से होम करना चाहिए । ठीक कहा है - जिसे दुर्गति में जाना होता है वही पुरूष जानकर भी ऐसा झूठ बोलता है ।

तब दोनों में सच्चा कौन है, इसके निर्णय के लिए उन्होंने राजा वसु को मध्यस्थ चुना । उन्होंने परस्पर में प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ हो उसकी जबान काट दी जाय । पर्वत की माँ को जब इस विवाद का और परस्पर की प्रतिज्ञा का हाल मालूम हुआ तब उसने पर्वत को बुलाकर बहुत डाँटा और गुस्से में आकर कहा - पापी, तूने यह क्या अनर्थ किया ? क्यों उस श्रुति का उलटा **अर्थ** किया तुझे नहीं मालूम कि तेरा पिता जैन धर्म का पूर्ण श्रद्धानी था और वह ‘अजैर्यष्टव्यम्’ इसका अर्थ तीन वर्ष के पुराने धान से होम करने को कहता था । और स्वयं भी वह पुराने धान ही से सदा होमादिक किया करता था । स्वस्तिमती ने उसे और भी बहुत फटकारा पर उसका फल कुछ नहीं निकला पर्वत अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बना रहा । पुत्र का इस प्रकार दुराग्रह देखकर वह अधीर हो उठी । एक ओर पुत्र के अन्याय पक्ष का समर्थन होकर सत्य की हत्या होती है और दूसरी ओर पुत्र-प्रेम उसे अपने कर्तव्य से विचलित करता है । अब वह क्या करे ? पुत्र-प्रेम में फँसकर सत्य की हत्या करे या उसकी रक्षा कर अपना कर्तव्य पालन करे ? वह बड़े संकट में पड़ी । आखिर दोनो शक्तियों-का युद्ध होकर पुत्र-प्रेम ने विजय प्राप्त कर उसे अपने कर्तव्य पथ से गिरा दिया, सत्य की हत्या करने को उसे सन्नद्ध किया । वह उसी समय वसु के पास पहुँची और उससे बोली - पुत्र, तुम्हें ! याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे पाना बाकी है । आज उसकी मुझे जरूरत पड़ी है ।

इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो । बात यह है पर्वत और नारद का किसी विषय पर झगडा हो गया है । उसके निर्णय के लिए उन्होने तुम्हें मध्यस्थ चुना है । इसलिये मैं तुम्हें कहने को आई हूँ कि तुम पर्वत के पक्ष का समर्थन करना । सच है - जो स्वयं पापी होते हैं वे दूसरो को भी बना डालते हैं । जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है उसे भी विषयुक्त कर देता है । पापियों का यह स्वभाव ही होता है ।

राजसभा लगी हुई थी । बड़े-बड़े कर्मचारी यथास्थान बैठे हुए थे । राजा वसु भी एक बहुत सुन्दर रत्न-जड़े सिंहासन पर बैठा हुआ था । इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए राजसभा में आये । दोनों ने अपना-अपना कथन सुनाकर अन्त में किसका कहना सत्य है और गुरूजी ने अपने को 'अजैर्यष्टिव्यम्' इसका क्या **अर्थ** समझाया था, इसका खुलासा करने का भार वसु पर छोड़ दिया । वसु उक्त वाक्य का ठीक अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्य की रक्षा कर सकता था, पर उसे अपनी गुराणी जी के माँगे हुए वर ने सत्यमार्ग से ढकेलकर आग्रही और पक्षपाती बना दिया । मिथ्या आग्रह के वश हो उसने अपनी मान मर्यादा और प्रतिष्ठा की कुछ परवा न कर नारद के विरूद्ध फैसला दिया । उसने कहा कि जो पर्वत कहता है वही सत्य है और गुरुजी ने हमें ऐसा ही समझाया था कि 'अजैर्यष्ट्व्यम्' इसका अर्थ बकरों को मारकर उनसे होम करना चाहिये । प्रकृति को उसका यह महा अन्याय सहन नहीं हुआ । उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिक के सिंहासन पर बैठकर प्रति-दिन राजकार्य करता था और लोगों को यह कहा करता था कि मेरे सत्य के प्रभाव से मेरा सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसु की असत्यता से टूट पड़ा और पृथ्वी में घुस गया । उसके साथ ही वसु भी पृथ्वी में जा धँसा । यह देख नारद ने उसे समझाया - महाराज, अब भी सत्य-सत्य कह दीजिए, गुरूजी ने जैसा अर्थ कहा था वह प्रकट कर दीजिए । अभी कुछ नहीं गया । सत्यव्रत आपकी इस संकट से अवश्य रक्षा करेगा । कुगति में व्यर्थ अपने आत्मा को न ले जाइए । अपनी इस दुर्दशा पर भी वसु को दया नहीं आई । वह और जोश में आकार बोला - नहीं , जो पर्वत कहता है वही सत्य है । उसका इतना कहना था कि उसके पाप के उदय ने उसे पृथ्वीतल में पहुँचा दिया । वसु काल के सुपुर्द हुआ । मरकर वह सातवे नरक गया । सच है जिनका हृदय दुष्ट और पापी होता है । उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । और पाप से बचना चाहते हैं उन्हें प्राणों पर कष्ट आने पर भी कभी झूठ न बोलना चाहिए । पर्वत की यह दुष्टता देखकर प्रजा के लोगों ने उसे गधे पर बैठाकर शहर से निकाल बाहर किया और नारद का बहुत आदर-सत्कार किया ।

नारद अब वहीं रहने लगा । वह बड़ा बुद्धिमान और धर्मात्मा था । सब शास्त्रों में उसकी गति थी । वह वहाँ रहकर लोगों को धर्म का उपदेश दिया करता, भगवान की पूजा करता, पात्रों को दान देता । उसकी यह धर्म परायणता देखकर वसु के बाद राज्य-सिंहासन पर बैठने वाला राजा उस पर बहुत खुश हुआ । उस खुशी में उसने नारद को गिरितट नामक नगरी का राज्य भेंट में दे दिया । नारद ने बहुत समय तक उस राज्य का सुख भोगा । अन्त में संसार से उदासीन होकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । मुनि होकर उसने जीवों को कल्याण के मार्ग में लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रय की आराधना कर आयु के अन्त में वह सर्वार्थसिद्धि गया, जो कि सर्वोत्तम सुख का स्थान है । सच है, जैनधर्म की कृपा से भव्य पुरूषों को क्या प्राप्त नहीं होता ?

निरभिमानी नारद अपने धर्म पर बड़ा दृढ़ था । उसने समय-समय पर और-और धर्मवालों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर जैनधर्म की खूब प्रभावना की । वह जिनशासन रूप महान् समुद्र के बढ़ानेवाला चन्द्रमा था । ब्राह्मण वंश का एक चमकता हुआ रत्न था । अपनी सत्यता के प्रभाव से उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी । अन्त में वह तपस्या कर सर्वाथसिद्धि गया । वह महात्मा नारद सबका कल्याण करे ।

श्रीभूति - पुरोहित की कथा

श्रीभूति - पुरोहित की कथा

कथा :

जिन्हें स्वर्ग के देवता बड़ी भक्ति के साथ पूजते हैं, उन सुख के देने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर मैं श्रीभूति-पूरोहित का उपाख्यान कहता हूँ, जो चोरी करके दुर्गति में गया है ।

सिंहपुर नामक एक सुन्दर नगर था उसका राजा सिंहसेन था । सिंहसेन की रानी का नाम रामदत्ता था । राजा बुद्धिमान् और धर्म परायण था । रानी भी बड़ी चतुर थी । सब कामों को वह उत्तमता के साथ करती थी । राज का पुरोहित श्रीभूति था । उसने मायाचारी से अपने

सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध कर रक्खी थी कि मैं बड़ा सत्य बोलने वाला हूँ । बेचारे भोले लोग उस कपटी के विश्वास में आकर अनेक बार ठगे जाते थे । पर उसके कपट का पता किसी को नहीं पड़ पाता था । ऐसे ही एक दिन एक विदेशी उसके चंगुल में आ फँसा । इसका नाम समुद्रद्रत्त था । यह पद्मखण्डपुर का रहने वाला था । इसके पिता सुमित्र और माता सुमित्रा थी । समुद्रद्रत्त की इच्छा एक दिन व्यापारार्थ विदेश जाने की हुई । इसके पास पाँच बहुत कीमती रत्न थे । पद्मखण्डपुर में कोई ऐसा विश्वस्त पुरूष इसके ध्यान में नहीं आया, जिसके पास यह अपने रत्नों को रखकर निश्चिंत हो सकता था । इसने श्रीभूति की प्रसिद्धि सुन रक्खी थी । इसलिए उसके पास रत्न रखने का विचार कर यह सिहंपुर आया । यहाँ श्रीभूति से मिलकर इसने अपना विचार उसे कह सुनाया । श्रीभूति ने इसके रत्नों का रखना स्वीकार कर लिया । समुद्रदत्त को इससे बड़ी खुशी हुई और साथ ही वह उन रत्नों को श्रीभूति को सौंपकर आप रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया । वहाँ कई दिनों तक ठहरकर इसने बहुत धन कमाया । जब यह वापिस लौटकर जहाज द्वारा अपने देश की ओर आ रहा था । तब पाप कर्म के उदय से इसका जहाज टकराकर फट गया । बहुत से आदमी डूब मरे । बहुत ठीक लिखा है, कि बिना पुण्य के कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता । समुद्रदत्त इस समय भाग्य से मरते-मरते बच गया । इसके हाथ जहाज का एक छोटा सा टुकड़ा लग गया । यह उसपर बैठकर बड़ी कठिनता के साथ किसी तरह राम-राम करता किनारे आ लगा । यहां से यह सीधा श्रीभूति पुरोहित के पास पहुंचा । श्रीभूति इसे दूर से देखकर ही पहचान गया । वह धूर्त तो था ही, सो उसने अपने आस-पास के बैठे हुए लोगों से कहा - देखिये, वह कोई दरिद्र, भिखमंगा आ रहा है । अब यहां आकर व्यर्थ सिर खाने लगेगा । जिनके पास थोड़ा बहुत पैसा होता है या जिनके मान मर्यादा लोगों में अधिक होती है तो उन्हें इन भिखारियों के मारे चैन नहीं । एक न एक हर समय सिर पर खड़ा ही रहता है । हम लोगों ने जो सुना था कि कल एक जहाज फटकर डूब गया है, मालूम होता है कि यह उसी पर का कोई यात्री है और इसका सब धन नष्ट हो जाने से यह पागल हो गया जान पड़ता है । इसकी दुर्दशा से ज्ञात होता है कि यह इस समय बड़ा दुखी है और इसी से संभव है कि यह मुझ से कोई बड़ी भारी याचना करे । श्रीभूति तो इस तरह लोगों को कह ही रहा था कि समुद्रदत्त उसके सामने जा खड़ा हुआ । वह श्रीभूति को नमस्कार कर अपनी हालत सुनाना आरम्भ करता है कि इतने में श्रीभूति बोल उठा कि मुझे इतना समय नहीं कि मैं तुम्हारी सारी दुख: कथा सुनूँ । हाँ तुम्हारी इस हालत से जान पड़ता है कि तुम पर कोई बड़ी भारी आफत आई है । अस्तु, मुझे तुम्हारे दु:ख में सम्वेदना है । अच्छा जाइये, मैं नौकरों से कहे देता हूँ, कि वे तुम्हें कुछ दिनों के लिए खाने का सामान दिलवा दें । यह कहकर ही उसने नौकरों की ओर मुँह फेरा और आठ दिन तक का खाने का सामान समुद्रदत्त को दिलवा देने के लिए उनसे कह दिया । बेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूति की बातें सुनकर हत-बुद्धि हो गया । उसे काटो तो खून नहीं । उसने घबराते-घबराते कहा - महाराज, आप यह क्या करते हैं ? मेरे जो आपके पास पाँच रत्न रखे हैं, मुझे तो वे ही दीजिए । मैं आपका सामान-वामान नहीं लेता । श्रीभूति ने रत्न का नाम सुनते ही अपने चेहरे पर का भाव बदला और त्यौरी चढ़ाकर जोर के साथ कहा - रत्न ! अरे दरिद्र ! तेरे रत्न और मेरे पास ? यह तू क्या बक रहा है ? कह तो सही वास्तव में तेरी मंशा क्या है ? क्या मुझे तू बदनाम करना चाहता है ? तू कौन, और कहाँ का रहने वाला है ? मैं तुझे जानता तक नहीं फिर तेरे रत्न मेरे पास आये कहाँ से ? जा-जा, पागल तो नहीं हो गया है ? ठीक ध्यान से विचारकर । किसी और के यहाँ रखकर उसके भ्रम से मेरे पास आ गया जान पड़ता है । इसके बाद ही उसने लोगों की ओर नजर फेरकर कहा - देखिये साहब, मैंने कहा था न कि यह मेरे से कोई बड़ी भारी याचना न करे तो अच्छा । ठीक वही हुआ । बतलाइए इस दरिद्र के पास रत्न आ कहाँ से सकते हैं ? धन नष्ट हो जाने से जान पड़ता है यह बहक गया है । यह कहकर श्रीभूति ने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को घर से बाहर निकलवा दिया । नीतिकार ने ठीक लिखा है – जो लोग पापी होते हैं और जिन्हें दूसरों के धन की चाह होती है, वे दुष्ट पुरूष ऐसा कौन बुरा काम है, जिसे लोभ के वश हो न करते हों ? श्रीभूति ऐसे ही पापियों से एक था, तब वह कैसे ऐसे निंद्य कर्म से बचा रह सकता था ? पापी श्रीभूति से ठगा जाकर बेचारा समुद्रदत्त सचमुच पागल हो गया । वह श्रीभूति के मकान से निकलते ही यह चिल्लाता हुआ, कि पापी श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता है, सारे शहर में घूमने लगा । पर उसे एक भिखारी के वेश में देखकर किसी ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया । उलटा उसे ही सब पागल बताने लगे । समुद्रदत्त दिनभर तो इस तरह चिल्लाता हुआ सारे शहर में घूमता फिरता और जब रात होती तब राजमहल के पीछे एक वृक्ष पर चढ़ जाता और सारी रात उसी तरह चिल्लाया करता । ऐसा करते-करते उसे कोई छह महिने बीत गये । समुद्रदत्त का इस तरह रोज-रोज चिल्लाना सुनकर एक दिन महारानी रामदत्ता ने सोचा कि बात वास्तव में क्या है, इसका पता जरूर लगाना चाहिये । तब एक दिन उसने अपने स्वामी से कहा - प्राणनाथ, मैं रोज एक गरीब की पुकार सुनती हूँ मैं आज तक तो यह समझती रही कि वह पागल हो गया है

और इसी से दिनरात चिल्लाया करता है कि श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता पर प्रतिदिन उसके मुँह से एक ही वाक्य सुनकर मेरे मन में कुछ खटका पैदा होता है । इसलिए आप उसे बुलाकर पूछिये तो कि वास्तव में रहस्य क्या है ? रानी के कहे अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं । समुद्रदत्त ने जो यथार्थ घटना थी वह राजा से कह सुनाई । सुनकर राजा ने रानी से कहा कि इसके चेहरे पर से तो इसकी बात ठीक जँचती है । पर इसका भेद खुलने के लिए क्या उपाय है ? रानी ने थोड़ी देरतक विचारकर कहा - हाँ, इसकी आप चिन्ता न करें । मैं सब बातें जान लूँगी ।

दूसरे दिन रानी ने पुरोहित को अपने अन्त:पुर में बुलाया । आदर सत्कार होने के बाद रानी ने उन से कहा – मेरी इच्छा बहुत दिनों से आप से मिलने की थी, पर कोई ठीक समय ही नहीं मिल पाया था । आज बड़ी खुशी हुई कि आपने यहाँ आने की कृपा की । इसके बाद रानी ने पुरोहित से कुछ इधर-उधर की बातें कर के उन से भोजन का हाल पूछा । उनके भोजन का सब हाल जानकर उसने अपनी एक विश्वस्त दासी को बुलाया और उसे कुछ बातें समझा बुझाकर पीछे चली जाने को कह दिया । दासी के जाने के बाद रानी ने पुरोहित जी से एक नई ही बात का जिकर उठाया । वह बोली - पुरोहित जी, सुनती हूँ कि आप पासे खेलने में बड़े चतुर और बुद्धिमान हैं । मेरी बहुत दिनों से इच्छा होती थी कि आपके साथ खेलकर मैं भी एक बार देखूँ कि आप किस चतुराई से खेलते हैं । यह कहकर रानी ने एक दासी को बुलाकर चौपड़ के ले आने की आज्ञा की ।

पुरोहित जी रानी की बात सुनकर दंग रह गये । वे घबराकर बोले हैं ! हैं ! महारानी जी यह आप क्या करती हैं ? मैं एक भिक्षुक ब्राह्मण और आपके साथ मेरी यह धृष्टता । यदि महाराज सुन पावें तो वे मेरी क्या गत बनावेगें ?

रानी ने कहा - पुरोहितजी, आप इतना घबराइए मत मेरे साथ खेलने में आपको किसी प्रकार के गहरे विचार में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं । महाराज इस विषय में आपसे कुछ नही कहेंगे आप डरिये मत ।

बेचारे पुरोहितजी बड़े पशोपेश में पड़े । रानी की आज्ञा भी वे नहीं टाल सकते और इधर महाराज का उन्हें भय, वे तो इस उधेड़-बुन में लगे हुए थे कि दासी ने चौपड़ लाकर रानी के सामने रख दी । आखिर उन्हें खेलना ही पड़ा । रानी ने पहली बाजी में पुरोहितजी की अँगूठी जिस पर कि उसका नाम खुदा हुआ था, जीत ली । दोनों फिर खेलने लगे । इतने में पहली दासी ने आकर रानी से कुछ कहा । रानी ने अब की बार पुरोहित जी की जीती हुई अँगूठी चुपके से उसे देकर चली जाने को कह दिया । दासी घण्टेभर बाद फिर आई । उसे कुछ निराश सी देखकर रानी ने इशारे से अपने कमरे के बाहर ही रहने को कह दिया और आप अपने खेल में लग गई । अबकी बार उसने पुरोहितजी का जनेऊ जीत लिया और किसी बहाने से उस दासी को बुलाकर चुपके से जनेऊ देकर भेज दिया । दासी के वापिस आने तक रानी और भी पुरोहितजी को खेल में लगाये रही । इतने में दासी भी आ गई । उसने उसी समय खेल बन्द किया और पुरोहितजी की अँगूठी और जनेऊ उन्हें वापिस देकर वह बोली – आप सचमुच खेलने में बड़े चतुर हैं आपकी चतुरता देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई । आज मैंने सिर्फ इस चतुरता को देखने के लिए ही आपको यह कष्ट दिया था । आप इसके लिए मुझे क्षमा करें । अब आप खुशी के साथ जा सकते हैं ।

बेचारे पुरोहितजी रानी के महल से विदा हुए । उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं पड़ा कि रानी ने मेरी आँखों में दिनदहाड़े धूल झोंककर मुझे कैसा उल्लू बनाया है । बात असल में यह थी कि रानी ने पहले पुरोहितजी की जीती हुई अँगूठी देकर दासी को उनकी स्त्री के पास समुद्रदत्त के रत्न लेने को भेजा, पर जब पुरोहितजी की स्त्री ने अँगूठी देखकर भी उसे रत्न नहीं दिये तब यज्ञोपवीत जीता और उसे दासी के हाथ देकर फिर भेजा । अबकी बार रानी का मनोरथ सिद्ध हुआ । पुरोहितजी की स्त्री ने दासी की बातों से डरकर झटपट रत्नों को निकाल दासी के हवाले कर दिया । दासी ने लाकर रत्नों को रानी को दे दिये । रानी प्रसन्न हुई पुरोहितजी तो खेलते रहे और उधर उनका भाग्य फूट गया, इसकी उन्हें रत्तीभर भी खबर नहीं पड़ी ।

रानी ने रत्नों को ले जाकर महाराज के सामने रख दिये और साथ ही पुरोहितजी के महल से रवाना होने की खबर दी । महाराज ने उसी समय उनके गिरफ्तार करने की सिपाहियों को आज्ञा दी । बेचारे पुरोहित जी अभी महल के बाहर भी नहीं हुए थे कि सिपाहियों ने जाकर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी और उन्हें दरबार में लाकर उपस्थित कर दिया ।

पुरोहितजी यह देखकर भौंचक से रह गये । उनकी समझ में नहीं आया कि यह एकाएक क्या हो गया और कौन मैंने ऐसा भारी अपराध किया जिससे मुझे एक शब्द तक न बोलने देकर मेरी यह दशा की गई । वे हतबुद्धि हो गये । उन्हें इस बात का और अधिक दु:ख हुआ

कि मैं एक राजपुरोहित ऐसा-वैसा गैर आदमी नहीं और मेरी यह दशा ? और वह बिना किसी अपराध के ? क्रोध, लज्जा और आत्मग्लानि से उनकी एक विलक्षण ही दशा हो गई ।

रानी ने जैसे ही रत्नों को महाराज के सामने रखा महाराज ने उसी समय उन्हें अपने और बहुत से रत्नों में मिलाकर समुद्रदत्त को बुलाया और उससे कहा - अच्छा, देखो तो इन रत्नों में रत्न हैं क्या ? और हों तो उन्हें निकाल लो । महाराज की आज्ञा पाकर समुद्रदत्त ने उन सब रत्नों में से अपने रत्नों को पहिचान कर निकाल लिया । सच है, सज्जन पुरुष अपनी ही वस्तु को लेते हैं । दूसरों की वस्तु उन्हें विष समान जान पड़ती है । समुद्रदत्त ने अपने रत्न पहिचान लिए, यह देख महाराज उसपर इतने प्रसन्न हुए कि उसे उन्होंने अपना राजसेठ बना लिया ।

महाराज त्वरित ही दरबार में आये । जैसे ही उनकी दृष्टि पुरोहितजी पर पड़ी, उन्होंने बड़ी ग्लानि की दृष्टि से उनकी ओर देखकर गुस्से के साथ कहा - पापी, ठगी ! मैं नहीं जानता था कि तू हृदय का इतना काला होगा और ऊपर से ऐसा ढोंगी का वेष लेकर मेरी गरीब और भोली प्रजा को इस तरह धोखे में फँसायेगा ? न मालूम तेरी इस कपट वृत्ति ने मेरे कितने बन्धुओं को घर-घर का भिखारी बनाया होगा ? ऐ पाप के पुतले, लोभ के जहरीले सर्प, तुझे देखकर हृदय चाहता तो यह है कि तुझे इस की कोई ऐसी भयंकर सजा दी जाए, जिससे तुझे भी इस का ठीक प्रायश्चित मिल जाय और सर्वसाधारण को दुराचारियों के साथ मेरे कठिन शासन का ज्ञान हो जाय; उससे फिर कोई ऐसा अपराध करने का साहस न करे । परन्तु तू ब्राह्मण है, इसलिए तेरे कुल के लिहाज से तेरी सजा के विचार का भार मैं अपने मंत्री-मण्डल पर छोड़ता हूँ । यह कहकर ही राजा ने अपने धर्माधिकारियों की ओर देखकर कहा – 'इस पापी ने एक विदेशी यात्री के, जिसका कि नाम समुद्रदत्त है और वह यहीं बैठा हुआ भी है, कीमती पाँच रत्नों को हड़प कर लिया है, जिनको कि यात्री ने समुद्र यात्रा करने के पहले श्रीभूति को एक विश्वस्त और राजप्रतिष्ठित समझकर धरोहर के रूप में रक्खे थे । दैव की विचित्र गति से लौटते समय यात्री का जहाज एकाएक फट गया और साथ ही उसका सब माल असबाब भी डूब गया । यात्री किसी तरह बच गया । उसने जाकर पुरोहित श्रीभूति से अपनी धरोहर वापिस लौटा देने के लिए प्रार्थना की । पुरोहित के मन में पाप का भूत सवार हुआ । बेचारे गरीब यात्री को उसने धक्के देकर घर से बाहर निकलवा दिया । यात्री अपनी इस हालत से पागल-सा होकर सारे शहर में यह पुकार मचाता हुआ महिनों फिरा किया कि श्रीभूति ने मेरे रत्न चुरा लिये, पर उस पर किसी का ध्यान न जाकर उलटा सबने उसे ही पागल करार दिया । उसकी यह दशा देखकर महारानी को बड़ी दया आई । यात्री बुलाकर जाकर उससे सब बातें दर्याफ्त की गयीं । बाद में महारानी ने उपाय द्वारा वे रत्न हस्तगत कर लिये । वे रत्न समुद्रदत्त के हैं या नहीं, इसकी परीक्षा करने के आशय से उन पाँचों रत्नों को पहिचानकर बहुत से और रत्नों में मिला दिया । पर आश्चर्य है कि यात्री ने अपने रत्नों को पहिचान कर निकाल लिया । श्रीभूति के जिम्में धरोहर हड़प कर जाने का गुरूतर अपराध है । इसके सिवा धोखेबाजी, ठगाई आदि और भी बहुत से अपराध हैं । इसकी इसे क्या सजा दी जाए, इसका आप विचार करें ।'

धर्माधिकारियों ने आपस में सलाह कर कहा – महाराज, श्रीभूति पुरोहित का अपराध बड़ा भारी है । इसके लिए हम तीन प्रकार की सजायें नियत करते हैं । उनमें से फिर जिसे यह पसंद करे, स्वीकार करे । या तो इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाकर इसे देश बाहर कर दिया जाय, या पहलवानों की बत्तीस मुक्कियाँ इस पर पड़ें, या तीन थाली में भरे हुए गोबर को यह खा जाय । श्रीभूति से सजा पसन्द करने को कहा गया । पहले उसने गोबर खाना चाहा, पर खाया नहीं गया, तब मुक्कियाँ खाने को कहा । मुक्कियाँ पड़ना शुरु हुईं । कोई दस-पन्द्रह मुक्कियाँ पड़ी होंगी कि पुरोहितजी की अकल ठिकाने आ गई । आप एकदम चक्कर खाकर जमीन पर ऐसे गिरे कि पीछे उठे ही नहीं । महा आर्त्तध्यान से उनकी मृत्यु हुई । वे दुर्गति में गये । धन में अत्यन्त लम्पटता का उन्हें उपयुक्त प्रायश्चित मिला । इसलिये जो भव्य पुरूष हैं, उन्हें उचित है कि वे चोरी को अत्यन्त दु:ख का कारण समझकर उसका परित्याग करें और अपनी बुद्धि को पवित्र जैनधर्म की ओर लगावें, जो ऐसे महापापों से बचाने वाला है ।

वे जिनभगवान्, जो सब सन्देहों के नाश करने वाले और स्वर्ग के देवों और विद्याधरों द्वारा पूज्य हैं, वह जिनवाणी, जो सब सुखों की खान है, और मेरे गुरू श्रीप्रभाचन्द्र, ये सब मुझे मंगल प्रदान करें, मुझे कल्याण का मार्ग बतलावें ।

नीली की कथा

नीली की कथा

कथा :

जिनभगवान् के चरणों को, जो कि कल्याण के करनेवाले हैं, नमस्कार कर श्रीमती नीली सुन्दरी की मैं कथा कहता हूँ । नीली ने चौथे अणुव्रत ब्रह्मचर्य की रक्षाकर प्रसिद्धि प्राप्त की है ।

पवित्र भारत वर्ष में लाट देश एक सुन्दर और प्रसिद्ध देश था । जिनधर्म का वहाँ खूब प्रचार था । वहाँ की प्रजा अपने धर्म कर्म पर बड़ी दृढ़ थी । इससे इस देश की शोभा को उस समय कोई देश नहीं पा सकता था । जिस समय की यह कथा है तब उसकी प्रधान राजधानी भृगुकच्छ नगर था । यह नगर बहुत सुन्दर और सब प्रकार की योग्य और कीमती वस्तुओं से पूर्ण था । इसका राजा तब वसुपाल था । और वह जिससे अपनी प्रजा सुखी हो, धनी हो, सदाचारी हो, दयालु हो, इसके लिए कोई बात का कष्ट न हो इसका सदा प्रयत्नशील रहता था ।

यहीं एक सेठ रहता था । उसका नाम था जिनदत्त । जिनदत्त की शहर के सेठ साहूकारों में बड़ी इज्जत थी । वह धर्मशील और जिनभगवान का भक्त था । दान, पूजा, स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मों को वह सदा नियमानुसार किया करता था । उसकी धर्मप्रिया का नाम जिनदत्ता था । जैसा जिनदत्त धर्मात्मा और सदाचारी था, उसकी गुणवती साध्वी स्त्री भी उसी के अनुरूप थी और इसी से इनके दिन बड़े ही सुख के साथ बीतते थे । अपने गार्हस्थ्य सुख को स्वर्गसुख से भी कहीं बढ़कर इन्होंने बना लिया था । जिनदत्ता बड़ी उदार प्रकृति की स्त्री थी । वह जिसे दुखी देखती उसकी सब तरह सहायता करती और उनके साथ प्रेम करती । इसके सन्तान में केवल एक पुत्री थी । उसका नाम नीली था । अपने माता पिता के अनुरूप ही इसमें गुण और सदाचार की सृष्टि हुई थी । जैसे सन्तों का स्वभाव पवित्र होता है । नीली भी उसी प्रकार बड़े पवित्र स्वभाव की थी ।

इस नगर में एक और वैश्य रहता था । उसका नाम समुद्रदत्त था । यह जैनी नहीं था । इसकी बुद्धि बुरे उपदेशों को सुन-सुनकर बड़ी मठ्ठी हो गई थी । अपने हित की ओर कभी इसकी दृष्टि नहीं जाती थी । इसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था । इसके एक पुत्र था उसका नाम था सागरदत्त । सागरदत्त एक दिन अचानक जिनमन्दिर में पहुँच गया । इस समय नीली भगवान की पूजा कर रही थी । वह एक तो स्वभाव से ही बड़ी सुन्दरी थी । इस पर उसने अच्छे-अच्छे रत्नजड़े गहने और बहुमूल्य वस्त्र पहन रखे थे । इससे उसकी सुन्दरता और भी बढ गई थी । वह देखने वालों को ऐसी जान पड़ती थी, मानों कोई स्वर्ग की देवबाला भगवान की खड़ी-खड़ी पूजा कर रही है । सागरदत्त उसकी भुवनमोहिनी सुन्दरता को देखकर मुग्ध हो गया । काम ने उसके मन को बेचैन कर दिया । उसने पास ही खड़े हुए अपने मित्र से कहा - यह है कौन मुझे तो नहीं जान पड़ता कि यह मध्यलोक की बालिका हो । या तो यह कोई स्वर्ग-बाला है या नागकुमारी अथवा विद्याधर कन्या क्योंकि मनुष्यों में इतना सुन्दर रूप होना असम्भव है ।

सागरदत्त के मित्र प्रियदत्त ने नीली का परिचय देते हुए कहा कि वह तुम्हारा भ्रम है, जो तुम ऐसा कहते हो कि ऐसी सुन्दरता मनुष्यों में नहीं हो सकती । तुम जिसे स्वर्ग-बाला समझ रहे हो वह न स्वर्ग-बाला है, न नागकुमारी और न किसी विद्याधर वगैरह की ही पुत्री है, किन्तु मनुष्यनी है और अपने इसी शहर में रहने वाले जिनदत्त सेठ के एकमात्र प्रकाश करनेवाली उसकी नीली नाम की कन्या है ।

अपने मित्र द्वारा नीली का हाल जानकर सागरदत्त आश्चर्य के मारे दंग रह गया । साथ ही काम ने उसके हृदय पर अपना पूरा अधिकार किया । वह घर पर आया सही पर अपने मन को वह नीली के पास ही छोड़ आया । अब वह दिनरात नीली की चिंता में घुल-घुलकर दुबला होने लगा । खानापीना उसके लिए कोई आवश्यक काम नहीं रहा । सच है, जिस काम के वश होकर श्रीकृष्ण लक्ष्मी द्वारा, महादेव गंगा द्वारा और ब्रह्मा उर्वशी द्वारा अपना प्रभुत्व, ईश्वरपना खो चुके तब बेचारे साधारण लोगों की कथा ही क्या कही जाय ।

सागरदत्त की हालत उसके पिता को जान पड़ी उसने एक दिन सागरदत्त से कहा - देखो, जिनदत्त जैनी है । वह कभी अपनी कन्या को अजैनों के साथ नहीं ब्याहेगा । इसलिए तुम्हें यह उचित नहीं कि तुम अप्राप्य वस्तु के लिए इस प्रकार तड़फ-तड़फकर अपनी जान को जोखिम में डालो, तुम्हें यह अनुचित विचार छोड देना चाहिए । यह कहकर समुद्रदत्त ने उत्तर पाने की आशा से उसकी ओर देखा । पर जब सागरदत्त उसकी बात का कुछ भी जवाब न देकर नीची नजर किये ही बैठा रहा, तब समुद्रदत्त को निराश हो जाना पड़ा । उसने समझ लिया कि इसके दो ही उपाय हैं । या तो पुत्र के जीवन की आशा से हाथ धो बैठना या किसी तरह सेठ की लड़की के साथ इसको ब्याह देना । पुत्र के जीने की आशा को छोड़ बैठने की अपेक्षा उसने किसी तरह नीली के साथ उसका ब्याह कर देना ही अच्छा समझा । सच है, सन्तान का मोह मनुष्य से सब कुछ करा सकता है । इस सम्बन्ध के लिए समुद्रदत्त के ध्यान में एक युक्ति आई । वह यह कि इस दशा में उसने अपना और पुत्र का जैनी बन जाना बहुत ही अच्छा समझा और वे बन भी गये । अब से वे मन्दिर जाने लगे, भगवान् की

पूजा करने लगे, स्वाध्याय, व्रत, उपवास भी करने लगे । मतलब यह कि थोड़े ही दिनों में पिता-पुत्र ने अपने जैनी हो जाने का लोगों को विश्वास करा दिया और धीरे-धीरे जिनदत्त से भी इन्होंने अधिक परिचय बढ़ा लिया । बेचारा जिनदत्त सरल स्वभाव का था और इसलिये वह सब ही को अपना-सा ही सरल-स्वभावी समझता था । यही कारण हुआ कि समुद्रदत्त का चक्र उस पर चल गया । उसने सागरदत्त को, अच्छा पढ़ालिखा, खूबसूरत और अपनी पुत्री के योग्य वर समझकर नीली को उसके साथ ब्याह दिया । सागरदत्त का मनोरथ सिद्ध हुआ । उसे नया जीवन मिला । इसके बाद थोड़े दिनों तक तो पिता-पुत्र ने और अपने को ढोंगी वेष में रक्खा, पर फिर कोई प्रसंग लाकर वे पीछे बुद्ध धर्म के मानने वाले हो गये । सच है, मायाचारियों-पापियों की बुद्धि अच्छे धर्म पर स्थिर नहीं रहती । यह बात प्रसिद्ध है कि कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता ।

जब इन पिता-पुत्र ने जैनधर्म छोड़ा तब इन दुष्टों ने यहाँ तक अन्याय किया कि बेचारी नीली का उसके पिता के घर पर जाना-आना भी बन्द कर दिया । सच है, पापी लोग क्या नहीं करते ! जब जिनदत्त को इनके मायाचार का यह हाल जान पड़ा तब उसे बहुत पश्चाताप हुआ, बेहद दु:ख हुआ । वह सोचने लगा – क्यों मैंने अपनी प्यारी पुत्री को अपने हाथों से कुँए में ढकेल दिया ? क्यों मैंने उसे काल के हाथ सौंप दिया ? सच है दुर्जनों की संगति से दु:ख के सिवा कुछ हाथ नहीं पड़ता । नीचे जलती हुई अग्नि भी ऊपर की छत को काली कर देती है ।

जिनदत्त ने जैसा कुछ किया उसका पश्चात्ताप उसे हुआ । पर इससे क्या नीली दु:खी हो ? उसका यह धर्म था क्या ? नहीं ! उसे अपने भाग्य के अनुसार जो पति मिला, उसे ही वह अपना देवता समझती थी और उसकी सेवा में कभी रत्तीभर भी कमी नहीं होने देती थी । उसका प्रेम पवित्र और आदर्श था । यही कारण था कि वह अपने प्राणनाथ की अत्यन्त प्रेम-पात्र थी । विशेष इतना था कि नीली ने बुद्धधर्म के मानने वाले के यहाँ आकर भी जिनधर्म को न छोड़ा था । वह बराबर भगवान की पूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, व्रत, उपवास आदि पुण्य कर्म करती थी, धर्मात्माओं से निष्कपट प्रेम करती थी और पात्रों को दान देती थी । मतलब यह कि अपने धर्म-कर्म में उसे खूब श्रद्धा थी और भक्ति पूर्वक वह उसे पालती थी । पर खेद है कि समुद्रदत्त की आँखो में नीली का यह कार्य भी खटका करता था । उसकी इच्छा थी कि नीली भी हमारा ही धर्म पालने लगे और इसके लिये उसने यह सोचकर, कि बुद्ध साधुओं की संगति से या दर्शन से या उनके उपदेशों से यह अवश्य बुद्ध-धर्म को मानने लगेगी । एक दिन नीली से कहा - पुत्री, तू पात्रों को तो सदा दान दिया ही करती है, तब एक दिन अपने धर्म के ही अनुसार बुद्ध साधुओं को भी तो दान दे ।

नीली ने श्वसुर की बात मान ली । पर उसे जिनधर्म के साथ उनकी यह ईर्षा ठीक नहीं लगी और इसीलिये उसने कोई ऐसा उपाय भी अपने मन में सोच लिया, जिससे फिर कभी उससे ऐसा मिथ्या आग्रह किया जाकर उसके धर्म-पालन में किसी प्रकार की बाधा न दी जाय । फिर कुछ दिनों बाद उसने मौका देखकर कुछ बुद्ध-साधुओं को भोजन के लिए बुलाया । वे आये । उनका आदर-सत्कार भी हुआ । वे एक अच्छे सुन्दर कमरे में बैठाये गये । इधर नीली ने उनके जूतों को एक दासी द्वारा मँगवा लिया और उनका खूब बारीक बूरा बनवाकर उसके द्वारा एक किस्म की बहुत ही बढ़िया मिठाई तैयार करवाई । इसके बाद जब वे साधु भोजन करने को बैठे तब और-और व्यंजन-मिठाईयों के साथ वह मिठाई भी उन्हें परोसी गई । सबने उसे बहुत पसन्द किया । भोजन समाप्त हुए बाद जब जाने की तैयारी हुई, तब वे देखते है तो जोड़े नहीं हैं । उन्होने पूछा – जोड़े कहाँ गये ? भीतर से नीली ने आकर कहा - महाराज, सुनती हूँ, साधु लोग बड़े ज्ञानी होते हैं ? तब क्या आप अपने ही जूतों का हाल नहीं जानते हैं ? और यदि आपको इतना ज्ञान नहीं तो मैं बतला देती हूँ कि जूते आपके पेट में हैं विश्वास के लिए आप उल्टी कर देखें । नीली की बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने उल्टी करके देखा तो उन्हें जूतों के छोटे-छोटे बहुत से टुकडे देख पड़े । इससे उन्हें बहुत लज्जित होकर अपने स्थान पर आना पड़ा ।

नीली की इस कार्रवाई से, अपने गुरूओं के अपमान से समुद्रदत्त, नीली की सासु, ननद आदि को बहुत ही गुस्सा आया । पर भूल उनकी जो नीली द्वारा उसके धर्म-विरूद्ध कार्य उन्होंने करवाना चाहा । इसलिये वे अपना मन मसोसकर रह गये, नीली से वे कुछ नहीं कह सके । पर नीली की ननद को इससे संतोष नहीं हुआ । उसने कोई ऐसा ही छल-कपट कर नीली के माथे व्यभिचार का दोष मढ़ दिया । सच है, सत्पुरूषों पर किसी प्रकार का ऐब लगा देने में पापियों को तनिक भी भय नहीं रहता । बेचारी नीली अपने पर झूठ-मूठ महान कलंक लगा सुनकर बड़ी दु:खी हुई । उसे कलंकित होकर जीते रहने से मर जाना ही उत्तम जान पड़ा । वह उसी समय जिन-मन्दिर में गई और भगवान के सामने खड़ी होकर उसने प्रतिज्ञा की, कि मैं इस कलंक से मुक्त होकर ही भोजन करूँगी, इसके अतिरिक्त मुझे इस जीवन में

अन्न पानी का त्याग है । इस प्रकार वह, संन्यास लेकर भगवान् के सामने खड़ी हुई उनका ध्यान करने लगी । इस समय उसकी ध्यानमुद्रा देखने के योग्य थी । वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुमेरू पर्वत की स्थिर और सुन्दर जैसी चूलिका हो । सच है, उत्तम पुरूषों को सुख या दु:ख में जिनेन्द्र-भगवान ही शरण होते हैं, जो अनेक प्रकार की आपत्तियों के नष्ट करनेवाले और इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं ।

नीली की इसप्रकार दृढ़-प्रतिज्ञा और उसके निर्दोष शील के प्रभाव से पुर-देवता का आसन हिल गया । वह रात के समय नीली के पास आई और बोली – सतियों की शिरोमणि, तुझे इसप्रकार निराहार रहकर प्राणों को कष्ट में डालना उचित नहीं । सुन, मैं आज शहर के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरूषों को तथा राजा को एक स्वप्न देकर शहर के सब दरवाजे बन्द कर दूँगा । वे तब खुलेंगे जब कि उन्हें कोई शहर की महासती अपने पाँवों से छुएगी । सो जब तुझे राज-कर्मचारी यहाँ से उठाकर ले जाये तब तू उनका स्पर्श करना । तेरे पाँव के लगते ही दरवाजे खुल जाएँगे और तू कलंक मुक्त होगी । यह कहकर पुर-देवता चली गई और सब दरवाजों को बन्द कर उसने राजा वगैरह को स्वप्न दिया ।

सबेरा हुआ । कोई घूमने के लिए, कोई स्नान के लिए और कोई किसी और काम के लिए शहर बाहर जाने लगे । जाकर देखते हैं तो शहर बाहर होने के सब दरवाजे बन्द हैं । सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । बहुत कुछ कोशिशें की गईं, पर एक भी दरवाजा नहीं खुला सारे शहर में शोर मच गया । बात की बात में राजा के पास खबर पहुँची । इस खबर के पहुँचते ही राजा को रात में आये हुए स्वप्न की याद हो उठी । उसी समय एक बड़ी भारी सभा बुलाई गई । राजा ने सबको अपने स्वप्न का हाल कह सुनाया । शहर के कुछ प्रतिष्ठित पुरूषों ने भी अपने को ऐसा ही स्वप्न आया बतलाया । आखिर सब की सम्मति से स्वप्न के अनुसार दरवाजों का खोलना निश्चित किया गया । शहर की स्त्रियाँ दरवाजों का स्पर्श करने को भेजी गईं । सब ने उन्हें पाँवों से छुआ, पर दरवाजों को कोई नहीं खोल सकी । तब किसी ने, जो कि नीली के संन्यास का हाल जानता था, नीली को उठा ले जाकर उसके पावों का स्पर्श करवाया । दरवाजे खुल गये । जैसे वैद्य सलाई के द्वारा आँखों को खोल देता है । उसी तरह नीली ने अपने चरण स्पर्श से दरवाजों को खोल दिया । नीली के शील की बहुत प्रशंसा हुई । नीली कलंक-मुक्त हुई । उसके अखण्ड शील प्रभाव को देखकर लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई । राजा तथा शहर के और-और प्रतिष्ठित पुरूषों ने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा नीली का खूब सत्कार किया और इन शब्दों में उसकी प्रशंसा की 'हे जिनभगवान् के चरण-कमलों की भौंरी, तुम खूब फूलो फलो । माता, तुम्हारे शील का माहात्म्य कौन कह सकता है' । सती नीली अपने धर्म पर दृढ़ रही, उससे उसकी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरूषों ने प्रशंसा की । इसलिए सर्व-साधारण को भी सती नीली का पथ ग्रहण करना चहिए ।

जिनके वचन सारे संसार का उपकार करने वाले हैं जो स्वर्ग के देवों और बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से पूज्य हैं और जिनका उपदेश किया हुआ पवित्र शील-ब्रह्मचर्य स्वर्ग तथा परम्परा मोक्ष का देने वाला है, वे जिनभगवान् संसार में सदाकाल रहें और उनके द्वारा कर्म-परवश जीवों को कर्म पर विजय प्राप्त करने का पवित्र उपदेश सदा मिलता रहे ।

कडारपिंग की कथा

कडारपिंग की कथा

कथा :

अर्हन्त, जिनवाणी और गुरूओं को नमस्कार कर, कडारपिंग की, जो कि स्वदार सन्तोष व्रत-ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुआ है, कथा लिखी जाती है ।

कापिल्य नामक एक प्रसिद्ध शहर था । उसके राजा का नाम नरसिंह था । नरसिंह बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे । अपने राज्य का पालन वे नीति के साथ करते थे । इसलिये प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी ।

राजमंत्री का नाम सुमति था । इनके धनश्री स्त्री और कडारपिंग नामक एक पुत्र था । कडारपिंग का चाल-चलन अच्छा नहीं था । वह बड़ा कामी था । इसी नगर में एक कुबेरदत्त सेठ रहता था । यह बड़ा धर्मात्मा और पूजा, प्रभावना करनेवाला था । इसकी स्त्री प्रियंगसुन्दरी सरल स्वभाव की, पुण्यवती और बहुत सुन्दरी थी ।

एक दिन कडारपिंग ने प्रियंगसुन्दरी को कहीं जाते देख लिया । उसकी रूप-मधुरिमा को देखकर इसका मन बैचेन हो उठा । यह जिधर देखता उधर ही इसे प्रियंगसुन्दरी दिखने लगी । प्रियंगसुन्दरी सिवा इसे और कोई वस्तु अच्छी न लगने लगी । काम ने इसे आपे से भुला दिया । बड़ी कठिनता से उस दिन यह घर पर पहुँच पाया । इसे इस तरह बेचैन और भ्रम-बुद्धि देखकर इसकी माँ को बड़ी चिन्ता हुई ।

उसने इससे पूछा- कडार, क्यों आज एकाएक तेरी यह दशा हो गई ? अभी तो तू घर से अच्छी तरह गया था और थोड़ी ही देर में तेरी यह हालत कैसे हुई ? बतलातो, हुआ क्या ? क्यों तेरा मन आज इतना खेदित हो रहा है ? कडारपिंग ने कुछ न सोचा-विचारा, अथवा यों कह लीजिए कि सोच विचार करने को बुद्धि ही उसमें न थी । यही कारण था कि उसने, कौन पूछनेवाली है, इसका भी कुछ खयाल न कर कह दिया कि कुवेरदत्त सेठ की स्त्री को मैं यदि किसी तरह प्राप्त कर सकूँ, तो मेरा जीना हो सकता है । सिवा इसके मेरी मृत्यु अवश्यंभावी है । नीतिकार कहते हैं कि काम से अन्धे हुए लोगों को धिक्कार है जो लज्जा और भय-रहित होकर फिर अच्छे और बुरे कार्य को भी नहीं सोचते । बेचारी धनश्री पुत्र की यह निर्लज्जता देख कर दंग रह गई । वह इसका कुछ उत्तर न देकर सीधे अपने स्वामी के पास गई और पुत्र की सब हालत उसने कह सुनाई । सुमति एक राज-मंत्री था और बुद्धिमान् था । उसे उचित था कि वह अपने पुत्र को पाप की ओर से हटाने का यत्न करता, पर उसने इस डर से, कि कहीं पुत्र मर न जाये, उलटा पाप कार्य का सहायक बनने में अपना हाथ बटाया । सच है, विनाश काल जब आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाया करती है । ठीक यही हाल सुमति का हुआ । वह पुत्र की आशा पूरी करने के लिए एक कपट-जाल रचकर राजा के पास गया और बोला- महाराज, रत्नद्वीप में एक किंजल्क जाति के पक्षी होते हैं, वे जिस शहर में रहते हैं वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, रोग, अपमृत्यु, आदि नहीं होते तथा उस शहर पर शत्रुओं का चक्र नहीं चल पाता, और न चोर वगैरह उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकते हैं । और महाराज, उनकी प्राप्ति का भी उपाय सहज है । अपने शहर में जो कुबेरदत्त सेठ हैं; उनका जाना आना प्रायः वहाँ हुआ करता है और वे हैं भी कार्यचतुर, इसलिए उन पक्षियों के लाने को आप उन्हें आज्ञा कीजिए । अपने राज-मंत्री की एक अभूतपूर्व बात सुनकर राजा तो पक्षियों को मँगाने को अकुला उठे । भला, ऐसी आश्चर्य उपजाने वाली बात सुनकर किसे ऐसी अपूर्व वस्तु की चाह न होगी ? और इसीलिए महाराज ने मंत्री की बातों पर कुछ विचार न किया । उन्होंने उसी समय कुबेरदत्त को बुलवाया और सब बात समझाकर उसे रत्नद्वीप जाने को कहा । बेचारा कुबेरदत्त इस कपट-जाल को कुछ न समझ सका । वह राजाज्ञा पाकर घर पर आया और रत्नद्वीप जाने का हाल उसने अपनी विदुषी प्रिया से कहा । सुनते ही प्रियंगुसुन्दरी के मन में कुछ खटका पैदा हुआ । उसने कहा- नाथ, जरूर कुछ दाल में काला है । आप ठगे गये हो किंजल्क पक्षी की बात बिल्कुल असंभव है । भला, कहीं पक्षियों का भी ऐसा प्रभाव हुआ है ? तब क्या रत्नद्वीप कोई मरता ही न होगा ? बिल्कुल झूठ ! अपने राजा सरल-स्वाभव के हैं सो जान पड़ता है वे भी किसी के चक्र में आ गये हैं । मुझे जान पड़ता है, यह कारस्तानी राज-मंत्री की हुई है । उसका पुत्र कडारपिंग महाव्यभिचारी है । उसने मुझे एक दिन मन्दिर जाते समय देख लिया था । मैं उसकी पापभरी दृष्टि को उसी समय पहचान गयी थी । मैं जितना ही ध्यान से इस बात पर विचार करती हूँ तो अधिक-अधिक विश्वास होता जाता है कि इस षडयंत्र के रचने से मंत्री महाशय की मंशा बहुत बुरी है | उन्होंने अपने पुत्र की आशा पूरी करने का और कोई उपाय न खोज पाकर आपको विदेश भेजना चाहा है । इसलिए अब आप यह करें कि यहाँ से तो आप रवाना हो जायें, जिससे कि किसी को सन्देह न हो और रात होते ही जहाज को आगे जाने देकर आप वापिस लौट आइये । फिर देखिये कि क्या गुल खिलता है । यदि मेरा अनुमान ठीक निकले तब तो फिर आपके जाने की कोई आवश्यकता नहीं और नहीं तो दस-पन्द्रह दिन बाद चले जाइयेगा ।

प्रियंगसुन्दरी की बुद्धिमानी देखकर कुबेरदत्त बहुत खुश हुआ । उसने उसके कहे अनुसार ही किया । जहाज रवाना हो गया । जब रात हुई तब कुबेरदत्त चुपचाप घर पर आकर छुप रहा । सच है, कभी-कभी दुर्जनों की संगति से सत्पुरूष को भी वैसा ही हो जाना पड़ता है । जब यह खबर कडारपिंग के कानो में पहुँची कि कुबेरदत्त रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया । तो उसकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा । वह जिस दिन के लिए तरस रहा था, बैचेन हो रहा था वही दिन उसके लिए जब उपस्थित हो गया तब वह क्यों न प्रसन्न होगा ? प्रियंगसुन्दरी के रूप का भूखा और काम से उन्मत्त वह पापी कडारपिंग बड़ी आशा और उत्सुकता से कुबेरदत्त के घर पर आया । प्रियंगसुन्दरी ने इसके पहले ही उसके स्वागत की तैयारी के लिए पाखाना जाने के कमरे को साफ-सुथरा करवाकर और उसमें बिना निवार का एक पलंग बिछवाकर उस पर एक चादर डलवा दी थी । जैसे ही मन्द-मन्द मुसकाते हुए कुँवर कडारपिंग आये, उन्हे प्रियंगसुन्दरी उस कमरे में लिवा ले गई और पलंग पर बैठने का उनसे उसने इशारा किया । कडारपिंग प्रियंगसुन्दरी को अपना इस प्रकार स्वागत करते देखकर, जिसका कि उसे स्वप्न में भी खयाल नहीं था, फूल-कर कुप्पा हो गया । वह समझने लगा, स्वर्ग अब थोडा ही ऊँचा रह गया है; पर उसे यह विचार भी न हुआ कि पाप का फल बहुत बुरा होता है । खुशी में आकर प्रियंगसुन्दरी के इशारे के साथ ही जैसे ही वह पलंग पर बैठा कि धड़ाम से नीचे जा गिरा । जब वहाँ की भीषण दुर्गन्ध ने उसकी नाक में प्रवेश किया तब उसे भान हुआ कि मैं कैसे

अच्छे स्थान पर आया हूँ । वह अपनी करनी पर बहुत पछताया, उसने बहुत आरजू-मिन्नत अपने छुटकारा पाने के लिए की, पर उसकी इस अर्जी पर ध्यान देना प्रियंगसुन्दरी को नहीं भाया । उसने उसे पाप कर्म का उपयुक्त प्रायश्चित दिये बिना छोड़ना उचित नहीं समझा । नारकी जैसे नरकों में पड़कर दुख: उठाते है, ठीक वैसे ही एक राज-मंत्री का पुत्र अपनी सब मान-मर्यादा पर पानी फेर कर अपने किए कर्मों का फल आज पाखाने में पड़ा-पड़ा भोग रहा है । इस तरह कष्ट उठाते-उठाते पूरे छह महीने बीत गये । इतने में कुबेरदत्त का जहाज भी रत्नद्वीप से लौट आया । जहाज का आना सुनकर सारे शहर में इस बात का शोर मच गया कि सेठ कुबेरदत्त की किंजल्क पक्षी ले आये ।

इधर कुबेरदत्त ने कडारपिंग को बाहर निकालकर उसे अनेक प्रकार के पक्षियो के पंखो से खूब सजाया और काला मुँह करके उसे एक विचित्र ही जीव बना दिया । इसके बाद उसने कडारपिंग के हाथ-पाँव बाँधकर और उसे एक लोहे के पिंजरे में बन्द कर राजा के सामने ला उपस्थित किया । पश्चात् कुबेरदत्त ने मुसकुराते हुए यह कह कर, कि देव यह आपका मँगाया किंजल्क पक्षी उपस्थित है, यथार्थ हाल राजा से कह दिया । सच्चा हाल जान कर राजा को मंत्री पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने उसी समय उसे गधे पर बैठाकर और सारे शहर में घुमा-फिराकर उसके मार डालने की आज्ञा दे दी । वही किया भी गया । कडारपिंग को अपनी करनी का फल मिल गया । वह बड़े खोटे परिणामों से मरकर नरक गया । सच है, परस्त्री-आसक्त पुरूष की नियम से दुर्गति होती है । इसके विपरीत जो भव्य-पुरूष जिनभगवान् के उपदेश किये गए और सुखों के देने वाले शीलव्रत के पालने का सदा यत्न करते हैं, वे पद-पद पर आदर-सत्कार के पात्र होते हैं । इसलिए उत्तम पुरूषों को सदा परस्त्री-त्याग व्रत ग्रहण किये रहना चाहिये ।

भगवान् के उपदेश किये हुए, देवों द्वारा प्रशंसित और स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले पवित्र शीलव्रत जो मन, वचन, काय की पवित्रता के साथ पालन करते हैं, वे स्वर्गों का सुख भोगकर अन्त में मोक्ष के अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं ।

देवरति राजा की कथा

देवरति राजा की कथा

कथा :

केवलज्ञान जिनका नेत्र है, उन जगपवित्र जिनभगवान् को नमस्कार कर देवरति नामक राजा का उपाख्यान लिखा जाता है, जो अयोध्या के स्वामी थे ।

अयोध्या नगरी के राजा देवरति थे । उनकी रानी का नाम रक्ता था । वह बहुत सुन्दरी थी । राजा सदा उसी के नाद में लगे रहते थे । वे बड़े विषयी थे । शत्रु बाहर से आकर राज्य पर आक्रमण करते, उसकी भी उन्हें कुछ परवा नहीं थी । राज्य की क्या दशा है, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की, जो धर्म और **अर्थ** पुरूषार्थ को छोड़कर अनीति से केवल काम का सेवन करते हैं, सदा विषयवासना के ही पास बने रहते हैं, वे नियम से कष्टों को उठाते हैं । देवरति की भी यही दशा हुई । राज्य की ओर से उनकी ये उदासीनता मंत्रियों को बहुत बुरी लगी । उन्होंने राजकाज के सम्हालने की राजा से प्रार्थना की, पर उसका फल कुछ नहीं हुआ । यह देख मंत्रियों ने विचारकर, देवरति के पुत्र जयसेन को तो अपना राजा नियुक्त किया और देवरति को उनकी रानी के साथ देशबाहर कर दिया । ऐसे काम को धिक्कार है, जिससे मान-मर्यादा धूल में मिल जाये और अपने को कष्ट सहना पड़े ।

देवरति अयोध्या से निकलकर एक भयानक वन में आये । रानी को भूख ने सताया, पास खाने को एक अन्न का कण तक नहीं । अब वे क्या करें ? इधर जैसे-जैसे समय बीतने लगा, रानी भूख से बैचेन होने लगी । रानी की दशा देवरति से नहीं देखी गई । और देख भी वे कैसे सकते थे ? उसी के लिए तो अपना राज-पाट तक उन्होंने छोड़ दिया था । आखिर उन्हें एक उपाय सूझा । उन्होंने उसी समय अपनी जाँघ काटकर उसका माँस पकाया और रानी को खिलाकर उसकी भूख शान्त की । और प्यास मिटाने के लिए उन्होंने अपनी भुजाओं का खून निकालकर और उसे एक औषधि बताकर पिलाया । इसके बाद वे धीरे-धीरे यमुना के किनारे पर आ पहुँचे । देवरति ने रानी को तो एक झाड़ के नीचे बैठाया और आप भोजन सामग्री लेने को पास के एक गाँव में गये ।

यहाँ पर एक छोटा-सा पर बहुत ही सुन्दर बगीचा था । उसमें एक कोई अपंग मनुष्य चड़स खींचता हुआ और गा रहा था । उसकी आवाज बड़ी मधुर थी । इसलिए उसका गाना बहुत मनोहारी और सुननेवालों को प्रिय लगता था । उसके गाने की मधुर आवाज रक्तारानी के भी कानों से टकराई । न जाने उसमें ऐसी कौन-सी मोहक शक्ति थी, जो रानी को उसने उसी समय मोह लिया और ऐसा मोहा कि उसे अपने

निजत्व से भी भुला दिया । रानी सब लाज-शरम छोड़कर उस अपंग के पास गई और उससे अपनी पाप-वासना उसने प्रगट की । वह अंपग कोई ऐसा सुन्दर न था, पर रानी तो उसपर जीजान से न्यौछावर हो गई । सच है, 'काम न देखे जात कुजात' । राजरानी की पाप-वासना सुनकर वह घबराकर रानी से बोला – मैं एक भिखारी और आप राजरानी, तब मेरी आपकी जोडी़ कहाँ ? और मुझे आपके साथ देखकर क्या राजा साहब जीता छोड़ देंगे ? मुझे आपके शूरवीर और तेजस्वी प्रियतम की सूरत देखकर कँपनी छूटती है । आप मुझे क्षमा कीजिये । उत्तर में रानी महाशया ने कहा- इसकी तुम चिन्ता न करो । मैं उन्हे तो अभी ही परलोक पहुँचाये देती हूँ । सच है, दुराचारिणी स्त्रियाँ क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालतीं । ये तो इधर बातें कर रहे थे कि राजा भी इतने में भोजन लेकर आ गये । उन्हें दूर से देखते ही कुलटारानी ने मायाचार से रोना आरम्भ किया । राजा उसकी यह दशा देखकर आश्चर्य में आ गये । हाथ के भोजन को एक ओर पटककर वे रानी के पास दौड़े आकर बोले- प्रिये, प्रिये, कहो ! जल्दी कहो ! क्या हुआ ? क्या किसी ने तुम्हें कुछ कष्ट पहुँचाया ? तुम क्यों रो रही हो ? तुम्हारा आज अकस्मात् रोना देखकर मेरा सब धैर्य छूटा जाता है । बतलाओ, अपने रोने का कारण, जल्दी बतलाओ ? रानी एक लम्बी आह भरकर बोली- प्राणनाथ, आपके रहते मुझे कौन कष्ट पहुँचा सकता है ? परन्तु मुझे किसी के कष्ट पहुँचाने से भी जितना दु:ख नहीं होता उससे कहीं बढ़कर आज अपनी इस दशा का दुःख है । नाथ, आप जानते हैं, आज आपकी जन्मगाँठ का दिन है । पर अत्यंत दुःख है कि पापी देव ने आज मुझे इस भिखारिणी की दशा में पहुँचा दिया । पर मेरे पास एक फूटी-कौड़ी भी नहीं । बतलाइए, मैं आज ऐसे उत्सव के दिन आपकी जन्मगाँठ का क्या उत्सव मनाऊँ ? सच है नाथ, बिना पुण्य के जीवों को अथाह शोक-सागर में डूब जाना पड़ता है । रानी की प्रेम-भरी बातें सुनकर राजा का गला भर आया, आँखों से आँसू टपक पड़े । उन्होंने बड़े प्रेम से रानी के मुँह को चूमकर कहा- प्रिये, इसके लिये कोई चिन्ता की बात नहीं । कभी वह दिन भी आयेगा जिस दिन तुम अपनी कामनाओं को पूरी कर सकोगी । और न भी आये तो क्या ? जबकि तुम जैसी भाग्यशालिनी जिसकी प्रिया है उसे इस बात की कुछ परवा भी नहीं है । जिसने अपनी प्रिया की सेवा के लिये अपना राजपाट तक तुच्छ समझा, उसे ऐसी-ऐसी छोटी बातों का दुःख नहीं होता । उसे यदि दु:ख होता है, तो अपनी प्यारी को दुःखी देखकर ! प्रिये, इस शोक को छोड़ो । मेरे लिए तो तुम ही सब-कुछ हो । हाय ! ऐसे निश्टकपट प्रेम का बदला जान लेकर दिया जायगा, इस बात की खबर या सम्भावना बेचारे रतिदेव को स्वप्न में भी नहीं थी । दैव की विचित्र-गति है ।

राजा के इस हार्दिक और सच्चे प्रेम का पापिनी रानी के पत्थर के हृदय पर जरा भी असर न हुआ । वह ऊपर से प्रेम बताकर बोली- अस्तु, नाथ, जो बात हो नहीं सकती उसके लिए पछताना तो व्यर्थ ही है । पर तब भी मैं अपने चित्त को सन्तोषित करने को इस पवित्र फूल की माला द्वारा नाम-मात्र के ही लिए कुछ करती हूँ । यह कहकर रानी ने अपने हाथ में जो फूल गूँथने की रस्सी थी, उससे राजा को बाँध दिया । बेचारा वह तब भी यही समझा कि रानी कोई जन्म-गाँठ की विधि करती होगी और यही समझ उसने खूब मजबूत बाँध जाने पर भी चूँ तक नहीं किया । जब राजा बाँध दिया गया और उसके निकलने का कोई भय नहीं रहा तब रानी ने इशारे से उस अपंग का बुलाया और उसकी सहायता से पास ही बहनेवाली यमुना नदी के किनारे ले जाकर बडे ऊँचे से राजा को नदी में ढकेल दिया । और आप अब अपने दूसरे प्रियतम के पास रहकर अपनी नीच मनोवृत्तियों को सन्तुष्ट करने लगी । नीचता और कुलटापन की हद हो गई ।

पुण्य का जब उदय होता है तब कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे या कैसा ही भंयकर आपत्ति का क्यों न सामना करना पड़े । पर तब भी वह रक्षा पा जाता है । देवरति के भी कोई ऐसा पुण्य-योग था, जिससे रानी के नदी में डाल देने पर भी वह बच गया । कोई गहरी चोट उसके नहीं आई । वह नदी से निकल कर आगे बढ़ा । धीरे-धीरे वह मंगलपुर नामक शहर के निकट आ पहुँचा । देवरति कई दिनों तक बराबर चलते रहने से बहुत थक गया था । उसे बीच में कोई अच्छी जगह विश्राम करने को नहीं मिली थी, इसलिए अपनी थकावट मिटाने के लिए वह एक छायादार वृक्ष के नीचे सो गया । मानो जैसे वह सुख देने वाले जैन-धर्म की छत्र-छाया में ही सोया हो ।

मंगलपुर का राजा श्रीवर्धन था । उसके कोई सन्तान न थी । इसी समय उसकी मृत्यु हो गई । मंत्रियों ने यह विचारकर, कि पट्ट-हाथी को एक जल भरा घड़ा दिया जाकर वह छोड़ा जाये और वह जिसका अभिषेक करे वही अपना राजा हो, एक हाथी को छोड़ा । दैव की विचित्र लीला है, जो राजा है, उसे वह रंक बना देता है । और जो रंक है, उसे संसार का चक्रवर्ती सम्राट बना देता है । देवरति का दैव जब उसके विपरीत हुआ तब तो उसे पथ-पथ का भिखारी बनाया, और अनुकूल होने पर सब राज-योग मिला दिया । देवरति भर नींद में झाड़ के नीचे सो रहा था । हाथी उधर ही पहुंचा और देवरति का उसने अभिषेक कर दिया । देवरति बड़े आनन्द-उत्साह के साथ शहर में लाया जाकर राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया । सच है, पुण्य जब पल्ले में होता है तब आपत्तियाँ भी सुख के रूप में परिणत हो जातीं हैं ।

इसलिए सुख की चाह करने वालों को भगवान् के उपदेश किये हुऐ मार्ग द्वारा पुण्य-कर्म करना चाहिए । भगवान् की पूजा, पात्रों को दान, व्रत, उपवास ये सब पुण्य-कर्म हैं । इन्हें सदा करते रहना चाहिए ।

देवरति फिर राजा हो गये । पर पहले और अब के राजापन में बहुत फर्क है । अब वे स्वयं सब राज-काज देखा करते हैं । पहले से अब उनकी परिणति में भी बहुत भेद पड़ गया है । जो बातें पहले उन्हें बहुत प्यारी थीं और जिनके लिए उन्होंने राज्य-भ्रष्ट होना तक स्वीकार कर लिया था, अब वे ही बातें उन्हें अत्यन्त अप्रिय हो उठीं । अब वे स्त्री नाम से घृणा करते हैं । वे एक कुल-कलंकनी का बदला सारे संसार की स्त्रियों को कुल-कलंकिनी कहकर लेते हैं । सच है, जो एक बार दुर्जनों द्वारा ठगा जाता है, वह फिर अच्छे पुरूषों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगता है । गरम दूध का जला हुआ छांछ को भी फूँक-फूँककर पीता है । देवरति की भी अब विपरीत गति है । अब वे स्त्रियों को नहीं चाहते । वे सबको दान करते हैं, पर जो अपंग, लूला, लँगड़ा, होता है, उसे वे एक अन्न का कण तक देना पाप समझते है ।

इधर रक्ता रानी ने बहुत दिनो तक तो वहीं रहकर मजा-मौज मारी और बाद वह उस अपंग को एक टोकरे में रखकर देश-विदेश घूमने लगी । उस टोकरे को सिर पर रखे हुए वह जहाँ पहुँचती अपने को महासती जाहिर करती और कहती कि माता-पिता ने जिसके हाथ मुझे सौंपा वही मेरा प्राण-नाथ है, देवता है । उसकी इस ठगाई से बेचारे लोग ठगे जाकर उसे खूब रूपया पैसा देते । इसी तरह भिक्षा-वृत्ति करती-करती रक्ता रानी मंगलपुर में आ निकली । वहाँ भी लोगों की उसके सतीत्व पर बड़ी श्रद्धा हो गई । हाँ सच है, जिन स्त्रियों ने ब्रह्मा, विष्णु, महादेव सरीखे देवताओं को भी ठग लिया, तब साधारण लोग उनके जाल में फँस जायें इसका आश्चर्य क्या ?

एक दिन ये दोनों गाते हुए राजमहल के सामने आये । इनके सुन्दर गाने को सुनकर ड्योढ़ीवान ने राजा से प्रार्थना की- महाराज, सिंह-द्वार पर एक सती अपने अपंग पति को टोकरे में रखकर और उसे सिर पर उठाये खड़ी है । वे दोनों बड़ा ही सुन्दर गाना जानते हैं । महाराज का वे दर्शन करना चाहते हैं । आज्ञा हो तो मैं उन्हें भीतर आने दूँ । इसके साथ ही सभा मे बैठे हुए और-और प्रतिष्ठित कर्मचारियों ने भी उनके देखने की इच्छा जाहिर की । राजा ने एक पर्दा डलवाकर उन्हें बुलवाने की आज्ञा की ।

सती सिर पर टोकरा लिए भीतर आई । उसने कुछ गाया । उसके गाने को सुनकर सब मुग्ध हो गये और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । राजा ने उसकी आवाज सुनकर उसे पहिचान लिया । उसने पर्दा हटवाकर कहा- अहा, सचमुच में यह महासती है ! इस का सतीत्व मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ । इसके बाद ही उन्होंने अपनी सारी कथा सभा में प्रगट कर दी । लोग सुनकर दाँतों तले अँगुली दबा गये । उसी समय महासती रक्ता को शहर-बाहर करने का हुक्म हुआ । देवरति को स्त्रियों का चरित्र देखकर बड़ा वैराग्य हुआ । उन्होंने अपने पहले पुत्र जयसेन को अयोध्या से बुलवाया और उसे ही इस राज्य का भी मालिक बनाकर आप श्री यमधराचार्य के पास जिन-दीक्षा ले गये, जो कि अनेक सुखों को देनेवाली है । साधु होकर देवरति ने खूब तपश्चर्या की, बहुतों को कल्याण का मार्ग बतलाया और अन्त में समाधि से शरीर त्यागकर वे स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों के धारक हुए ।

रक्ता रानी सरीखी कुलटा स्त्रियों का घृणित चरित देखकर और संसार, शरीर, भोगादिकों के इन्द्र-धनुष की तरह क्षणिक समझकर जिन देवरति राजा ने जिन-दीक्षा ग्रहणकर मुनिपद स्वीकार किया, वे गुणों के खजाने, मुनिराज मुझे मोक्ष-लक्ष्मी का स्वामी बनावें ।

गोपवती की कथा

गोपवती की कथा

कथा :

संसार द्वारा वन्दना-स्तुति किये गये और सब सुखों को देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर गोपवती कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर हृदय में वैराग्य भावना जगती है ।

पलास गाँव में सिंहबल नामक साधारण गृहस्थ रहता था । उसकी स्त्री का नाम गोपवती था । गोपवती बड़े दुष्ट स्वभाव की स्त्री थी । उसकी दिन-रात की खटपट से बेचारा सिंहबल तबाह हो गया । उसे एक दिन पलभर के लिए भी गोपवती के द्वारा कभी सुख नहीं मिला । गोपवती से तंग आकर एक दिन सिंहबल पास ही के एक पद्मिनीखेट नाम के गाँव में गया । वहाँ उसने अपनी पहली स्त्री को बिना कुछ पूछे-ताछे गुप्तरीति से सिंहसेन चौधरी की सुभद्रा नाम की लड़की से, जो कि बहुत ही खूबसूरत थी, ब्याह कर लिया । किसी तरह यह बात गोपवती को मालूम हो गई । सुनते ही क्रोध के मारे वह आग-बबूला हो गई । उससे सिंहबल का यह अपराध नहीं सहा गया । वह

उसे उसके अपराध की योग्य सजा देने की फिराक में लगी ।
एक दिन शाम के कोई सात बजे होंगे कि गोपवती अपने घर से निकल कर पद्मिनीखेट गई । उस समय कोई ग्यारह बज गये होंगे । गोपवती सीधी सिंहसेन के घर पहुँची । घर के लोगों ने समझा कि कोई आवश्यक काम के लिए यह आई होगी, सबेरा होने पर विशेष पूछ-ताछ करेंगे । यह विचारकर वे सब सो गये । गोपवती भी तब लोगों को दिखाने के लिए सो गई । पर जब सब को नींद आ गई, तब आप चुपके से उठी और जहाँ अपनी माँ के पास बेचारी सुभद्रा सोई हुई थी, वहाँ पहुँचकर उस पापिनी ने सुभद्रा का मस्तक काट लिया और उसे लेकर आप रात ही में अपने घर पर आ गई । सबेरा होते ही यह हाल सिंहबल को मालूम हुआ । सुभद्रा के मुर्दे को देखकर उसे बेहद दु:ख हुआ । वह खिन्न मन होकर अपने घर आ गया । उसे आया देखकर गोपवती अब उसका बड़ा आदर-सत्कार करने लगी । बड़ी स्नेह प्रगट कर उसे भोजन कराने लगी । पर सिंहबल के हृदय पर तो सुभद्रा के मरण की बड़ी गहरी चोट लगी थी, इसलिए उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था, और वह सदा उदास रहा करता था । और सच भी है, एक महादु:खी को भोजन वगैरह में क्या प्रीति होती होगी ?
सिंहबल की सुभद्रा के लिए यह दशा देख गोपवती का क्रोध और भी बढ़ा गया । एक दिन बेचारा सिंहबल उदास मन से भोजन कर रहा था । यह देख गोपवती ने क्रोध से सुभद्रा का मस्तक लाकर उसकी थाली में डाल दिया और बोली - हाँ, बिना इसके देखे तुझे भोजन अच्छा नहीं लगता था; अब तो अच्छा लगेगा न ? सुभद्रा के सिर को देखकर सिंहबल काँप गया । वह 'हाय ! यह तो महाराक्षसी है' इस प्रकार जोर से चिल्लाकर डर के मारे भागने लगा । इतने में राक्षसी गोपवती ने पास ही पड़े हुए भाले को उठाकर सिंहबल की पीठ में इतने जोर से मारा कि वह उसी समय तड़फड़ाकर वहीं पर ढेर हो गया । गोपवती के ऐसे घृणित चरित को देखकर बुद्धिमानों को उचित है कि वे दुष्ट स्त्रियों पर कभी विश्वास न लावें ।
वे कर्मों के जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान् संसार में सर्वश्रेष्ठ कहलावें, जो कामरूपी हाथी के मारने को सिंह हैं, संसार का भय मिटानेवाले हैं, शांति, स्वर्ग और मोक्ष के देने वाले हैं और मोक्षरूपी रमणी-रत्न के स्वामी हैं । वे मुझे भी शांति प्रदान करें ।

वीरवती की कथा

वीरवती की कथा
कथा :
संसार के बन्धु, पवित्रता की मूर्ति और मुक्ति का स्वतंत्रता का सुख देने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर वीरवती का उपाख्यान लिखा जाता है, जो सत्पुरूषों के लिए वैराग्य का बढ़ाने वाला है ।
राजगृह में धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम धारिणी और पुत्र का दत्त था । भूमिगृह नामक एक और नगर था । उसमें आनन्द नाम का एक साधारण ग्रहस्थ रहता था । इसकी स्त्री मित्रवती थी । इसके एक वीरवती नाम की कन्या हुई । वीरवती का ब्याह दत्त के साथ हुआ । सो ठीक ही है, जो सम्बन्ध दैव को मंजूर होता है उसे कौन रोक सकता है ।
यहीं पर एक चोर रहता था । इसका नाम था गारक । किसी समय वीरवती ने इसे देखा । वह इसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गई । एक बार दत्त रत्नद्वीप से धन कमाकर घर की ओर रवाना हुआ । रास्ते में इसकी सुसराल पड़ी । इसे अपनी प्रियतमा से मिले बहुत दिन हो गये थे, और यह उससे बहुत प्रेम भी करता था, इसलिये ससुराल होकर घर जाना उचित समझा । यह रास्तें में एक जंगल में ठहरा । यहीं एक सहस्त्रभट नाम के चोर ने इसे देखा । यहाँ से चलते समय दत्त के पीछे यह चोर भी विनोद से हो लिया और साथ-साथ भूमिगृह आ पहुँचा ।
ससुराल में दत्त का बहुत कुछ आदर-सत्कार हुआ । वीरवती भी बड़े प्रेम के साथ इससे मिली । पर उसका चित्त स्वभाव प्रसन्न न होकर कुछ बनावट को लिए था । उसका मन किसी गहरी चोट से जर्जरित है, इस बात को चतुर पुरूष उसके चेहरे के रंग-ढंग से बहुत जल्दी ताड़ सकता था । पर सरल-स्वभावी दत्त इसका रत्तीभर भी पता नहीं पा सका । कारण अपनी स्त्री के सम्बन्ध में उसे स्वप्न में किसी तरह का सन्देह न था । बात यह थी कि जिस चोर के साथ वीरवती की आशनाई थी, वह आज किसी बड़े भारी अपराध के कारण सूली पर चढ़ाया जाने वाला था । वीरवती को इसी का बड़ा रंज था और इसी से उसका चित्त चल-विचल हो रहा था । रात के समय जब सब घर के लोग सो गये तब वीरवती अकेली उठी और हाथ में एक तलवार लिये वहीं पहुँची जहाँ अपराधी सूली पर चढ़ाये जाते थे । इसे घर से निकलते समय सहस्त्रभट चोर ने देख लिया । वह यह देखने के लिए कि इतनी रात में यह अकेली कहाँ जाती है, उसके पीछे-पीछे हो

लिया । वीरवती को उसके पाँवों की आवाज से जान पड़ा कि उसके पीछे-पीछे कोई आ रहा है, पर रात अन्धेरी होने से वह उसे देख न सकी । तब उस दुष्टा ने अपने हाथ की तलवार का एक वार पीछे की ओर किया । उससे बेचारे सहस्त्रभट की अँगुलियाँ कट गईं। तलवार को झटका लगने से उसे और दृढ़ विश्वास हो गया कि पीछे कोई अवश्य आ रहा है । वह देखने के लिए खड़ी हो गई, पर उसे कुछ सफलता प्राप्त न हुई । सहस्त्रभट कुछ और पीछे हट गया । वह फिर आगे बढ़ी । पास ही सूली का स्थान उसे देख पड़ा । वह पीछे आने वाले की बात भूलकर दौड़ी हुई अपने जार के पास पहुँची । उसे सूली पर चढ़ाये बहुत समय नहीं हुआ, इसलिए उसकी अभी कुछ साँस बाकी थी । वीरवती को देखते ही उसने कहा - प्रिये, यही मेरी और तुम्हारी अन्तिम भेंट है । मैं तुम्हारी ही आशा लगाये अब तक जी रहा हूँ, नहीं तो कभी का मर मिटा होता । अब देर न कर मुझ दुःखी को अन्तिम प्रेमालिंगन दे, सुखी करो और आओ, अपने मुख का पान मेरे मुख में देओ; जिससे मेरा जीवन जिसके लिए अब तक टिका है उस तुमसी सुन्दरी का आलिंगन कर शान्ति से परमधाम सिधारे । हाय ! इस काम को धिक्कार है, जो मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ भी उसे चाहता है ।

वीरवती ने अपने जार को सूली पर से उतारने का कोई उपाय तत्काल न देखकर पास में पड़े हुए कुछ मुर्दों को इक्ट्ठा किया और उन्हें ऊपर तले रखकर वह उन पर चढ़ी और अपना मुँह उसके मुँह के पास ले जाकर बोली - प्रियतम, लो अपनी इच्छा पूरी करो । गारक ने वीरवती के मुँह का पान लेने के लिए उसके ओठों को अपने मुँह में लिया था । कि कोई ऐसा धक्का लगा जिससे वीरवती के पाँव नीचे का मुर्दों का ढेर खिसक जाने से वीरवती नीचे आ गिरी और उसके ओंठ कटकर गारक के मुँह में रह गये । वीरवती वस्त्र से अपना मुँह छिपाकर दौड़ी-दौड़ी घर पर आई और अपने पति के सिरहाने पहुँचकर उसने एकदम चिल्लाया कि दौड़ो ! दौड़ो !! इस पापी ने मेरा ओठ काट लिया और साथ ही बड़े जोर से वह रोने लगी । उसी समय अड़ोस-पड़ोस और घर के लोगों ने आकर दत्त को बाँध लिया । सच है, पापिनी, कुलटा और अपने वंश का नाश करने वाली स्त्रियाँ क्या नीच-कर्म नहीं कर सकती ?

सबेरा हुआ । दत्त राजा के सामने उपस्थित किया गया । उसका क्या अपराध है और वह सच है या झूठ, इसकी कुछ विषेश तलाश न की जाकर एकदम उसके मारने का हुक्म दिया गया । पर यह सबको ध्यान में रखना चाहिए कि जब पुण्य का उदय होता है तब मृत्यु के समय भी रक्षा हो जाती है । पाठकों को विनोदी सहस्त्रभट की याद होगी । वह वीरवती के अन्तिम कुकर्म तक उसके आगे-पीछे उपस्थित ही रहा है । उसने सच्ची घटना अपनी आँखों से देखी है । वह इस समय यहीं उपस्थित था । राजा का दत्त के लिए मारने का हुक्म सुनकर उससे न रहा गया । उसने अपनी कुछ परवा न कर सब सच्ची घटना राजा से कह सुनाई । राजा सुनकर दंग रह गया । उसने उसी समय अपने पहले हुक्म को रद्द कर निरपराध दत्त की रिहाई दी और वीरवती को उसके अपराध की उपयुक्त सजा दी । सच है, पुण्यवानों की सभी रक्षा करते हैं ।

दुष्ट स्त्रियों का ऐसा घृणित और कलंकित चरित्र देखकर सबको उचित है कि वे दु:ख देनेवाले विषयों से अपनी सदा रक्षा करें ।

वे महात्मा धन्य हैं, जो भगवान् के उपदेश किये हुए पवित्र शीलव्रत से विभूषित हैं, कामरूपी क्रूर हाथी को मारने के लिए सिंह हैं, विषयों को जिन्होंने जीत लिया है, ज्ञान, ध्यान, आत्मानुभव में जो सदा मग्न हैं, विषय भोगों से निरन्तर उदास हैं, भव्य रूपी कमलों की प्रफुल्लित करनें में जो सूर्य हैं और संसार-समुद्र से पार करने में जो बड़े कर्मवीर खेवटिया हैं, वे सबका कल्याण करें ।

सुरतराजा की कथा

सुरतराजा की कथा

कथा :

देवों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान् के चरणों को भक्ति सहित नमस्कार कर सुरत नाम के राजा का हाल लिखा जाता है ।

सुरत अयोध्या के राजा थे । इनके पाँच सौ स्त्रियाँ थीं । उनमें पट्टरानी का पद महादेवी सती को प्राप्त था । राजा का सती पर बहुत प्रेम था । वे रात-दिन भोंगों में ही आसक्त रहा करते थे उन्हें राज-काज की कुछ चिन्ता न थी । अन्त:पुर के पहरे पर रहने वाले सिपाही से उन्होंने कह रक्खा था कि जब कोई खास मेरा कार्य हो या कभी कोई साधु-महात्मा यहाँ आवें तो मुझे उनकी सूचना देना । वैसे कभी कुछ कहने को न आना ।

एक दिन पुण्योदय से एक महिना के उपवासे दमदत्त और धर्मरूचि मुनि आहार के लिए राजमहल में आये । उन्हें देखकर द्वारपाल राजा के पास गया और नमस्कार कर उसने मुनियों के आने का हाल उनसे कहा । राजा इस समय अपनी प्राणप्रिया सती के मुख-कमल पर

तिलक-रचना कर रहे थे । वे सती से बोले - प्रिये, जब तक कि तुम्हारा तिलक न सूखे मैं अभी मुनिराजों को आहार देकर बहुत जल्दी आया जाता हूँ । यह कहकर राजा चले आये । उन्होंने मुनिराजों को भक्ति-पूर्वक ऊँचे आसन पर बैठाकर नवधा-भक्ति सहित पवित्र आहार कराया, जो कि उत्तम सुखों का देने वाला है । सच है, दान, पूजा, व्रत उपवासादि से ही श्रावकों की शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फल-रहित वृक्ष की तरह निरर्थक समझे जाते हैं । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे पात्रदान, जिनपूजा, व्रतउपवासादिक सदा अपनी शक्ति के अनुसार करते रहें ।

इधर तो राजा ने मुनियों को दान देकर पुण्य उत्पन्न किया और उधर उनकी प्राण-प्रिया अपने विषय सुख के अन्तराय करनेवाले मुनियों का आना सुनकर बड़ी दुखी हुई । उसने अपना भला-बुरा कुछ न सोचकर मुनियों की निन्दा करना शुरू किया और खूब ही मनमानी उन्हें गालियाँ दीं । सन्तों का यह कहना व्यर्थ नहीं है कि – 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' । सती के लिए यह नीति चरितार्थ हुई । अपने बाँधे तीव्र पाप-कर्मों का फल उसे उसी समय मिल गया । रानी के कोढ़ निकल आया । सारा शरीर काला पड़ गया । उससे दुर्गन्ध निकलने लगी । आचार्य कहते हैं – हलाहल विष खा लेना अच्छा है, जो एक ही जन्म में कष्ट देता है, पर जन्म-जन्म में दु:ख देने वाली मुनि-निन्दा करना कभी अच्छा नहीं । क्योंकि सन्त महात्मा तो व्रत, उपवास, शील आदि से भूषित होते हैं । और सच्चे आत्महित का मार्ग बताने वाले हैं, वे निन्दा करने योग्य कैसे हों ? और ये ही गुरू अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं इसलिए दीपक हैं, सबका हित करते हैं इसलिए बन्धु हैं और संसार रूपी समुद्र से पार करते हैं इसलिए कर्मशील खेवटिया हैं । अत: हर प्रयत्न द्वारा इनकी आराधना सेवा-शुश्रुषा करते रहना चाहिये ।

जब राजा मुनिराजों को आहार देकर निवृत्त हुए तब पीछे वे अपनी प्रिया के पास आ गये । आते ही जैसे उन्होंने रानी का काला और दुर्गन्धमय शरीर देखा वे बड़े अचंभे में पड़ गये । पूछने पर उन्हें उसका कारण मालूम हुआ । सुनकर वे बहुत खिन्न हुए । संसार शरीर भोग उन्हें अब अप्रिय जान पड़ने लगे । उन्हें अपनी रानी का मुनि-निन्दा रूप घृणित कर्म देखकर बड़ा वैराग्य हुआ । वे उसी समय सब राज-पाट छोड़कर योगी बन गये और अपना तथा संसार का हित करने में उद्यमी बने ।

समय पाकर सती की मृत्यु हुई । अपने पाप के फल से वह संसार रूपी वन में घूमने लगी । सो ठीक ही है, अपने किये पुण्य या पाप का फल जीवों को भोगना ही पडता है । इस प्रकार संसार की विचित्र स्थिति जानकर आत्महित के चाहने वाले सत्पुरुषों को भगवान के उपदेश किये पवित्र धर्म पर सदा विश्वास रखना चाहिए जो कि स्वर्ग और मोक्ष के सुख का प्रधान कारण है ।

विषयों में फँसे हुए संसारी जीव की कथा

विषयों में फँसे हुए संसारी जीव की कथा

कथा :

संसार समुद्र से पार करने वाले सर्वज्ञ-भगवान् को नमस्कार कर संक्षेप से संसारी जीव की दशा दिखालाई जाती है, जो बहुत ही भयावनी है ।

कभी कोई मनुष्य एक भयंकर वन में जा पहुँचा । वहाँ वह एक विकराल सिंह को देखकर डर के मारे भागा । भागते-भागते अचानक वह एक गहरे कुएँ में गिरा । गिरते हुए उसके हाथों में एक वृक्ष की जड़ें पड़ गई। उन्हें पकड़कर वह लटक गया । वृक्ष पर शहद का एक छत्ता जमा था । सो इस मनुष्य के पीछे भागे आते हुए सिंह के धक्के से वृक्ष हिल गया । वृक्ष के हिल जाने से मधुमक्खियाँ उड़ गईं और छत्ते से शहद की बूँदें टप-टप टपक कर उस मनुष्य के मुँह में गिरने लगीं । इधर कुएँ में चार भयानक सर्प थे, सो वे उसे डसने के लिए मुँह बाये हुए फुँकार करने लगे और जिन जड़ों को यह अभागा मनुष्य पकड़े हुए था । उन्हें एक काला और एक धोला ऐसे दो चूहे काट रहे थे । इस प्रकार के भयानक कष्ट में वह फँसा था, फिर भी उससे छुटकारा पाने का कुछ यत्न न कर वह मूर्ख स्वाद की लोलुपता से उन शहद की बूँदों के लोभ को नहीं रोक सका, और उलटा अधिक-अधिक उनकी इच्छा करने लगा । इसी समय जाता हुआ कोई विद्याधर उस ओर आ निकला । उस मनुष्य की ऐसी कष्टमय दशा देखकर उसे बड़ी दया आई। विद्याधर ने उससे कहा - भाई, आओ और इस वायुयान में बैठो । मैं तुम्हें निकाले लेता हूँ । इसके उत्तर में उस अभागे ने कहा - हाँ, जरा आप ठहरें , यह शहद की बूंद गिर रही है, इसे लेकर ही निकलता हूँ । वह बूंद गिर गई । विद्याधर ने फिर उससे आने को कहा । तब भी इसने वही उत्तर दिया कि हाँ यह बूँद आई जाती है, मैं अभी आया । गर्ज यह कि विद्याधर ने उसे बहुत समझाया, पर वह 'हाँ इस गिरती हुई बूंद को लेकर आता हूँ,' इसी आशा में फँसा रहा । लाचार होकर बेचारे विद्याधर को लौट जाना पड़ा । सच है, सच विषयों द्वारा ठगे गये जीवों की अपने हित की ओर कभी प्रीति नहीं होती ।

जैसे उस मनुष्य को उपकारी विद्याधर ने कुएँ से निकालना चाहा, पर वह शहद की लोलुपता से अपने हित को नहीं जान सका, ठीक इसी तरह विषयों में फँसा हुआ जीव संसार-रूपी कुएँ में काल रूपी सिंह द्वारा अनेक प्रकार के कष्ट पा रहा हैं, उसकी आयुरूपी डाली को दिन-रात रूपी दो धोले और काले चूहे काट रहे हैं, कुएँ के चार सर्प रूपी चार गतियाँ इसे डसने के लिए मुँह बाये खड़ी हैं और गुरू इसे हित का उपदेश दे रहे हैं; तब भी यह अपना हित न करे, शहद की बूँद रूपी विषयों में लुब्ध हो रहा है और उनकी ही अधिक-अधिक इच्छा करता जाता है । सच तो यह है कि अभी इसे दुर्गतियों का दुःख बहुत भोगना है । इसीलिए सच्चे मार्ग की ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती ।
इस प्रकार यह संसार रूपी भंयकर समुद्र अत्यन्त दु:खों का देनेवाला है और विषय-भोग विष मिले भोजन या दुर्जनों के समान कष्ट देने वाला है । इस प्रकार संसार स्थिति देखकर बुद्धिमानों को जिनेन्द्र-भगवान् के उपदेश किये हुए पवित्र-धर्म को, जो कि अविनाशी, अनन्त-सुख का देनेवाला है, स्थिर भावों के साथ हृदय में धारण करना उचित है ।

चारूदत्त सेठ की कथा

चारूदत्त सेठ की कथा

कथा :

देवों द्वारा पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर चारूदत्त सेठ की कथा लिखी जाती है ।
जिस समय की यह कथा है, तब चम्पापुरी का राजा शूरसेन था । राजा बड़ा बुद्धिमान और प्रजाहितैषी था । उसके नीतिमय शासन की सारी प्रजा एकस्वर से प्रशंसा करती थी । यहीं एक इज्जतदार भानुदत्त सेठ रहता था । इसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था । सुभद्रा के कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिए वह सन्तान प्राप्ति की इच्छा से नाना प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा किया करती थी, अनेक प्रकार की मान्यताएँ लिया करती थी; परन्तु तब भी उसका मनोरथ नहीं फला । सच तो है, कहीं कुदेवों की पूजा-स्तुति से कभी कार्य सिद्ध हुआ है क्या ? एक दिन जब वह भगवान् के दर्शन करने को मंदिर गई तब वहाँ उसने एक चारण मुनि देखे । उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा-प्रभो, क्या मेरा मनोरथ भी कभी पूर्ण होगा ? मुनिराज उसके हृदय के भावों को जानकर बोले- पुत्री, इस समय तू जिस इच्छा से दिनरात कुदेवों की पूजा-मानता किया करती है, वह ठीक नहीं है । उससे लाभ की जगह उलटी हानि हो रही है । तू विश्वास कर कि संसार में अपने पुण्य-पाप के सिवा और कोई देवी-देवता किसी को कुछ देने-लेने में समर्थ नहीं । अब तक तेरे पाप का उदय था, इसलिये तेरी इच्छा पूरी न हो सकी । पर अब तेरे महान् पुण्य कर्म का उदय आवेगा, जिससे तुझे एक पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी । तू इसके लिए पुण्य के कारण पवित्र धर्म पर विश्वास कर ।
मुनिराज द्वारा अपना भविष्य सुनकर सुभद्रा को बहुत खुशी हुई । वह उन्हें नमस्कार कर घर चली गई । अब से उसने सब कुदेवों की पूजा-मानता करना छोड़ दिया । वह अब जिनभगवान् के पवित्र धर्म पर विश्वास कर दान, पूजा, व्रत वगैरह करने लगी । इस दशा में दिन बड़े सुख के साथ कटने लगे । इसी तरह कुछ दिन बीतने पर मुनिराज के कहे अनुसार उसके पुत्र हुआ । उसका नाम चारूदत्त रक्खा गया । वह जैसा-जैसा बड़ा होता गया, साथ में उत्तम-उत्तम गुण भी उसे अपना स्थान बनाते गये । सच है, पुण्यवानों को अच्छी-अच्छी सब बातें अपने आप प्राप्त होती चली आती हैं ।
चारूदत्त बचपन ही से पढ़ने-लिखने में अधिक योग दिया करता था । यही कारण था कि उसे चौबीस-पच्चीस वर्ष का होने पर भी किसी प्रकार की विषय-वासना छू तक न गई थी । उसे तो दिन-रात अपनी पुस्तकों से प्रेम था । उन्हीं के अभ्यास, विचार, मनन, चिन्तन में वह सदा मग्न रहा करता था और इसी से बालपन से ही वह बहुधा करके विरक्त रहता था । उसकी इच्छा नहीं थी कि वह ब्याह कर संसार के माया-जाल में अपने को फँसावे, पर उसके माता-पिता ने उससे ब्याह करने का बहुत आग्रह किया । उनकी आज्ञा के अनुरोध से उसे अपने मामा की गुणवती पुत्री मित्रवती के साथ ब्याह करना पड़ा ।
ब्याह हो गया सही, पर तब भी चारूदत्त उसका रहस्य नहीं समझ पाया । और इसीलिए उसने कभी अपनी प्रिया का मुँह तक नहीं देखा । पुत्र की युवावस्था में यह दशा देखकर उसकी माँ को बड़ी चिन्ता हुई । चारूदत्त की विषयों की ओर प्रवृत्ति हो, इसके लिए उसने चारूदत्त को ऐसे लोगों की संगति में डाल दिया, जो व्यभिचारी थे। इससे उसकी माँ का अभिप्राय सफल अवश्य हुआ । चारूदत्त विषयों में फँस गया और खूब फँस गया । पर अब वह वेश्या का ही प्रेमी बन गया । उसने तब से घर का मुँह तक नहीं देखा । उसे कोई लगभग बारह वर्ष वेश्या के यहाँ रहते हुए बीत गये । इस अरसे में उसने अपने घर का सब धन भी गँवा दिया । चम्पा में चारूदत्त का घर अच्छे धनिकों की

गिनती में था, पर अब वह एक साधारण स्थिति का आदमी रह गया । अभी तक चारूदत्त के खर्च के लिए उस के घर से नगद रूपया आया करता था । पर अब रूपया लुट जाने से उसकी स्त्री का गहना आने लगा । जिस वेश्या के साथ चारूदत्त का प्रेम था उसकी कुट्टिनी माँ ने चारूदत्त को अब दरिद्र हुआ समझ कर एक दिन अपनी लड़की से कहा- बेटी, अब इसके पास धन नहीं रहा, यह भिखारी हो चुका, इसलिये अब तुझे इसका साथ जल्दी छोड़ देना चाहिए । अपने लिए दरिद्र मनुष्य किस काम का । वहीं हुआ भी । वसन्तसेना ने उसे अपने घर से निकाल बाहर किया । सच है, वेश्याओं की प्रीति धन के साथ ही रहती है । जिसके पास जब तक पैसा रहता है उससे तभी तक प्रेम करती है । जहाँ धन नहीं वहाँ वेश्या का प्रेम भी नहीं । यह देख चारूदत्त को बहुत दु:ख हुआ । अब उसे जान पड़ा कि विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्ति का कैसा भयंकर परिणाम होता है । वह अब एक पलभर के लिए भी वहाँ पर न ठहरा और अपनी प्रिया के भूषण ले-लिवाकर विदेश चलता बना । उसे इस हालत में माता को अपना कलंकित मुँह दिखलाना उचित नहीं जान पड़ा ।

यहाँ से चलकर चारूदत्त धीरे-धीरे उलूख देश के उशिरावर्त नाम के शहर में पहुँचा । चम्पा से जब यह रवाना हुआ तब साथ में इसका मामा भी हो गया था । उशिरावर्त में इन्होंने कपास की खरीद की । यहाँ से कपास लेकर ये दोनों तामलिप्ता नामक पुरी की ओर रवाना हुए । रास्ते में ये एक भयंकर वनों में जा पहुँचे । कुछ विश्राम के लिए इन्होंने यहीं डेरा डाल दिया । इतने में एक महा आँधी आई । उससे परस्पर की रगड़ से बाँसों में आग लग उठी । हवा चल ही रही थी, सो आग की चिनगारियाँ उड़कर इनके कपास पर जा पड़ी । देखते-देखते वह सब कपास भस्मीभूत हो गया । सच है, बिना पुण्य के कोई काम सिद्ध नहीं हो पाता है । इसलिए पुण्य कमाने के लिए भगवान् के उपदेश किये मार्ग पर सब को चलना कर्त्तव्य है । इस हानि से चारूदत्त बहुत ही दु:खी हो गया । वह यहाँ से किसी दूसरे देश की ओर जाने के लिए अपने मामा से सलाह कर समुद्रदत्त सेठ के जहाज द्वारा पवनद्वीप में पहुँचा । यहाँ इसके भाग्य का सितारा चमका । कुछ वर्ष यहाँ रहकर इसने बहुत धन कमाया । इसकी इच्छा अब देश लौट आने की हुई । अपनी माता के दर्शनों के लिए इसका मन बड़ा अधीर हो उठा । इसने चलने की तैयारी कर जहाज में अपना सब धन-असबाब लाद दिया ।

जहाज अनुकूल समय देख रवाना हुआ । जैसे-जैसे वह अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमि की ओर शीघ्र गति से बढ़ा हुआ जा रहा था, चारूदत्त को उतनी ही उतनी अधिक प्रसन्नता होती जाती थी । पर यह कोई नहीं जानता कि मनुष्य का चाहा कुछ नहीं होता । होता वही है, जो दैव को मंजूर होता है । यही कारण हुआ कि चारूदत्त की इच्छा पूरी न हो पाई और अचानक जहाज किसी से टकरा कर फट पड़ा । चारूदत्त का सब माल-असबाब समुद्र के विशाल उदर की भेंट चढ़ा । वह पहले सा ही दरिद्र हो गया । पर चारूदत्त को दु:ख उठाते-उठाते बड़ी सहन-शक्ति प्राप्त हो गई थी । एक पर एक आने वाले दु:खों ने उसे निराशा के गहरे गड्ढे से निकाल कर पूर्ण आशावादी और कर्त्तव्यशील बना दिया था । इसलिए अब की बार उसे अपनी हानि का कुछ विशेष दु:ख नहीं हुआ । वह फिर धन कमाने के लिए विदेश चल पड़ा । उसने अब की बार भी बहुत धन कमाया । घर लौटते समय फिर भी उसकी पहले सी दशा हुई । इतने में ही उसके बुरे कर्मों का अन्त न हो गया; किन्तु ऐसी-ऐसी भयंकर घटनाओं का कोई सात बार उसे सामना करना पड़ा । इसने कष्ट पर कष्ट सहा, पर अपने कर्त्तव्य से यह कभी विमुख नहीं हुआ । अब की बार जहाज के फट जाने से यह समुद्र में गिर पड़ा । इसे अपने जीवन का भी सन्देह हो गया था । इतने में भाग्य से बहकर आता हुआ एक लड़के का तख्ता इसके हाथ पड़ गया । उसे पाकर इसके जी में जी आया । किसी तरह यह उसकी सहायता से समुद्र के किनारे आ लगा । यहाँ से चलकर यह राजगृह में पहुँचा । यहाँ इसे एक विष्णुमित्र नाम का संन्यासी मिला । सन्यासी ने इसके द्वारा कोई अपना काम निकलता देखकर पहले बड़ी सज्जनता का इसके साथ बरताव किया । चारूदत्त ने यह समझ कर कि यह कोई भला आदमी है, अपनी सब हालत उससे कह दी । चारूदत्त को धनार्थी समझकर विष्णुमित्र उससे बोला- मैं समझा, तुम धन कमाने को घर बाहर हुए हो । अच्छा हुआ तुम ने मुझ से अपना हाल सुना दिया । पर सिर्फ धन के लिए अब तुम्हें इतना कष्ट न उठाना पड़ेगा । आओ, मेरे साथ आओ, यहाँ से कुछ दूर पर जंगल एक पर्वत है । उसकी तलहटी में एक कुँआ है । वह रसायन से भरा हुआ है । उससे सोना बनाया जाता है । सो तुम उसमें से कुछ थोड़ा-सा रस ले आओ । उससे तुम्हारी सब दरिद्रता नष्ट हो जायगी । चारूदत्त संन्यासी के पीछे-पीछे हो लिया । सच है, दुर्जनों द्वारा धन के लोभी कौन-कौन नहीं ठगे गये ।

सन्यासी और उसके पीछे-पीछे चारूदत्त ये दोनों पर्वत के पास पहुँचा । सन्यासी ने रस लाने की सब बातें समझा कर चारूदत्त के हाथ में एक तूँबी दी और एक सींके पर उसे बैठाकर कुएँ में उतार दिया । चारूदत्त तूँबी में रस भरने लगा । इतने में वहाँ बैठे हुए एक मनुष्य ने उसे रस भरने से रोका । चारूदत्त पहले तो डरा, पर जब उस मनुष्य ने कहा तुम डरो मत, तब कुछ सम्हल कर वह बोला- तुम कौन हो,

और इस कुएँ में कैसे आये ? कुएँ में बैठा हुआ मनुष्य बोला, सुनिए, मैं उज्जयिनी में रहता हूँ । मेरा नाम धनदत्त है । मैं किसी कारण से सिंहलद्वीप गया था । वहाँ से लौटते समय तूफान में पड़कर मेरा जहाज फट गया । धन-जन की बहुत हानि हुई । मेरे हाथ एक लक्कड़ का पटिया लग जाने से अथवा यों कहिए कि दैव की दया से मैं बच गया । समुद्र से निकलकर मैं अपने शहर की ओर जा रहा था कि रास्ते में मुझे यही सन्यासी मिला । यह दुष्ट मुझे धोखा देकर यहाँ लाया । मैंने कुएँ में से इसे रस भरकर ला दिया । इस पापी ने पहले तूँबी मेरे हाथ से ले ली और फिर आप रस्सी काटकर भाग गया । मैं आकर कुएँ में गिरा । भाग्य से चोट तो अधिक न आई, पर दो-तीन दिन इसमें पड़े रहने से मेरी तबियत बहुत बिगड़ गई और अब मेरे प्राण घुट रहे हैं । उसकी हालत सुनकर चारूदत्त को बड़ी दया आई । पर वह ऐसी जगह में फँस चुका था, जिससे उसके जिलाने का कुछ यत्न नहीं कर सकता था । चारूदत्त ने उससे पूछा- तो मैं इस सन्यासी को रस भरकर न दूँ ? धनदत्त ने कहा- नहीं, ऐसा मत करो; रस तो भरकर दे ही दो, अन्यथा यह ऊपर से पत्थर वगैरह मारकर बड़ा कष्ट पहुँचायेगा । तब चारूदत्त ने एक बार तो तूँबी को रस से भरकर सींके में रख दिया । सन्यासी ने उसे निकाल लिया । अब चारूदत्त को निकालने के लिए उसने फिर सींका कुएँ में डाला । अब की बार चारूदत्त ने स्वयं सींके पर न बैठकर बड़े-बड़े वजनदार पत्थरों को उसमें रख दिया । संन्यासी उस पत्थर भरे सींके पर चारूदत्त को बैठा समझकर, जब सींका आधी दूर आया तब उसे काटकर आप चलता बना । चारूदत्त की जान बच गई । उसने धनदत्त का बड़ा उपकार मानकर कहा- मित्र, इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज तुमने मुझे जीवनदान दिया और इसके लिए मैं तुम्हारा जन्मजन्म में ऋणी रहूँगा । हाँ और यह तो कहिए कि इससे निकलने का भी कोई उपाय है क्या ? धनदत्त बोला- यहाँ रस पीने को प्रीतिदिन एक गो आया करती है । तब आज तो वह चली गई । कल सबेरे वह फिर आवेगी सो तुम उसकी पूँछ पकड़ कर निकल जाना । इतना कहकर वह बोला- अब मुझ से बोला नहीं जाता । मेरे प्राण बड़े संकट में हैं । चारूदत्त को यह देख बड़ा दु:ख हुआ कि वह अपने उपकारी की कुछ सेवा नहीं कर पाया । उससे और तो कुछ नहीं बना, पर इतना तो उसने तब भी किया कि धनदत्त को पवित्र जिनधर्म का उपदेश देकर, जो कि उत्तम गति का साधन है, पंच नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास भी लिवा दिया ।

सबेरा हुआ । सदा की भाँति आज भी गो रस पीने के लिए आई । रस पीकर जैसे ही वह जाने लगी, चारूदत्त ने उसकी पूँछ पकड़ ली । उसके सहारे वह बाहर निकल आया । यहाँ से इस जंगल को लाँघ कर यह एक ओर जाने लगा । रास्ते में इसकी अपने मामा रूद्रदत्त से भेंट हो गई । रूद्रदत्त ने चारूदत्त का सब हाल जान कर कहा- तो चलिए अब हम रत्नद्वीप में चलें । वहाँ अपना मनोरथ अवश्य पूरा होगा । धन की आशा से ये दोनों अब रत्नद्वीप जाने को तैयार हुए । रत्नद्वीप जाने के लिए पहले एक पर्वत पर जाना पड़ता था और पर्वत पर जाने का जो रास्ता था, वह बहुत सँकरा था । इसलिए पर्वत पर जाने के लिए इन्होंने दो बकरे खरीद लिये और उनपर सवार होकर ये रवाना हो गये । जब ये पर्वत पर कुशल पूर्वक पहुँच गये तब पापी रूद्रदत्त ने चारूदत्त से कहा- देखो, अब अपने को यहाँ पर इन दोनों बकरों को मार कर दो चमड़े की थैलियाँ बनानी चाहिए और उन्हें उलटकर उनके भीतर घुस दोनों का मुँह सी लेना चाहिए । मांस के लोभ से यहाँ सदा ही भेरूण्ड-पक्षी आया करते हैं । सो वे अपने को उठा ले जाकर उस पार रत्नद्वीप में ले जायेंगे । वहाँ जब वे हमें खानें लगें तब इन थैलियों को चीरकर हम बाहर हो जायेंगे । मनुष्य को देखकर पक्षी उड़ जायेंगे और ऐसा करने से बहुत सीधी तरह अपना काम बन जायगा ।

चारूदत्त ने रूद्रदत्त की पापमयी बात सुनकर उसे बहुत फटकारा और वह साफ इंकार कर गया कि मुझे ऐसे पाप द्वारा प्राप्त किये धन की जरूरत नहीं । सच है, दयावान् कभी ऐसा अनर्थ नहीं करते । रात को ये दोनों सो गये । चारूदत्त को स्वप्न में भी ख्याल न था कि रूद्रदत्त सचमुच इतना नीच होगा और इसीलिए वह नि:शंक होकर सो गया था जब चारूदत्त को खूब गाढ़ी नींद आ गई तब पापी रूद्रदत्त चुपके से उठा और जहाँ बकरे बँधे थे वहाँ गया । उसने पहले अपने बकरे को मार डाला और चारूदत्ते बकरे का भी उसने आधा गला काट दिया होगा कि अचानक चारूदत्त की नींद खुल गई । रूद्रदत्त को अपने पास सोया न पाकर उसका सिर ठनका । वह उठकर दौड़ा और बकरों के पास पहुँचा । जाकर देखता है तो पापी रूद्रदत्त बकरे का गला काट रहा हैं । चारूदत्त को काटो तो खून नहीं । वह क्रोध के मारे भर्रा गया । उसने रूद्रदत्त के हाथ से छुरी तो छुड़ाकर फेंकी और उसे खूब ही सुनाई । सच है, कौन ऐसा पाप है, जिसे निर्दयी पुरूष नहीं करते ?

उस अधमरे बकरे का टगर-टगर देखते देखकर दया से चारूदत्त का हृदय भर आया । उसको आँखों से आँसुओं की बूँदें टपकने लगीं ।

पर वह उसके बचाने का प्रयत्न करने के लिए लाचार था । इसलिए कि वह प्राय: काटा जा चुका था । उसकी शान्ति के साथ मृत्यु होकर वह सुगति लाभ करे, इसे लिए चारूदत्त ने इतना अवश्य किया कि उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाकर सन्यास दे दिया । जो धर्मात्मा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश का रहस्य समझने वाले हैं, उनका जीवन सच पूछो तो केवल परोपकार के लिए ही होता है ।

चारूदत्त ने बहुतेरा चाहा कि मैं पीछे लौट जाऊँ, पर वापिस लौटने का उसके पास कोई उपाय न था । इसलिए अत्यन्त लाचारी की दशा में उसे भी रूद्रदत्त की तरह उस थैली की शरण लेनी पड़ी । उड़ते हुए भेरूण्डपक्षी पर्वत पर दो मांस-पिण्ड पड़े देखकर आये और उन दोनों को चोंचों से उठा चलते बने । रास्ते में उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी । परिणाम यह निकला कि जिस थैली में रूद्रदत्त था, वह पक्षी की चोंच से छूट पड़ी । रूद्रदत्त समुद्र में गिरकर मर गया । मर कर वह पाप के फल से कुगति में गया । ठीक भी है, पापियों की कभी अच्छी गति नहीं होती । चारूदत्त की थैली को जो पक्षी लिए था, उसने उसे रत्नद्वीप के एक सुन्दर पर्वत पर ले जाकर रख दिया । इसके बाद पक्षी ने उसे चोंच से चीरना शुरू किया । उसका कुछ भाग चीरते ही उसे चारूदत्त देख पड़ा । पक्षी उसी समय डरकर उड़ भागा । सच है, पुण्यवानों का कभी-कभी तो दुष्ट भी हित करने वाले हो जाते हैं । जैसे ही चारूदत्त थैली के बाहर निकला कि धूप में ध्यान लगायें एक महात्मा उसे देख पड़े । उन्हें ऐसी कड़ी धूप मेरू की तरह निश्चल खड़े देखकर चारूदत्त की उनपर बहुत श्रद्धा हो गई । चारूदत्त उनके पास गया और बड़ी भक्ति से उसने उनके चरणों में अपना सिर नवाया । मुनिराज का ध्यान पूरा होते ही उन्होंने चारूदत्त से कहा- चारूदत्त, क्यों तुम अच्छी तरह तो हो न ? मुनि द्वारा अपना नाम सुनकर चारूदत्त को कुछ सन्तोष तो इसलिए अवश्य हुआ कि एक अत्यन्त अपरिचित देश में उसे कोई पहचानता भी है, पर इसके साथ ही उसके आश्चर्य का भी कुछ ठिकाना न रहा । वह बड़े विचार में पड़ गया कि मैंने तो कभी इन्हें कहीं देखा नहीं, फिर इन्होंने ही मुझे कहाँ देखा था ! अस्तु, जो हो, इन्हीं से पूछता हूँ कि ये मुझे कहाँ से जानते हैं । वह मुनिराज से बोला- प्रभो, मालूम होता है आपने मुझे कहीं देखा है, बतलाइए तो आपको मैं कहाँ मिला था ? मुनि बोले- ''सुनो, मैं एक विद्याधर हूँ ! मेरा नाम अमितगति है । एक दिन में चम्पापुरी के बगीचे में अपनी प्रिया के साथ सैर करने को गया हुआ था । इसी समय एक धूमसिंह नाम का विद्याधर वहाँ आ गया । मेरी सुन्दर स्त्री को देखकर उस पापी की नियत डगमगी । काम से अंधे हुए उस पापी ने अपनी विद्या के बल से मुझे एक वृक्ष में कील दिया और मेरी प्यारी को विमान में बैठाकर मेरे देखते-देखते आकाश मार्ग से चल दिया । उस समय मेरे कोई ऐसा पुण्यकर्म का उदय आया सो तुम उधर आ निकले । तुम्हें दयावान समझकर मैंने तुम से इशारा करके कहा- वे औषधियाँ रक्खी हैं, उन्हें पीसकर मेरे शरीर पर लेप दीजिए । आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वैसा ही किया । उससे दुष्ट विद्याओं का प्रभाव नष्ट हुआ और मैं उन विद्याओं के पंजे से छूट गया । जैसे गुरू के उपदेश से जीव, माया, मिथ्या की कील से छूट जाता है । मैं उसी समय दौड़ा हुआ कैलाश पर्वत पर पहुँचा और धूमसिंह को उसके कर्म का उचित प्रायश्चित्त देकर उससे अपनी प्रिया को छुड़ा लाया । फिर मैंने आप से कुछ प्रार्थना की कि आप जो इच्छा हो वह मुझ से माँगे, पर आप मुझ से कुछ भी लेने के लिए तैयार नहीं हुए । सच तो यह है कि महात्मा लोग दूसरों का भला किसी प्रकार की आशा से करते ही नहीं । इसके बाद मैं आपसे विदा होकर अपने नगर में आ गया । मैंने इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक और राज्य किया, राज्यश्री का खूब आनंद लूटा । बाद आत्म कल्याण की इच्छा से पुत्रों को राज्य सौंपकर मैं दीक्षा ले गया, जो कि संसार का भ्रमण मिटाने वाली है । चारणऋद्धि के प्रभाव से मैं यहाँ आकर तपस्या कर रहा हूँ । मेरा तुम्हारे साथ पुराना परिचय है, इसीलिए मैं तुम्हें पहचानता हूँ ।'' सुनकर चारूदत्त बहुत खुश हुआ । वह जब तक वहाँ बैठा रहा, इसी बीच में इन मुनिराज के दो पुत्र इनकी पूजा करने को वहाँ आये । मुनिराज ने चारूदत्त का कुछ हाल उन्हें सुनाकर उसका उनसे परिचय कराया । परस्पर में मिलकर इन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई । थोड़े ही समय के परिचय से इन में अत्यन्त प्रेम बढ़ गया ।

इसी समय एक बहुत खूबसूरत युवा वहाँ आया । सबकी दृष्टि उसके दिव्य तेज की ओर जा-लगी। उस युवा ने सबसे पहले चारूदत्त को प्रणाम किया । यह देख चारूदत्त उसे ऐसा करने से रोक कर कहा- तुम्हें पहले गुरू महाराज को नमस्कार करना उचित है । आगत युवा ने अपना परिचय देते हुए कहा- मैं बकरा था । पापी रूद्रदत्त जब मेरा आधा गला काट चुका होगा कि उसी समय मेरे भाग्य से आपकी नींद खुल गई । आपने आकर मुझे नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही सन्यास दे दिया । मैं शान्त भावों से मरकर मंत्र के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ । इसलिए मेरे गुरू तो आप ही हैं- आप ही ने मुझे सन्मार्ग बतलाया है । इसके बाद सौधर्म-देव धर्म-प्रेम से बहुत सुन्दर-सुन्दर और मूल्यवान् दिव्य वस्त्राभरण चारूदत्त को भेंटकर और उसे नमस्कार कर स्वर्ग चला गया । सच है, जो परोपकारी हैं उनका सब ही बड़ी भक्ति के साथ आदर-सत्कार करते हैं ।

इधर वे विद्याधर सिंहयश और वराहग्रीव मुनिराज को नमस्कार कर चारूदत्त से बोले- चलिए हम आपको आप की जन्मभूमि चम्पापुरी में पहुँचा आवें । इससे चारूदत्त को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जाने को सहमत हो गया । चारूदत्त इसके लिए उनसे बड़ी कृतज्ञता प्रगट की । उन्होंने चारूदत्त को उसके सब माल-असबाब सहित बहुत जल्दी विमान द्वारा चम्पापुरी में ला रखा । इसके बाद वे उसे नमस्कार कर और आज्ञा लेकर अपने स्थान लौट गये । सच है, पुण्य से संसार में क्या नहीं होता ! और पुण्यप्राप्ति के लिए जिनभगवान् के द्वारा उपदेश किये दान, पूजा, व्रत, शीलरूप चार प्रकार पवित्र धर्म का सदा पालन करते रहना चाहिये ।

अचानक अपने प्रिय पुत्र के आ जाने से चारूदत्त के माता-पिता को बड़ी खुशी हुई । उन्होंने बार-बार उसे छाती से लगाकर वर्षों से वियोगाग्नि से जलते हुए अपने हृदय को ठंडा किया । चारूदत्त की प्रिया मित्रवती के नेत्रों से दिन-रात बहती हुई वियोग दु:खाश्रुओं की धारा और आज प्रिय को देखकर बहने वाली आनन्दाश्रुओं की धारा का अपूर्व समागम हुआ । उसे जो सुख आज मिला, उसकी समानता में स्वर्ग का दिव्य सुख तुच्छ है । बात की बात में चारूदत्त के आने के समाचार सारी पुरी में पहुँच गये । और उससे सभी को आनन्द हुआ ।

चारूदत्त एक समय बड़ा धनी था । अपने कुकर्मों से वह पथ-पथ का भिखारी बना । पर जब से उसे अपनी दशा का ज्ञान हुआ तब से उसने केवल कर्त्तव्य को ही अपना लक्ष्य बनाया और फिर कर्मशील बनकर उसने कठिन से कठिन काम किया । उसमें कई बार उसे असफलता भी प्राप्त हुई, पर वह निराश नहीं हुआ और काम करता ही चला गया । अपने उद्योग से उसके भाग्य का सितारा फिर चमक उठा और वह आज पूर्ण तेज प्रकाश कर रहा है । इसके बाद चारूदत्त ने बहुत वर्षो तक खूब सुख भोगा और जिनधर्म की भी भक्ति के साथ उपासना की । अन्त में उदासीन होकर वह अपनी जगह पर अपने सुन्दर नाम के पुत्र को नियुक्त कर आप दीक्षा ले गया । मुनि होकर उसने खूब तप किया और आयु के अन्त में सन्यास सहित मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग लाभ किया । स्वर्ग में वह सुख के साथ रहता है, अनेक प्रकार के उत्तम से उत्तम भोगों को भोगता है, सुमेरू और कैलाश पर्वत आदि स्थानों के जिनमंदिरों की यात्रा करता है, विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् तीर्थ कर केवली भगवान् की स्तुति-पूजा करता है और उनका सुख देने वाला पवित्र धर्मोपदेश सुनता है । मतलब यह कि उसका प्राय: समय धर्म साधना ही में बीतता है । और इसी जिनभगवान् के उपदेश किये निर्मल धर्म की इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी सदा भक्ति पूर्वक उपासना करते हैं, यही धर्म स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला है । इसलिए यदि तुम्हें श्रेष्ठ सुख की चाह है तो तुम भी इसी धर्म का आश्रय लो ।

पाराशर मुनि की कथा

पाराशर मुनि की कथा

कथा :

जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर अन्यमतों की असत्कल्पनाओं का सत्पुरूषों को ज्ञान हो, इसलिए उन्हीं के शास्त्र में लिखी हुई पाराशर नामक एक तपस्वी की कथा यहाँ लिखी जाती है ।

हस्तिनागपुर में गंगभट नाम का एक धीवर रहा करता था । एक दिन वह पाप-बुद्धि एक बड़ी भारी मछली को नदी से पकड़ कर लाया । घर लाकर उस मछली को जब उसने चीरा तो उसमें से एक सुन्दर कन्या निकली । उसके शरीर से बड़ी दुर्गन्ध निकल रही थी । उस धीवर ने उसका नाम सत्यवती रखा । वही उसका पालन पोषण भी करने लगा । पर सच पूछो तो यह बात सर्वथा असंभव है । कहीं मछली से भी कन्या पैदा हुई है ? खेद है कि लोग आँख बन्द किये ऐसी-ऐसी बातों पर भी अन्धश्रद्धा किये चले आते हैं ।

जब सत्यवती बड़ी हो गई तो एक दिन की बात है कि गंगभट सत्यवती को नदी किनारे नाव पर बैठाकर आप किसी काम के लिए घर पर आ गया । इतने में रास्ते का थका हुआ एक पाराशर नाम का मुनि, जहाँ सत्यवती नाव लिए बैठी हुई थी, वहाँ आया । वह सत्यवती से बोला- लड़की, मुझे नदी पार जाना है, तू अपनी नाव पर बैठाकर पार उतार दे तो बहुत अच्छा हो । भोली सत्यवती ने उसका कहा मान लिया और नाव में उसे अच्छी तरह बैठा कर वह नाव खेने लगी । सत्यवती खूबसूरत तो थी ही और इस पर वह अब तेरह-चौदह वर्ष की हो चुकी थी; इसलिए उसकी खिलती हुई नई जवानी थी । उसकी मनोमधुर सुन्दरता ने तपस्वी के तप को डगमगा दिया । वह काम वासना का गुलाम हुआ । उसने अपनी पापमयी मनोवृत्ति को सत्यवती पर प्रगट किया । सत्यवती सुनकर लजा गई, और डरी भी । वह बोली- महाराज, आप साधु-सन्त, सदा गंगास्नान करने वाले और शाप देने तथा दया करने में समर्थ और मैं नीच जाति की लड़की, इस

पर भी मेरा शरीर दुर्गन्धमय, फिर मैं आप सरीखों के योग्य कैसे हो सकती हूँ ? पाराशर को इस भोली लड़की के निष्कपट हृदय की बात पर भी कुछ शर्म नहीं आई और कामियों को शर्म होती भी कहाँ ? उसने सत्यवती से कहा- तू इसकी कुछ चिन्ता न कर । मैं तेरा शरीर अभी सुगन्धमय बनाये देता हूँ । यह कहकर पाराशर ने अपने विद्याबल से उसके शरीर को देखते-देखते सुगन्धमय कर दिया । उसके प्रभाव को देखकर सत्यवती को राजी हो जाना पड़ा । कामी पाराशर ने अपनी वासना नाव में ही मिटाना चाही, तब सत्यवती बोली- आप को इसका ख्याल नहीं कि सब लोग देखकर क्या कहेंगे ? तब पाराशर ने आकाश को धुँधला कर, जिससे कोई देख न सके, और अपनी इच्छा से इसके बाद उसने नदी के बीच में ही एक छोटा-सा गाँव बसाया और सत्यवती के साथ ब्याह कर आप वहीं रहने लगा ।
एक दिन पाराशर अपनी वासनाओं की तृप्ति कर रहा था कि उस समय सत्यवती के एक व्यास नाम का पुत्र हुआ । उसके सिर पर जटाएँ थीं, वह यज्ञोपवती पहने हुआ था और उसने उत्पन्न होते ही अपने पिता को नमस्कार किया । पर लोगों का यह कहना उन्मत्त पुरूष के सरीखा है और न किसी ज्ञान-नेत्र वाले की समझ में ये बातें आवेंगी ही क्योंकि वे समझते हैं कि समझदार कभी ऐसी असंभव बातें नहीं कहते; किन्तु भक्ति के आवेश में आकर अतत्व पर विश्वास लाने वालों ने ऐसा लिख दिया है । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे उन विद्वानों की संगति करें जो जैनधर्म का रहस्य समझने वाले हैं, और जैनधर्म से ही प्रेम करें और उसी के शास्त्रों का भक्ति और श्रद्धा के साथ अध्ययन करें, उनमें अपनी पवित्र बुद्धि को लगावें, इसी से उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होगा ।

सात्यकि और रूद्र की कथा

सात्यकि और रूद्र की कथा

कथा :

केवल ज्ञान ही जिनका नेत्र है, ऐसे जिनभगवान् को नमस्कार कर शास्त्रों के अनुसार सात्यकि और रूद्र की कथा लिखी जाती है।
गन्धार देश में महेश्वरपुर एक सुन्दर शहर था। उसके राजा सत्यन्धर थे। सत्यन्धर की प्रिया का नाम सत्यवती था । इसके एक पुत्र हुआ उसका नाम सात्यकि था । सात्यकि ने राजविद्या में अच्छी कुशलता प्राप्त की थी और ठीक भी है, राजा बिना राजविद्या के शोभा भी नहीं पाता ।
इस समय सिन्धु देश की विशाला नगरी का राजा चेटक था । चेटक जैन धर्म का पालक और जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त था । इसकी रानी का नाम सुभद्रा था । सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और धर्मात्मा थी । इसके सात कन्यायें थीं । उनके नाम थे—पवित्रा, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना ।
सम्राट श्रेणिक ने चेटक से चेलिनी के लिये मँगनी की थी, पर चेटक ने उनकी आयु अधिक देखकर लड़की देने से इन्कार कर दिया । इससे श्रेणिक को बहुत बुरा लगा । अपने पिता के दु:ख का कारण जानकर अभय कुमार उनका एक बहुत ही बढ़िया चित्र बनवा कर विशाला में पहुँचा । उसने वह चित्र चेलिनी को बतलाकर उसे श्रेणिक पर मुग्ध कर लिया । पर चेलिनी के पिता को उसका ब्याह श्रेणिक से करना सम्मत नहीं था । इसलिए अभय कुमार ने गुप्त मार्ग से चेलिनी को ले जाने का विचार किया । जब चेलिनी उसके साथ जाने को तैयार हुई तब ज्येष्ठा ने उससे अपने को भी ले चलने के लिए कहा । चेलिनी सहमत तो हो गई, उसका ले चलना इष्ट नहीं था; इसलिए जब ये दोनों बहिनें थोड़ी दूर गई होंगी कि धूर्ता चेलिनी ने ज्येष्ठा से कहा- बहिन, मैं अपने आभूषण तो सब महल ही में भूल आई हूँ । तू जाकर उन्हें ले आ न ? मैं तब तक यहीं खड़ी हूँ । बेचारी भोली ज्येष्ठा उसके झाँसे में आकर चली गई । यह थोड़ी दूर ही पहुँची होगी कि इसने इधर आगे का रास्ता पकड़ा और जब तक ज्येष्ठा संकेत स्थान पर आती है तब तक यह बहुत दूर आगे बढ़ आई । अपनी बहिन की इस कुटिलता या धोखे बाजी से ज्येष्ठा को बेहद दु:ख हुआ । और इसी दु:ख के मारे वह यशस्वती आर्यिका के पास दीक्षा ले गई । ज्येष्ठा की सगाई सत्यन्धर के पुत्र सात्यकि से हो चुकी थी । पर जब सात्यकि ने उसका दीक्षा ले लेना सुना तो वह भी विरक्त होकर समाधि गुप्त मुनि द्वारा दीक्षा लेकर मुनि बन गया ।
एक दिन यशस्वती, ज्येष्ठा आदि आर्यिकाएँ श्री वर्द्धमान भगवान् की वन्दना करने को चलीं । वे सब एक वन में पहुँची होंगी कि पानी बरसने लगा, और खूब बरसा । इससे इस आर्यिका संघ को बड़ा कष्ट हुआ । कोई किधर और कोई किधर, इस तरह उनका सब संघ तितिर-बितर हो गया । ज्येष्ठा एक कालगुहा नाम की गुहा में पहुँची । वह उसे एकान्त समझकर शरीर से भीगे वस्त्रों को उतार कर उन्हें निचोड़ने लगी । भाग्य से सात्यकि मुनि भी इसी गुहा में ध्यान कर रहे थे । सो उन्होंने ज्येष्ठा आर्यिका का खुला शरीर देख लिया । देखते

ही विकारभावों से उनका मन भ्रष्ट हुआ और उन्होंने अपने शीलरूपी मौलिक रत्न को आर्यिका के शरीररूपी अग्नि में झोंक दिया । सच है, काम से अन्धा बना मनुष्य क्या नहीं कर डालता ।

गुराणी यशस्वती ज्येष्ठा की चेष्टा वगैरह से उसकी दशा जान गई और इस भय से कि धर्म का अपवाद न हो, वह ज्येष्ठा को चेलिनी के पास रख आई । चेलिनी ने उसे अपने यहाँ गुप्त रीति से रख लिया । सो ठीक ही है, सम्यग्दृष्टि निन्दा आदि से शासन की सदा रक्षा करते हैं ।

नौ महीने होने पर ज्येष्ठा के पुत्र हुआ । पर श्रेणिक ने इस रूप में प्रकट किया कि चेलिनी के पुत्र हुआ । ज्येष्ठा उसे वहीं रखकर आप पीछे आर्यिका के संघ में चली आई और प्रायश्चित लेकर तपस्विनी हो गई । इसका लड़का श्रेणिक के यहीं पलने लगा । बड़ा होने पर वह और लड़कों के साथ खेलने को जाने लगा । पर संगति इसकी अच्छे लड़को के साथ नहीं थी, इससे इसके स्वभाव में कठोरता अधिक आ गई । यह अपने साथ के खेलने वाले लड़कों को रूद्रता के साथ मारने-पीटने लगा । इसकी शिकायत महारानी के पास आने लगी । महारानी को इस पर बड़ा गुस्सा आया । उसने इसका ऐसा रौद्र स्वभाव देखकर नाम भी इसका रूद्र रख दिया । सो ठीक ही है जो वृक्ष जड़ से ही खराब होता है तब उसके फलों में मीठापन आ भी कहाँ से सकता है । इसी तरह रूद्र से एक दिन और कोई अपराध बन पड़ा । सो चेलिनी ने अधिक गुस्से में आकर यह कह डाला कि किसने तो इस दुष्ट को जना और किसे यह कष्ट देता है । चेलिनी के मुँह से, जिसे कि यह अपनी माता समझता था, ऐसी अचम्भा पैदा करने वाली बात सुनकर बड़े गहरे विचार में पड़ गया । इसने सोचा कि इसमें कोई कारण जरूर होना चाहिये । यह सोचकर यह श्रेणिक के पास पहुँचा और उनसे इसने आग्रह के साथ पूछा- पिताजी, सच बतलाइए, मेरे वास्तव में पिता कौन हैं और कहाँ हैं ? श्रेणिक ने इस बात के बताने को बहुत आनाकानी की । पर जब रूद्र ने बहुत ही उनका पीछा किया और किसी तरह वह नहीं मानने लगा तब लाचार हो उन्हें सब सच्ची बात बता देनी पड़ी । रूद्र को इससे बड़ा वैराग्य हुआ और वह अपने पिता के पास जाकर मुनि हो गया ।

एक दिन रूद्र ग्यारह अंग और दश पूर्व का बड़े ऊँचे से पाठ कर रहा था । उस समय श्रुतज्ञान के माहात्म्य से पाँच सौ तो कोई बड़ी-बड़ी विद्याएँ सिद्ध होकर आई । उन्होंने अपने को स्वीकार करने की रूद्र से प्रार्थना की । रूद्र ने लोभ के वश ही उन्हें स्वीकार तो कर लिया, पर लोभ आगे होने वाले सुख और कल्याण के नाश का कारण होता है, इसका उसने कुछ विचार न किया ।

इस समय सात्यकि मुनि गोकर्ण नाम के पर्वत की ऊँची चोटी पर प्राय: ध्यान किया करते थे । समय गर्मी का था । उनकी वन्दना को अनेक धर्मात्मा भव्य-पुरुष आया-जाया करते थे । पर जब से रूद्र को विद्याएँ सिद्ध हुईं, तब से वह मुनि-वन्दना के लिए आने वाले धर्मात्मा भव्य-पुरूषों को अपने विद्याबल से सिंह, व्याघ्र, गेंडा, चीता आदि हिंस्र और भयंकर पशुओं द्वारा डराकर पर्वत पर न जाने देता था । सात्यकि मुनि को जब यह हाल ज्ञात हुआ तब उन्होंने इसे समझाया और ऐसे दुष्ट कार्य करने से रोका । पर इसने उनका कहा नहीं माना और अधिक-अधिक यह लोगों को कष्ट देने लगा । सात्यकि ने तब कहा- तेरे इस पाप का फल बहुत बुरा होगा । तेरी तपस्या नष्ट होगी । तू स्त्रियों द्वारा तपभ्रष्ट होकर आखिर मृत्यु का ग्रास बनेगा । इसलिए अभी तुझे सम्हल जाना चाहिए । जिससे कुगतियों के दु:ख न भोगना पड़े । रूद्र पर उनके इस कहने का भी कुछ असर न हुआ । वह और अपनी दुष्टता करता ही चला गया । सच है, पापियों के हृदय में गुरूओं का अच्छा उपदेश कभी नहीं ठहरता ।

एक दिन रूद्रमुनि प्रकृति के दृश्यों से अपूर्व मनोहरता धारण किये हुए कैलास पर्वत पर गया और वहाँ तापन योग द्वारा तप करने लगा । इसके बीच में एक और कथा है, जिसका इसी से सम्बन्ध है। विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघनिबद्ध, मेघनिचय और मेघनिदान ऐसे तीन सुन्दर शहर हैं । उनका राजा था कनकरथ । कनकरथ की रानी का नाम मनोहरा था । इसके दो पुत्र हुए । एक देवदारू और दूसरा विद्युज्जिह्व । ये दोनों भाई खूबसूरत भी थे और विद्वान् भी थे । इन्हें योग्य देखकर इनका पिता कनकरथ राज्य शासन का भार बड़े पुत्र देवदारू को सौंप आप गणधर मुनिराज के पास दीक्षा लेकर योगी बन गया । सबको कल्याण के मार्ग पर लगाना ही एक मात्र अब इसका कर्त्तव्य हो गया ।

दोनों भाइयों की कुछ दिनों तक तो पटी, पर बाद में किसी कारण को लेकर बिगड़ पड़ी । उसका फल यह निकला कि छोटे भाई ने राज्य के लोभ में फँसकर और अपने बड़े भाई के विरूद्ध षडयंत्र रच उसे राज्य से निकाल दिया । देवदारू को अपने मान भंग का बड़ा दु:ख हुआ । वह वहाँ से चलकर कैलाश पर आया यहीं पर रहने भी लगा । सच है, घरेलू झगडों से कौन नष्ट नहीं हो जाता । देवदारू के आठ

कन्याएँ थीं और सब ही बड़ी सुन्दर थीं । सो एक दिन ये सब बहिनें मिलकर तालाब पर स्नान करने को आई । अपने सब कपड़े उतारकर ये नहाने को जल में घुसी । रूद्र मुनि ने इन्हें खुले शरीर देखा । देखते ही वह काम से पीड़ित होकर इन पर मोहित हो गया । उसने विद्या द्वारा उनके सब कपड़े चुरा मँगाये । कन्याएँ जब नहाकर जल बाहर हुई तब उन्होंने देखा कपड़े वहाँ नहीं; उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ । वे खड़ी-खड़ी बेचारी लज्जा के मारे सिकुड़ने लगीं और व्याकुल भी वे अत्यन्त हुई । इतने में उनकी नजर रूद्रमुनि पर पड़ी । उन्होंने मुनि के पास जाकर बड़े संकोच के साथ पूछा - प्रभो, हमारे वस्त्रों को यहाँ से कौन ले गया ? कृपाकर हमें बतलाइए । सच है, पाप के उदय से आपत्ति आ पड़ने पर लज्जा संकोच सब जाता रहता है । पापी रूद्र मुनि ने निर्लज्ज होकर उन कन्याओं से कहा- हाँ, मैं तुम्हारे वस्त्र वगैरह सब बता सकता हूँ, पर इस शर्त पर कि यदि तुम मुझे चाहने लगो । कन्याओं ने तब कहा- हम अभी अबोध ठहरीं, इसलिये हमें इस बात पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं । हमारे पिताजी यदि इस बात को स्वीकार कर लें तो फिर हमें कोई उजर नहीं रहेगा । कुल बालिकाओं का यह उत्तर देना उचित ही था । उनका उत्तर सुनकर मुनि ने उन्हें उनके वस्त्र वगैरह दे दिये । उन बालिकाओं ने घर पर आकर यह सब घटना अपने पिता से कह सुनाई । देवदारू ने तब अपने एक विश्वस्त कर्मचारी को मुनि के पास कुछ बातें समझाकर भेजा । उसने जाकर देवदारू की ओर से कहा- आपकी इच्छा देवदारू महाराज को जान पड़ी । उसके उत्तर में उन्होंने यह कहा कि हाँ मैं अपनी लड़कियों को आपको अर्पण कर सकता हूँ, पर इस शर्त पर कि 'आप विद्युज्जिह्व को मारकर मेरा राज्य पीछा मुझे दिलवा दें ।' रूद्र ने यह स्वीकार किया । सच है, कामी पुरूष कौन पाप नहीं करता । रूद्र को अपनी इच्छा के अनुकूल देख देवदारू उसे अपने घर पर लिवा लाया । और बहुत ठीक है, राज्य-भ्रष्ट राजा राज्यप्राप्ति के लिये क्या काम नहीं करता ।

इसके बाद रूद्र विजयार्द्ध पर्वत पर गया और विद्याओं की सहायता से उसने विद्युज्जिह्व को मारकर उसी समय देवदारू को राज्य सिंहासन पर बैठा दिया । राज्य प्राप्ति के बाद ही देवरारू ने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की । अपनी सब लड़कियों का ब्याह आनन्द-उत्सव के साथ उसने रूद्र से कर दिया । इसके सिवा उसने और भी बहुत सी कन्याओं को उसके साथ ब्याह दिया । रूद्र तब बहुत ही कामी हो गया । उसके इस प्रकार तीव्र कामसेवन का नतीजा यह हुआ कि सैकड़ों बेचारी राज-बालिकाएँ अकाल ही में मर गई । पर पापी तब भी सन्तुष्ट नहीं हुआ । इसने अब की बार पार्वती के साथ ब्याह किया । उसके द्वारा इसकी कुछ तृप्ति जरूर हुई ।

कामी होने के सिवा इसे अपनी विद्याओं का भी बड़ा घमंड हो गया था । इसने सब राजाओं को विद्या बल से बड़ा कष्ट दे रक्खा था, बिना ही कारण यह सब को तंग किया करता था । और सच भी है दुष्ट से किसे शान्ति मिल सकती है । इसके द्वारा बहुत तंग आकर पार्वती के पिता तथा और भी बहुत से राजाओं ने मिलकर इसे मार डालने का विचार किया । पर इसके पास था विद्याओं का बल, सो उसके सामने होने को किसी की हिम्मत न पड़ती ,और पड़ती भी तो वे कुछ कर नहीं सकते थे । तब उन्होंने इस बात का शोध लगाया कि विद्याएँ इससे किस समय अलग रहती है । इस उपाय से उन्हें सफलता प्राप्त हुई । उन्हें यह ज्ञात हो गया कि काम सेवन के समय सब विद्याएँ रूद्र से पृथक् हो जाती हैं । सो मौका देखकर पार्वती के पिता वगैरह ने खड्ग द्वारा रूद्र को सस्त्रीक मार डाला । सच है, पापियों के मित्र भी शत्रु हो जाया करते हैं ।

विद्याएँ अपने स्वामी की मृत्यु देखकर बड़ी दुखी हुईं और साथ ही उन्हें क्रोध भी अत्यन्त आया । उन्होंने तब प्रजा को दु:ख देना शुरू किया और अनेक प्रकार की बीमारियाँ प्रजा में फैला दी । उससे बेचारी गरीब प्रजा त्राह-त्राह कर उठी । इसी समय एक ज्ञानी मुनि इस ओर आ निकले । प्रजा के कुछ लोगों ने जाकर मुनि से इस उपद्रव का कारण और उपाय पूछा । मुनि ने सब कथा कह कर कहा - जिस अवस्था में रूद्र मारा गया है, उसकी एक बार स्थापना करके उससे क्षमा कराओ । वैसा ही किया गया । प्रजा का उपद्रव शान्त हुआ, पर तब भी लोगों की मूर्खता देखो जो एक बार कोई काम किसी कारण को लेकर किया गया सो उसे अब तक भी गडरिया प्रवाह की तरह करते चले आते है और देवता के रूप में उसकी सेवा-पूजा करते हैं । पर यह ठीक नहीं । सच्चा देव वही हो सकता है जिसमें राग, द्वेष नहीं, जो सबका जानने और देखने वाला है और जिसे स्वर्ग के देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, राजा, महाराजा आदि सभी बड़े-बड़े लोग मस्तक झुकाते है और ऐसे देव एक अर्हन्त भगवान् ही हैं ।

वे जिन भगवान् मुझे शान्ति दें, जो अनन्त उत्तम-उत्तम गुणों के धारक हैं, सब सुखों के देने वाले हैं, दु:ख शोक, सन्ताप के नाश करने वाले हैं, केवलज्ञान के रूप में जो संसार का आताप हर कर उसे शीतलता देने वाले चन्द्रमा हैं और तीनों लोकों के स्वामियों द्वारा जो भक्तिपूर्वक पूजे जाते है ।

लौकिक ब्रह्मा की कथा

लौकिक ब्रह्मा की कथा

कथा :

संसार के द्वारा पूजे गये भगवान् आदि ब्रह्मा (आदिनाथ स्वामी) को नमस्कार कर, देवपुत्र ब्रह्मा की कथा लिखी जाती है ।

कुछ असमझ लोग ऐसा कहते है कि एक दिन ब्रह्माजी के मन में आया कि मैं इन्द्रादिकों का पद छीनकर सर्वश्रेष्ठ हो जाऊँ, और इसलिये उन्होंने एक भयंकर वन में हाथ ऊँचा किये बड़ी घोर तपस्या की । वे कोई साढ़े चार हजार वर्ष पर्यन्त (यह वर्ष संख्या देवों के वर्ष के हिसाब से है, जो कि मनुष्यों के वर्षो से कई गुणी होती है ।) एक ही पाँव से खड़े रहकर तप करते रहे और केवल वायु का आहार करते रहे । ब्रह्माजी की यह कठिन तपस्या निष्फल न गई । इन्द्रादिकों का आसन हिल गया । उन्हें अपने राज्य नष्ट होने का बड़ा भय हुआ । तब उन्होंने ब्रह्माजी को तप भ्रष्ट करने के लिये स्वर्ग की एक तिलोत्तमा नाम की वेश्या को, जो कि गन्धर्व देवों के समान गाने और बड़ी सुन्दर नाचने वाली थी, भेजा । तिलोत्तमा उनके पास आई और अनेक प्रकार के हाव-भाव-विलास बतला-बतलाकर नाचने लगी । तिलोत्तमा का नृत्य, तिलोत्तमा की भुवन मनोहारिणी रूपराशि और उसका हाव-भाव-विलास देखकर ब्रह्माजी तप से डगमगे । उन्होंने हजारों वर्षो को तपस्या को एक क्षणभर में नष्ट कर अपने को काम के हाथ सौंप दिया । वे आँखे फाड़-फाड़कर तिलोत्तमा की रूपराशि को बड़े चाव से देखने लगे । तिलोत्तमा ने जब देखा कि हाँ योगिराज अब अपने आप में नहीं हैं और आँखे फाड़-फाड़कर मेरी ही ओर देख रहे हैं, तब उनकी इच्छा को और जागृत करने के लिये वह उनकी बायीं ओर आकर नाचने लगी । ब्रह्माजी ने तब अपनी हजारों वर्षो की तपस्या के प्रभाव से अपना दूसरा मुँह बाँयी ओर बना लिया । तिलोत्तमा जब उनकी पीठ पीछे आकर नाचने लगी । ब्रह्माजी ने तब तीसरा मुँह पीछे की ओर बना लिया । तिलोत्तमा फिर उनकी दाहिनी ओर जाकर नाचने लगी,ब्रह्माजी ने उस ओर भी मुँह बना लिया । अन्त में तिलोत्तमा आकाश में जाकर नाचने लगी । तब ब्रह्माजी ने अपना पाँचवा मुँह गधे के मुख के आकार का बनाया । कारण अब उनकी तपस्या का, फल बहुत थोड़ा बच रहा था । मतलब यह कि तिलोत्तमा ने जिस प्रकार ब्रह्माजी को नचाया वे उसी प्रकार नाचे । इस प्रकार उन्हें तप से भ्रष्ट कर और उनके हृदय में काम की आग धधकाकर चालाक तिलोत्तमा अछूती की अछूती स्वर्ग को चली गई और बेचारे ब्रह्माजी काम के तीव्र वेग से मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर आ गिरे । तिलोत्तमा ने सब हाल इन्द्र से कहकर कहा- प्रभो, अब आप अनन्त काल तक सुख से रहें । मैं ब्रह्माजी की खूब ही गति बना आई हूँ । तब इन्द्र ने बहुत खुश होकर उससे पूछा- हाँ तिलोत्तमा, तू ब्रह्माजी के पास ठहरी नहीं ? तिलोत्तमा बोली- वाह ! प्रभो, भली उस बूढ़े की और मेरी आपने जोड़ी मिलाई ! मैं तो कभी उसके पास खड़ी तक नहीं रह सकती । यह सुन इन्द्र को ब्रह्माजी की हालत पर बड़ी दया आई । उसने फिर दया के वश होकर ब्रह्माजी की शान्ति के लिये उर्वशी नाम की एक दूसरी सुन्दर वेश्या को उनके पास भेजा । इन्द्र की आज्ञा सिर पर चढ़ाकर उर्वशी ब्रह्माजी के पास आई । उनके पाँवों को छूकर उन्हें उसने सचेत किया । ब्रह्माजी पाँव तले एक स्वर्गीय सुन्दर को बैठी देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्हें मानो आज उनकी कड़ी तपस्या का फल मिल गया । ब्रह्माजी अब घर बनाकर उर्वशी के साथ रहने लगे और मनमाने भोग भोगने लगे; तब से वे लौकिक ब्रह्मा कहलाने लगे । बड़े दु:ख की बात है कि असमझ लोग देव या देव के सच्चे स्वरूप को जानते नहीं और जैसा अपनी इच्छा में आता है उन्मत्त की तरह झूठा ही कह दिया करते हैं । क्या कोई हठ करके इन्द्रादिकों का पद छीन सकता है ? और जो ब्रह्मा तीन लोक का स्वामी देव कहा जाता है वह क्या ऐसा नीच कर्म करेगा ? समझदारों को ये बातें झूठी समझना चाहिए । और जिसमें ऐसी बातें हैं वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता । जैन शास्त्रों में ब्रह्मा उसे कहा है, जो मोक्षमार्ग का बताने वाला, सच्चे ज्ञान और सच्चे चारित्र की प्राप्ति कराने वाला और आत्मा को निजस्वरूप में स्थिर करने वाला है । वह अर्हन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु इन अवस्थाओं से पाँच प्रकार का है । इनके सिवा संसार में और कोई ब्रह्मा नहीं है । क्योंकि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषों से युक्त कभी ब्रह्मा-देव हो ही नहीं सकता । किन्तु जो इन रागादि दोषों से रहित हैं, लोक और अलोक के जानने वाले हैं और केवल ज्ञान रूपी नेत्र से युक्त हैं वे ही ऋषभ भगवान् मेरे सच्चे ब्रह्मा हैं ।

वे परम पवित्र आदिनाथ जिनेन्द्र मुझे संसार के दु:खों से छुटाकर शांति प्रदान करें, जो भव्यजनरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूरज के समान हैं, संसार-समुद्र से पार करने वाले हैं, गुणों के समुद्र हैं, स्वर्ग और मोक्ष का पवित्र सुख देने वाले हैं, इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं और केवलज्ञान द्वारा सारे संसार के जानने और देखने वाले हैं ।

परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा

परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा

कथा :

धन, धान्य, दास, दासी, सोना, चाँदी आदि जो संसार के जीवों को तृष्णा के जाल में फँसाकर कष्ट पर कष्ट देने वाले हैं, ऐसे परिग्रह से माया, ममता छोड़ने वाले जो साधु-सन्त हैं, उनसे भी जो ऊँचे हैं, जिनके त्याग से आगे त्याग की कोई सीमा नहीं, ऐसे सर्वश्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा लिखी जाती है ।

दशार्ण देश में बहुत सुन्दर एकरथ नाम का एक शहर था । उस में धनदत्त नाम का सेठ रहता था । इसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था । इसके धनदेव और धनमित्र ऐसे दो पुत्र और धनमित्रा नाम की एक सुन्दर लड़की थी ।

धनदत्त की मृत्यु के बाद इन दोनों भाइयों के कोई ऐसा पाप कर्म का उदय आया, जिससे इनका सब धन नष्ट हो गया, ये महा दरिद्र बन गये । 'कुछ सहायता मिलेगी' इस आशा से ये दोनों भाई अपने मामा के यहाँ कौशाम्बी गये और इन्होंने बड़े दु:ख के साथ पिता की मृत्यु का हाल मामा को सुनाया । मामा भी इनकी हालत देखकर बड़ा दु:खी हुआ । उसने अनेक प्रकार समझा-बुझाकर इन्हें धीरज दिया और साथ ही आठ कीमती रत्न दिये, जिससे कि ये अपना संसार चला सकें । सच है, यही बन्धुपना है, यही दयालुपना है और यही गम्भीरता है जो अपने धन द्वारा याचकों की आशा पूरी की जाय ।

दोनों भाई उन रत्नों को लेकर पीछे अपने घर की ओर रवाना हुए । रास्ते में आते-आते इन दोनों की नीयत उन रत्नों के लोभ से बिगड़ी । दोनों ही के मन में परस्पर के मार डालने की इच्छा हुई । इतने में गाँव पास आ जाने से इन्हें सुबुद्धि सूझ गई । दोनों ने अपने-अपने नीच विचारों पर बड़ा ही पश्चात्ताप किया और परस्पर में अपना विचार प्रगट कर मन का मैल निकाल डाला । ऐसे पाप विचारों के मूल कारण इन्हें वे रत्न ही जान पड़े । इसीलिए उन रत्नों को वेत्रवती नदी में फैंककर ये अपने घर पर चले आये । उन रत्नों को मांस समझकर एक मछली निगल गई । यही मछली एक धीवर के जाल में आ फँसी । धीवर ने मछली को मारा । उसमें से वे रत्न निकले । धीवर ने उन्हें बाजार में बेच दिया । धीरे-धीरे कर्मयोग से वे ही रत्न इन दोनों भाईयों की माँ के हाथ पड़े । माता ने उनके लोभ से अपने लड़के-लड़की को ही मार डालना चाहा । परन्तु तत्काल सुबुद्धि उपज जाने से उसने बहुत पश्चात्ताप किया और रत्नों को अपनी लड़की को दे दिये । धनमित्रा की भी यही दशा हुई । उसकी भी लोभ के मारे नीयत बिगड़ गई । उसने माता, भाई आदि की जान लेनी चाही । सच है, संसार में सबसे बड़ा भारी पाप का मूल लोभ है । अन्त में धनमित्रा को भी अपने विचार पर बड़ी घृणा हुई और उसने फिर उन रत्नों को अपने भाइयों के हाथ दे दिया । वे उन्हें पहिचान गये । उन्हें रत्नों के प्राप्त होने का हाल जान कर बड़ा ही वैराग्य हुआ । उसी समय वे संसार की सब माया-ममता छोडकर, जो कि महा दु:ख का कारण है, दमधर मुनि के पास दीक्षा ले गये । इन्हें साधु हुए देखकर इनकी माता और बहिन भी आर्यिका हो गई । आगे चलकर वे दोनों भाई बड़े तपस्वी महात्मा हुए । अपना और दूसरों का संसार के दु:खों से उद्धार करना ही एक मात्र इनका कर्त्तव्य हो गया । स्वर्ग के देवता और प्राय: सब ही बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनकी सेवा पूजा करने को आने लगे । यह लोभ संसार के दु:खों का मूल कारण और अनेक कष्टों को देनेवाला है, माता, पिता, भाई बहिन, बन्धु, बान्धव आदि के परस्पर में ठगने और बुरे विचारों के उत्पन्न करने का घर है । समझदारों को, जो कि अपना हित करने की इच्छा करते हैं, चाहिए कि वे इस पाप के बाप लोभ को मनसा, वाचा, कर्मणा छोड़कर संसार का हित करने वाले और स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख देने वाले जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये परम पवित्र धर्म में अपने मन को दृढ़ करने का यत्न करें ।

धन से डरे हुए सागरदत्त की कथा

धन से डरे हुए सागरदत्त की कथा

कथा :

केवल ज्ञान रूपी उज्ज्वल नेत्र द्वारा तीनों को देखने और जानने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन के लोभ से डरकर मुनि हो जाने वाले सागरदत्त की कथा लिखी जाती है ।

किसी समय धनमित्र, धनदत्त आदि बहुत से सेठों के पुत्र व्यापार के लिए कौशाम्बी से चलकर राजगृह की ओर रवाना हुए । रास्ते में एक गहन वनी में चोरों ने इन्हें लूट-लिया । इनका सब माल-असबाब छीन-छानकर वे चलते हुए । सच है, जिनके पल्ले में कुछ पुण्य नहीं होता

वे कोई भी काम करें, उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ता है ।

उधर धन पाकर चोरों की नियत बिगड़ी । सब परस्पर में यह चाहने लगे कि धन मेरे ही हाथ पड़े और किसी को कुछ न मिले । और इसी लालसा से एक-एक के विरूद्ध जान लेने की कोशिश करने लगे । रात को जब वे सब खाने को बैठे तो किसी ने भोजन में विष मिला दिया और उसे खाकर सबके सब परलोक सिधार गये । यहाँ तक कि जिसने विष मिलाया था, वह भी भ्रम से उसे खाकर मर गया । उनमें एक सागरदत्त नामक वैश्यपुत्र बच गया । वह इसलिये कि उसे रात्रि में न खाने-पीने की प्रतिज्ञा थी । धन के लोभ में फँसने से एक साथ सबको मरा देखकर सागरदत्त को बड़ा वैराग्य हुआ । वह उस सब धन को वही छोड़-छाड़कर चल दिया और एक साधु के पास जाकर आप मुनि बन गया ।

रात्रिभुक्तत्यागव्रती सागरदत्त ने संसार की सब लीलाओं को दु:ख का कारण और जीवन को बिजली की तरह पलभर में नाश होने वाला समझ सब धन वहीं पर पड़ा छोड़कर आप एक ऊँचे आचरण का धारक साधु हो गया । वह सागरदत्त मुनि आप सज्जनों का कल्याण करें ।

धन के लोभ से भ्रम में पड़े कुबेरदत्त की कथा

धन के लोभ से भ्रम में पड़े कुबेरदत्त की कथा

कथा :

जिनेन्द्र भगवान् को, जो सारे संसार द्वारा पूज्य हैं, और सबसे उत्तम गिनी जाने वाली जिनवाणी को तथा गुरूओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर परिग्रह के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ।

मणिवत देश में मणिवत ही नाम का एक शहर था । उसके राजा का नाम भी मणिवत था । मणिवत की रानी पृथिवीमति थी । इसके मणिचन्द्र नाम का एक पुत्र था । मणिवत विद्वान्, बुद्धिमान् और अच्छा शूरवीर था । राजकाज में उसकी बहुत अच्छी गति थी । राजा पुण्योदय से राजकाज योग्यता के साथ चलाते हुए सुख से अपना समय बिताते थे । धर्म पर उनकी पूरी श्रद्धा थी । वे सुपात्रों को प्रतिदिन दान देते, भगवान की पूजा करते और दूसरों की भलाई करने में भरसक यत्न करते । एक दिन रानी पृथिवीमति महाराज के बालों को सँवार रही थीं कि उनकी नजर एक सफेद बाल पर पड़ी । रानी ने उसे निकालकर राजा के हाथ में रख दिया । राजा उस सफेद बाल को काल का भेजा दूत समझ कर संसार और विषयभोगों से बड़े विरक्त हो गये । उन्होंने अपने मणिचन्द्र पुत्र को राज्य का सब कारोबार सौंप दिया और आप भगवान् की पूजा, अभिषेक कर तथा याचकों को दान दे जंगल की ओर रवाना हो गये और दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे । वे अब दिनों दिन आत्मा को पवित्र बनाते हुए परमात्मा–स्मरण में लीन रहने लगे ।

मणिवत मुनि नाना देशों में धर्मोपदेश करते हुए एक दिन उज्जैन के बाहर मसान में आये । रात के समय वे मृतक शय्या द्वारा ध्यान करते हुए शान्ति के लिए परमात्मा का स्मरण-चिन्तन कर रहे थे । इतने में वहाँ एक कापालिक बैताली विद्या साधन के लिए आया । उसे चूल्हा बनाने के लिए तीन मुर्दों की जरूरत पड़ी । सो एक तो उसने मुनि को समझ लिया और दो मुर्दों को वह और घींस लाया । उन तीनों के सिर का चूल्हा बनाकर उस पर उसने एक नर-कपाल रक्खा और आग सुलगाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा । तब एकदम मुनि का हाथ ऊपर की ओर उठ जाने से सिर पर का कपाल गिर पड़ा । कापालिक उस से डरकर भाग खड़ा हुआ । मुनिराज मेरू समान वैसे के वैसे ही अचल बने रहे । सबेरा होने पर किसी आते-जाते मनुष्य ने मुनि की यह दशा देख जिनदत्त को यह सब हाल कह सुनाया । जिनदत्त उसी समय दौड़ा-दौड़ा मसान में गया । मुनि की दशा देखकर उसे बेहद दु:ख हुआ । मुनि को अपने घर पर लाकर उसने एक प्रसिद्ध वैद्य से उनके इलाज के लिए पूछा । वैद्य महाशय ने कहा- सोमशर्मा भट्ट के यहाँ लक्षपाक नाम का बहुत ही उम्दा तैल है उसे लाकर लगाओ । उससे बहुत जल्दी आराम होगा, आग का जला उससे फौरन आराम होता है । सेठ सोमशर्मा के घर दौड़ा हुआ गया । घर पर भट्ट महाशय नहीं थे, इसलिए उसने उनकी तुंकारी नाम की स्त्री से तैल के लिए प्रार्थना की । तैल के कई घड़े उसके यहाँ भरे रक्खे थे । तुंकारी ने उनमें से एक घड़ा ले जाने को जिनदत्त से कहा । भाग्य से सीढ़ियाँ उतरते समय पाँव फिसल जाने से घड़ा उसके हाथों से छूट पड़ा । घड़ा फूट गया और तेल सब रेलम-ठेल हो गया । जिनदत्त को इसमें बहुत भय हुआ । उसने डरते-डरते घड़े के फूट जाने का हाल तुंकारी से कहा । तब तुंकारी ने दूसरा घड़ा ले आने को कहा । उसे पहले घड़े के फूट जाने का कुछ भी ख्याल नहीं हुआ । सच है, सज्जनों का हृदय समुद्र से भी कहीं अधिक गम्भीर हुआ करता है । जिनदत्त दूसरा घड़ा लेकर आ रहा था । अब की बार तैल से चिकनी जगह पर पाँव पड़ जाने

से फिर भी वह फिसल गया और घड़ा फूटकर उसका सब तैल वह गया । इसी तरह तीसरा घड़ा भी फूट गया । अब तो जिनदत्त के देवता कूँच कर गये । भय के मारे वह थर-थर काँपने लगा । उसकी यह दशा देखकर तुंकारी ने उससे कहा कि घबराने और डरने की कोई बात नहीं । तुमने कोई जानकर थोड़े ही फोड़े हैं । तुम किसी तरह की चिन्ता-फिकर मत करो । जब तक तुम्हें जरूरत पड़े तुम प्रसन्नता के साथ तैल ले जाया करो । देने से मुझे कोई उजर न होगा । कोई कैसा ही सहनशील क्यों न हो, पर ऐसे मौके पर उसे भी गुस्सा आये बिना नहीं रहता । फिर इस स्त्री में इतनी क्षमा कहाँ से आई ? इसका जिनदत्त को बड़ा आश्चर्य हुआ । जिनदत्त ने तुंकारी से पूछा भी, कि माँ, मैंने तुम्हारा इतना भारी अपराध किया उस पर भी तुमको रत्ती भर क्रोध नहीं आया, इसका कारण क्या है ? तुंकारी ने कहा- भाई, क्रोध करने का फल जैसा चाहिए वैसा मैं भुगत चुकी हूँ ।

भाई, क्रोध के नाम से ही मेरा जी काँप उठता है । यह सुनकर जिनदत्त का कौतुक और बढ़ा , तब उसने पूछा यह कैसे ? तुंकारी कहने लगी - "चन्दनपुर में शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है । वह धनवान् और राजा का आदरपात्र है । उसकी स्त्री का नाम कमलश्री है । उसके कोई आठ तो पुत्र और एक लड़की है । लड़की का नाम भट्टा है और वह मैं ही हूँ । मैं थी बड़ी सुन्दरी, पर मुझमें एक बड़ा दुर्गुण था । वह यह कि मैं अत्यन्त मानिनी थी । मैं बोलने में बड़ी ही तेज थी और इसीलिए मेरे भय का सिक्का लोगों के मन पर ऐसा जमा हुआ था कि किसी की हिम्मत मुझे ''तू'' कहकर पुकारने की नहीं होती थी । मुझे ऐसी अभिमानी देखकर मेरे पिता ने एक बार शहर में डोंड़ी पिटवा दी कि मेरी बेटी को कोई ' तू ' कहकर न पुकारे । क्योंकि जहाँ मुझसे किसी ने 'तू' कहा कि मैं उससे लड़ने-झगड़ने को तैयार ही रहा करती थी और फिर जहाँ तक मुझमें शक्ति जोर होता मैं उसकी हजारों पीढ़ियों को एक पलभर में अपने सामने ला खड़ा करती और पिताजी इस लड़ाई-झगड़े से सौ हाथ दूर भागने की कोशिश करते । जो हो, खोटे भाग्य से उनका डौंडी़ पिटवाना मेरे लिए बहुत ही बुरा हआ । उस दिन से मेरा नाम ही 'तुकारी' पड़ गया और सब ही मुझे इस नाम से पुकार-पुकार कर चिढ़ा ने लगे । सच है, अधिक मान भी कभी अच्छा नहीं होता । और इसी चिड़ के मारे मुझसे कोई ब्याह करने तक के लिए तैयार न होता था । मेरे भाग्य से इन सोमशर्मा जी ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि मैं कभी इसे 'तू' कहकर न पुकारूँगा । तब इनके साथ मेरा ब्याह हो गया । मैं बड़े उत्साह के साथ उज्जैन में लाई गई । सच कहूँगी कि इस घर में आकर मैं बड़े सुख से रही । भगवान् की कृपा से घर सब तरह हरा भरा है । धन सम्पत्ति भी मनमानी है । पर 'पड़ा स्वभाव जाय जीव से' इस कहावत के अनुसार मेरा स्वभाव भी सहज में थोड़े ही मिट जाने वाला था । सो एक दिन की बात है कि मेरे स्वामी नाटक देखने गये । नाटक देखकर आते हुए उन्हें बहुत देर लग गई । उनकी इस देरी पर मुझे अत्यन्त गुस्सा आया । मैनें निश्चय कर लिया कि आज जो कुछ हो, मैं कभी दरवाजा नहीं खोलूँगी और मैं सो गई । थोड़ी देर बाद वे आये और दरवाजे पर खड़े रहकर वे बार-बार मुझे पुकारने लगे । मैं चुप्पी साधे पड़ी रही, पर मैंने किवाड़ न खोले । बाहर से चिल्लाते-चिल्लाते वे थक गये, पर उसका मुझ पर कुछ असर न हुआ । आखिर उन्हें भी बड़ा क्रोध हो आया । क्रोध में आकर वे अपनी प्रतिज्ञा तक भूल बैठे । सो उन्होंने मुझे 'तू' कहकर पुकार लिया । बस, उनका 'तू' कहना था कि मैं सिर से पाँव तक जल उठी और क्रोध से अन्धी बनकर किवाड़ खोलती हुई घर से निकल भागी । मुझे उस समय कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रहीं हूँ । मैं शहर बाहर होकर जंगल की ओर चल धरी । रास्ते में चोरों ने मुझे देख लिया । उन्होंने मेरे सब गहने-दागीने और वस्त्र छीन-छीनकर विजयसेन नाम के एक भील को सौंप दिया । मुझे खूबसूरत देखकर इस पापी ने मेरा धर्म बिगाड़ना चाहा, पर उस समय मेरे भाग्य से किसी दिव्य स्त्री ने आकर, मुझे बचाया, मेरे धर्म की रक्षा की । भील ने उस दिव्य स्त्री से डरकर मुझे एक सेठ के हाथ सौंप दिया । उसकी नीयत भी मुझ पर बिगड़ी । मैंने उसे खूब ही आड़े हाथों लिया । इससे वह मेरा कर तो कुछ न सका, पर गुस्से में आकर उस नीच ने मुझे एक ऐसे मनुष्य के हाथ सौंप दिया जो जीवों के खून से रँगकर कम्बल बनाया करता था । वह मेरे शरीर पर जौंके लगा-लगाकर मेरा रोज-रोज बहुत सा खून निकाल लेता था और उसमें फिर कम्बल को रंगा करता था । सच है, एक तो वैसे ही पाप कर्म का उदय और उस पर ऐसा क्रोध, तब उससे मुझ सरीखी हत-भागिनियों को यदि पद-पद पर कष्ट उठाना पड़े तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

इसी समय उज्जैन के राजा ने मेरे भाई को यहाँ के राजा पारस के पास किसी कार्य के लिये भेजा । मेरा भाई अपना काम पूरा कर पीछा उज्जैन की ओर जा रहा था कि अचानक मेरी उसकी भेंट हो गई । मैंने अपने कर्मों पर बड़ा पश्चात्ताप किया । जब मैंने अपना सब हाल उससे कहा तो उसे भी बहुत दु:ख हुआ । उसने मुझे धीरज दिया । इसके बाद वह उसी समय राजा के पास गया और सब हाल उससे कहकर उस कम्बल बनाने वाले पापी से उसने मेरा पंजा छुड़ाया । वहाँ से लाकर बड़ी आरजू-मिन्नत के साथ उसने फिर मुझे अपने स्वामी

के घर ला रक्खा । सच है, सच्चे बन्धु वे ही है जो कष्ट के समय काम आवें । यह तो तुम्हें मालूम ही है कि मेरे शरीर का प्राय: खून निकल चुका था । इसी कारण घर पर आते ही मुझे लकवा मार गया । तब वैद्य ने यह लक्षपाक तैल बनाकर मुझे जिलाया । इसके बाद मैंने एक वीतरागी साधु द्वारा धर्मोपदेश सुनकर सर्वश्रेष्ठ और सुख देने वाला सम्यक्त्व व्रत ग्रहण किया और साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आज से मैं किसी पर क्रोध नहीं करूँगी । यही कारण है कि मैं अब किसी पर क्रोध नहीं करती ।'' अब आप जाइए और इस तैल द्वारा मुनिराज की सेवा कीजिए । अधिक देरी करना उचित नहीं है ।

जिनदत्त भट्टा को नमस्कार कर घर गया और तैल की मालिस वगैरह से बड़ी सावधानी के साथ मुनि की सेवा करने लगा । कुछ दिन तक बराबर मालिस करते रहने से मुनि को आराम हो गया । सेठ ने भी अपनी इस सेवा-भक्ति द्वारा बहुत पुण्य बन्ध किया । चौमासा आ गया था इसलिए मुनिराज ने कहीं अन्यत्र जाना ठीक न समझ यहीं जिनदत्त सेठ के जिन मंदिर में वर्षायोग ले लिया और यहीं वे रहने लगे।

जिनदत्त का एक लड़का था, नाम इसका कुबेरदत्त था । इसका चाल-चलन अच्छा न देखकर जिनदत्त ने इसके डर से कीमती रत्नों का भरा अपना एक घड़ा जहाँ मुनि सोया करते थे वहाँ खोद कर गाड़ दिया । जिनदत्त ने यह कार्य किया तो था बड़ी दुपका-चोरी से, पर कुबेरदत्त को इसका पता पड़ गया । उसने अपने पिता का सब कर्म देख लिया और मौका पाकर वहाँ से घड़े को निकाल मंदिर के आंगन में दूसरी जगह गाड़ दिया । कुबेरदत्त को ऐसा करते मुनि ने देख लिया था, परन्तु तब भी वे चुपचाप रहे और उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा । और कहते भी कहाँ से जब कि उनका यह मार्ग ही नहीं है ।

जब योग पूरा हुआ तब मुनिराज जिनदत्त को सुख-साता पूछकर वहाँ से विहार कर गये । शहर बाहर जाकर वे ध्यान करने बैठे । इधर मुनिराज के चले जाने के बाद सेठ ने वह रत्नों का घड़ा घर ले जाने के लिए जमीन खोद कर देखा तो वहाँ घड़ा नहीं । घड़े के एकाएक गायब हो जाने का उसे बड़ा अचंभा हुआ और साथ ही उसका मन व्याकुल भी हुआ । उसने सोचा कि घड़े का हाल केवल मुनि ही जानते थे, फिर बड़े अचंभे की बात है कि उनके रहते यहाँ से घड़ा गायब हो जाय ? उसे घड़ा गायब करने का मुनि पर कुछ सन्देह हुआ । तब वह मुनि के पास गया और उनसे उसने प्रार्थना की कि प्रभो, आप पर मेरा बड़ा ही प्रेम है, आप जब से चले गये है तबसे मुझे सुहाता ही नहीं, इसलिए चलकर आप कुछ दिनों तक और वहीं ठहरें तो बड़ी कृपा हो । इस प्रकार मायाचारी से जिनदत्त मुनिराज को अपने मंदिर पर लौटा लाया । इसके बाद उसने कहा, स्वामी, कोई ऐसी धर्म-कथा सुनाइए, जिसमें मनोरंजन हो । तब मुनि बोले- हम तो रोज ही सुनाया करते है, आज तुम ही कोई ऐसी कथा कहो । तुम्हें इतने दिन शास्त्र पढ़ते हो गये, देखे तुम्हें उनका सार कैसा याद रहता हैं ? तब जिनदत्त अपने भीतर कपट-भावों को प्रकट करने के लिये एक ऐसी ही कथा सुनाने लगा । वह बोला-

''एक दिन पद्मरथपुर के राजा वसुपाल ने अयोध्या के महाराज जितशत्रु के पास किसी काम के लिए अपना एक दूत भेजा । एक तो गर्मी का समय और ऊपर से चलने की थकावट सो इसे बड़े जोर की प्यास लग आई । पानी इसे कहीं नहीं मिला । आते-आते यह एक घनी बनी में आकर वृक्ष के नीचे गिर पड़ा । इसके प्राण कण्ठगत हो गये । इसकी यह दशा देखकर एक बन्दर दौड़ा-दौड़ा तालाब पर गया और उसमें डूबकर यह उस वृक्ष के नीचे पड़े पथिक के पास आया । आते ही इसने अपने शरीर को उस पर झिड़का दिया । जब जल उस पर गिरा और उसकी आँखे खुली तब बन्दर आगे होकर उसे इशारे से तालाब के पास ले गया । जल पीकर इसे बहुत शान्ति मिली । अब इसे आगे के लिए जल की चिन्ता हुई । पर इसके पास कोई बरतन बगैरह न होने से यह जल ले जा नहीं सकता था । तब इसे एक युक्ति सूझी । इसने उस बेचारे जीवनदान देने वाले बन्दर को बन्दूक से मारकर उसके चमड़े की थैली बनाई और उसमें पानी भरकर चल दिया ।'' अच्छा प्रभो, अब आप बतलाइए कि उस नीच, निर्दयी, अधर्मी को अपने उपकारी बन्दर को मार डालना क्या उचित था ? मुनि बोले- तुम ठीक कहते हो । उस दूत का यह अत्यन्त कृतघ्नता भरा नीच काम था । इसके बाद अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए मुनिराज ने भी एक कथा कहना आरम्भ की । वे कहने लगे- ''कौशाम्बी में किसी समय एक शिवशर्मा ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री का नाम कपिला था । इसके कोई लड़का नहीं था । एक दिन शिवशर्मा किसी दूसरे गाँव से अपने शहर की ओर लौट रहा था । रास्ते में एक जंगल में उसने एक नेवला के बच्चे को देखा । शिवशर्मा ने उसे घर उठा लाकर अपनी प्रिया से कहा-ब्राह्मणीजी आज मैं तुम्हारे लिए एक लड़का लाया हूँ । यह कहकर उसने नेवले को कपिला की गोद में रख दिया । सच है, मोह में अन्धे हुए मनुष्य क्या नहीं करते ? ब्राह्माणी ने उसे ले लिया और पाल-पोस कर उसे कुछ सिखा-विखा भी दिया । नेवले में जितना ज्ञान और जितनी शक्ति थी वह उसके अनुसार ब्राह्मणी का बताया कुछ काम भी कर दिया करता था ।

भाग्य से अब ब्राह्मणी के भी एक पुत्र हो गया । सो एक दिन ब्राह्मणी बच्चे को पालने में सुलाकर आप धान को खाँड़ने चली गई और जाते समय पुत्र रक्षा का भार यह नेवले को सौंपती गई । इतने में एक सर्प ने आकर उस बच्चे को काट लिया । बच्चा मर गया । क्रोध में आकर नेवले ने सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर डाले । उसके बाद वह खून भरे मुँह से ही कपिला के पास गया । कपिला उसे खून से लथ-पथ भरा देखकर काँप गई । उसने समझा कि इसने मेरे बच्चे को खा लिया । उसे अत्यन्त क्रोध आया । क्रोध के वेग में उसने न कुछ सोचा-विचारा और न जाकर देखा ही कि असल में बात क्या है, किन्तु एक साथ ही पास में पड़े हुए मूसले को उठा कर नेवले पर दे मारा । नेवला तड़फड़ा कर मर गया । अब वह दौड़ी हुई बच्चे के पास गई । देखती है तो वहाँ एक काला भुजंग सर्प मरा हुआ पड़ा है । फिर उसे बहुत पछतावा हुआ । ऐसे मूर्खों को धिक्कार है जो बिना विचारे जल्दी में आकर हर एक काम कर बैठते हैं ।'' अच्छा सेठ महाशय, कहिए तो सर्प के अपराध पर बेचारे नेवले को इस प्रकार निर्दयता से मार देना ब्राह्मणी को योग्य था क्या ? जिनदत्त कहा- नहीं ! यह उसकी बड़ी गलती हुई । यह कहकर उसने फिर एक कथा कहना आरम्भ की-

''बनारस के राजा जितशत्रु के यहाँ धनदत्त राज्यवैद्य था । इसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था । वैद्य महाशय के धनमित्र और धनचन्द्र नाम के दो लड़के थे । लाड़-प्यार में रहकर इन्होंने अपनी कुलविद्या भी न पढ़ पाई । कुछ दिनों बाद वैद्यराज काल कर गये । राजा ने इन दोनों भाइयों को मूर्ख देख इनके पिता की जीविका पर किसी दूसरे को नियुक्त कर दिया । तब इनकी बुद्धि ठिकाने आई । ये दोनों भाई अब वैद्यशास्त्र पढ़ने की इच्छा से चम्पापुरी में शिवभूति वैद्य के पास गये । इन्होनें वैद्य से अपनी सब हालत कहकर उनसे वैद्यक पढ़ने की इच्छा जाहिर की । शिवभूति बड़ा दयावन् और परोपकारी था, इसलिए उसने इन दोनों भाइयों को अपने ही पास रखकर पढ़ाया । और कुछ ही वर्षों में इन्हें अच्छा होशियार कर दिया । दोनों भाई गुरू महाशय के अत्यन्त कृतज्ञ होकर पीछे बनारस को ओर रवाना हुए । रास्ते में आते हुए इन्होंने जंगल में आँख की पीड़ा से दुखी एक सिंह को देखा । धनचन्द्र को उस पर दया आई । अपने बड़े भाई के बहुत कुछ मना करने पर भी धनचन्द्र ने सिंह की आँखों का इलाज किया । उससे सिंह को आराम हो गया । आँख खोलते ही उसने धनचन्द्र को अपने पास खड़ा पाया । वह अपने जन्म स्वभाव को न छोड़कर क्रूरता के साथ उसे खा गया ।'' मुनिराज उस दुष्ट सिंह का बेचारे वैद्य को खा जाना क्या अच्छा काम हुआ ? मुनि ने 'नहीं' कहकर एक और कथा कहना शुरू की ।

''चम्पापुरी में सोमशर्मा ब्राह्मण की दो स्त्रियाँ थीं । एक का नाम सोमिल्या और दूसरी का सोमशर्मा था । सोमिल्या बाँझ थी और सोमशर्मा के एक लड़का था । यहीं एक बैल रहता था । लोग उसे 'भद्र' नाम से बुलाया करते थे । बेचारा बड़ा सीधा था । कभी किसी को मारता नहीं था । वह सबके घर पर घूमा-फिरा करता था । उसे इस तरह जहाँ थोड़ी बहुत घास खाने को मिलती वह उसे ही खाकर रह जाता था । एक दिन उस बाँझ पापिनी ने डाह के मारे अपनी सौत के बच्चे को निर्दयता से मार कर उसका अपराध बेचारे बैल पर लगा दिया । उसे ब्राह्मण बालक का मारने वाला समझ कर सब लोगों ने घास खिलाना छोड़ दिया और शहर से निकाल बाहर कर दिया । बेचारा भूख-प्यास के मारे बड़ा दु:ख पाने लगा । बहुत ही दुबला पतला हो गया । पर तब भी किसी ने उसे शहर भीतर नहीं घुसने दिया । एक दिन जिनदत्त सेठ की स्त्री पर व्यभिचार का अपराध लगा । वह अपनी निर्दोषता बतलाने के लिए चौराहे पर जाकर खड़ी हुई, जहाँ बहुत से मनुष्य इकट्ठे हो रहे थे । उसने कोई भयंकर दिव्य लेने के इरादे से एक लोहे के टुकड़े को अग्नि में खूब तपाकर लाल सुर्ख किया । इस मौके को अपने लिए बहुत अच्छा समझ उस बैल ने झट वहाँ पहुँच कर जलते हुए उस लोहे के टुकड़े को मुँह से उठा लिया । उसकी यह भंयकर दिव्य देखकर सब लोगों ने उसे निर्दोष समझ लिया ।'' अच्छा सेठ महाशय, बतलाइये तो क्या उन मूर्ख लोगों को बिना समझे-बूझे एक निरपराध पशु पर दोष लगाना ठीक था क्या ? जिनदत्त ने 'नहीं' कहकर फिर एक कथा छोड़ी। वह बोला-

''गंगा के किनारे कीचड़ में एक बार एक हाथी का बच्चा फँस गया । विश्वभूति तापस ने उसे तड़फते हुए देखा । वह कीचड़ से उस हाथी के बच्चे को निकालकर अपने आश्रम में लिवा ले आया । उसने उसे बड़ी सावधानी के साथ पाला-पोसा भी । धीरे-धीरे वह बड़ा होकर एक महान हाथी के रूप में आ गया । श्रेणिक ने इसकी प्रशंसा सुनकर इसे अपने यहाँ रख लिया । हाथी जब तक तापस के यहाँ रहा तब तक बड़ी स्वतंत्रता से रहा । वहाँ इसे कभी अंकुश बगैरह का कष्ट नहीं सहना पड़ा । पर जब यह श्रेणिक के यहाँ पहुँचा तब से इसे बन्धन, अंकुश आदि का बहुत कष्ट सहना पड़ता था । इस दु:ख के मारे एक दिन यह सांकल तोड़-तोड़ कर तापस के आश्रम में भाग आया । इसके पीछे-पीछे राजा के नौकर भी इसे पकड़ने को आये । तापसी मीठे-मीठे शब्दों से हाथी को समझा कर उसे नौकरों के सुपुर्द करने लगा । हाथी को इससे अत्यन्त गुस्सा आया । सो इसने उस बेचारे तापस की ही जान ले ली" । तो क्या मुनिराज, हाथी को यह उचित था,

कि वह अपने को बचाने वाले को ही मार डाले ? इसके उत्तर में मुनि ‘ना’ कहकर और एक कथा कहने लगे । उन्होंने कहा-
“हस्तिनागपुर की पूरब दिशा में विश्वसेन राजा का बनाया आमों का एक बगीचा था । उसमें आम खूब लग रहे थे । एक दिन एक चील मरे साँप को चोंच में लिए आम के झाड़ पर बैठ गई । उस समय साँप के जहर से एक आम पक गया, पीला-सा पड़ गया । माली ने उस पके फल को ले जाकर राजा को भेंट किया । राजा ने उसे ''प्रेमोपहार के रूप में अपनी प्रिय रानी धर्मसेना को दिया । रानी उसे खाते ही मर गई । राजा को बड़ा गुस्सा आया और उसने एक फल के बदले सारे बगीचे को ही कटवा डाला । मुनिराज ने कहा, तो क्या सेठ महाशय, राजा का यह काम ठीक हुआ ? सेठ ने भी ‘ना’ कहकर और एक कथा कहना शुरू की । वह बोला -
''एक मनुष्य जंगल से चला जा रहा था । रास्ते में वह सिंह को देखकर डर के मारे एक वृक्ष पर चढ़ गया । जब सिंह चला गया, तब यह नीचे उतरा और जाने लगा । रास्ते में इसे राजा के बहुत से आदमी मिले, जो कि भेरी के लिए अच्छे और बड़े झाड़ की तालाश में आये थे । सो इस दुष्ट मनुष्य ने वह वृक्ष इन लोगों को बता दिया, जिस पर चढ़कर कि इसने अपनी जान बचाई थी । राजा के आदमी उस घनी छाया वाले सुन्दर वृक्ष को काटकर ले गये । ''मुनिराज, जिसने बन्धु की तरह अपनी रक्षा की, मरने से बचाया, उस वृक्ष के लिए इस दुष्ट को ऐसा करना योग्य था क्या ? मुनिराज ने ‘नहीं’ कहकर और एक कथा कही । वे बोले-
''गन्धर्वसेन राजा की कौशाम्बी नगरी में एक अंगार देव सुनार रहता था । जाति का यह ऊँच था । यह रत्नों की जड़ाई का काम बहुत ही बढ़िया करता था । एक दिन अंगारदेव राजमुकुट के एक बहुमूल्य मणि को उजाल रहा था । इसी समय उसके घर पर मेदज नाम के एक मुनि आहार के लिए आये । वह मुनि को एक ऊँची जगह बैठाकर और उनके सामने उस मणि को रखकर आप भीतर स्त्री के पास चला गया । इधर मणि को मांस के भ्रम से कूंज पक्षी निगल गया । जब सुनार सब विधि ठीक-ठाककर पीछा आया तो देखता है वहाँ मणि नहीं । मणि न देखकर उसके तो होश उड़ गये । उसने मुनिराज से पूछा- मुनिराज, मणि को मैं आपके पास अभी रख कर गया हूँ, इतने में वह कहाँ चला गया ? कृपा करके बतलाइये । मुनि चुप रहे । उन्हें चुप्पी साधे देखकर अंगारदेव का उन्हीं पर कुछ शक कर गया । उसने फिर पूछा- स्वामी, मणि का क्या हुआ ? जल्द कहिए । राजा को मालूम हो जाने से वह मेरा और मेरे बाल-बच्चों तक का बुरा हाल कर डालेगा । मुनि तब भी चुप ही रहे । अब तो अंगारदेव से न रहा गया। क्रोध से उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया । उसने जान लिया कि मणि को इसी ने चुराया है । सो मुनि को बांधकर उसने उन पर लकड़े की मार मारना शुरू की । उन्हें खूब मारा-पीटा सही, पर तब भी मुनि उसी तरह स्थिर बने रहे । ऐसे धन को, ऐसी मूर्खता को धिक्कार है जिससे मनुष्य कुछ भी सोच-समझ नहीं पाता और हर एक काम को जोश में आकर कर डालता है । अंगारदेव मुनि को लकड़े से पीट रहा था तब एक चोट उस कूंज पक्षी के गले पर भी जाकर लगी । उससे वह मणि बाहर आ गिरा । मणि को देखते ही अंगारदेव आत्मग्लानि, लज्जा और पश्चात्ताप के मारे अधमरा-सा हो गया । उसे काटो तो खून नहीं । वह मुनि के पाँवों में गिर पड़ा और रो-रो कर उनसे क्षमा कराने लगा ।'' इतना कह कर मुनिराज बोले- क्यों सेठ महाशय, अब समझे ? मेदज मुनि को उस मणि का हाल मालूम था, पर तब भी दया के वश हो उन्होंने पक्षी का मणि निगल जाना न बतलाया । इसलिए कि पक्षी की जान न जाय और न मुनियों का ऐसा मार्ग ही है । इसी तरह मैं भी यद्यपि तुम्हारे घड़े का हाल जानता हूँ, तथापि कह नहीं सकता । इसलिये कि संयमी का यह मार्ग नहीं है कि वे किसी को कष्ट पहुँचावे । अब जैसा तुम जानते हो और जो तुम्हारे मन में हो उसे करो । मुझे उसकी परवा नहीं ।
घड़े का छुपाने वाला कुबेरदत्त अपने पिता और मुनि का यह परस्पर का कथोपकथन छुपा हुआ सुन रहा था । मुनि का अन्तिम निश्चय सुन उसको उन पर बड़ी भक्ति हो गई । वह दौड़ा जाकर झट से घड़े को निकाल लाया और अपने पिता के सामने उसे रखकर जरा गुस्से से बोला- हाँ देखता हूँ आप मुनिराज पर अब कितना उपसर्ग करते है ? यह देखकर जिनदत्त बड़ा शर्मिन्दा हुआ । उसने अपने भ्रम भरे विचारों पर बड़ा ही पछतावा किया । अन्त में दोनों पिता-पुत्रों ने उन मेरू के समान स्थिर और तप के खजाने मुनिराज के पाँवों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा कराई ओर संसार से उदासीन होकर उन्हीं के पास उन्होंने दीक्षा भी ले ली, जो कि मोक्ष-सुख की देने वाली है । दोनों पिता-पुत्र मुनि होकर अपना कल्याण करने लगे ओर दूसरों के भी आत्मकल्याण का मार्ग बतलाने लगे ।
वे साधुरत्न मुझे सुख-शान्ति दें, जो भगवान के उपदेश किये सम्यज्ञान के उमड़े हुए समुद्र हैं, सम्यक्त्वरूपी रत्नों को धारण किये हैं, और पवित्र शील जिसकी लहरें हैं । ऐसे मुनिराजों को मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।
मूलसंघ के मुख्य चलाने वाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में भट्टारक मल्लिभूषण हुये हैं । वे मेरे गुरू हैं, रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र को धारण किये हैं और गुणों की खान हैं । वे आप लोगों का कल्याण करें ।

पिण्याकगन्ध की कथा

पिण्याकगन्ध की कथा

कथा :

सुख देनेवाले और सारे संसार के प्रभु श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन लोभी पिण्याकगन्ध की कथा लिखी जाती है ।

रत्नप्रभ कांपिल्य नगर के राजा थे । उनकी रानी विद्युत्प्रभा थी । वह सुन्दर और गुणवती थी । यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था । जिनधर्म पर इसकी गाढ़ श्रद्धा थी । अपने योग्य आचार-विचार इसके बहुत अच्छे थे । राजदरबार में भी इसकी अच्छी पूछ थी, मान-मर्यादा थी । यहीं एक और सेठ था । इसका नाम पिण्याकगन्ध था । इसके पास कई करोड़ का धन था, पर तब भी यह मूर्ख बड़ा ही लोभी था, कृपण था । यह न किसी को कभी एक कौड़ी देता और न स्वयं आप ही अपने धन को खाने-पीने पहनने में खर्च करता; और न ही खाया करताथा । इसके पास सब सुख की सामग्री थी, पर अपने पाप के उदय से या यों कहो कि अपनी ही कंजूसी से यह सदा ही दु:ख भोगा करता था । इसकी स्त्री का नाम सुन्दरी था । इसके एक विष्णुदत्त नाम का लड़का था ।

एक दिन राजा के तालाब को खोदते वक्त उड्ड नाम के एक मजूर को सोने के सलाइयों की भरी हुई लोहे की सन्दूक मिल गई । यह सन्दूक यहाँ कोई हजारों वर्षो से गड़ी हुई होगी । यही कारण था कि उसे खूब ही कीट खा गया था । उसके भीतर की सलाइयों की भी यही दशा थी । उन पर भी बहुत मैल जमा हो गया था । मैल से यह नहीं जान पड़ता था कि वे सोने की हैं । उड्ड ने उसमें से एक सलाई लाकर जिनदत्त सेठ को लोहे के भाव बेचा । सेठ ने उस समय तो उसे ले लिया, पर जब वह ध्यान से धो-धाकर देखीं गई तो जान पड़ा कि वह एक सोने की सलाई है सेठ ने उसे चोरी का माल समझ अपने घर में उसका रखना उचित नहीं समझा । उसने उसकी एक जिनप्रतिमा बनवा ली और प्रतिष्ठा कराकर उसे मंदिर में विराजमान कर दिया । सच है, धर्मात्मा पुरूष पाप से बड़े डरते हैं । कुछ दिनों बाद उड्ड फिर एक सलाई लिए जिनदत्त के पास आया । पर अब की बार सेठ ने उसे नहीं खरीदा । इसलिए कि वह धन दूसरे का है । तब उड्ड ने उसे पिण्याकगन्ध को बेच दिया । पिण्याकगन्ध को भी मालूम हो गया कि वह सलाई सोने की है, पर तब भी लोभ में आकर उसने उड्ड से कहा कि यदि तेरे पास ऐसी सलाइयाँ और हों तो उन्हें यहाँ दे जाया करना । मुझे इन दिनों लोहे की कुछ अधिक जरूरत है । मतलब यह कि पिण्याकगन्ध ने उड्ड से कोई अट्ठानवे सलाइयाँ खरीद कर लीं । बेचारे उड्ड को उसकी सच्ची कीमत ही मालूम न थी, इसलिए उसने सबकी सब सलाइयाँ लोहे के भाव बेच दीं ।

एक दिन पिण्याकगन्ध अपनी बहिन के विशेष कहने-सुनने से अपने भानजे के ब्याह में दूसरे गाँव जाने लगा । जाते समय धन के लोभ से पुत्र को वह सलाई बताकर कह गया कि इसी आकार-प्रकार का लोहा कोई बेचने अपने यहाँ आवे तो तू उसे मोल ले लिया करना । पिण्याकगन्ध के पाप का घड़ा अब बहुत भर चुका था । अब उसके फूटने की तैयारी थी । इसीलिए तो वह पाप कर्म की जबरदस्ती दूसरे गाँव भेजा गया ।

उड्ड के पास अब केवल एक ही सलाई बची थी । वह उसे भी बेचने को पिण्याकगन्ध के पास आया । पर पिण्याकगन्ध तो वहाँ था नहीं, तब वह उसके लड़के विष्णुदत्त के हाथ सलाई लेकर बोला- आप के पिताजी ने ऐसी बहुतेरी सलाइयाँ मुझ से मोल ली हैं । अब यह केवल एक ही बची है । इसे आप लेकर मुझे इसकी कीमत दे दीजिये । विष्णुदत्त ने उसे यह कहकर टाल दिया, कि मैं इसे लेकर क्या करूँगा ? मुझे जरूरत नहीं । तुम इसे ले जाओ । इस समय एक सिपाही ने उड्ड को देख लिया । उसने खोदने के लिए वह सलाई उससे छुड़ा ली । एक दिन वह सिपाही जमीन खोद रहा था । उससे सलाई पर जमा हुआ कीट साफ हो जाने से कुछ लिखा हुआ उसे देख पड़ा । लिखा यह था कि ‘’सोने की सौ सलाइयाँ सन्दूक में हैं । यह लिखा देखकर सिपाही ने उड्ड को पकड़ लाकर उससे सन्दूक की बाबत पूछा । उड्ड ने सब बातें ठीक-ठीक बतला दीं । सिपाही उड्ड को राजा के पास ले गया । राजा के पूछने पर उसने कहा कि मैंने ऐसी अठ्टानवे सलाइयाँ तो पिण्याकगन्ध सेठ को बेची हैं और एक जिनदत्त सेठ को । राजा ने पहले जिनदत्त को बुलाकर सलाई मोल लेने की बाबत पूछा । जिनदत्त ने कहा- महाराज, मैंने एक सलाई खरीदी तो जरूर है, पर जब मुझे यह मालूम पड़ा कि वह सोने की है तो मैंने उसकी जिनप्रतिमा बनवा ली । प्रतिमा मंदिर में मौजूद है । राजा प्रतिमा को देखकर बहुत खुश हुआ । उसने जिनदत्त को इस सच्चाई पर उसका बहुत मान किया, उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण दिये। सच है, गुणों की पूजा सब जगह हुआ करती है।

इसके बाद राजा ने पिण्याकगन्ध को बुलवाया । पर वह घर पर न होकर गाँव गया हुआ था । राजा को उसके न मिलने से और निश्चय हो गया कि उसने अवश्य राजधन धोका देकर ठग लिया है । राजा ने उसी समय उसका घर जब्त करवा कर उसके कुटुम्ब को कैदखाने में डाल दिया । इसलिए कि उसने पूछ-ताछ करने पर भी सलाइयों का हाल नहीं बताया था । सच है, जो आशा के चक्कर में पकड़कर दूसरों का धन मारते हैं, वे अपने हाथों ही अपना सर्वनाश करते हैं ।
उधर ब्याह हो जाने के बाद पिण्याकगंध घर की ओर वापिस आ रहा था । रास्ते में ही उसे अपने कुटुम्ब की दुर्दशा का समाचार सुन पड़ा । उसे उसका बड़ा दु:ख हुआ । उसने अपने इस धन-जन की दुर्दशा का मूल कारण अपने पाँवों को ठहराया । इसलिए कि वह उन्हीं के द्वारा दूसरे गाँव गया था । पाँवों पर उसे बड़ा गुस्सा आया और इसीलिए उसने एक बड़ा भारी पत्थर लेकर उससे अपने दोनों पाँवों को तोड़ लिया । मृत्यु उसके सिर पर खड़ी ही थी । वह लोभी आर्त्तध्यान; बुरे भावों से मर कर नरक गया । यह कथा शिक्षा देती है जो समझदार हैं उन्हें चाहिये कि वे अनीति के कारण और पाप को बढ़ाने वाले इस लोभ को दूर ही से छोड़ने का यत्न करें ।
वे कर्मों को जीतने वाले जिन भगवान् संसार में सदा काल रहें जो संसार के पदार्थों को दिखलाने के लिये दीपक के समान है, सब दोषों से रहित हैं, भव्य–जनों को स्वर्गमोक्ष का सुख देने वाले हैं, जिनके वचन अत्यन्त ही निर्मल या निर्दोष हैं, जो गुणों के समुद्र हैं, देवों द्वारा पूज्य हैं और सत्पुरूषों के लिए ज्ञान के समुद्र हैं ।

लुब्धक सेठ की कथा

लुब्धक सेठ की कथा

कथा :

केवल ज्ञान की शोभा को प्राप्त हुए और तीनों जगत् के गुरू ऐसे जिन भगवान् को नमस्कार कर लुब्धक सेठ की कथा लिखी जाती है ।
राजा अभयवाहन चम्पापुरी के राजा हैं । इनकी रानी पुण्डरीका हैं । नेत्र इसके ठीक पुण्डरीक कमल जैसे हैं । चम्पापुरी में लुब्धक नाम का एक सेठ रहता है । इसकी स्त्री का नाम नागवसु है । लुब्धक के दो पुत्र हैं । इनके नाम गरूड़दत्त और नागदत्त हैं । दोनों भाई सदा हँस-मुख रहते हैं ।
लुब्धक के पास बहुत धन था । उसने बहुत कुछ खर्च करके यक्ष, पक्षी , हाथी, ऊँट, घोड़ा, सिंह, हरिण आदि पशुओं की एक-एक जोड़ी सोने की बनवाई थी । इनके सींग, पूँछ, खुर आदि में अच्छे-अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणि का आदि रत्नों को जड़ाकर लुब्धक ने देखने वालों के लिए एक नया ही आविष्कार कर दिया था । जो इन जोडियों को देखता यह बहुत खुश होता और लुब्धक की तारीफ किये बिना नहीं रहता । स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनी को देखकर अपने को बड़ा धन्य मानता था । इसके सिवा लुब्धक को थोड़ा-सा दु:ख इस बात का था कि उसने एक बैल की जोड़ी बनवाना शुरू की थी और एक बैल बन भी चुका था, पर फिर सोना न रहने के कारण वह दूसरा बैल नहीं बनवा सका । बस, इसी की उसे एक चिन्ता थी । पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह सदा चिन्ता से घिरा न रहकर इसी कमी को पूरी करने के यत्न में लगा रहता था ।
एक बार सात दिन बराबर पानी की झड़ी लगी रही । नदी-नाले सब पूर आ गये । पर कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय भी अपने दूसरे बैल के लिए लकड़ी लेने को स्वयं नदी पर गया और बहती नदी में से बहुत-सी लकड़ी निकाल कर उसने उसकी गठरी बांधी और आप ही अपने सिर पर लादे लाने लगा । सच है, ऐसे लोभियों की तृष्णा कहीं कभी किसी से मिटी है ? नहीं ।
इस समय रानी पुण्डरीका अपने महल पर बैठी हुई प्रकृति की शोभा को देख रही थी । महाराज अभयवाहन भी इस समय यहीं पर थे । लुब्धक को सिर पर एक बड़ा भारी काठ का भारा लादकर लाते देख रानी ने अभयवाहन से कहा- प्राणनाथ, जान पड़ता है आप के राज में यह कोई बड़ा ही दरिद्री है । देखिए, बेचारा सिर पर लकडियों का कितना भारी गट्ठा लादे हुए आ रहा है । दया करके इसे कुछ आप सहायता दीजिए, जिससे इसका कष्ट दूर हो जाय । यह उचित ही है कि दयावानों की बुद्धि दूसरों पर दया करने की होती है । राजा ने उसी समय नौकरों को भेजकर लुब्धक को अपने पास बुलवा मँगाया । लुब्धक के आने पर राजा ने उससे कहा- जान पड़ता है तुम्हारे घर की हालत अच्छी नहीं है । इसका मुझे खेद है कि इतने दिनों से मेरा तुम्हारी ओर ध्यान न गया । अस्तु, तुम्हें जितने रूपये पैसे की जरूरत हो, तुम खजाने से ले जाओ । मैं तुम्हें एक पत्र लिख देता हूँ । यह कहकर राजा पत्र लिखने को तैयार हुए कि लुब्धक ने उनसे कहा- महाराज मुझे और कुछ नहीं चाहिये; किंतु एक बैल की जरूरत है । कारण मेरे पास एक बैल तो है, पर उसकी जोड़ी मुझे मिलाना है ।

राजा ने कहा- अच्छी बात है तो; जाओ हमारे बहुत से बैल हैं, उनमें तुम्हें जो बैल पसन्द आवे उसे अपने घर ले जाओ । राजा के जितने बैल थे उन सबको देख आकर लुब्धक ने राजा से कहा- महाराज, उन बैलों में मेरे बैल सरीखा तो एक भी बैल मुझे नहीं दीख पड़ा । सुनकर राजा को बड़ा अचम्भा हुआ । उन्होंने लुब्धक से कहा-भाई, तुम्हारा बैल कैसा है, यह मैं नहीं समझा । क्या तुम मुझे अपना बैल दिखाओगे ? लुब्धक बड़ी खुशी के साथ अपना बैल दिखाना स्वीकार कर महाराज को अपने घर पर लिवा ले गया । राजा का उस सोने के बने बैल को देखकर बड़ा अचम्भा हुआ । जिसे उन्होंने एक महादरिद्री समझा था, वही इतना बड़ा धनी है, यह देखकर किसे अचम्भा न होगा ।

लुब्धक की स्त्री नागवसु अपने घर पर महाराज को आये देखकर बहुत ही प्रसन्न हुई । उसने महाराज की भेंट के लिए सोने का थाल बहुमूल्य सुन्दर-सुन्दर रत्नों से सजाया और उसे अपने स्वामी के हाथ में देकर कहा- इस थाल को महाराज को भेंट कीजिए । रत्नों के थाल को देखकर लुब्धक की तो छाती बैठ गई , पर पास ही महाराज के होने से उसे वह थाल हाथों में लेना पड़ा । जैसे ही थाल को उसने हाथों में लिया उसके दोनों हाथ थर-थर धूजने लगे और ज्यों ही उसने थाल देने को महाराज के पास हाथ बढ़ाया तो लोभ के मारे इसकी अंगुलियाँ महाराज को साँप के फण की तरह देख पड़ी । सच है, जिस पापी ने कभी किसी को एक कौड़ी तक नहीं दी, उसका मन क्या दूसरे की प्रेरणा से भी कभी दान की ओर झुक सकता है ? नहीं । राजा को उसके ऐसे बुरे बरताव पर बड़ी नफरत हुई । फिर एक पल भर भी उन्हें वहाँ ठहरना अच्छा न लगा । वे उसका नाम ‘फणहस्त' रखकर अपने महल पर आ गये ।

लुब्धक की दूसरा बैल बनाने की उच्चाकांक्षा अभी पूरी नहीं हुई । वह उसके लिए धन कमाने को सिंहलद्वीप गया । लगभग चार करोड़ का धन उसने वहाँ रहकर कमाया भी । जब वह अपना धन, माल-असबाब जहाज पर लाद कर लौटा तो रास्ते में आते-आते कर्मयोग से हवा उलटी वह चली । समुद्र में तूफान पर तूफान आने लगे । एक जोर की आँधी आई । उसने जहाज को एक ऐसा जोर का धक्का मारा कि जहाज उलट कर देखते-देखते समुद्र के विशाल गर्भ में समा गया । लुब्धक, उसका धन-असबाब, इसके सिवा और भी बहुत से लोग जहाज के संगी हुए । लुब्धक आर्त्तध्यान से मरकर अपने धन का रक्षक साँप हुआ । तब भी उसमें से एक कौड़ी भी किसी को नहीं उठाने देता था ।

एक सर्प को अपने धन पर बैठा देखकर लुब्धक के बड़े लड़के गरूड़दत्त को बहुत क्रोध आया और इसीलिए उसने उसे उठाकर मार डाला । यहाँ से वह बड़े बुरे भावों से मरकर चौथे नरक गया, जहाँ कि पाप कर्मों का बड़ा ही दुस्सह फल भोगना पड़ता है । इस प्रकार धर्म रहित जीव क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वश होकर पाप के उदय से इस दु:खों के समुद्र संसार में अनन्त काल तक दु:ख कष्ट उठाया करता है । इसलिए जो सुख चाहते हैं, जिन्हें सुख प्यारा है, उन्हें चाहिए कि वे इन क्रोध, लोभ, मान, मायादिकों को संसार में दु:ख देने वाले मूल कारण समझ कर इनका मन, वचन और शरीर से त्याग करें और साथ ही जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये धर्म को भक्ति और शक्ति के अनुसार ग्रहण करें, जो परम शान्ति-मोक्ष का प्राप्त कराने वाला है ।

वशिष्ठ तापसी की कथा

वशिष्ठ तापसी की कथा

कथा :

भूख, प्यास, रोग, शोक, जनम, मरण, भय, माया, चिन्ता, मोह, राग, द्वेष आदि अठारह दोषों से जो रहित हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर वशिष्ठ तापसी की कथा लिखी जाती है ।

उग्रसेन मथुरा के राजा थे । उनकी रानीका नाम रेवती था । रेवती अपने स्वामी की बड़ी प्यारी थी । यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था । जिनदत्त यहाँ प्रियंगुलता नाम की एक नौकरानी थी । मथुरा में यमुना किनारे पर वशिष्ठ नाम का एक तापसी रहता था । वह रोज नहा-धोकर पञ्चाग्नि तप किया करता था । लोग उसे बड़ाभारी तपस्वी समझ कर उसकी खूब सेवा-भक्ति करते थे । सो ठीक ही है, असमझ लोग प्राय: देखा-देखी हर एक काम करने लग जाते हैं । यहाँ तक कि शहर की दासियाँ पानी भरने को कुँए पर जब आतीं तो वे भी तापस महाराज की बड़ी भक्ति से प्रदक्षिणा करतीं; उनके पाँव पड़ती और उनकी सेवा-सुश्रूषा कर फिर वे घर जाती । प्राय: सभी का यही हाल था । पर हाँ प्रियंगुलता इससे बरी थी । उसे ये बातें बिलकुल नहीं रूचती थी । इसलिए कि वह बचपन से ही जैनी के यहाँ काम करती रही । उसके साथ की और-और स्त्रियों को प्रियंगुलता का यह हठ अच्छा नहीं जान पड़ा और इसीलिए मौका पाकर वे एक दिन प्रियंगुलता को

उस तापसी के पास जबर दस्ती लिवा ले गईं और इच्छा न रहते भी उन्होनें उसका सिर तापसी के पाँवों पर रख दिया । अब तो प्रियंगुलता से न रहा गया । उसने तब फिर मुझे एक धीवर (भोई) के ही क्यों न हाथ जोड़ना चाहिये ? इससे तो वह बहुत अच्छा है । एक दासी के द्वारा अपनी निन्दा सुनकर तापसजी को बड़ा गुस्सा आया । वे उन दासियों पर भी बहुत बिगड़े, जिन्होंने जबरदस्ती प्रियंगुलता को उनके पाँवों पर पटका था । दासियाँ तो तापसी जी की लाल-पीली आँखें देखकर उसी समय वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गईं । पर तापस महाराज को क्रोधाग्नि तब भी न बुझी ।

उसने उग्रसेन महाराज के पास पहुँच कर शिकायत की कि प्रभो, जिनदत्त सेठ ने मुझे धीवर बतलाकर मेरा बड़ा अपमान किया । उसे एक साधु की इस तरह बुराई करने का क्या अधिकार था ? उग्रसेन को भी एक दूसरे धर्म के साधु की बुराई करना अच्छा नहीं जान पड़ा । उन्होंने जिनदत्त बुलाकर पूछा, जिनदत्त ने कहा-महाराज यदि यह तपस्या करता है तो यह तापसी है ही, इसमें विवाद किसको है । पर मैंने तो इसे धीवर नहीं बतलाया । और सचमुच जिनदत्त ने उससे कुछ कहा भी नहीं था । जिनदत्त को इंकार करते देख तापसी घवराया । तब उसने अपनी सचाई बतलाने के लिए कहा-ना प्रभो, जिनदत्त दासी ने ऐसा कहा था । तापसी की बात पर महाराज को कुछ हँसी-सी आ गई । उन्होंने तब प्रियंगुलता को बुलाया । वह आई । उसे देखते ही तापसी के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा । वह कुछ न सोचकर एक साथ ही प्रियंगुलता पर बिगड़ खड़ा हुआ । और गाली देते हुए उसने कहा-राँड़ तूने मुझे धीवर बतलाया है, तेरे इस अपराध की सजा तो मुझे महाराज देंगे ही । पर देख, मैं धीवर नहीं हूँ; किन्तु केवल हवा के आधार पर जीवन रखने वाला एक परम तपस्वी हूँ । बतला तो, तूनें मुझे क्या समझ कर धीवर कहा ? प्रियंगुलता तब निर्भय होकर कहा-हाँ, बतलाऊँ कि मैंने तुझे क्यो मल्लाह बतलाया था ? ले सुन, जब कि तू रोज-रोज मच्छियाँ मारा करता है तब तू मल्लाह तो है ही ! तुझे ऐसी दशा से कौन समझदार तापसी कहेगा ? तू यह कहे कि इसके लिए सुबूत क्या ? तू जैनी के यहाँ रहती है, इसलिए दूसरे धर्मो की या उनके साधु-सन्तों की बुराई करना तो तेरा स्वभाव होना ही चाहिये । पर सुन, मैं तुझे आज यह बतला देना चाहती हूँ कि जैनधर्म सत्य का पक्षपाती है । उसमें सच्चे साधु-सन्त ही पुजते हैं । तेरे से ढोंगी, बेचारे भोले लोगों को धोका देने वालों की उसके सामने दाल नहीं गल पाती । ऐसा ही ढौंगी देखकर तुझे मैंने मल्लाह बतलाया और न मैं तुझ से मछली मारने वाली मल्लाहों से कोई अधिक बात ही पाती हूँ । तब बतला मैंने इसमें कौन तेरी बुराई की ? अच्छा, यदि तू मल्लाह नहीं है तो जरा अपनी इन जटाओं को तो झाड़ दे । अब तो तापस महाराज बड़े घबराये और उन्होंने बातें बनाकर इस बात को ही उड़ा देना चाहा । पर प्रियंगुलता ऐसे कैसे रास्ते पर आ जाने वाली थी । उसने तापसी से जटा झड़वा कर ही छोड़ा । जटा झाड़ ने पर सचमुच छोटी-छोटी मछलियाँ उसमें से गिरीं । सब देखकर दंग रह गये । उग्रसेन ने तब जैनधर्म की खूब तारीफ कर तापसी से कहा-महाराज, जाइए-जाइए आप के इस भेष से पूरा पड़े । मेरी प्रजा को आप से हृदय के मैले साधुओं की जरूरत नहीं । तापसी को भरी सभा में अपमानित होने से बहुत ही नीचा देखना पड़ा । वह अपना-सा मुँह लिये वहाँ से अपने आश्रम में आया पर लज्जा, अपमान, आत्मग्लानि से वह मरा जाता था । जो उसे देख पाता वही उसकी ओर अँगुली उठाकर बतलाने लगता । तब इसने यहाँ का रहना छोड़ देना ही अच्छा समझ कूच कर दिया । यहाँ से यह गंगा और गंधवती के मिलाप होने की जगह आया और वहीं आश्रम बनाकर रहने लगा । एक दिन जैनतत्व के परम जानकार वीरभद्राचार्य अपने संघ को लिए इस ओर आ गये । वशिष्ठ-तापस को पंचाग्नि तप करते देख एक मुनि ने अपने गुरू से कहा-महाराज, यह तापसी तो बड़ा ही कठिन और असह्य तप करता है । आचार्य बोले-हाँ यह ठीक है कि ऐसे तप में भी शरीर को बेहद कष्ट बिना दिये काम नहीं चलता, पर अज्ञानियों का तप कोई प्रशंसा के लायक नहीं । भला, जिनके मन में दया नहीं, जो संसार की सब माया, ममता और आरम्भ-सारम्भ छोड़-छोड़कर योगी हुए और फिर वे ऐसा दयाहीन, जिसमें हजारों लाखों जीव रोज-रोज जलते हैं, तप करें तो इससे और अधिक दु:ख की बात कौन होगी । वशिष्ठ के कानों में भी यह आवाज गई । वह गुस्सा होकर आचार्य के पास आया और बोला-आपने मुझे अज्ञानी कहा, यह क्यों ? मुझ में आपने क्या अज्ञानता देखी, बतलाइयए ? आचार्य ने कहा-भाई, गुस्सा मत हो । तुम्हें लक्षकर तो मैंने कोई बात नहीं कहीं है । फिर क्यों इतना गुस्सा करते हो ? मेरी धारणा तो ऐसे तप करने वाले सभी तापसों के सम्बन्ध में है कि वे बेचारे अज्ञान से ठगे जाकर ही ऐसे हिंसामय तप को तप समझते हैं । यह तप नहीं है, किन्तु जीवों का होम बतलाया, तो अच्छा एक बात तुम ही बतलाओ कि तुम्हारे गुरू, जो सदा ऐसा तप किया करते थे, मरकर तप के फल से कहाँ पैदा हुए ? तापस बोला-हाँ, क्यों नहीं कहूँगा ? मेरे गुरूजी स्वर्ग में गये हैं । वीर भद्राचार्य ने कहा-नहीं तुम्हें इसकी मालूम ही नहीं हो सकती । सुनो, मैं बतलाता हूँ कि तुम्हारे गुरू की मरे बाद क्या दशा हुई, आचार्य ने अवधिज्ञान जोड़कर कहा-तुम्हारे गुरू स्वर्ग में नहीं गये, किन्तु

साँप हुये हैं और इस लकड़े के साथ-साथ जल रहे हैं । तापस को विश्वास नहीं हुआ; बल्कि उसे गुस्सा भी आया कि इन्होंने क्यों मेरे गुरू को साँप हुआ बतलाकर उनकी बुराई की । पर आचार्य की बात सच है या झूठ इसकी परीक्षा कर देखने के लिए यही उपाय था कि वह उस लकड़े को चीरकर देखे । तापसी ने वैसा ही किया । लकड़े को चीरा । वीर भद्राचार्य का कहा सत्य हुआ । सर्प उसमें से निकला । देखते ही तापस को बड़ा अचम्भा हुआ । उसका सब अभियान चूर-चूर हो गया । उसकी आचार्य पर बहुत ही श्रद्धा हो गई । उसने जैनधर्म का उपदेश सुना । सुनकर उसके हियेकी आँसें, जो इतने दिनों से बन्द थीं, एकदम खुल गईं । हृदय में पवित्रता का सोता फूट निकला । बहुत दिनों का कूट-कपट, मायाचार रूपी मैलापन देखते-देखते न जाने कहाँ बहकर चला गया । वह उसी समय वीर भद्राचार्य से मुनि दीक्षा लेकर अब से सच्चा तापसी बन गया ।

यहाँ घूमते-फिरते और धर्मोपदेश करते वशिष्ठ मुनि एकबार मथुरा की और फिर आये । तपस्या के लिए इन्होंने गोवर्द्धन पर्वत बहुत पसन्द किया । वहीं ये तपस्या किया करते थे । एकबार इन्होंने महीना भर के उपवास किये । तप के प्रभाव से इन्हें कई विद्याएँ सिद्ध हो गईं । विद्याओं ने आकर इनसे कहा-प्रभो, हम आपकी दासियाँ हैं । आप हमें कोई काम बतलाइए । वशिष्ठ ने कहा-अच्छा, इस समय तो मुझे कोई काम नहीं, पर जब होगा तब मैं तुम्हें याद करूँगा । उस समय तुम उपस्थित होना । इसलिए इस समय तुम जाओ । जिन्होंने संसार की सब माया, ममता छोड़ रक्खी है, सच पूछो तो उनके लिए ऐसी ऋद्धि-सिद्धि की कोई जरूरत नहीं । पर वशिष्ठ मुनि ने लोभ में पड़कर विद्याओं को अपनी आज्ञा में रहने को कह दिया । पर यह उनके पदस्थ योग्य न था ।

महीना भर के उपवासे वशिष्ठ मुनि पारणा को शहर में आये । उग्रसेन को उनके उपवास करने की पहले ही से मालूम थी । इसलिए तभी से उन्होंने भक्ति के वश हो सारे शहर में डौंडी पिटवा दी थी कि तपस्वी वशिष्ठ मुनि को मैं ही पारणा कराऊँगा, उन्हें आहार दूँगा, और कोई न दे । सच है, कभी-कभी मूर्खता से की हुई भक्ति भी दु:ख की कारण बन जाया करती है, वशिष्ठ मुनि के प्रति उग्रसेन राजा की थी तो भक्ति, पर उसमें स्वार्थ का भाग होने से उसका उलटा परिणाम हो गया । बात यह हुई कि जब वशिष्ठ मुनि पारणा के लिए आये, तब अचानक राजा का खास हाथी उन्मत हो गया । वह साँकल तुड़ाकर भाग खड़ा हुआ और लोगों को कष्ट देने लगा । राजा उसके पकड़वाने का अप्रबन्ध करने में लग गये । उन्हें मुनि के पारणे की बात याद न रही । सो मुनि शहर में इधर-उधर घूम-घाम कर वापिस वन में लौट गये । शहर के और किसी गृहस्थ उन्हें इसलिए आहार न दिया कि राजा ने उन्हें सख्त मना कर दिया था । दूसरे दिन कर्म संयोग से शहर के किसी मुहल्ले में भयंकर आग लग गई, सो राजा इस के मारे व्याकुल हो उठे । मुनि आज भी सब शहर में तथा राजमहल में भिक्षा के लिए चक्कर लगाकर लौट गये । उन्हें कहीं आहार न मिला । तीसरे दिन जरासन्ध राजा का किसी विषय को लिए आज्ञापत्र आ गया, सो आज इसकी चिन्ता के मारे उन्हें स्मरण न आया । सच है, अज्ञान से किया काम कभी सिद्ध नहीं हो पाता । मुनि आज भी अन्तराय कर लौट गये । शहर बाहर पहुँचते वे गश खाकर जमीन पर गिर पड़े । मुनी की यह दशा देखकर एक बुढिया ने गुस्सा होकर कहा-यहाँ का राजा बड़ा ही दुष्ट है न तो मुनि को आप ही आहार देता है और न दूसरों को देने देता है । हाय ! एक निरपराध तपस्वी की उसने व्यर्थ ही जान ले ली । बुढ़िया की बातें मुनि ने सुन लीं । राजा की इस नीचता पर उन्हें अत्यन्त क्रोध आया । वे उठकर सीधे पर्वत पर गये । उन्होंने विद्याओं को बुलाकर कहा-मथुरा का राजा बड़ा पापी है, तुम जाकर फौरन ही मार डालो ! मुनि को इस प्रकार क्रोध की आग उगलते देख विद्याओं ने कहा-प्रभो, आपको कहने का हमें कोई अधिकार नहीं, पर तब भी आपके अच्छे के लिहाज से और धर्म पर कोई कलंक न लगे कि एक जैनमुनि ने ऐसा अन्याय किया, हम नि:संकोच होकर कहेंगी कि इस वेप के लिए आपकी यह आज्ञा सर्वथा अनुचित है और इसीलिए हम उसका साथ देने के लिए भी हिचकती हैं । आप क्षमा के सागर हैं, आप के लिए शत्रु और मित्र एक ही से हैं । मुनि पर देवियों की इस शिक्षा का कुछ असर नहीं हुआ । उन्होंने यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये कि अच्छा, तुम मेरी आज्ञा का दूसरा जन्म में तो पालन करना ही । मैं दान में विघ्न करने वाले इस उग्रसेन राजा को मार कर अपना बदला अवश्य चुकाऊँगा । मुनि ने तपस्या नाश करने वाले निदान को-तपका फल पर जन्म में मुझे इस प्रकार मिलें, ऐसे संकल्प को करके रेवती के गर्भ में जन्म लिया । सच है, क्रोध सब कामों को नष्ट करनेवाला और पाप का मूल कारण है । एक दिन रेवती को दुर्बल देखकर उग्रसेन उससे पूछा-प्रिये, दिनों-दिनों तुम ऐसी दुबली क्यों होती जाती हो ? मुझे तुम्हें चिन्तातुर देख बड़ा खेद होता है । रेवती ने कहा-नाथ, क्या कहूँ, कहते हृदय काँपता है । नहीं जान पड़ता कि होनहार कैसा है ? स्वामी, मुझे बड़ा ही भयंकर दोहला हुआ है । मैं नहीं कह सकती कि अपने यहाँ अब की बार किस अभागे ने जन्म लिया है । नाथ, कहते हुए आत्मग्लानि से मेरा हृदय फटा पड़ता है । मैं उसे कहकर आपको और अधिक चिन्ता में डालना नहीं

चाहती । उग्रसेन को अधिकाधिक आश्चर्य और उत्कण्ठा बढ़ी । उन्होंने बड़े हठ के साथ पूछा-आखिर रानी को कहना ही पड़ी । वह बोली- अच्छा नाथ, यदि आपका आग्रह ही है तो सुनिए, जी कड़ा करके कहती हूँ । मेरी अत्यन्त इच्छा होती है कि ''मैं आपका पेट चीरकर खून पान करूँ ।'' मुझे नहीं जान पड़ता कि ऐसा दुष्ट दोहला क्यों होता है ? भगवान् जानें । यह प्रसिद्ध है कि जैसा गर्भ में बालक आता है, दोहला भी वैसा ही होता है । सुनकर उग्रसेन को भी चिन्ता हुई, पर उसके लिए इलाज क्या था, उन्होंने सोचा, दोहला बुरा या भला, इसका निश्चय होना तो अभी असंभव है । पर उसके अनुसार रानी की इच्छा तो पूरी होनी ही चाहिए । तब इसके लिए उन्होंने यह युक्ति की कि अपने आकार का एक पुतला बनवाकर उसमें कृत्रिम खून भरवाया और रानी को उसको इच्छा पूरी करने के लिए उन्होंने कहा । रानी ने अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उस पाप कर्मको किया । वह सन्तुष्ट हुई ।

थोड़े दिनों बाद रेवती ने एक पुत्र जना । वह देखने में बड़ा भयंकर था । उसकी आँखों से क्रूरता टपकी पड़ती थी । उग्रसेन ने उसके मुँह की ओर देखा तो वह मुट्ठी बाँधे बड़ी क्रूर दृष्टि से उनकी ओर देखने लगा । उन्हें विश्वास हो गया कि जैसे बाँसों को रगड़ से उत्पन्न हुई आग सारे वन को जलाकर खाक कर देती है ठीक इसी तरह से कुल में उत्पन्न हुआ दुष्ट पुत्र भी सारे कुल को जड़ मूल से उखाड़ फैंक देता है । मुझे इस लड़के की क्रूरता को देखकर भी यही निश्चय होता है कि अब इस कुल के भी दिन अच्छे नहीं है । यद्यपि अच्छा-बुरा होना दैवाधीन है, तथापि मुझे अपने कुल की रक्षा के निमित कुछ न कुछ यत्न करना ही चाहिए । हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने से काम नहीं चलेगा । यह सोचकर उग्रसेन ने एक छोटा-सा सुन्दर सन्दूक मँगवाया और उस बालक को अपने नाम को एक अँगूठी पहराकर हिफाजत के साथ उस सन्दूक में रख दिया । इसके बाद सन्दूक को उन्होंने यमुना नदी में छुड़वा दिया । सच है, दुष्ट किसी को भी प्रिय नहीं लगता । कौशाम्बी में गंगाभद्र नाम का एक माली रहता था । उसकी स्त्री का नाम राजोदरी था । एक दिन वह जल भरने को नदी पर आई हुई थी । तब नदी में बहती हुई एक सन्दूक उसकी नजर पड़ी । वह उसे बाहर निकाल अपने घर ले आई । सन्दूक को राजोदारी ने खोला । उसमें से एक बालक निकला । राजोदरी उस बालक को पाकर बड़ी खुश हुई । कारण कि उसके कोई लड़का बाला नहीं था । उसने बड़े प्रेम से इसे पाला-पोसा । यह बालक काँसे की सन्दूक में निकला था, इसलिए राजोदरी ने इसका नाम भी कंस रख दिया ।

कंस का स्वभाव अच्छा न होकर क्रूरता लिए हुए था । यह अपने साथ के बालकों को बड़ा मारा-पीटा करता और बात-बात पर उन्हें तंग किया करता था । इसके अड़ोस-पड़ोस के लोग बड़े ही दु:खी रहा करते थे । राजोदरी के पास दिनभर में कंस की कोई पचासों शिकायत आया करती थीं । उस बेचारी ने बहुत दिन तक तो उसका उत्पाद-उपद्रव सहा, पर फिर उससे भी यह दिन रात का झगड़ा-टंटा न सहा गया । सो उसने कंस को घर से निकाल दिया । सच है, पापी पुरूषों से किसे भी कभी सुख नहीं मिलता । कंस अब सौरीपुर पहुँचा । यहाँ यह वसुदेव का शिष्य बनकर शास्त्राभ्यास करने लगा । थोड़े दिनों में यह साधारण अच्छा लिख-पढ़ गया । वसुदेव की इस पर अच्छी कृपा हो गई । इस कथा के साथ एक और कथा का सम्बन्ध है, इसलिए वह कथा यहाँ लिखी जाती है –

सिंहरथ नाम का एक राजा जरासन्ध का शत्रु था । जरासन्ध ने इसे पकड़ लाने का बड़ा यत्न किया, पर किसी तरह यह इसके काबू में नहीं जाता था । तब जरासन्ध ने सारे शहर में डौंडी पिटवाई कि वीर-शिरोमणि सिंहरथ को पकड़कर मेरे सामने ला उपस्थित करेगा, उसे मैं अपनी जीवंजसा लड़की को व्याह दूँगा और अपने देश का कुछ हिस्सा भी दूँगा । इसके लिए वसुदेव तैयार हुआ । वह अपने बड़े भाई की आज्ञा से सब सेना को साथ लिए सिंहरथ के ऊपर जा चढ़ा । उसने जाते ही सिंहरथ की राजधानी पोदनपुर के चारों ओर घेरा डाल दिया । और आप एक व्यापारी के वेष में राजधानी के भीतर घुसा । कुछ खास-खास लोगों को धन का खूब लोभ देकर उसने उन्हें फोड़ लिया । हाथी के महावत, रथ के सारथी आदि को उसने पैसे का गुलाम बनाकर अपनी मुट्ठी में कर लिया । सिंहरथ को इसका समाचार लगते ही उसने भी उसी समय रणभेरी बजवाई और बड़ी वीरता के साथ वह लड़ने के लिए अपने शहर से बाहर हुआ । दोनों ओर से युद्ध के झुझारू बाजे बजने लगे । उनकी गम्भीर आवाज अनन्त आकाश को भेदती हुई स्वर्गो के द्वारों से जाकर टकराई । सुखी देवों का आसन हिल गया । अमरांगनाओं ने समझा कि हमारे यहाँ मेहमान आते हैं, तो वे उनके सत्कार के लिए हाथों में कल्पवृक्षों के फूलों की मनोहर मालाएँ ले-लेकर स्वर्ग के द्वार पर उनकी अगवानी के लिए आ डटीं । स्वर्गों के दरवाजे उनसे ऐसे खिल उठे मानों चन्द्रमाओं की प्रदर्शनी को गई है । थोड़ी ही देर में दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया । खूब मारकाट हुई । खून की नदी बहने लगी । मृतकों के सिर और धड़ उसमें तैरने लगे । दोनों ओर की वीर सेना ने अपने-अपने स्वामी के नमक का जो खोलकर परिचय कराया । जिसे न्याय की जीत कहते हैं, वह किसी को प्राप्त न हुई । वसुदेव ने जो पोदनपुर के कुछ लोगों को अपने मुट्ठी में कर लिया था, उन स्वार्थियों, विश्वासघातियों ने अन्त में

अपने मालिक को दगा दे दिया । सिंहरथ को उन्होंने वसुदेव के हाथ पकड़वा दिया । सिंहरथ का रथ मौके के समय बेकार हो गया । उसी समय वसुदेव ने उसे घेरकर कंस से कहा-जो कि उसके रथ का सारथी था, कंस, देखते क्या हो ? उत्तर कर शत्रु को बाँध लो । कंस ने गुस्से के साथ रथ से उत्तर कर सिंहरथ को बाँध लिया और रथ में रखकर उसी समय वे वहाँ से चल दिये । सच है, अग्नि एक तो वैसे ही तपी हुई होती है और ऊपर से यदि वायु बहने लगे तब तो उसके तपने का पूछना ही क्या ? सिंहरथ को बाँध लाकर वसुदेव ने जरासन्ध के सामने उसे रख दिया । देखकर जरासन्ध बहुत ही प्रसन्न हुआ । अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए उसने वसुदेव से कहा-मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ । अब आप कृपा कर मेरी कुमारी का पाणिग्रहण कर मेरी इच्छा पूरी कीजिए । और मेरे देश के जिस प्रदेश को आप पसन्द करें मैं उसे भी देने को तैयार हूँ । वसुदेव ने कहा-प्रभो, आपकी इस कृपा का मैं पात्र नहीं । कारण मैंने सिंहरथ को नहीं बाँधा है । इसे बाँधा है मेरे प्रिय शिष्य इस कंस ने, सो आप जो कुछ देना चाहें इसे देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए । जरासन्ध ने कंस की ओर देखकर उससे पूछा-भाई, तुम्हारी जाति-कुल क्या है ? कंस को अपने विषय में जो बात ज्ञात थी, उसने वहीं स्पष्ट बतला दी कि प्रभो, मैं तो एक मालिन का लड़का हूँ । जरासन्ध को कंस की सुन्दरता और तेजस्विता देखकर यह विश्वास नहीं हुआ । कि वह सचमुच ही एक मालिन का लड़का होगा । इसका निश्चय करने के लिए जरासन्ध ने उसकी माँ को बुलवाया । यह ठीक है कि राजा लोग प्राय: बुद्धिमान और चतुर हुआ करते हैं । कंस की माँ को जब यह खबर मिली कि उसे राजदरबार में बुलाया है, तब तो उसकी छाती धड़कने लग गई । वह कंस की शैतानी का हाल तो जानती ही थी, सो उसने सोचा कि जरूर कंस ने कोई बड़ा भारी गुनाह किया है और इसी से वह पकड़ा गया है । अब उसके साथ मेरी भी आफत आई । वह घबराई और पछता ने लगी कि हाय ? मैंने क्यों इस दुष्ट को अपने घर लाकर रक्खा ? अब न जाने राजा मेरा क्या हाल करेगा ? जो हो, बेचारी रोती-झींकती राजाके पास गई और अपने साथ उस सन्दूक को भी लिवा ले गई, जिसमें कि कंस निकला था । इसने राजा के सामने होते ही काँपते-काँपते कहा-दुहाई है महाराज की ! महाराज यह पापी मेरा लड़का नहीं है, मैं सच कहती हूँ । इस सन्दूक में से यह निकला है । सन्दूक को आप लीजिए और मुझे छोड़ दीजिए । मेरा इसमें कोई अपराध नहीं । मालिन को इतनी घबराई देखकर राजा को कुछ हँसी-सी आ गई । उसने कहा-नहीं, इतने डरने-घबराने की कोई बात नहीं । मैंने तुम्हें कोर्ट कष्ट देने को नहीं बुलाया है । बुलाया है सिर्फ कंस की खरी-खरी हकीकत जानने के लिये । इसके बाद राजा ने सन्दूक उठाकर खोला तो उसमें एक कम्बल और एक अंगूठी निकली । अंगूठी पर खुदा हुआ नाम वाँचकर राजा को कंस के सम्बन्ध में अब कोई शंका न रह गई । उसने उसे एक अच्छे राजकुल में जन्मा समझ उसके साथ अपनी जीवंजसा कुमारी का ब्याह बड़े ठाटवाट से कर दिया । जरासन्ध ने उसे अपने राज का कुछ हिस्सा भी दिया । कंस अब राजा हो गया ।

राजा होने के साथ ही अब उसे अपनी राज्यसीमा ओर प्रभुत्व बढ़ाने की महत्वाकांक्षा हुई । मथुरा के राजा उग्रसेन के साथ उसकी पूर्व जन्म की शत्रुता है । कंस जानता था कि उग्रसेन मेरे पिता हैं, पर तब भी उन पर वह जला करता है और उस के मन में सदा यह भावना उठती है कि मैं उग्रसेन से लडूँ और उनका राज्य छीनकर अपनी आशा पूरी करूँ । यही कारण था कि उसने पहली चढ़ाई अपने पिता पर ही की । युद्ध में कंस की विजय हुई । उसने अपने पिता को एक लोहे के पींजरे में बन्द कर और शहर के दरवाजे के पास उस पींजरे को रखवा दिया । और आप मथुरा का राजा बनकर राज्य करने लगा । कंस को इतने पर भी संतोष न हुआ सो अपना बैर चुकाने का अच्छा मौका समझ वह उग्रसेन को बहुत कष्ट देने लगा । उन्हें खाने के लिये वह केवल कोदू की रोटियाँ और छाछ देता । पानी के लिए गन्दा पानी और पहरने के लिए बड़े ही मैले-कुचले और फटे-पुराने चिथड़े देता । मतलब यह कि उसने एक बड़े से बड़े अपराधी की तरह उनकी दशा कर रक्खी थी । उग्रसेन की इस हालत को देखकर उनके कट्टर दुश्मन की भी छाती फटकर उसकी आँखों से सहानुभूति के आँसू गिर सकते थे, पर पापी कंस को उनके लिए रत्तीभर भी दया या सहानुभूति नहीं थी । सच है, कुपुत्र कुल का काल होता है । अपने भाई की यह नीचता देखकर कंस के छोटे भाई अतिमुक्तक को संसार से बड़ी घृणा हुई । उन्होंने सब मोह-माया छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली । वसुदेव कंस के गुरू थे । इसके सिवा उन्होंने उसका बहुत कुछ उपकार किया था; इसलिए कंस की उन पर बड़ी श्रद्धा थी । उसने उन्हें अपने ही पास बुलाकर रख लिया ।

मृतकावती पुरी के राजा देवकी के एक कन्या थी । वह बड़ी सुन्दर थी । राजा का उस पर बहुत प्यार था । इसलिए उसका नाम उन्होंने अपने ही नाम पर देव की रख दिया था । कंस ने उसे अपनी बहिन करके मानी थी, सो वसुदेव के साथ उसने उसका ब्याह कर दिया । एक दिन की बात है कि कंस की स्त्री जीवंजसा देवकी के और अपने देवर अतिमुक्त की स्त्री पुष्पवती के वस्त्रों को आप पहरकर नाच

रही थी-हँसी-मजाक कर रही थी । इसी समय कंस के भाई अतिमुक्तक मुनि आहार के लिये आये । जीवंजसा ने हँसते-हँसते मुनि से कहा-अजी ओ देवर जी, आइए ! आइए !! मेरे साथ-साथ आप भी नाचिये। देखिए, फिर बड़ा ही आनन्द आवेगा । मुनि ने गंभीरता से उत्तर दिया-बहिन, मेरा यह मार्ग नहीं है । इसलिए अलग हो जा और मुझे जाने दे । पापिनी जीवंजसा ने मुनि को जाने न देकर उलटा हठ पकड़ लिया और बोली-नहीं, मैं तब तक आपको कभी न जाने दूँगी जब तक कि आप मेरे साथ न नाचेंगे । मुनि को इससे कुछ कष्ट हुआ और इसी से उन्होंने आवेग में आ उससे कह दिया कि मूर्ख, नाचती क्यों है । जाकर अपने स्वामी से कह कि आपकी मौत देवकी के लड़के द्वारा होगी और वह समय बहुत नजदीक आ रहा है । सुनकर जीवंजसा को बड़ा गुस्सा आया । उसने गुस्से में आकर देवकी के वस्त्र को, जिसे कि वह पहरे हुए थी, फाड़कर दो टुकड़े कर दिये । मुनि ने कहा-मूर्ख स्त्री, कपड़े को फाड़ देने से क्या होगा ? देख और सुन, जिस तरह तूने इस कपड़े के दो टुकड़े कर दिये हैं उसी तरह देवकी के होने वाला वीर पुत्र तेरे बाप के दो टुकड़े करेगा । जीवंजसा को बड़ा ही दु:ख हुआ । वह नाचना गाना सब भूल गई । अपने पति के पास दौड़ी जाकर वह रोने लगी । सच है यह जीव अज्ञानदशा में हँसता-हँसता जो पाप कमाता है उसका फल भी इसे बड़ा ही बुरा भोगना पड़ता है । कंस जीवंजसा को रोती देखकर बड़ा घबराया । उसने पूछा-प्रिये, क्यों रोती हो ? बतलाओ, क्यों रोती हो ? बतलाओ, क्या हुआ ? संसार में ऐसा कौन धृष्ट होगा जो कंस की प्राणप्यारी को रूला सके । प्रिये, जल्दी बतलाओ, तुम्हें रोती देखकर मैं बड़ा दु:खी हो रहा हूँ । जीवंजसा ने मुनि द्वारा जो-जो बातें सुनी थीं, उन्हें कंस से कह दिया । सुनकर कंस को भी बड़ी चिन्ता हुई । वह जीवंजसा से बोला-प्रिये, घबराने की कोई बात नहीं, मेरे पास इस रोग की भी दवा है । इसके बाद ही वह वसुदेव के पास पहुँचा और उन्हें नमस्कार कर बोला-गुरू महाराज, आपने मुझे पहले एक‘वार’ दिया था । उसकी मुझे अब जरूरत पड़ी है । कृपा कर मेरी आशा पूरी कीजिए । इतना कहकर कंस ने कहा-मेरी इच्छा देवकी के होने वाले पुत्र के मार डालने की है । इसलिए कि मुनि ने उसे मेरा शत्रु बतलाया है । सो कृपा कर देवकी की प्रसूति मेरे महल में हो, इसके लिए अपनी अनुमति दीजिए । कंस की अपने एक शिष्य की इस प्रकार नीचता, गुरूद्रोह देखकर वसुदेव की छाती धड़क उठी । उनकी आँखों में आँसू भर आये । पर करते क्या ? वे क्षत्रिय थे और क्षत्रिय लोग इस व्रत के व्रती होते हैं कि ‘’प्राण जाँहि पर वचन न जाँहि ।'' तब उन्हें लाचार होकर कंस का कहना बिना कुछ कहे-सुने मान लेना पड़ा । क्योंकि सत्पुरूष अपने वचनों का पालन करने में कभी कपट नहीं करते । देवकी ये सब बातें खड़ी-खड़ी सुन रहीं थी । उसे अत्यन्त दु:ख हुआ । वह वसुदेव से बोली-प्राणनाथ, मुझ से यह दु:सह पुत्र-दु:ख नहीं सहा जायगा । मैं तो जाकर जिनदीक्षा ले लेती हूँ । वसुदेव ने कहा-प्रिये, घबराने की कोई बात नहीं है, चलो, हम चलकर मुनिराज से पूछें कि बात क्या है ? फिर जैसा कुछ होगा विचार करेंगे । वसुदेव अपनी प्रिया के साथ वन में गये । वहाँ अतिभुक्तक मुनि एक फले हुए आम के झाड़ के नीचे स्वाध्याय कर रहे थे । उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वसुदेव ने पूछा-हे जिनेन्द्रभगवान् के सच्चे भक्त योगिराज, कृपा कर मुझे बतलाइए कि मेरे किस पुत्र द्वारा कंस और जरासंध की मौत होगी ? इस समय देव को आम की एक डाली पकड़े हुए थी । उस पर आठ आम लगे थे । उनमें छह आम तो दो-दो की जोड़ी से लगे थे और उनके ऊपर दो आम जुदा-जुदा लगे थे । इन दो आमों में से एक आम इसी समय पृथिवी पर गिर पड़ा और दूसरे आम थोड़ी ही देर बाद पक गया । इस निमित्त ज्ञान पर विचार कर अवधिज्ञानी मुनि बोले-भव्य वसुदेव, सुनो, मैं तुम्हें सब खुलासा समझाये देता हूँ । देखो, देवकी के आठ पुत्र होंगे । उनमें छह तो नियम से मोक्ष जाँयगे । रहे दो, सो इनमें सातवाँ तो जरासंध और कंस का मारने वाला होगा और आठवाँ कर्मों का नाश कर मुक्ति महिला का पति होगा । मुनिराज से इस सुख समाचार को सुनकर वसुदेव और देवकी को बहुत आनन्द हुआ । वसुदेव को विश्वास था कि मुनि का कहा कभी झूठ नहीं हो सकता । मेरे पुत्र द्वारा कंस और जरासंध की होने वाली मौत को कोई नहीं टाल सकता । इसके बाद वे दोनों भक्ति से मुनि को नमस्कार कर अपने घर लौट आये । सच है, जिनभगवान् के धर्म पर विश्वास करना ही सुख का कारण है ।

देवकी के जब से सन्तान होने की सम्भावना हुई । तब से उसके रहने का प्रबन्ध कंस के ही महल पर हुआ । कुछ दिनों बाद पवित्रमना देवकी ने दो पुत्रों को एक साथ जना । इसी समय कोई ऐसा पुण्य-योग मिला कि भद्रिलापुर में श्रुतदृष्टि सेठ की स्त्री अलका के भी पुत्र-युगल हुआ । पर यह युगल मरा हुआ था । सो देवकी के पुत्रों के पुण्य से प्रेरित होकर एक देवता इस मृत-युगल को उठा कर तो देवकी के पास रख आया और उसके जीते पुत्रों को अलका के पास ला रक्खा । सच है, पुण्यवानों की देव भी रक्षा करते हैं । इसलिए कहना पड़ेगा कि जिनभगवान् ने जो पुण्य मार्ग में चलने का उपदेश दिया है वह वास्तव में सुख का कारण है । और पुण्य भगवान् की पूजा करने से होता है, दान देने से होता है और व्रत, उपवासादि करने से होता है । इसलिए इन पवित्र कर्मों द्वारा निरन्तर पुण्य कमाते रहना चाहिए ।

कंस को देवकी की प्रसूति का हाल मालूम होते ही उसने उस मरे हुए पुत्र-युगल को उठा लाकर बड़े जोर से शिलापर दे मारा । ऐसे पापियों के जीवन को धिक्कार है । इसी तरह देवकी के जो दो और पुत्र-युगल हुए, उन्हें देवता वहीं अलका सेठानी के यहाँ रख आया और उसके मरे पुत्र-युगलों को उसने देवकी के पास ला रक्खा । कंस ने इन दोनों युगलों की भी पहले युगल की सी दशा की । देवकी के ये छहों पुत्र इसी भव से मोक्ष जायेंगे, इसलिए इनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता । ये सुख पूर्वक यहीं रहकर बढ़ने लगे ।
अब सातवें पुत्र की प्रसूति का समय नजदीक आने लगा । अब की बार देवकी के सातवें महीने में ही पुत्र हो गया । यही शत्रुओं का नाश करने वाला था; इसलिए वसुदेव को इसकी रक्षा की अधिक चिन्ता थी । समय कोई दो तीन बजे रात का था । पानी वरस रहा था । वसुदेव उसे गोद में लेकर चुपके से कंस के महल से निकल गये । बलभद्र ने इस होनहार बच्चे के ऊपर छत्री लगाई । चारों ओर गाढ़ा न्धकार के मारे हाथ तक भी न देख पड़ता था । पर इस तेजस्वी बालक के पुण्य वहीं देवता, जिसने कि इसके छह भाईयों की रक्षा की है, बैल के रूप में सींगों पर दीया रक्खे आगे-आगे हो चला । आगे चलकर इन्हें शहर बाहर होने के दरवाजे बन्द मिले, पर भाग्य की लीला अपरम्पार है । उससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है । वहीं हुआ । बच्चे के पाँवों का स्पर्श होते ही दरवाजा भी खुल गया । आगे चले तो नदी अथाह बह रही थी । उसे पार करने का कोई उपाय न था । बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई । उन्होंने होना-करना सब भाग्य के भरोसे पर छोड़कर नदी में पाँव दिया । पुण्य को कैसी महिमा जो यमुना का अथाह जल घुटनों प्रमाण हो गया । पार होकर ये एक देवों के मंदिर में गये । इतने में इन्हें किसी के आने की आहट सुनाई दी । ये देवी के पीछे छुप गये ।
इसी से संबन्ध रखने वाली एक और घटना का हाल सुनिये । एक नन्द नाम का गुवाल यहीं पास के गाँव में रहता है । उसकी स्त्री का नाम यशोदा है । यशोदा के प्रसूति होने वाली थी, सो वह पुत्र की इच्छा से देवी की पूजा वगैरह कर गई थी । आज ही रात को उसके प्रसूति हुई । पुत्र न होकर पुत्री हुई । उसे बड़ा दु:ख हुआ कि मैंने पुत्र की इच्छा से देवी की इतनी तो आराधना-पूजा की और फिर भी लड़की हुई । मुझे देवी के इस प्रसाद की जरूरत नहीं । यह विचार कर वह उठी और गुस्सा में आकर उस लड़की को लिए देवी के मंदिर पहुँची । लड़की को देवी के सामने रखकर वह बोली-देवी जी, लीजिए आपकी पुत्री को ? मुझे इसकी जरूरत नहीं है । यह कहकर याशोदा मंदिर से चली गई । वसुदेव ने इस मौके को बहुत ही अच्छा समझकर पुत्र को देवी के सामने रख दिया और लड़की को आप उठाकर चल दिये । जाते हुए वे यशोदा से कहते गये कि अरी, जिसे तू देवता के पास रख आई है वह लड़की नहीं है; किन्तु एक बहुत ही सुन्दर लड़का है । जा उसे जल्दी ले आ; नहीं तो और कोई उठा ले जायगा । यशोदा को पहले तो आश्चर्य-सा हुआ । पर फिर वह अपने पर देवी की कृपा समझ झटपट दौड़ी गई और जाकर देखती है तो सचमुच ही वह सुन्दर बालक है । यशोदा के आनन्द का अब कुछ ठिकाना न रहा । वह पुत्र को गोद में लिए उसे चूमती हुई घर पर आ गई । सच है, पुण्य का कितना वैभव है इसका कुछ पार नहीं । जिसकी स्वप्न में भी आशा न हो वही पुण्य से सहज मिल जाता है ।
इधर वसुदेव और बलभद्र ने घर पहुँचकर उस लड़की को देवकी को सौंप दिया । सबेरा होते ही जब लड़की के होने का कंस को मालूम हुआ तो उस पापी ने आकर बेचारी उस लड़की की नाक काट ली ।
यशोदा के यहाँ वह पुत्र सुख से रहकर दिनों-दिन बढ़ने लगा । जैसे-जैसे वह उधर बढ़ता है कंस के यहाँ वैसे ही अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे । कभी आकाश से तारा टूटकर पड़ता, कभी बिजली गिरती, कभी उल्का गिरती और कभी और कोई भयानक उपद्रव होता । यह देख कंस को बड़ी चिन्ता हुई । वह बहुत घबराया । उसकी समझ में कुछ न आया कि यह सब क्या होता है ? एक दिन विचार कर उसने एक ज्योतिषों को बुलाया और उसे सब हाल कहकर पूछा कि पंडित जी, यह सब उपद्रव क्यों होते है ? इसका कारण क्या आप मुझे कहेंगे ? ज्योतिषों ने निमित्त विचार कर कहा-महाराज, इन उपद्रव का होना आपके लिए बहुत ही बुरा है । आपका शत्रु दिनों-दिन बढ़ रहा है । उसके लिए कुछ प्रयत्न कीजिए । और वह कोई बड़ी दूर न होकर यहीं गोकुल में है । कंस बड़ी चिंता में पड़ा । वह अपने शत्रु को मारने का क्या यत्न करे, यह उसकी समझ में न आया । उसे चिन्ता करते हुए अपनी पूर्व सिद्ध हुई विद्यओं की याद हो उठी एकदम चिन्ता मिटकर उसके मुँह पर प्रसन्नता की झलक देख पड़ी । उसने उन विद्याओं को बुलाकर कहा-इस समय तुमने बड़ा काम दिया । आओ, अब पलभर की भी देरी न कर जहाँ मेरा शत्रु हो उसे ठौर मारकर मुझे बहुत जल्दी उसकी मौत के शुभ समाचार दो । विद्याएँ वासुदेव को मारने को तैयार हो गई । उनमें पहली पूतना विद्या ने धाय के वेष में जाकर वासुदेव को दूध की जगह विष पिलाना चाहा । उसने जैसे ही उसके मुँह मे स्तन दिया, वासुदेव ने उसे इतने जोर से काटा कि पूतना के होश गुम हो गये । वह चिल्लाकर भाग

खड़ी हुई । उसकी यहाँ तक दुर्दशा हुई कि उसे अपने जीने में भी सन्देह होने लगा । दूसरी विद्या कौए के वेश में वासुदेव की आँखे निकाल लेने के यत्न में लगी, सो उसने उसकी चोंच पींख वगैरह को नोंच नाचकर उसे भी ठीक कर दिया । इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठीं और सातवीं देवी जुदा-जुदा वेष में वासुदेव को मारने का यत्न करने लगीं, पर सफलता किसी को भी न हुई। इसके विपरीत देवियों को ही बहुत कष्ट सहना पड़ा। यह देख आठवीं देवी को बड़ा गुस्सा आया। यह तब कालिका का वेष लेकर वासुदेव को मारने के लिए तैयार हुई। वासुदेव ने उसे भी गोवर्द्धन पर्वत उठाकर उसके नीचे दाब दिया। मतलब यह है विद्याओं ने जितनी भी कुछ वासुदेव के मारने की चेष्टा की वह सब व्यर्थ गई। वे सब अपना-सा मुँह लेकर कंस के पास पहुँची और उससे बोली-देव, आपका शत्रु कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य नहीं। वह बड़ा बलवान है। हम उसे किसी तरह नहीं मार सकतीं। देवियाँ इतना कहकर चल दीं। उनकी इन विभीषिका को सुनकर कंस हतबुद्धि हो गया । वह इस बात से बड़ा घबराया कि जिसे देवियाँ तक जब न मार सकीं तब तो उसका मारना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है । तब क्या मैं उसी के हाथों मारा जाऊँगा ? नहीं, जब तक मुझ में दम है, मैं उसे बिना मारे कभी नहीं छोडूंगा । देवियाँ आखिर थीं तो स्त्री-जाति ही न ? जो स्वभाव से ही कायर-डरपोक होती हैं, वे बेचारी एक वीर पुरूष को क्या मार सकेंगी ! अस्तु, अब मैं स्वयं उसके मार ने का यत्न करता हूँ । फिर देखता हूँ कि वह कहाँ तक मुझ से बचता है । आखिर वह है एक गुवाल का छोकरा और मैं वीर राजपूत ! तब क्या मैं उसे न मार सकूँगा ? यह असम्भव है । उद्यम से सब काम सिद्ध हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । कंस ने अपने मन की खूब समझौती कर वासुदेव के मार ने की एक नई योजना की । उसके यहाँ दो बड़े प्रसिद्ध पहलवान थे । उनके साथ कुश्ती लड़कर जीतने वाले को एक बड़ा भारी पारितोषक देना उसने प्रसिद्ध किया । कंस ने सोचा था कि पहले तो मेरे ये पहलवान ही उसे मच्छर की तरह पीस डालेंगे और कोई दैव योग से इनके हाथ से वह बच भी गया तो मैं तो उसकी छाती पर ही तलवार लिये खड़ा रहूँगा, सो उस समय उसका सिर धड़ से जुदा करने में मुझे देर ही क्या लगेगी ? इससे बढ़कर और कोई उपाय शत्रु के मार ने का नहीं है । कंस को इस विचार से बड़ा धीरज बँधा ।

कुश्ती का जो दिन नियत था, उस दिन नियत किये स्थान पर हजारों आलम ठसाठस भर गये । सारी मथुरा उस वीर के देखने को उमड़ पड़ी कि देखें इन पहलवानों के साथ कौन वीर लड़ेगा । सब के मन बड़े उत्सुक हो उठे । आँखे उस वीर पुरूष की बांट जोहने लगीं । पर उन्हें अब तक कोई लड़ने को तैयार नहीं-देख पड़ा । कंस का मन कुछ निराश होने लगा । कुश्ती का समय भी बहुत नजदीक आ गया । पर अभी तक उसने किसी को अखाड़े में उतरते नहीं देखा । यह देख उसकी छाती धड़की । लोग जाने की तैयारी ही में होंगे कि इतने में एक चौबीस पच्चीस वर्ष का जवान भीड़ को चीरता हुआ आया और गरजकर बोला-हाँ जिसे कुश्ती लड़ना हो वह अखाड़े में उतर कर अपना बल बतावे ! उपस्थित मंडली इस आये हुए पुरूष की देव-दुर्लभ सुन्दरता और वीरता को देखकर दंग रह गई । बहुतों को उसकी छोटी उमर और सुन्दरता तथा उन पहलवानों को भीम काय देखकर नाना तरह की कुशंका भी होने लगी । और साथ ही उनका हृदय सहानुभूति से भर आया । पर उसे रोक देने का उनके पास कोई उपाय न था । इसलिए उन्हें दु:ख भी हुआ । जो हो, आगन्तुक युवा की उस हृदय हिलाने वाली गर्जना को सुनकर एक भीमकाय पहलवान ने अखाड़े में उतरकर खम ठोका । और सामने वाले वीर को अखाड़े में उतरने के लिए ललकारा । युवा भी बिजली की तरह चपलता से झट से अखाड़े में दाखिल हो गया । इशारा होते ही दोनों की मुठभेड़ हुई । युवा की वीरश्री और चंचलता इस समय देखने के ही योग्य थी । उस मूर्तिमान वीरश्री ने कुछ देर तक तो उस पहलवान को खेल खिलाया और अन्त में उठाकर ऐसा पछाड़ा कि उसे आसमान के तारे दीख पड़ने लगे । इतने में ही उसका साथी दूसरा पहिलवान अखाड़े में उतरा । वासुदेव ने उसकी भी यही दशा की । उपस्थित मंडली के आनन्द की सीमा न रही । तालियों से उसका खूब जय जयकार मनाया गया । अब तो कंस से किसी तरह न रहा गया । उसके हृदय में ईर्षा, द्वेष प्रतिहिंसा और मत्सरता की आग भड़ग उठी । वह तलवार हाथ में लिये ललकार कर बोला, हाँ ठहरो ! अभी लड़ाई बाकी है । यह कहकर वह स्वयं हाथ में शमशेर लिये अखाड़े में उतरा । उसे देखकर सब भौंचक से रह गये । किसी की समझ में न आया कि यह रहस्य क्या है ? क्यों ऐसा किया जा रहा है ? किसी को कुछ कहने विचारने का अधिकार न था । इसलिए वे सब लाचार होकर उस भयंकर समय की प्रतीक्षा करने लगे कि अन्त में देखें ऊँट किस करवट बैठता है । जो हो, पर इतना आवश्य है कि प्रकृति को अधिक अन्याय, अत्याचार सहन नहीं होता, और इसलिए वह फिर एक ऐसी शक्ति पैदा करती है जो उन अत्याचारों के अंकुर को जड़मूल से ही उखाड़ फैंक देती है । कंस के भयानक अत्याचारों से सारी प्रजा त्राह-त्राह कर उठी थी । शान्ति, सुख का कहीं नाम निशान भी न रह गया था । इसीलिए प्रकृति ने वासुदेव सरीखी एक महाशक्त्ि को

उत्पन्न किया । कंस को अखाड़े में उतरा देखकर वासुदेव भी तलवार उठा उसके सामने हुआ । दोनों ने अपनी-अपनी तलवार को सम्हाला । कंस का हृदय क्रोध की आग से जल ही रहा था, सो उसने झपट कर वासुदेव पर पहला वार किया । श्रीकृष्ण ने उसके वार को बड़ी बुद्धिमानी से बचाकर उस पर एक ऐसा जोर का वार किया कि पहला ही वार कंस से सम्हालते न बना और देखते-देखते वह धड़ाम से गिरकर सदा के लिए पृथिवी की गोद में सो गया । प्रकृति को सन्तोष हुआ । उसने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लोगों को भी यह शिक्षा दे दी कि देखो, निर्बलों पर अत्याचार करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं । मैं ऐसे पापियों का पृथिवी पर नाम निशान भी नहीं रहने देता । यदि तुम सुखी रहना पसन्द करते हो तो दूसरों को सुखी करने का यत्न करो । यह मेरा आदेश है ।

कंस को निरीह प्रजा पर अत्याचार करने का उपयुक्त प्रायश्चित मिल गया । अशान्ति का छत्र भंग होकर फिर से शान्ति के पवित्र शासन की स्थापना हुई । वासुदेव ने उसी समय कंस के पिता उग्रसेन को लाकर पीछा राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित किया । इसके बाद ही श्रीकृष्ण ने जरा सन्ध पर चढ़ाई करके उसे भी कंस का रास्ता बतलाया और आप फिर अर्धचक्रवर्ती होकर प्रजा का नीति के साथ शासन करने लगा ।

यह कथा प्रसंग वश यहाँ संक्षेप में लिख दी गई है, जिन्हें विस्तार के साथ पड़ना हो उन्हें हरिवंशपुराण का स्वाध्याय करना चाहिये । जो क्रोधी, मायाचारी, ईर्षा करने वाले, द्वेष करने वाले और मानो थे, धर्म के नाम से जिन्हें चिढ़ थी, जो धर्म से उलटा चलते थे, अत्याचारी थे, जड़ बुद्धि थे और खोटे कर्मों की जाल में सदा फँस रहकर कोई पाप करने से नहीं डरते थे, ऐसे कितने मनुष्य अपने ही कर्मों से काल के मुँह में नहीं पड़े ? **अर्थ**ात् कोई बुरा काम करे या अच्छा, काल के हाथ तो सभी को पड़ना ही पड़ता है । पर दोनों में विशेषता यह होती है कि एक मरे बाद भी जन साधारण की श्रद्धा का पात्र होता है और सुगति लाभ करता है और दूसरा जीते जी ही अनेक तरह की निन्दा, बुराई, तिरस्कार आदि दुर्गणों का पात्र बनकर अन्त में कुगति में जाता है । इसलिए जो विचार शील हैं, सुख प्राप्त करना जिनका ध्येय है, उन्हें तो यही उचित है कि वे संसार के दु:खों का नाश कर स्वर्ग या मोक्ष का सुख देने वाले जिनभगवान् का उपदेश किया पवित्र जिनधर्म का सेवन करें ।

लक्ष्मीमती की कथा

लक्ष्मीमती की कथा

कथा :

जिन जगद्बन्धु का ज्ञान लोक और अलोक का प्रकाशित करने वाला है, जिनके ज्ञान द्वारा सब पदार्थ जाने जा सकते हैं, अपने हित के लिए उन जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर मान करने के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ।

मगध देश के लक्ष्मी नाम के सुन्दर गाँव में एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता रहता था । इसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमती था । लक्ष्मीमती सुन्दरी थी । अवस्था इसकी जवान थी । इसमें सब गुण थे, पर दोष भी था । वह यह कि इसे अपनी जाति का बड़ा अभिमान था और यह सदा अपने को सिंगारने-सजाने में मस्त रहती थी ।

एक दिन पन्द्रह दिन के उपवास किये हुए श्रीसमाधि गुप्त मुनिराज आहार के लिए इसके यहाँ आये । सोमशर्मा उन्हें आहार कराने के लिए भक्ति से ऊँचे आसन पर विराजमान कर और अपनी स्त्री को उन्हें आहार करा देने के लिए कहकर आप कहीं बाहर चला गया । उसे किसी काम की जल्दी थी ।

इधर ब्राह्मणी बैठी-बैठी काँच में अपना मुँख देख रही थी । उसने अभिमान में आकर मुनि को बहुतसी गालियाँ दीं, उनकी निन्दा की और किवाड़ बन्द कर लिए । हाय ! इससे अधिक और क्या पाप होगा ? मुनिराज शान्त–स्वभावी थे, तप के समुद्र थे, सबका हित करने वाले थे, अनेक गुणों से युक्त थे और उच्च चारित्र के धारक थे; इसलिए ब्राह्मणी की उस दुष्टता पर कुछ ध्यान न देकर वे लौट गये । सच है, पापियों के यहाँ आई हुई निधि भी चली जाती है । मुनि निन्दा के पाप से लक्ष्मीमती के सातवें दिन कोढ़ निकल आया । उसकी दशा बिगड़ गई । सच है, साधु-सन्तों की निन्दा-बुराई से कभी शान्ति नहीं मिलती । लक्ष्मीमती की बुरी हालत देखकर घर के लोगों ने उसे घर से बाहर कर दिया । यह कष्ट पर कष्ट उससे न सहा गया, सो वह आग में बैठकर जल मरी । उसकी मौत बड़े बुरे भावों से हुई । उस पाप से वह इसी गाँव में एक धोबी के यहाँ गधी हुई । इस दशा में इसे दूध पीने को नहीं मिला । यह मर कर सूअरी हुई । फिर दो बार कुत्ती को पर्याय इसने ग्रहण की । इसी दशा में यह वन में दावाग्नि से जल मरी । अब वह नर्मदा नदी के किनारे पर बसे हुए भृगुकच्छ गाँव में एक

मल्लाह के यहाँ काणा नाम की लड़की हुई । शरीर इसका जन्म से ही बड़ा दुर्गन्धित था । किसी की इच्छा इसके पास तक बैठने की नहीं होती थी । देखिये अभिमान का फल, कि लक्ष्मीमती ब्राह्मणी थी पर उसने अपनी जाति का अभिमान कर अब मल्लाह के यहाँ जन्म लिया । इसलिए बुद्धिमानों को कभी जाति का गर्वन करना चाहिए ।

एक दिन काणा लोगों को नाव द्वारा नदी पार करा रही थी । इसने नदी किनारे पर तपस्या करते हुए उन्हीं मुनि को देखा, जिनकी कि लक्ष्मीमती की पर्याय में इसने निन्दा की थी । उन ज्ञानी मुनि को नमस्कार कर इसने पूछा-प्रभो, मुझे याद आता है कि मैंने कहीं आपको देखा है ? मुनि ने कहा बच्ची, तू पूर्वजन्म में ब्राह्मणी थी, तेरा नाम लक्ष्मीमती था और सोमशर्मा तेरा भर्त्ता था । तूने अपने जाति के अभिमान में आकर मुनिनिन्दा की । उसके पाप से तेरे कोढ़ निकल आया । तू उस दु:ख को न सहकर आग में जल मरी । इस आत्म हत्या के पाप से तुझे गधी, सूअरी और दो बार कुत्ती होना पड़ा । कुत्ती के भव से मरकर तू इस मल्लाह के यहाँ पैदा हुई है । अपना पूर्व भव का हाल सुनकर काणा को जातिस्मरण ज्ञान हो गया, पूर्वजन्म की सब बातें उसे याद हो उठीं । वह मुनि को नमस्कार कर बड़े दु:ख के साथ बोली-प्रभो, मैं बड़ी पापिनी हूँ । मैंने साधु महात्माओं की बुराई कर बड़ा ही नीच काम किया है । मुनिराज, मेरी पाप से अब रक्षा करो, मुझे कुगतियों में जाने से बचाओ । तब मुनि ने उसे धर्म का उपदेश दिया । काणा सुनकर बड़ी सन्तुष्ट हुई । उसे बहुत वैराग्य हुआ । वह वहीं मुनि के पास दीक्षा लेकर क्षुल्लिका हो गई । उसने फिर अपनी शक्ति के अनुसार खूब तपस्या की, अन्त में शुभ भावों से मर कर वह स्वर्ग गई । यहीं काणा फिर स्वर्ग से आकर कुण्ड नगर के राजा भीष्म की महारानी यशस्वती के रूपिणी नाम की बहुत सुन्दर कन्या हुई । रूपिणी का ब्याह वासुदेव के साथ हुआ । सच है, पुण्य के उदय से जीवों को सब धन दौलत मिलती है ।

जैनधर्म सब का हित करने वाला सर्वोच्च धर्म है । जो इसे पालते हैं वे अच्छे कुल में जन्म लेते हैं, उन्हें यश-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वे कुगति में न जाकर उच्च गति में जाते हैं और अन्त में मोक्ष का सर्वोच्च सुख लाभ करते हैं ।

पुष्पदत्ता की कथा

पुष्पदत्ता की कथा

कथा :

अनन्त सुख के देने वाले और तीनों जगत् के स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर माया को नाश करने के लिए मायाविनी पुष्पदत्ता की कथा लिखी जाती है ।

प्राचीन समय से प्रसिद्ध अजितावर्त नगर के राजा पुष्पचूल की रानी का नाम पुष्पदत्ता था । राज सुख भोगते हुए पुष्पचूल ने एक दिन अमरगुरू मुनि के पास जिनधर्म का स्वरूप सुना, जो धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुख की प्राप्ति का कारण हैं । धर्मोप देश सुनकर पुष्पचूल को संसार, शरीर, भोगादिकों से बड़ा वैराग्य हुआ । वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये । उनकी रानी पुष्पदत्ता ने भी उनकी देखा-देखी ब्रह्मिली नाम की आर्यिका के पास आर्यिका की दीक्षा ले ली । दीक्षा ले-लेने पर भी इसे अपने बड़प्पन राजकुल का अभिमान जैसा का तैसा ही बना रहा । धार्मिक आचार-व्यवहार से यह विपरीत चलने लगी । और-और आर्यिकाओं को नमस्कार, विनय करना इसे अपने अपमान का कारण जान पड़ने लगा । इसलिए यह किसी को नमस्कारादि नहीं करती थी । इसके सिवा इस योग अवस्था से भी यह अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अपने शरीर को सिंगारा करती थी । इसका इस प्रकार बुरा, धर्मविरुद्ध आचार-विचार देखकर एक दिन धर्मात्मा ब्रह्मिला ने इसे समझाया कि इस योगदशा में तुझे ऐसा शरीर का सिंगार आदि करना उचित नहीं है । ये बातें धर्मविरूद्ध और पाप की कारण हैं । इसलिए कि इन से विषयों की इच्छा बढ़ती है । पुष्पदत्ता ने कहा-नहीं जी, मैं कहां सिंगार-विंगार करती हूँ । मेरा तो शरीर ही जन्म से ऐसी सुगन्ध लिये है । सच है, जिनके मन में स्वभाव से धर्म-वासना न हो उन्हें कितना भी समझाया जाय, उन पर उस समझाने का कुछ असर नहीं होता । उनकी प्रवृत्ति और अधिक बुरे कार्मो की ओर जाती है । पुष्पदत्ता ने यह मायाचार कर ठीक न किया । इसका फल इसके लिए बुरा हुआ । वह मर कर इस माया चार के पाप से चम्पापुरी में सागरदत्त सेठ के यहाँ दासी हुई । इसका नाम जैसा पूतिमुखी था, इसके मुँह से भी सदा वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती थी । इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि वे माया को पाप को कारण जान कर उसे दूर से ही छोड़ दें । यही माया पशुगति के दु:खों की कारण है और कुल, सुन्दरता, यश, माहात्म्य, सुगति धन-दौलत तथा सुख आदि का नाश करने वाली है और संसार के बढ़ा नेवाली लता है । यह जानकर माया को छोड़े हुए जैनधर्म अनुभवी विद्वानों को उचित है कि वे धर्म को ओर अपनी बुद्धि का लगावें ।

मरीचि की कथा

मरीचि की कथा

कथा :

सुख रूपी धान को हरा-भरा करने के लिए जो मेघ समान हैं, ऐसे जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर भरत-पुत्र मरीचि की कथा लिखी जाती है, जैसी कि वह और शास्त्रों में लिखी है ।

अयोध्या में रहने वाले सम्राट् भारतेश्वर भरत के मरीचि नाम का पुत्र हुआ । मरीचि भव्य था और सरलमना था । जब आदिनाथ भगवान् जो कि इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर चक्रवर्ती आदि सभी महापुरूषों द्वारा सदा पूजा किये जाते थे, संसार छोड़कर योगी हुए तब उनके साथ कोई चार हजार राजा और भी साधु हो गये । इस कथा का नायक मरीचि भी इन साधुओं में था ।

भरतराज एक दिन भगवान् आदिनाथ तीर्थकर का उपदेश सुनने को समवशरण में गये । भगवान् को नमस्कार कर उन्होंने पूछा-भगवन्, आप के बाद तेईस तीर्थंकर और होंगे ऐसा मुझे आपके उपदेश से जान पड़ा पर इस सभा में भी कोई ऐसा महापुरूष हैं जो तीर्थंकर होनेवाला हो ? भगवान् बोले-हाँ, है । वह यहीं तेरा पुत्र मरीचि, जो अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नाम से प्रख्यात होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं । सुनकर भरत की प्रसन्नता का तो कुछ ठिकाना न रहा और इसी बात से मरीचि की मतिगति उलटी ही हो गई । उसे अभिमान आ गया कि अब तो मैं तीर्थंकर होऊँगा ही, फिर मुझे नंगे रहना, दु:ख् सहना, पूरा खाना-पीना नहीं, यह सब कष्ट क्यों ? किसी दूसरे वेष में रहकर मैं क्यों न सुख आराम पूर्वक रहूँ ! बस, फिर क्या था, जैसे ही विचारों का हृदय में उदय हुआ, उसी समय वह सब व्रत, संयम; आचार-विचार, सम्यक्त्व आदि को छोड़-छाड़ कर तापसी बन गया और सांख्य, परिव्राजक आदि कई मतों को अपनी कल्पना से चलाकर संसार के घोर दु:खों का भोग ने वाला हुआ । इसके बाद वह अनेक कुगतियों में घूमा किया । सच है, प्रमाद, असावधानी या कषाय जीवों के कल्याण-मार्ग में बड़ा ही विघ्न करने वाली है और अज्ञान से भव्यजन भी प्रमादी बनकर दु:ख भोगते हैं । इसलिए ज्ञानियों को धर्मकार्यो में तो कभी भूलकर भी प्रमाद करना ठीक नहीं है । मोह की लीला से मरीचि को चिरकाल तक संसार में घूमना पड़ा । इसके बाद पाप कर्म की कुछ शान्ति होने से उसे जैनधर्म का फिर योग मिल गया । उसके प्रसाद से वह नन्द नाम का राजा हुआ । फिर किसी कारण से इसे संसार से वैराग्य हो गया । मुनि होकर इसने सोलह कारण भावना द्वारा तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध किया । यहाँ से यह स्वर्ग गया । स्वर्गायु पूरी होने पर इसने कुण्डलपुर में सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी प्रिया के यहाँ जन्म लिया । ये ही संसार पूज्य महावीर भगवान् के नाम से प्रख्यात हुए । इन्होंने कुमार पन में ही दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त किया । देव, विद्याधर चक्रवर्तियों द्वारा ये पूज्य हुए । अनेक जीवों को इन्होंने कल्याण के मार्ग पर लगाया । अपने समय में धर्म के नाम पर होने वाली वे-शुमार पशु हिंसा का इन्होंने घोर विरोध कर उसे जड़मूल से उखाड़ फैंक दिया । इनके समय में अहिंसा धर्म की पुन: स्थापना हुई । अन्त में ये अघातिया कर्मों का भी नाश कर परमधाम-मोक्ष चले गये । इसलिए हे आत्म सुख के चाहने वालों, तुम्हें सच्चे मोक्ष सुख की यदि चाह है तो तुम सदा हृदय में जिनभगवान के पवित्र उपदेश को स्थान दो । यही तुम्हारा कल्याण करेगा । विषयोंकी ओर ले जाने वाले उपदेश, कल्याण-मार्ग की ओर नहीं झुका सकते ।

वे वर्द्धमान-महावीर भगवान् संसार में सदा जय लाभ करें, उनका पवित्र शासन निरन्तर मिथ्यान्धकार का नाश कर चमकता रहे, जो भगवान् जीवमात्र का हित करने वाले हैं, ज्ञान के समुद्र हैं, राजों, महाराजों द्वारा पूजा किये जाते हैं और जिनकी भक्ति स्वर्गादि का उत्तम सुख देकर अन्त में अनन्त, अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी से मिला देती है ।

गन्धमित्र की कथा

गन्धमित्र की कथा

कथा :

अनन्त गुण-विराज मान और संसार का हित करने वाले जितेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर गन्धमित्र राजा की कथा लिखी जाती है, जो घ्राणेन्द्रिय के विषय में फँसकर अपनी जान गँवा बैठा है ।

अयोध्या के राजा विजय सेन और रानी विजयवती के दो पुत्र थे । इनके नाम थे जयसेन और गन्धमित्र । इन में गन्धमित्र बड़ा लम्पटी था । भौंरे की तहर नाना प्रकार के फूलों के सूंघने में वह सदा मस्त रहता था ।

इनके पिता विजयसेन एक दिन कोई कारण देखकर संसार से विरक्त हो गये । इन्होंने अपने बड़े लड़के जयसेन को राज्य देकर और गन्धमित्र को युवराज बनाकर सागर सेन मुनिराज से योग ले लिया । सच है, जो अच्छे पुरूष होते हैं उनकी धर्म की ओर स्वभाव ही से रूचि होती है ।

जयसेन के छोटे भाई गन्धमित्र को युवराज पद अच्छा नहीं लगा । इसलिए कि उसकी महत्वाकांक्षा राजा होने की थी तब उसने राज्य के लोभ में पड़कर अपने बड़े भाई के विरूद्ध षड्यंत्र रचा । कितने ही बड़े-बड़े कर्मचारियों को उसने धन का लोभ देकर उभारा, प्रजा में से भी बहुतों को उल्टी-सीधी सुझाकर बहकाया । गन्धमित्र कों इसमें सफलता प्राप्त हुई । उसने मौका पाकर बड़े भाई जयसेन को सिंहासन से उतार राज्य बाहर कर दिया और आप राजा बन बैठा । लोभ में पड़कर मूर्खजन अपने सगे भाई की जान तक लेने की कोशिश में रहते हैं ।

राज्य-भ्रष्ट जयसेन को अपने भाई के इस अन्याय से बड़ा दु:ख हुआ । इसका उसे ठीक बदला मिले, इस उपाय में अब वह भी लगा । प्रतिहिंसा से अपने कर्त्तव्य को वह भूल बैठा । उस दिन का रास्ता वह बड़ी उत्सुकता से देखने लगा जिस दिन गन्धमित्र को वह ठार मार कर अपने हृदय को सन्तुष्ट करे ।

गन्धमित्र लम्पटी तो था ही, सो वह रोज-रोज अपनी स्त्रियों साथ लिए जाकर सरयू नदी में उनके साथ जलक्रीड़ा हँसी, दिल्लगी किया करता था । जयसेन ने इस मौके को अपना बदला चुकाने के लिए बहुत ही अच्छा समझा । एक दिन उसने जहर के पुट दिये अनेक प्रकार के अच्छे-अच्छे मनोहर फलों को ऊपर की ओर से नदी में बहादिया । फूल गन्धमित्र के पास होकर बहे जा रहे थे । गन्धमित्र उन्हें देखते ही उनके लेने के लिए झपटा । कुछ फूलों को हाथ में ले वह सूँघने लगा । फूलों के विष का उस पर बहुत जल्दी असर हुआ और देखते-देखते वह चल बसा । मर कर गन्धमित्र घ्राणेद्रिय के विषय की अत्यन्त लालसा से नरक गया । सो ठीक है, इंद्रियों के अधीन हुए लोगों का नाश होता ही है ।

देखिये, गन्धमित्र केवल एक विषय का सेवन कर नरक में गया, जो कि अनन्त दु:खों का स्थान है । तब जो लोग पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने वाले हैं, वे क्या नरकों में न जायँगे ? अवश्य जांयगे । इसलिए जिन बुद्धिमानों को दु:ख सहना अच्छा नहीं लगता या वे दु:खों को चाहते ही नहीं, तो उन्हें विषयों को ओर से अपने मन को खींच कर जिनधर्म की ओर लगाना चाहिये ।

गन्धर्वसेना की कथा

गन्धर्वसेना की कथा

कथा :

सब सुखों के देने वाले जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर मूर्खिणी गन्धर्वसेना का चरित लिखा जाता है । गन्धर्वसेना भी एक ही विषय को अत्या शक्ति से मौत के पंजे में फँसी थी ।

पाटलि पुत्र (पटना) के राजा गन्धवदत्त को रानी गन्धर्व दत्ता के गन्धर्वसेना नाम की एक कन्या थी । गन्धर्वसेना गान विद्याकी बड़ी अच्छी जानकार थी । और इसलिए उसने प्रतिज्ञा कर रक्खो थी कि जो मुझे गाने में जीत लेगा वहीं मेरा स्वामी होगा, उसी की मैं अंकशायिनी बनूंगी । गन्धर्व सेना की खूब सूरती को मनोहारी सुगन्ध की लालसा से अनेक क्षत्रिय कुमार भौरे की तरह खिंचे हुए आते थे, पर यहाँ आकर उन सबको निराश-मुँह लौट जाना पड़ता था । गन्धर्वसेना के सामने गाने में कोई नहीं ठहर ने पाता था ।

एक पांचाल नाम का उपाध्याय गान शास्त्र का बहुत अच्छा अभ्यासी था । उसकी इच्छा भी गन्धर्व सेना को देखने की हुई । वह अपने पाँच सो शिष्यों को साथ लिये पटना आकर एक बगीचे में ठहरा । समय गर्मी का था और बहुत दूर की मंजिल करने से पांचाल थक भी गया था । इसलिए वह अपने शिष्यों से यह कहकर, कि कोई यहाँ आये तो मुझे जगा देना,एक वृक्ष की ठंडी छाया में सो गया । इधर तो यह सोया और उधर इसके बहुत से विद्यार्थी शहर देखने को चल दिये ।

गन्धर्व सेना को जब पांचाल के आने और उसके पाण्डित्य की खबर लगी । वह इसे देखने को आई । उसने इसे बहुतसी वीणाओं को आस-पास रखे सोया देख कर समझा तो सही कि यह विद्वान् तो बहुत भारी है, पर जब उसके लार बहते हुए मुँहपर उसकी नजर गई, तो उसे पांचाल से ड़ी नफरत हुई । उसने फिर उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा और जिस झाड़ के नीचे पांचाल सोया हुआ था । उसकी चन्दन, फूल वगैरह से पूजा कर वह उसी समय अपने महल लौट आई । गन्धर्वसेना के जाने बाद जब पांचाल की नींद खुली और उसने

वृक्ष का गध-पुष्पादि से पूजा हुआ पाया तो कुछ संदेह हुआ । एक विद्यार्थी से इसका कारण पूछा तो उसने एक खोके आने और इस वृक्ष की पूजा कर उसके चले जाने का हाल पांचाल से कहा । पांचाल ने समझ लिया कि गन्धर्वसेना आकर चली गई । तब उसने सोचा यह तो ठीक नहीं हुआ । सोने ने सब बना-बनाया खेल बिगाड़ दिया । खैर, जो हुआ, अब पीछे लौट जाना भी ठीक नहीं । चलकर प्रयत्न जरूर करना चाहिए । इसके बाद यह राजा के पास गया और प्रार्थना कर अपने रहने को एक स्थान उसने माँगा । स्थान उसकी प्रार्थना के अनुसार गन्धर्वसेना के महल के पास ही मिला । कारण राजा से पांचाल ने कह दिया था कि आपकी राजकुमारी गाने में बड़ी होशियार है, ऐसा मैं सुनता हूँ । और में भी आपकी कृपा से थोड़ा बहुत गाना जानता हूँ, इसलिए मेरी इच्छा राजकुमारी का गाना सुनकर यह बात देखने की है कि इस विषय में उसकी गति कैसी है । यही कारण था कि राजा ने कुमारी के महल के समीप ही उसे रहने की आज्ञा दे दी । अस्तु ।

एक दिन पांचाल कोई रात के तीन चार बजे के समय वीणा को हाथ में लिए बड़ी मधुरता से गाने लगा । उसके मधुर मनोहर गाने की आवाज शान्त रात्रि में आकाश को भेदती हुई गन्धर्वसेना के कानों से जाकर टकराई । गन्धर्वसेना इस समय भर नींद में थी । पर इस मनोमुग्ध करने वाली आवाज को सुनकर वह सहसा चौककर उठ बैठी । न केवल उठ बैठने ही से उसे सन्तोष हुआ । वह उठकर उधर दौड़ी भी गई जिधर से आवाज गूँजती हुई आ रही थी । इस बे-भान अवस्था में दौड़ते हुये उसका पाँव खिसक गया और वह धड़ाम से आकर जमीन पर गिर पड़ी । देखते-देखते उसका आत्माराम उसे छोड़कर चला गया । इस विषयासक्ति से उसे फिर संसार में चिर समय तक रूलना पड़ा ।

गन्धर्वसेना एक कर्णेन्द्रिय के विषय की लम्पटता से जब अथाह संसार सागर में डूबी, तब जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सदाकाल मस्त रहते हैं, वे यदि डूबे तो इसमें नई बात क्या ? इसलिए बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे इन दुखों के कारण विषय भोगों को छोड़कर सुख के सच्चे स्थान जिनधर्म का आश्रय लें ।

भीमराज की कथा

भीमराज की कथा

कथा :

केवलज्ञान रूपी नेत्रों की अपूर्व शोभा को धारण किये हुए श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर भीमराज की कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर सत्पुरूषों को इस दु:खमय संसार से वैराग्य होगा ।

कांपिल्य नगर में भीम नाम का एक राजा हो गया है । यह दुर्बुद्धि बड़ा पापी था । उसकी रानी का नाम सोमश्री था । इसके भीमदास नामक लड़का था । भीम ने कुल क्रम के अनुसार नन्दीश्वर पर्व में मुनादी पिटवाई कि कोई इस पर्व में जीव-हिंसा न करे । राजा ने मुनादी तो पिटवा दी, पर वह स्वयं महालम्पटी था । मांस खाये बिना उसे एक दिन भी नहीं चैन पड़ता था । उसने इस पर्व में भी अपने रसोइयों से मांस पकाने को कहा । पर दुकानें बंद थी, अत: उसे बड़ी चिन्ता हुई । वह मांस लाये कहाँ से ? तब उसने एक युक्ति की । वह मसान से एक बच्चे की लाश उठा लाया और उसे पकाकर राजा को खिलाया । राजा को वह मांस बड़ा ही अच्छा लगा । तब उसने रसोइयों से कहा – क्या रे, आज यह मांस और दिनों की अपेक्षा इतना स्वादिष्ट क्यों है ? रसोइये ने डरकर सच्ची बात राजा से कह दी । राजा ने तब उससे कहा – आज से तू बालकों का ही मांस पकाया करना ।

राजा ने तो झट से कह दिया कि अब से बालकों का ही मांस खाने के लिए पकाया करना । पर रसोइये को इसकी बड़ी चिन्ता हुई कि वह रोज-रोज बालकों को लाये कहाँ से ? और राजाज्ञा का पालन होना ही चाहिये । तब उसने प्रयत्न किया कि रोज शाम के वक्त शहर के मुहल्लों में जाना जहाँ बच्चे खेल रहे हों उन्हें मिठाई का लोभ देकर झट से किसी एक को पकड़कर उठा लाना । इसी तरह वह रोज-रोज एक बच्चे की जान लेने लगा । सच है, पापी लोगों की संगति दूसरों को भी पापी बना देती है । जैसे भीमराज की संगति से उसका रसोइया भी उसीके सरीखा पापी हो गया ।

बालकों को प्रतिदिन इसप्रकार एकाएक गायब होने से शहर में बड़ी हलचल मच गई । सब इसका पता लगाने की कोशिश में लगे । एक दिन इधर तो रसोइया चुपके से एक गृहस्थ के बालक को उठाकर चला कि पीछे से उसे किसी ने देख लिया । रसोइया झट-पट पकड़ लिया गया । उससे जब पूछा गया तो उसने सब बातें सच्ची-सच्ची बतला दीं । यह बात मंत्रियों के पास पहुंची । उन्होंने सलाहकर

भीमदास को अपना राजा बनाया और भीम को रसोइये के साथ शहर से निकाल-बाहर किया । सच है, पापियों का कोई साथ नहीं देता । माता, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र, मंत्री, प्रजा आदि सब ही विरूद्ध होकर उसके शत्रु बन जाते हैं ।
भीम यहाँ से चलकर अपने रसोइये के साथ एक जंगल में पहुँचा । यहाँ इसे बहुत ही भूख लगी । इसके पास खाने को कुछ नहीं था । तब यह अपने रसोइये को ही मारकर खा गया । यहाँ से घूमता-फिरता यह मेखलपुर पहुँचा और यहाँ वासुदेव के हाथ मारा जाकर नरक गया । अधर्मी पुरूष अपने ही पाप कर्मों से संसार-समुद्र में रूलते हैं । इसलिए सुख की चाह करनेवाले बुद्धिमानों को चाहिए कि सुख के स्थान जैन-धर्म का पालन करें ।

नागदत्ता की कथा

नागदत्ता की कथा
कथा :
देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों और राजों, महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान् के चरणों को नमस्कार कर नागदत्त की कथा लिखी जाती है ।
आभीर देश के नासक्य नगरी में सागरदत्त नाम का एक सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम नागदत्ता था । इसके एक लड़का और एक लड़की थी । दोनों के नाम थे श्रीकुमार और श्रीषेणा । नागदत्ता का चाल-चलन अच्छा न था । अपनी गौएँ को चराने वाले नन्द नाम के गुवाल के साथ उसकी आशनाई थी । नागदत्ता उसे एक दिन कुछ सिखा-सुझा दिया । सो वह बीमारी का बहाना बनाकर गौएँ चराने को नहीं आया । तब बेचारे सागरदत्त को स्वयं गौएँ चराने को जाना पड़ा । जंगल में गौओं को चरते छोड़कर वह एक झाड़ के नीचे सो गया । पीछे से नन्द गुवाल ने आकर उसे मार डाला । बात यह थी कि नागदत्ता ने ही अपने पति को मार डालने के लिए उसे उकसाया था । और फिर पर-स्त्री लम्पटी पुरूष अपने सुख में आने वाले विघ्न को नष्ट करने के लिए कौन बुरा काम नहीं करता ।
नागदत्ता और पापी नन्द इस प्रकार अनर्थ द्वारा अपने सिर पर एक बड़ा भारी पाप का बोझ लादकर अपनी नीच मनोवृत्तियों को प्रसन्न करने लगे । श्रीकुमार अपनी माता की इस नीचता से बेहद कष्ट पाने लगा । उसे लोगों को मुँह दिखाना तक कठिन हो गया । उसे बड़ी लज्जा आने लगी और इसके लिए उसने अपनी माता को बहुत कुछ कहा सुना भी । पर नागदत्ता के मन पर उसका कुछ असर नहीं हुआ । वह पिचली हुई नागिन की तरह उसी पर दाव खाने लगी । उसने नाराज होकर श्रीकुमार को भी मार डालने के लिए नन्द को उभारा । नन्द फिर बीमारी का बहाना बनाकर गौएँ चराने को नहीं आया । तब श्रीकुमार स्वयं ही जाने को तैयार हुआ । उसे जाता देखकर उसकी बहिन श्रीषेणा ने रोककर कहा -- भैया, तुम मत जाओ । मुझे माता का इसमें कुछ कपट दिखता है । उसने जैसे नन्द द्वारा अपने पिताजी को मरवा डाला है, वह तुम्हें भी मरवा डालने के लिए दाँत पीस रही है । मुझे जान पड़ता है नन्द इसीलिए बहाना बनाकर आज गौएँ चराने को नहीं आया । श्रीकुमार बोला -- बहिन, तुमने मुझे आज सावधान कर दिया यह बड़ा ही अच्छा किया । तुम मत घबराओ । मैं अपनी रक्षा अच्छी तरह कर सकूंगा । अब मुझे रंच मात्र भी डर नहीं रहा और मैं तुम्हारे कहने से भी नहीं जाता, पर इससे माता को अधिक सन्देह होता और वह फिर कोई दूसरा ही यत्न मुझे मरवाने का करती । क्योंकि वह चुप तो कभी बैठी ही न रहती । आज बहुत ही अच्छा मौका हाथ लगा है । इसलिए मुझे जाना ही उचित है और जहाँ तक मेरा बस चलेगा मैं जड़-मूल से उस अंकुर को ही उखाड़ कर फेंक दूँगा, जो हमारी माता के अनर्थ का मूल कारण है । बहिन, तुम किसी तरह की चिन्ता मन में न लाओ । अनाथों का नाथ अपना भी मालिक है ।
श्रीकुमार बहिन को समझाकर जंगल में गौएँ चराने को गया । उसने वहाँ एक बड़े लकड़े को वस्त्रों से ढंककर इस तरह रख लिया कि वह दूसरों को सोया हुआ मनुष्य जान पड़ने लगे और आप एक ओर छिप गया । श्रीषेणा की बात सच निकली । नन्द नंगी तलवार लिये दबे पाँव उस लकड़े के पास आया और तलवार उठाकर उसने उस पर दे मारी । इतने में पीछे से आकर श्रीकुमार ने उसकी पीठ में इस जोर की एक भाले की जमाई कि भाला आर-पार हो गया । और नन्द देखते-देखते तड़फड़ाकर मर गया । इधर श्रीकुमार गौओं को लेकर घर लौट आया । आज गौएँ दोहने के लिए भी श्रीकुमार ही गया । उसे देखकर नागदत्ता ने उससे पूछा – क्यों कुमार, नन्द नहीं आया ? मैंने तो तेरे ढूँढ़ने के लिए जंगल में भेजा था । क्या तूने उसे देखा है कि वह कहाँ पर है ? श्रीकुमार से तब रहा न गया और गुस्से में आकर उसने कह डाला -- माता, मुझे तो मालूम नहीं कि नन्द कहाँ है । पर मेरा यह भाला, अवश्य जानता है । नागदत्ता की आँखे जैसे ही उस

खून से भरे हुए भाले पर पड़ी तो उसकी छाती धड़क उठी । उसने समझ लिया कि इसने उसे मार डाला है । अब तो क्रोध से वह भी भर्रा गई । उसके सामने एक मूसला रक्खा था । उस पापिनी ने उसे उठाक रश्रीकुमार के सिर पर इस जोर से मारा कि सिर फट कर तत्काल वह भी धराशायी हो गया । अपने भाई को इस प्रकार हत्या हुई देखकर श्रीषेणा दौड़ी और नागदत्ता के हाथ से झट से मूसला छुड़ाकर उसने उसके सिर पर एक जोर की मार जमाई, जिससे वह भी अपने किये की योग्य सजा पा गई । नागदत्ता मरकर पाप के फल से नरक गई । सच है, पापी को अपना जीवन पाप में ही बिताना पड़ता है । नागदत्ता इसका उदाहरण है । उस दुराचार को धिक्कार, उस काम को धिक्कार, जिसके वश मनुष्य महापाप कर्म कर और फिर उसके फल से दुर्गति में जाता है । इसलिए सत्पुरूषों को उचित है कि वे जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये, सबको प्रसन्न करने वाले और सुख प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य-व्रत का सदा पालन करें ।

द्वीपायन मुनि की कथा

द्वीपायन मुनि की कथा
कथा :
संसार के स्वामी और अनन्त सुखों को देने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर द्वीपायन मुनि का चरित्र लिखा जाता है, जैसा पूर्वाचार्यों ने उसे लिखा है ।
सोरठ देश में द्वारका प्रसिद्ध नगरी है । नेमिनाथ भगवान् का जन्म यहीं हुआ है । इससे यह बड़ी पवित्र समझी जाती है । जिस समय की यह कथा लिखी जाती है उस समय द्वारका का राज्य नवमें नारायण-बलभद्र और वासुदेव करते थे । एक दिन ये दोनों राज-राजेश्वर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् की पूजा वन्दना करने को गये । भगवान् की इन्होंने भक्ति पूर्वक पूजा की और उनका उपदेश सुना । उपदेश सुनकर इन्हें बहुत प्रसन्नता हुई । इसके बाद बलभद्र ने भगवान् से पूछा – हे संसार के अकारण बन्धो, हे केवलज्ञान रूपी नेत्र के धारक, हे ! तीन जगत के स्वामी, हे करूणा के समुद्र और हे लोकालोक के प्रकाशक, कृपाकर कहिए, कि वासुदेव को पुण्य से जो सम्पत्ति प्राप्त है वह कितने समय तक ठहरेगी ? भगवान् बोले – बारह वर्ष पर्यन्त वासुदेव के पास रहकर फिर नष्ट हो जायगी । इसके सिवा मद्यपान से यदुवंश का समूल नाश होगा, द्वारका द्वीपायन मुनि के सम्बन्ध से जलकर खाक हो जाएगी, और बलभद्र, तुम्हारी इस छुरी द्वारा जरत्कुमार के हाथों से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी । भगवान् के द्वारा यदुवंश, द्वारका और वासुदेव का भविष्य सुनकर बलभद्र द्वारका आये । उस समय द्वारका में जितनी शराब थी, उसे उन्होंने गिरनार पर्वत के जंगलों में डलवा दिया । उधर द्वीपायन अपने सम्बन्ध से द्वारका का भस्म होना सुन मुनि हो गये और द्वारका को छोड़कर कहीं अन्यत्र चल दिये । मूर्ख लोग न समझकर कुछ यत्न करें, पर भगवान् का कहा कभी झूठा नहीं होता । बलभद्र ने को तो फिकवा दिया था । अब एक छुरी और उनके पास रह गई थी, जिसके द्वारा भगवान ने श्रीकृष्ण की मौत होना बतलाई थी । बलभद्र ने उसे भी खूब घिस-घिसा कर समुद्र में फिकवा दिया । कर्मयोग से उस छुरी को एक मच्छ निगल गया और वही मच्छ फिर एक मल्लाह की जाल में आ फँसा । उसे मारने पर उसके पेट से यह छुरी निकाली और धीरे-धीरे वह जरत्कुमार के हाथ तक भी पहुँच गई । जरत्कुमार ने उसका बाण के लिए फला बनाकर उसे अपने बाण पर लगा लिया ।
बारह वर्ष हुए नहीं, पर द्वीपायन को अधिक महीनों का ख्याल न रहने से बारह वर्ष पूरे हुये समझ वे द्वारका की ओर लौट आकर गिरनार पर्वत के पास ही कहीं ठहरे और तपस्या करने लगे । पर तपस्या द्वारा कर्मों का ऐसा योग कभी नष्ट नहीं किया जा सकता । एक दिन की बात है कि द्वीपायन मुनि आतापन योग द्वारा तपस्या कर रहे थे । इसी समय मानों पाप कर्मों द्वारा उभारे हुए यादवों के कुछ लड़के गिरनार पर्वत से खेलकूद कर लौट रहे थे । रास्ते में इन्हें बहुत जोर की प्यास लगी । यहाँ तक कि ये बैचेन हो गये । इनके लिए घर आना मुश्किल पड़ गया । आते-आते इन्हें पानी से भरा एक गड्ढा देख पड़ा । पर वह पानी नहीं था; किन्तु बलभद्र ने जो शराब ढुलवा दी थी वही बहकर इस गड्ढे में इकट्ठी हो गई थी । इस शराब को ही उन लड़को ने पानी समझ पी लिया । शराब पीकर थोड़ी देर हुई होगी कि उसने इन पर अपना रंग जमाना शुरू किया । नशे से ये सुध-बुध भूलकर उन्मत की तरह कूदते-फाँदते आने लगे । रास्ते में इन्होंने द्वीपायन मुनि को ध्यान करते देखा । मुनि की रक्षा के लिए बलभद्र ने उनके चारों ओर एक पत्थरों का कोट सा बनवा दिया था । एक ओर उसके आने जाने का दरवाजा था । इन शैतान लड़कों ने मजाक में आ उस जगह को पत्थरों से पूर दिया । सच है, शराब पीने से सब सुध-बुध भूलकर बड़ी बुरी हालत हो जाती है । यहाँ तक कि उन्मत्त पुरूष अपनी माता-बहिनों के साथ भी बुरी वासनाओं को प्रगट करने में नहीं लजाता है । शराब पीने वाले पापी लोगों को हित-अहित का कुछ ज्ञान नहीं रहता । इन लड़कों की शैतानी का हाल जब बलभद्र को मालूम हुआ तो

वे वासुदेव को लिये दौड़-दौड़े मुनि के पास आये और उन पत्थरों को निकालकर उनसे उन्होंने क्षमा प्रार्थना की । इस क्षमा कराने का मुनि पर कोई असर नहीं हुआ । उनके प्राण निकलने की तैयारी कर रहे थे । मुनि ने सिर्फ दो उंगलियाँ उन्हें बतलाई । और थोड़ी ही देर बाद वे मर गये । क्रोध से मरकर तपस्या के फल से ये व्यन्तर हुए । इन्होंने कुअवधि द्वारा अपने व्यंतर होने का कारण जाना तो इन्हें उन लड़कों के उपद्रव की सब बातें ज्ञात हो गई । यह देख व्यंतर को बड़ा क्रोध आया । उसने उसी समय द्वारका में आकर आग लगा दी । सारी द्वारका धन-जन सहित देखते-देखते खाक हो गई । सिर्फ बलभद्र और वासुदेव बच पाये, जिनके लिये कि द्वीपायन ने दो उंगलियाँ बतलाई थी । सच है, क्रोध के वश हो मूर्ख पुरूष सब कुछ कर बैठते हैं । इसलिये भव्यजनों को शान्ति-लाभ के लिए क्रोध को कभी पास भी फटकने नहीं देना चाहिए । उस भयंकर अग्नि लीला को देखकर बलभद्र और वासुदेव का भी जीने का ठिकाने न रहा । ये अपना शरीर मात्र लेकर भाग निकले । यहाँ से निकलकर ये एक घोर जंगल में पहुँचे । सच है, पाप का उदय आने पर सब धन दौलत नष्ट होकर जी बचाना तक मुश्किल पड़ जाता है । जो पलभर पहले सुखी रहा हो वह दूसरे ही पल में पाप के उदय से अत्यन्त दु:खी हो जाता है इसलिए जिन लोगों के पास बुद्धि रूपी धन है, उन्हें चाहिये कि वे पाप के कारणों को छोड़कर पुण्य के कामों में अपने हाथों को बटावें । पात्रदान, जिन-पूजा, परोपकार, विद्याप्रचार, शील, व्रत, संयम आदि ये सब पुण्य के कारण हैं । बलभद्र और वासुदेव जैसे ही उस जंगल में आये, वासुदेव को यहाँ अत्यन्त प्यास लगी । प्यास के मारे वे गश खाकर गिर पड़े । बलभद्र उन्हें ऐसे ही छोड़कर जल लाने चले गये । इधर जरत्कुमार न जाने कहाँ से इधर ही आ निकला । उसने श्रीकृष्ण को हरिण के भ्रम से बाण द्वारा बेध दिया । पर जब उसने आकर देखा कि वह हरिण नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण हैं तब तो उसके दु:ख का कोई पार न रहा । पर अब वह कुछ करने-धरने को लाचार था । वह बलभद्र के भय से फिर उसी समय वहां से भाग लिया । इधर बलभद्र जब पानी लेकर लौटे और उन्होंने श्रीकृष्ण की यह दशा देखी तब उन्हें जो दु:ख हुआ वह लिखकर नहीं बताया जा सकता । यहाँ तक कि वे भ्रातृ प्रेम से सिंडी से हो गये और श्रीकृष्ण को कन्धों पर उठाये महीनों पर्वतों और जंगलों में घूमते फिरे । बलभद्र की यह हालत देख पूर्व-जन्म के मित्र एक देव को बहुत खेद हुआ । उसने आकर इन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और इनसे भाई का दहन-संस्कार करवाया । संस्कार कर जैसे ही ये निवृत्त हुए, इन्हें संसार की दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ । ये उसी समय सब दु:ख, शोक, माया-ममता छोड़कर योगी हो गये । इन्होंने फिर पर्वतों पर खूब दुस्सह तप किया । अन्त में धर्मध्यान सहित मरणकर ये माहेन्द्र-स्वर्ग में देव हुए । वहाँ ये प्रतिदिन नित नये और मूल्यवान सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहनते हैं, अनेक देव-देवी इनकी आज्ञा में सदा हाजिर रहते हैं, नाना प्रकार के उत्तम से उत्तम स्वर्गीय भोगों को ये भोगते हैं, विमान द्वारा कैलाश, सम्मेदशिखर, हिमालय, गिरनार आदि पर्वतों की यात्रा करते हैं, और विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात जिनभगवान् की पूजा-भक्ति करते हैं । मतलब यह है कि पुण्य के उदय से उन्हें सब कुछ सुख प्राप्त हैं और वे आनन्द-उत्सव के साथ अपना समय बिताते हैं ।
जो सम्यकदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप इन तीन महान् रत्नों से भूषित हैं, जो जिनभगवान् के चरणों के सच्चे भक्त हैं, चरित्र धारण करने वालों में जो सबसे ऊँचे है, जिनकी परमपवित्र बुद्धि गुणरूपी रत्नों से शोभा को धारण किये हैं, और जो ज्ञान के समुद्र हैं, ऐसे बलभद्र मुनिराज मुझे वह सुख, शांति और वह मंगल दें, जिससे मन सदा प्रसन्न रहे ।

शराब पीने वालों की कथा

शराब पीने वालों की कथा

कथा :

सब सुखों के देने वाले सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर शराब पीकर नुकसान उठाने वाले एक ब्राह्मण की कथा लिखी जाती है । वह इसलिए कि इसे पढ़कर सर्व-साधारण लाभ उठावें ।

वेद और वेदांगों का अच्छा विद्वान एक पात नाम का एक संन्यासी एक चक्रपुर से चलकर गंगा नदी की यात्रार्थ जा रहा था । रास्ते में जाता हुआ यह दैवयोग से विन्ध्याटवी में पहुँच गया । यहाँ जवानी से मस्त हुए कुछ चाण्डाल लोग दारू पी-पीकर एक अपनी जाति की स्त्री के साथ हँसी मजाक करते हुए नाच-कूद रहे थे, गा रहे थे और अनेक प्रकार की कुचेष्टाओं में मस्त हो रहे थे । अभागा संन्यासी इस टोली के हाथ पड़ गया । इन लोगों ने उसे आगे न जाने देकर कहा – अहा ! आप भले आये ! आप ही की हम लोगों में कसर थी । आइए, मांस खाइए, दारू पीजिए और जिन्दगी का सुख देने वाली इस खूबसूरत औरत का मजा लूटिए । महाराज जो आज हमारे लिए बड़ी खुशी का दिन है और ऐसे समय में जब आप सरीखे महात्माओं का आना, सहज में थोड़े ही होता है ? और फिर ऐसे खुशी के समय में ।

लीजिए, अब देर न कर हमारी प्रार्थना को पूरी कीजिए इनकी बातें सुनकर बेचारे संन्यासी के तो होश उड़ गये । वह इन शराबियों को कैसे समझाए, क्या कहे, और यह कुछ कहे सुनें भी तो वे मानने वाले कब ? यह बड़े संकट में फँस गया । तब भी उसने इन लोगों से कहा – भाइयो ! सुनो ! एक तो मैं ब्राह्मण उस पर संन्यासी, फिर बतलाओ मैं मांस, मदिरा कैसे खा-पी सकता हूँ ? इसलिए तुम मुझे जाने दो । उन चाण्डालों ने कहा – महाराज कुछ भी हो, हम तो आपके बिना कुछ प्रसाद लिए तो जाने नही देंगे । आप से हम यहाँ तक कह देते हैं कि यदि आप अपनी खुशी से खायेंगे तो बहुत अच्छा होगा, नहीं तो फिर जिस तरह बनेगा हम आपको खिलाकर ही छोड़ेंगे । बिना हमारा कहना किये आप जीते जी गंगाजी नहीं देख सकते । अब तो संन्यासीजी घबराये । वे कुछ विचार करने लगे, तभी उन्हें स्मृतियों के कुछ प्रमाण-वाक्य याद आ गए --

जो मनुष्य तिल या सरसों के बराबर मांस खाता है वह नरकों मे तब तक दु:ख भोगा करेगा, जब तक कि पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र रहेंगें । **अर्थ**ात् अधिक मांस खानेवाला नही । ब्राह्मण लोग यदि चाण्डाली के साथ विषय सेवन करें तो उनकी 'काष्टभक्षण' नाम के प्रायश्चित द्वारा शुद्धि हो सकती है । जो आँवले, गुड़ आदि से बनी शराब पीते हैं, वह शराब पीना नहीं कहा जा सकता - आदि ।

इसलिए जैसा ये कहते हैं, उसके करने में शास्त्रों, स्मृतियों से तो कोई दोष नहीं आता । ऐसा विचारकर उस मूर्ख ने शराब पी ली । थोड़ी ही देर बाद उसे नशा चढ़ने लगा । बेचारे को पहले कभी शराब पीने का काम पड़ा नहीं था इसीलिये उसका रंग इसपर और अधिकता से चढ़ा । शराब के नशे मे चूर होकर यह सब सुध-बुध भूल गया, अपनेपन का इसे कुछ ज्ञान न रहा । लंगोटी आदि फैंककर यह भी उन लोगों कि तरह नाचने-कूदने लगा जैसे कोई भूत-पिशाच के पंजे में पड़ा हुआ उन्मत्त की भाँति नाचने-कूदने लगता है । सच है, कुसंगति कुल, धर्म, पवित्रता आदि सभी का नाश कर देती है । संन्यासी बड़ी देर तक इसी तरह नाचता-कूदता रहा पर जब वह थोडा थक गया तो उसे जोर से भूख लगी । वहाँ खाने के लिए मांस के सिवा कुछ भी नहीं था । संन्यासी ने तब मांस ही खा लिया । पेट भरने के बाद उसे काम ने सताया । तब उसने यौवन कि मस्ती से मस्त उस स्त्री के साथ अपनी नीच-वासना पूरी की । मतलब यह है कि एक शराब पीने से ये सब नीच कर्म करने पड़े । दूसरे ग्रन्थों मे भी इस एक पात संन्यासी के सम्बन्ध में लिखा है कि – मूर्ख एक पात संन्यासी ने स्मृतियों के वचनों को प्रमाण मानकर शराब पी, मांस खाया और चाण्डालिनी के साथ विषय-सेवन किया । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि ये सहसा किसी प्रमाण पर विश्वास न कर बुद्धि से काम लें । क्योंकि मीठे पानी में मिला हुआ विष भी जान लिए बिना नहीं छोड़ता । देखिये, एक पात संन्यासी गंगा-गोदावरी का नहानेवाला था, विष्णु का सच्चा भक्त था, वेदों और स्मृतियों का अच्छा विद्वान था, पर अज्ञान से स्मृतियों के वचनों को हेतु-शुद्ध मानकर **अर्थ**ात् ऐसी शराब पीने में पाप नहीं, चाण्डालिनी का सेवन करने पर भी प्रायश्चित द्वारा ब्राह्मण की शुद्धि हो सकती है, थोडा मांस खाने में दोष है, न कि ज्यादा खाने में । इस प्रकार मन की समझौती करके उसने मांस खाया, शराब पी और अपने वर्षों के ब्रह्मचर्य को नष्ट कर वह कामी हुआ । इसलिए बुद्धिमानों को उन सच्चे शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए जो पाप से बचाकर कल्याण का रास्ता बतलाने वाले हैं और ऐसे शास्त्र जिनभगवान ने ही उपदेश किये हैं ।

सगर चक्रवर्ती की कथा

सागर चक्रवर्ती की कथा

कथा :

देवों द्वारा पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर दूसरे चक्रवर्ती सगर का चरित्र लिखा जाता है ।

जम्बुद्वीप के प्रसिद्ध और सुन्दर विदेहक्षेत्र की पूरब-दिशा में सीता नदी के पश्चिम की ओर वत्सकावती नाम का एक देश है । वत्सकावती का बहुत पुरानी राजधानी पृथिवी-नगर के राजा का नाम जयसेन था । जयसेन की रानी जयसेना थी । इसके दो लड़के हुए । इनके नाम थे रतिषेण और धृतिषेण । दोनों भाई बड़े सुन्दर और गुणवान थे । काल की कराल गति से रतिषेण मर गया । जयसेन का इसके मरने का बड़ा दु:ख हुआ । और इस दुख के मारे वे धृतिषेण को राज्य देकर मारूत और मिथुन नाम के राजा के साथ यशोधर मुनि के पास दीक्षा ले साधु हो गये । बहुत दिनों तक इन्होंने तपस्या की । फिर संन्यास सहित शरीर छोड़ स्वर्ग में ये महाबल नाम के देव हुए । इनके साथ दीक्षा लेने वाला मारूत भी इसी स्वर्ग में मणिकेतु नामक देव हुआ जो कि भगवान् के चरणकमलों का भौंरा था, अत्यन्त भक्त था । ये दोनों देव स्वर्ग की सम्पत्ति प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए । एक दिन इन दोनों ने विनोद करते-करते धर्म-प्रेम से एक प्रतिज्ञा की -- जो हम दोनों में पहले मनुष्य जन्म धारण करे तब स्वर्ग में रहने वाले देव का कर्तव्य होना चाहिए कि वह मनुष्य लोक में जाकर उसे समझाये और

संसार से उदासीनता उत्पन्न कराकर जिनदीक्षा के सम्मुख करे ।
महाबल की आयु बाईस सागर की थी । तबतक उसने खूब मन-माना स्वर्ग का सुख भोगा । अन्त में आयु पूरी कर बचे हुए पुण्य-प्रभाव से वह अयोध्या का राजा समुद्रविजय की रानी सुबला के सगर नाम का पुत्र हुआ । इसकी उमर सत्तर लाख पूर्व वर्षों की थी । इसके सोने के समान चमकते हुए शरीर की ऊँचाई साढ़े चार सौ धनुष **अर्थ**ात् १५७५ हाथों की थी । संसार की सुन्दरता ने इसी में आकर अपना डेरा दिया था, यह बड़ा ही सुन्दर था । जो इसे देखता उसके नेत्र बड़े आनन्दित होते । सगर ने राज्य भी प्राप्त कर छहों खण्ड पृथ्वी विजय की । अपनी भुजाओं के बल इसने दूसरे चक्रवर्ती का मान प्राप्त किया । सगर चक्रवर्ती हुआ, पर इसके साथ वह अपना धर्म-कर्म भूल गया था । इसके साठ हजार पुत्र हुए । इसे कुटुम्ब, धन-दौलत, शरीर-सम्पत्ति आदि सभी सुख प्राप्त थे । समय इसका खूब ही सुख के साथ बीतता था । सच है, पुण्य से जीवों को सभी उत्तम-उत्तम सम्पदायें प्राप्त होती हैं । इसलिये बुद्धिमानों को उचित है कि जिनभगवान् के उपदेश किये पुण्य-मार्ग का पालन करें ।
इसी अवसर में सिद्धवन में चतुर्मुख महामुनि को केवल-ज्ञान हुआ । स्वर्ग के देव, विद्याधर राजा महाराजा उनकी पूजा के लिए आये । सगर भी भगवान् के दर्शन करने को आया था । सगर को आया देख मणिकेतु ने उससे कहा – क्यों राजराजेश्वर, क्या अच्युत स्वर्ग की बात याद है ? जहाँ कि तुमने और मैंने प्रेम के वश ही प्रतिज्ञा की थी कि जो हम दोनों मे से पहले मनुष्य-जन्म ले उसे स्वर्ग का देव जाकर समझावे और संसार से उदासीन कर तपस्या के सम्मुख करे, अब तो आपने बहुत समय तक राज्य-सुख भोग लिया । अब तो इसके छोड़ने का यत्न कीजिये । क्या आप नहीं जानते कि ये विषय-भोग दु:ख के कारण और संसार में घुमाने वाले हैं ? राजन्, आप तो स्वयं बुद्धिमान हैं । आपको मैं क्या अधिक समझा सकता हूँ । मैंने तो सिर्फ अपनी प्रतिज्ञा पालन के लिए आपसे इतना निवेदन किया है । मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इन क्षण-भंगुर विषयों से अपनी लालसा को कम करके जिनभगवान् का परम-पवित्र तपोमार्ग ग्रहण करेंगे और बड़ी सावधानी के साथ मुक्ति-कामिनी के साथ ब्याह की तैयारी करेंगे । मणिकेतु ने उसे बहुत कुछ समझाया पर पुत्र-मोही सगर को संसार से नाम-मात्र के लिये भी उदासीनता न हुई । मणिकेतु ने जब देखा कि अभी यह पुत्र, स्त्री, धन-दौलत के मोह में खूब फँस रहा है । अभी इसे संसार से विषय-भोगों से उदासीन बना देना कठिन ही नहीं किन्तु एक प्रकार असंभव को संभव करने का यत्न है । अस्तु, फिर देखा जाएगा । यह विचार कर मणिकेतु अपने स्थान चला गया । सच है, काल-लब्धि के बिना कल्याण भी हो तो नहीं हो सकता ।
कुछ समय के बाद मणिकेतु के मन में फिर एक बार तरंग उठी कि जब किसी दूसरे प्रयत्न द्वारा सगर को तपस्या के सम्मुख करना चाहिए तब वह चारण-मुनि का वेष लेकर, जो कि स्वर्ग-मोक्ष के सुख को देने वाला है, सगर के जिनमन्दिर में आया और भगवान् का दर्शनकर वहीं ठहर गया । उसकी नई उमर और सुन्दरता को देखकर सगर बड़ा अचम्भित हुआ । उसने मुनिरूप धारण करनेवाले देव से पूछा, मुनिराज, आपके इस नई उमर ने, जिसने कि संसार का अभी कुछ सुख नहीं देखा, ऐसे कठिन योग को किसलिए धारण किया ? मुझे तो आपको योगी हुए देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है । तब देव ने कहा -- राजन्, तुम कहते हो, वह ठीक है । पर मेरा विश्वास है कि संसार में सुख है ही नहीं । जिधर मैं आंख खोलकर देखता हूँ मुझे दु:ख या अशान्ति ही दिख पड़ती है । यह जवाब बिजली की तरह चमककर पलभर में नाश होने वाली है । यह शरीर, जिसे तुम भोगों में लगाने को कहते हो, महा अपवित्र है । ये विषय-भोग जिन्हें तुम सुखरूप समझते हो, सर्प के समान भयंकर है और यह संसाररूपी समुद्र अथाह है, नाना तरह के दु:ख रूपी भयंकर जल जीवों से भरा हुआ है और मोह-जाल में फँसे हुए जीवों के लिए अत्यन्त दुस्तर है । तब जो पुण्य से यह मनुष्य देह मिला है, इसे इस अथाह समुद्र में बहने देना या जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बतलाये इस अथाह समुद्र के पार होने के साधन तपरूपी जहाज द्वारा उसके पार पहुँचा देना । मैं तो इसके लिये यही उचित समझता हूँ कि, जब संसार असार है और उसमें सुख नहीं है, तब संसार से पार होने का उपाय करना ही कर्तव्य और दुर्लभ मनुष्य देह के प्राप्त करने का फल है । मैं तो तुम्हें भी यही सलाह दूँगा कि तुम इस नाशवान माया ममता को छोड़कर कभी नाश न होने वाली लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये यत्न करो । मणिकेतु ने इसके सिवा और भी बहुत कहने सुनने या समझाने में कोई कसर न की । पर सगर सब कुछ जानता हुआ भी पुत्र-प्रेम के वश ही संसार को न छोड़ सका । मणिकेतु को इससे बड़ा दु:ख हुआ कि सगर की दृष्टि में अभी संसार की तुच्छता नजर न आई और वह उलटा उसी में फँसता जाता है । लाचार हो वह स्वर्ग चला गया ।
एक दिन सगर राजसभा में सिंहासन पर बैठे हुए थे । इतने में उनके पुत्रों ने आकर उनसे सविनय प्रार्थना की – पूज्यपाद पिताजी, उन वीर क्षत्रिय पुत्रों का जन्म किसी काम का नहीं, व्यर्थ है, जो कुछ काम न कर पड़े-पड़े खाते-पीते और ऐशो-आराम उड़ाया करते हैं ।

इसलिये आप कृपा-कर हमें कोई काम बतलाइये । फिर वह कितना ही कठिन या एक बार वह असाध्य ही क्यों न हो, उसे हम करेंगे । सगर ने उन्हें जवाब दिया -- पुत्रों, तुमने कहा वह ठीक है और तुम से वीरों के लिए यही उचित भी है । पर अभी मुझे कोई कठिन या सीधा ऐसा काम नहीं देख पड़ता जिसके लिए मैं तुम्हें कष्ट दूँ । और न छहों खण्ड पृथ्वी में मेरे लिये कुछ असाध्य ही है । इसलिये मेरी तो तुमसे यही आज्ञा है कि पुण्य से जो यह धन-सम्पत्ति प्राप्त है, इसे तुम भोगो । इस दिन तो ये सब लड़के पिता की बात का कुछ जवाब न देकर चुपचाप इसलिये चले गये कि पिता की आज्ञा तोड़ना ठीक नहीं । परन्तु इनका मन इससे रहा अप्रसन्न ही ।

कुछ दिन बीतने पर एक दिन ये सब फिर सगर के पास गये और उन्हें नमस्कार कर बोले -- पिताजी, आपने जो आज्ञा की थी, उसे हमने इतनों दिनों उठाई, पर अब हम अत्यन्त लाचार हैं । हमारा मन यहाँ बिलकुल नहीं लगता । इसलिये आप अवश्य कुछ काम में हमें लगाइये । नही तो हमें भोजन न करने को भी बाध्य होना पड़ेगा । सगर ने जब इनका अत्यन्त ही आग्रह देखा तो उसने इनसे कहा – मेरी इच्छा नहीं कि तुम किसी कष्ट को उठाने को तैयार हो । पर जब तुम किसी तरह मानने के लिये तैयार ही नहीं हो, तो अस्तु, मैं तुम्हें यह काम बताता हूँ कि श्रीमान् भरत-सम्राट ने कैलाश-पर्वत पर चौबीस-तीर्थंकरों के चौबीस मन्दिर बनवाये हैं । वे सब सोने के हैं । उनमें बेशुमार धन खर्च किया है, उनमें जो अर्हन्त भगवान् की पवित्र-प्रतिमाएँ हैं, वे रत्नमयी हैं । उनकी रक्षा करना बहुत जरूरी है । इसलिए तुम जाओ और कैलाश के चारों ओर एक गहरी खाई खोदकर उसे गंगा का प्रवाह लाकर भर दो । जिससे कि फिर दुष्ट लोग मन्दिरों को कुछ हानि न पहुँचा सके । सगर के सब ही पुत्र पिताजी की इस आज्ञा से बहुत खुश हुए । वे उन्हें नमस्कार कर आनन्द और उत्साह के साथ अपने काम के लिए चल पड़े । कैलाश पर पहुँचकर कई वर्षों स के कठिन परिश्रम द्वारा उन्होंने चक्रवर्ती के दण्डरत्न की सहायता से अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर ली ।

अच्छा, अब उस मणिकेतु की बात सुनिए – उसने सगर को संसार से उदासीन कर योगी बनाने के लिए दोबारा यत्न किया, पर दोनों ही बार उसे निराश हो जाना पड़ा । अबकी बार उसने एक बड़ा ही भयंकर कांड रचा । जिस समय सगर के ये साठ हजार लड़के खाई खोदकर गंगा का प्रवाह लाने को हिमालय पर्वत पर गये और इन्होंने दण्ड-रत्न द्वारा पर्वत फोड़ने के लिए उसपर एक चोट मारी उस समय मणिकेतु ने एक बड़े भारी और महा-विषधर सर्प का रूप धर, जिसकी फुँकार मात्र से कोसों दूर के जीव-जन्तु भस्म हो सकते थे, अपनी विषैली हवा छोड़ी । उससे देखते-देखते वे सब ही जलकर खाक हो गये । सच है, अच्छे पुरूष दूसरे का हित करने के लिए कभी-कभी तो उसका अहित कर उसे हित की ओर लगाते हैं । मन्त्रियों को इनके मरने की बात मालूम हो गई । पर उन्होंने राजा से इसलिए नहीं कहा कि वे ऐसे महान् दु:ख को न सह सकेंगे । तब मणिकेतु ब्राह्मण का रूप लेकर सगर के पास पहुँचा और बड़े दु:ख के साथ रोता-रोता बोला -- राजाधिराज, आप सरीखे न्यायी और प्रजा-प्रिय राजा के रहते मुझे अनाथ हो जाना पड़े, मेरी आँखों के एक-मात्र तारे को पापी लोग जबरदस्ती मुझसे छुड़ा ले जाय, मेरी सब आशाओं पर पानी फेरकर मुझे द्वार-द्वार का भिखारी बना दिया जाय और मुझे रोता छोड़ जाय तो इससे बढ़कर दु:खकी और क्या बात होगी ! प्रभो, मुझे आज पापियों ने बे-मौत मार डाला है । मेरी आप रक्षा कीजिए -- अशरण-शरण, मुझे बचाइये । सगर ने उसे इस प्रकार दु:खी देखकर धीरज दिया और कहा -- ब्राह्मण देव, घबराइये मत वास्तव में बात क्या है उसे कहिए । मैं तुम्हारे दु:ख दूर करने का यत्न करूँगा । ब्राह्मण ने कहा – महाराज क्या कहूँ ? कहते छाती फटी जाती है, मुँह से शब्द नहीं निकलता । यह सुनकर वह फिर रोने लगा । चक्रवर्ती को इससे बड़ा दु:ख हुआ । उसके अत्यन्त आग्रह करने पर मणिकेतु बोला – अच्छा तो महाराज, मेरी दु:ख की कथा सुनिए – मेरे एक-मात्र लड़का था । मेरी सब आशा उसी पर थी । वही मुझे खिलाता-पिलाता था । पर मेरे भाग्य आज फूट गये । उसे एक काल नाम का लुटेरा मेरे हाथों से जबरदस्ती छीन भागा । मैं बहुत रोया व कलपा, दया की मैंने उससे भीख मांगी, बहुत आर्जू-मिन्नत की, पर उस पापी चाण्डाल ने मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखा । राजराजेश्वर, आपसे, मेरी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि आप मेरे पुत्र को उस पापी से छुड़ा लादीजिए । नहीं तो मेरी जान न बचेगी । सगर को काल-लुटेर का नाम सुनकर हँसी आ गई । उसने कहा -- महाराज, आप बड़े भोले हैं । भला, जिसे काल ले जाता है, जो मर जाता है वह फिर कभी जीता हुआ है क्या ? ब्राह्मण देव, काल किसी से नहीं रुक सकता । वह तो अपना काम किये ही चला जाता है । फिर चाहे कोई बूढ़ा हो, या जवान हो, या बालक, सबके प्रति उसके समान भाव है । आप तो अभी अपने लड़के के लिए रोते हैं, पर मैं कहता हूँ कि वह तुम पर भी बहुत जल्दी सवारी करने वाला है । इसलिए यदि यह चाहते हो कि मैं उससे रक्षा पा सकूँ, तो इसके लिए यह उपाय कीजिए कि आप दीक्षा लेकर मुनि हो जाँय और अपना आत्म-हित करें । इसके सिवा काल पर विजय पाने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है । सब कुछ

सुन-सुना कर ब्राह्मण ने कुछ लाचारी बतलाते हुए कहा कि यदि यह बात सच है और वास्तव में काल से कोई मनुष्य विजय नहीं पा सकता तो लाचारी है । अस्तु, हाँ एक बात तो राजाधिराज, मैं आपसे कहना ही भूल गया और वह बड़ी ही जरूरी बात थी । महाराज, इस भूल की मुझ गरीब पर क्षमा कीजिए । बात यह है कि मैं रास्ते में आता-आता सुनता आ रहा हूँ, लोग परस्पर में बातें करते हैं कि हाय ! बड़ा बुरा हुआ जो अपने महाराज के लड़के कैलाश पर्वत की रक्षा के लिए खाई खोदने को गये थे, वे सबके सब ही एक साथ मर गये । ब्राह्मण का कहना पूरा भी न हुआ कि सगर एकदम गश खाकर गिर पड़े । सच है, ऐसे भयंकर दु:ख समाचार से किसे गश न आयेगा, कौन मूर्च्छित न होगा । उसी समय उपचारों द्वारा सगर होश में लाये गये । इसके बाद मौका पाकर मणिकेतु ने उन्हें संसार की दशा बतलाकर खूब उपदेश किया । अबकी बार वह सफल प्रयत्न हो गया । सगर को संसार की इस क्षण-भंगुर दशा पर बड़ा ही वैराग्य हुआ । उन्होंने भगीरथ को राज देकर और सब माया-ममता को छुड़ाकर दृढ़ धर्म-केवली द्वारा दीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार का भटकना मिटाने वाली है ।

सगर को दीक्षा लिए बाद ही मणिकेतु कैलाश पर्वत पर पहूँचा और उन लड़कों को माया-मीत से सचेत कर बोला -- सगरसुतों, जब आपको मृत्यु का हाल आपके पिता ने सुना तो उन्हें अत्यन्त दु:ख के मारे वे संसार की बिना शोकलक्ष्मी को छोड़कर साधु हो गये । मैं आपके कुल का ब्राह्मण हूँ । महाराज को दीक्षा ले जाने की खबर पाकर आपको ढूँढने को निकला था । अच्छा हुआ जो आप मुझे मिल गये । अब आप राजधानी में जल्दी चलें । ब्राह्मण रूप धारी मणिकेतु द्वारा पिता का अपने लिए दीक्षित हो जाना सुनकर सगर सुतों ने कहा महाराज, आप जायें । हम लोग अब घर नहीं जायेंगे । जिसलिए पिताजी सब राज्य-पाश छोड़कर साधु हो गये तब हम किस मुँह से उस राज को भोग सकते हैं ? हमसे इतनी कृतघ्नता न होगी, जो पिताजी के प्रेम का बदला हम ऐशो-आराम भोग कर दें । जिस मार्ग को हमारे पूज्य पिताजी ने उत्तम समझकर ग्रहण किया है वही हमारे लिए भी शरण है । इसलिए कृपाकर आप हमारे इस समाचार को भैया भगीरथ से जाकर कह दीजिए कि वह हमारे लिए कोई चिन्ता न करें । ब्राह्मण से इसप्रकार कहकर वे सब भाई दृढ़ धर्मभगवान् के समवशरण में आये और पिता की तरह दीक्षा लेकर साधु बन गये ।

भगीरथ को भाइयों का हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ । उसकी इच्छा भी योग ले लेने की हुई, पर राज्य-प्रबन्ध उसी पर निर्भर रहने से वह दीक्षा न ले सका । परन्तु उसने उन मुनियों द्वारा जिनधर्म का उपदेश सुनकर श्रावकों के व्रत ग्रहण किये । मणिकेतु का सब काम जब अच्छी तरह सफल हो गया तब वह प्रकट हुआ और उन सब मुनियों को नमस्कार कर बोला – भगवन् आपका मैंने बड़ा भारी अपराध जरूर किया है । पर आप जैन-धर्म के तत्व को यथार्थ जानने वाले हैं । इसलिए सेवक पर क्षमा करें । इसके बाद मणिकेतु ने आदि से इति पर्यन्त सबको सब घटना कह सुनाई । मणिकेतु के द्वारा सब हाल सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उससे बोले -- देवराज, इसमें तुम्हारा अपराध क्या हुआ, जिसके लिए क्षमा की जाय ? तुमने तो उल्टा हमारा उपकार किया है । इसलिए हमें तुम्हारा कृतज्ञ होना चाहिए । मित्रपने के नाते से तुमने जो कार्य किया है वैसा करने के लिए तुम्हारे बिना और समर्थ ही कौन था ? इसलिए देवराज, तुम ही सच्चे धर्म-प्रेमी हो, जिनभगवान् के भक्त हो, और मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति के कारण हो । सगर-सुतों का इसप्रकार सन्तोष-जनक उत्तर पा मणिकेतु बहुत प्रसन्न हुआ । वह फिर उन्हें भक्ति-पूर्वक नमस्कार कर स्वर्ग चला गया । यह मुनि-संघ विहार करता हुआ सम्मेद-शिखर पर आया और यहीं कठिन तपस्या कर शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से इसने निर्वाण लाभ किया ।

उधर भगीरथ ने जब अपने भाइयों का मोक्ष प्राप्त करना सुना तो उसे भी संसार से बड़ा वैराग्य हुआ । वह फिर अपने वरदत्त पुत्र को राज्य सौंप आप कैलाश पर शिवगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा ग्रहण कर मुनि हो गया । भगीरथ ने मुनि होकर गंगा के सुन्दर किनारों पर कभी प्रतिमायोग से, कभी आतापन योग से और कभी और किसी आसन से खूब तपस्या की । देवता लोग उसकी तपस्या से बहुत खुश हुए । और इसलिए उन्होंने भक्ति के वश हो भगीरथ के चरणों में क्षीर-समुद्र के जल से अभिषेक किया, जो कि अनेक प्रकार के सुखों को देनेवाला है । उस अभिषेक के जल का प्रवाह बढ़ता हुआ गंगा में गया । तभी से गंगा तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई और लोग उसके स्नान को पुण्य का कारण समझने लगे । भगीरथ ने फिर कहीं अन्यत्र विहार न किया । वह वहीं तपस्या करता रहा और अन्त में कर्मों का नाश कर उसने जन्म, जरा, मरणादि रहित मोक्ष का सुख भी यहीं से प्राप्त किया ।

केवलज्ञान रूपी नेत्र द्वारा संसार के पदार्थों को जानने और देखनेवाले, देवों द्वारा पूजा किये गये और मुक्तिरूप रमणी रत्न के स्वामी श्री सागरमुनि तथा जैन तत्व के परम विद्वान वे सगरसुत मुनिराज मुझे वह लक्ष्मी दें, जो कभी नाश होने वाली नहीं है और सर्वोच्च सुख को

देनेवाली है ।

मृगध्वज की कथा

मृगध्वज की कथा

कथा :

सारे संसार द्वारा भक्ति सहित पूजा किये गये जिनभगवान् को नमस्कार कर प्राचीनाचार्यों के कहे अनुसार मृगध्वज राजकुमार की कथा लिखी जाती है । सीमन्धर अयोध्या के राजा थे । उनकी रानी का नाम जिनसेना था । इनके एक मृगध्वज नामका पुत्र था । यह माँस का बड़ा लोलुपी था । इसे बिना मांस खाये एक दिन भी चैन न पड़ता था । यहाँ एक राजकीय भैंसा था । वह बुलाने से पास चला आता, लौट जाने को कहने से चला जाता और लोगों के पाँवों में लोटने लगता । एक दिन यह भैंसा एक तालाब में क्रीड़ा कर रहा था । इतने में राजकुमार मृगध्वज, मंत्री और सेठ के लड़कों को साथ लिए यहाँ आया । इस भैंस के पाँवों को देखकर मृगध्वज के मन में न जाने क्या धुन समाई सो इसने अपने नौकर से कहा -- देखो, आज इस भैंस का पिछला पाँव काटकर इसका मांस खाने को पकाना । इतना कहकर मृगध्वज चल दिया । उसका मांस पका । उसे खाकर राजकुमार और उसके साथी बड़े प्रसन्न हुए ।

इधर बेचारा भैंसा बड़े दु:ख के साथ लॅंगड़ाता हुआ राजा के सामने जाकर गिर पड़ा । राजा ने देखा कि उसकी मौत आ लगी है । इसलिए उस समय उसने विशेष पूछताछ न कर, कि किसने उसकी ऐसी दशा की है, दयाबुद्धि से उसे संन्यास देकर नमस्कार मन्त्र सुनाया । सच है, संसार में बहुत से ऐसे भी गुणवान परोपकारी हैं, जो चन्द्रमा, सूर्य, कल्पवृक्ष, पानी आदि उपकार के वस्तुओं से भी बढ़कर हैं । भैंसा मरकर नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में जाकर देव हुआ । सच है, जिनेन्द्रभगवान् का उपदेश किया पवित्र धर्म जीवों का वास्तव में हित करने वाला है ।

इसके बाद राजा ने इस बात का पता लगाया कि भैंसे की यह दशा किसने की । उन्हें जब यह नीच काम अपने और मंत्री तथा सेठ के पुत्रों का जान पड़ा तब तो उनके गुस्से का कुछ ठिकाना न रहा । उन्होंने उसी समय तीनों को मरवा डालने के लिए मंत्री को आज्ञा की । इस राजाज्ञा की खबर उन तीनों को भी लग गई । तब उन्होंने झटपट मुनिदत्त मुनि के पास जाकर जिनदीक्षा ले ली । इनमें मृगध्वज महामुनि बड़े तपस्वी हुए । उन्होंने कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर संसार द्वारा वे पूज्य हुए । सच है, जिन-धर्म का प्रभाव ही कुछ ऐसा अचिन्त्य है जो महा-पापी से पापी भी उसे धारणकर त्रिलोक-पूज्य हो जाता है और ठीक भी है, धर्म से और उत्तम है ही क्या?

वे मृगध्वज मुनि मुझे और आप भव्य-जनों को महा-मंगलमय मोक्ष लक्ष्मी दें, जो भव्य-जनों का उद्धार करनेवाले हैं । केवलज्ञान रूपी अपूर्व नेत्र के धारक हैं, देवों, विद्याधरों और बड़े-बड़े राजों-महाराजाओं से पूज्य हैं, संसार का हित करनेवाले हैं, बड़े धीर हैं, और अनेक प्रकार का उत्तम से उत्तम सुख देनेवाले हैं ।

परशुराम की कथा

परशुराम की कथा

कथा :

संसार समुद्र से पार करनेवाले जिनेन्द्रभगवान् को नमस्कार कर परशुराम का चरित्र लिखा जता है जिसे सुनकर आश्चर्य होता है । अयोध्या का राजा कार्त्तवीर्य अत्यन्त मूर्ख था । उसकी रानी का नाम पद्मावती था । अयोध्या के जंगल में यमदग्नि नाम के एक तपस्वी का आश्रम था । इस तपस्वी की स्त्री का नाम रेणुका था । इसके दो लड़के थे । इसमें एक का नाम श्वेतराम था और दूसरे का महेन्द्रराम । एक दिन की बात है रेणुका के भाई वरदत्त मुनि उस ओर आ निकले । वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे । उन्हें देखकर रेणुका बड़े प्रेम से उनसे मिलने को आई और उनके हाथ जोड़कर वहीं बैठ गई । बुद्धिमान वरदत्त मुनि ने उससे कहा -- बहिन, मैं तुझे कुछ धर्म का उपदेश सुनाता हूँ । तू उसे जरा सावधानी से सुन । देख, सब जीव सुख को चाहते हैं, पर सच्चे सुख को प्राप्त करने की कोई बिरला ही खोज करता है और इसीलिये प्राय: लोग दुखी देखे जाते हैं । सच्चे सुख का कारण पवित्र सम्यग्दर्शन का ग्रहण करना है । जो पुरूष सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, वे दुर्गतियों में फिर नहीं भटकते । संसार का भ्रमण भी उनका कम हो जाता है । उनमें कितने तो उसी भव से मोक्ष चले

जाते हैं । सम्यवत्व का साधारण रूप यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरू और सच्चे शास्त्र पर विश्वास लाना । सच्चे देव वे हैं, जो भूख और प्यास, राग और द्वेष, क्रोध और लोभ, मान और माया आदि अठारह दोषों से रहित हों, जिनका ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हो कि उसमें संसार का कोई पदार्थ अजाना न रह गया हो, जिन्हें स्वर्ग के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती और बड़े-बड़े राजे-महाराजे भी पूजते हों, और जिनका उपदेश किया पवित्र-धर्म इस लोक में और परलोक में भी सुख का देनेवाला हो तथा जिस पवित्र-धर्म का इन्द्रादि देव भी पूजा-भक्ति कर अपना जीवन कृतार्थ समझते हों । धर्म का स्वरूप उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि दश लक्षणों द्वारा प्राय: प्रसिद्ध है और सच्चे गुरू वे कहलाते हैं, जो शील और संयम के पालनेवाले हो, ज्ञान और ध्यान का साधन ही जिनके जीवन का खास उद्देश्य हो और जिनके पास परिग्रह रत्ती भर भी न हो । इन बातों पर विश्वास करने को सम्यवत्व कहते हैं । इसके सिवा गृहस्थों के लिए पात्र-दान करना, भगवान् की पूजा करना, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत धारण करना, पर्वों में उपवास वगैरह करना आदि बातें भी आवश्यक हैं । यह गृहस्थ धर्म कहलाता है । तू इसे धारण कर । इससे तुझे सुख प्राप्त होगा । भाई के द्वारा धर्म का उपदेश सुन रेणुका बहुत प्रसन्न हुई । उसने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ सम्यवत्व-रत्न द्वारा अपने आत्मा को विभूषित किया । और सच भी है, यही सम्यवत्व तो भव्यजनों का भूषण है । रेणुका का धर्म-प्रेम देखकर वरदत्त मुनि ने उसे एक 'परश' और दूसरी 'कामधेनु' ऐसी दो महाविद्याएँ दी, जो कि नाना प्रकार का सुख देने वाली है । रेणुका को विद्या देकर जैन-तत्व के परम-विद्वान् वरदत्त मुनि विहार कर गये । इधर सम्यक्त्वशालिनी रेणुका घर आकर सुख से रहने लगी । रेणुका को धर्म पर अब खूब प्रेम हो गया । वह भगवान् की बड़ी भक्त हो गयी ।

एक दिन राजा कार्तवीर्य हाथी पकड़ने को इसी वन की ओर आ निकला । घूमता हुआ वह रेणुका के आश्रम में आ गया । यमदग्नि तापस ने उसका अच्छा आदर-सत्कार किया और उसे अपने यही जिमाया भी । भोजन कामधेनु नाम की विद्या की सहायता से बहुत उत्तम तैयार किया गया था । राजा भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुआ । और क्यों न होता ? क्योंकि सारी जिन्दगी में उसे कभी ऐसा भोजन खाने को ही न मिला था । उस कामधेनु को देखकर उस पापी राजा के मन में पाप आया । यह कृतघ्न तब उस बेचारे तापसी को जान से मारकर गौ को ले गया । सच है, दुर्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जो उनका उपकार करते हैं, वे दूध पिलाये सर्प की तरह अपने उन उपकारक की ही जान के लेनेवाले हो उठते हैं ।

राजा के जाने के थोड़ी देर बाद ही रेणुका के दोनों लड़के जंगल से लकड़ियॉ वगैरह लेकर आ गये । माता को रोते हुये देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा । रेणुका ने सब हाल उनसे कह दिया । माता की दु:खभरी बातें सुनकर श्वेतराम के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा । वह कार्तवीर्य से अपने पिता का बदला लेने के लिए उसी समय माता से 'परशु' नाम की विद्या को लेकर अपने छोटे भाई को साथ लिए चल पड़ा । राजा के नगर में पहुँचकर उसने कार्तवीर्य को युद्ध के लिए ललकारा । यद्यपि एक ओर कार्तवीर्य की प्रचण्ड सेना थी और दूसरी ओर सिर्फ ये दो ही भाई थे; पर तब भी परशु विद्या के प्रभाव से इन दोनों भाइयों ने ही कार्तवीर्य की सारी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया और अन्त में कार्तवीर्य को मारकर अपने पिता का बदला लिया । मरकर पाप के फल से कार्तवीर्य नरक गया । सो ठीक ही है, पापियों की ऐसी गति होती ही है । उस तृष्णा को धिक्कार है जिसके वश हो लोग न्याय-अन्याय को कुछ नहीं देखते और फिर अनेक कष्टों को सहते हैं । ऐसे ही अन्यायों द्वारा तो पहले भी अनेक राजों-महाराजाओं का नाश हुआ । और ठीक भी है जिस वायु से बड़े-बड़े हाथी तक नष्ट हो जाते हैं तब उसके सामने बेचारे कीट-पतंगादि छोटे-छोटे जीव तो ठहर ही कैसे सकते हैं । श्वेतराम ने कार्तवीर्य को परशु-विद्या से मारा था, इसलिए फिर अयोध्या में वह 'परशुराम' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

संसार में जो शूरवीर, विद्वान्, सुखी, धनी हुए देखे जाते हैं वह पुण्य की महिमा है । इसलिए जो सुखी, विद्वान्, धनवान्, वीर आदि बनाना चाहते हैं, उन्हें जिन-भगवान् का उपदेश किया पुण्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिए ।

सुकुमाल मुनि की कथा

सुकुमाल मुनि की कथा

कथा :

जिनके नाम-मात्र ही का ध्यान करने से हर प्रकार की धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है, उन परम-पवित्र जिनभगवान् को नमस्कार कर सुकुमाल-मुनि की कथा लिखी जाती है ।

अतिबल कौशाम्बी के जब राजा थे, तब ही का यह आख्यान है । यहाँ एक सोमशर्मा पुरोहित रहता था । इसकी स्‍त्री का नाम काश्यपी

था । इसके अग्निभूत और वायुभूति नामक दो लड़के हुए । माँ-बाप के अधिक लाडले होने से ये कुछ पढ़-लिख न सके । और सच है पुण्य के बिना किसी को विद्या आती भी तो नहीं । काल की विचित्र गति से सोमशर्मा की असमय में ही मौत हो गई । ये दोनों भाई तब निरे मूर्ख थे । इन्हें मूर्ख देखकर अतिबल ने इनके पिता का पुरोहित पद, जो इन्हें मिलता, किसी और को दे दिया । यह ठीक है कि मूर्खों का कहीं आदर-सत्कार नहीं होता । अपना अपमान हुआ देखकर इन दोनों भाइयों को बड़ा दु:ख हुआ । तब इनकी कुछ अक्ल ठिकाने आई । अब इन्हें कुछ लिखने-पढ़ने की सूझी । ये राजगृह में अपने काका सूर्यमित्र के पास गये और अपना सब हाल इन्होंने उनसे कहा । इनकी पढ़ने की इच्छा देखकर सूर्यमित्र ने इन्हें स्वयं पढ़ाना शुरू किया और कुछ ही वर्षों में इन्हें अच्छा विद्वान बना दिया । दोनों भाई जब अच्छे विद्वान हो गये तब वे पीछे अपने शहर लौट आये । आकर इन्होंने अतिबल को अपनी विद्या का परिचय कराया । अतिबल इन्हें विद्वान् देखकर बहुत खुश हुआ और इनके पिता का पुरोहित पद उसने पीछा इन्हें ही दे दिया । सच है सरस्वती की कृपा से संसार में क्या नहीं होता ।

एक दिन संध्या के समय सूर्यमित्र सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रहा था । उसकी अंगुली में राजकीय एक रत्नजड़ी बहुमूल्य अंगुठी थी । अर्घ्य चढ़ाते समय वह अँगूठी अंगुली में से निकलकर महल के नीचे तालाब में जा गिरी । भाग्य से वह एक खिले हुए कमल में पड़ी । सूर्य अस्त होने पर कमल मूँद गया । अंगूठी कमल के अन्दर बन्द हो गई जब वह पूजा-पाठ करके उठा और उसकी नजर उँगली पर पड़ी तब उसे मालूम हुआ कि अँगूठी कहीं पर गिर पड़ी । अब तो उसके डर का ठिकाना न रहा । राजा जब अंगूठी माँगेगा तब उसे क्या जवाब दूँगा, इसकी उसे बड़ी चिन्ता होने लगी । अँगूठी को शोध के लिये इसने बहुत कुछ यत्न किया, पर इसे उसका कुछ पता न चला । तब किसी के कहने से यह अवधिज्ञानी सुधर्ममुनि के पास गया और हाथ जोड़कर इसने उनसे अंगूठी के बाबत पूछा कि प्रभो, क्या कृपाकर मुझे आप यह बतलावेंगे कि मेरी अँगूठी कहाँ चली गई और हे करूणा के समुद्र, वह कैसे प्राप्त होगी ? मुनि ने उत्तर में यह कहा कि सूर्य को अर्घ्य देते समय तालाब में एक खिले हुए कमल में अँगूठी गिर पड़ी है । वह सबेरे मिल जायेगी । वही हुआ । सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्यमित्र को उसमें अँगूठी मिली । सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ । उसे इस बात का अचम्भा होने लगा कि मुनि ने यह बात कैसे बतलाई ? हो न हो, उनसे अपने को यह भी विद्या सीखनी चाहिये । यह विचारकर सूर्यमित्र, मुनिराज के पास गया । उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना कि हे योगिराज, मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिये, जिससे मैं भी दूसरे के ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे सकूँ । आपकी मुझपर बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपनी यह विद्या पढ़ा देंगे । तब मुनिराज ने कहा -- भाई, मुझे इस विद्या के सिखाने में कोई इंकार नहीं है । पर बात यह है कि बिना जिनदीक्षा लिये यह विद्या आ नहीं सकती । सूर्यमित्र तब केवल विद्या के लोभ से दीक्षा लेकर मुनि हो गया । मुनि होकर इसने गुरू से विद्या सिखाने को कहा । सुधर्म मुनिराज ने तब सूर्यमित्र को मुनियों के आचार-विचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त शास्त्र पढ़ाये । अब तो एकदम सूर्यमित्र की आँखें खुल गई । यह गुरू के उपदेश रूपी दिये के द्वारा अपने हृदय के अज्ञानन्धकार को नष्टकर जैन-धर्म का अच्छा विद्वान हो गया । सच है, जिन भव्य-पुरूषों ने सच्चे-मार्ग को बतलाने वाले और संसार के अकारण बन्धु गुरूओं की भक्ति सहित सेवा-पूजा की है, उनके सब काम नियम से सिद्ध हुए हैं ।

जब सूर्यमित्र मुनि अपने मुनि-धर्म में खूब कुशल हो गये तब वे गुरू की आज्ञा लेकर अकेले ही विहार करने लगे । एक बार वे विहार करते हुए कौशाम्बी में आये । अग्निभूति ने इन्हें भक्ति-पूर्वक दान दिया । उसने अपने छोटे भाई वायुभूति से बहुत प्रेरणा और आग्रह इसलिए किया कि वह सूर्यमित्र मुनि की वन्दना करें, उसे जैन-धर्म से कुछ प्रेम हो । कारण वह जैनधर्म से सदा विरूद्ध रहता था । पर अग्निभूति के इस आग्रह का परिणाम उलटा हुआ । वायुभूति ने खिसियाकर मुनि की अधिक निन्दा की और उन्हें बुरा-भला कहा । सच है, जिन्हें दुर्गतियों में जाना होता है कि प्रेरणा करने पर भी ऐसे पुरूषों का श्रेष्ठधर्म की ओर झुकाव नहीं होता, किन्तु वह उलटा पाप के कीचड़ में अधिक-अधिक फँसता है । अग्निभूति को अपने भाई की दुर्बुद्धि पर बड़ा दु:ख हुआ । और यही कारण था जब मुनिराज आहार कर वन में गये तब अग्निभूति भी उनके साथ-साथ चला गया । और वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर वह भी तपस्वी हो गया । अपना और दूसरों का हित करना अबसे अग्निभूति के जीवन का उद्देश्य हुआ ।

अग्निभूति के मुनि हो जाने की बात जब इसकी स्त्री सती सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो उसे अत्यन्त दु:ख हुआ । उसने वायुभूति से जाकर कहा -- देखा, तुमने मुनि को वन्दना न कर उनकी बुराई की, सुनती हूँ उससे दुखी होकर तुम्हारे भाई भी मुनि हो गये । यदि वे अब तक मुनि न हुए हों तो चलो उन्हें हम समझा लावें । वायुभूति ने गुस्सा होकर कहा – हाँ तुम्हें गर्ज हो तो तुम भी उस बदमाश नंगे के पास

जाओ ! मुझे तो कुछ गर्ज नहीं है । यह कहकर वायुभूति अपनी भौजी को एक लात मारकर चलता बना । सोमदत्ता को उसके मर्मभेदी वचनो को सुनकर बड़ा दु:ख हुआ । उसे क्रोध भी अत्यन्त आया । पर अबला होने से उस समय वह कर कुछ नहीं सकी । तब उसने निदान किया कि पापी, तूने जो इस समय मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातों से ठुकराया है, और इसका बदला स्त्री होने से मैं इस समय न भी ले सकी तो कुछ चिन्ता नहीं, पर याद रख इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में सही, पर बदला लूँगी अवश्य और इसी पाँव को, जिससे कि तूने मुझे लात मारी है और मेरे हृदय भेदने वाले तेरे इसी हृदय को मैं खाऊँगी तभी मुझे सन्तोष होगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी मूर्खता को धिक्कार है जिसके वश हुए प्राणी अपने पुण्य-कमल को ऐसे नीच निदानों द्वारा भस्म कर डालते हैं ।

'इस हाथ दे उस हाथ ले' इस कहावत के अनुसार तीव्र-पाप का फल प्राय: तुरन्त मिल जाता है । वायुभूति ने मुनि-निन्दा द्वारा जो तीव्र-पाप कर्म बाँधा, उसका फल उसे बहुत जल्दी मिल गया । पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूति के सारे शरीर से कोढ़ निकल आया । सच है, जिनकी सारा संसार पूजा करता है और जो धर्म के सच्चे मार्ग को दिखाने वाले हैं ऐसे महात्माओं की निन्दा करनेवाला पापी पुरूष किन महा-कष्टों को नहीं सहता । वायुभूति कोढ़ के दुख से मरकर कौशाम्बी में ही एक नट के यहाँ गधा हुआ । गधा मरकर जंगली सूअर हुआ । इस पर्याय से मरकर इसने चम्पापुर में एक चाण्डाल के यहाँ कुत्ती का जन्म धारण किया, कुत्ती मरकर चम्पापुरी में ही एक दूसरे चाण्डाल के यहाँ लड़की हुई । यह जन्म ही से अन्धी थी । इसका सारा शरीर बदबू कर रहा था । इसलिये इसके माता-पिता ने इसे छोड़ दिया । पर भाग्य सभी का बलवान् होता है । इसलिए इसकी भी किसी तरह रक्षा हो गई । यह एक जांबू के झाड़ के नीचे पड़ी-पड़ी जांबू खाया करती थी ।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूति को साथ लिये हुए भाग्य से इस ओर आ निकले । उस जन्म की दु:खिनी लड़की को देखकर अग्निभूति के हृदय में कुछ मोह, कुछ दु:ख हुआ । उन्होंने गुरू से पूछा -- प्रभो, इसकी दशा बड़ी कष्ट में है । यह कैसे जी रही है ? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने कहा – तुम्हारे भाई वायुभूति ने धर्म से परान्मुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पाप के फल से उसे कई भव पशु पर्याय में लेने पड़े । अन्त में वह कुत्ती की पर्याय से मरकर यह चाण्डाल-कन्या हुई है । पर अब इसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है । इसलिये जाकर तुम इसे व्रत लिवाकर संन्यास दे आओ । अग्निभूति ने वैसा ही किया । उस चाण्डाल कन्या को पाँच अणुव्रत देकर उन्होंने संन्यास लिवा दिया । चाण्डाल कन्या मरकर व्रत के प्रभाव से चम्पापुर में नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नाम की कन्या हुई । एक दिन नागश्री वन में नाग-पूजा करने को गई थी । पुण्य से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आ गये । उन्हें देखकर नागश्री के मन में उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई । नागश्री को देखकर अग्निभूति मुनि के मन में कुछ प्रेम का उदय हुआ । और होना उचित ही था । क्योंकि थी तो वह उनके पूर्व जन्म की भाईन ? अग्निभूति ने इसका कारण अपने गुरू से पूछा । उन्होनें प्रेम होने का कारण जो पूर्व जन्म का भातृ-भाव था, वह बता दिया । तब अग्निभूति ने उसे धर्म का उपदेश दिया और सम्यक्त्व तथा पाँच अणुव्रत उसे ग्रहण करवाये । नागश्री व्रत ग्रहणकर जब जाने लगी तब उन्होंने उससे कह दिया कि हाँ, देख बच्ची, तुझसे यदि तेरे पिताजी इन व्रतों को लेने के लिए नाराज हों, तो तू हमारे व्रत हमें ही आकर सौंप जाना । सच है, मुनि लोग वास्तव में सच्चे मार्ग दिखाने वाले होते हैं ।

इसके बाद नागश्री उन मुनिराजों के भक्ति से हाथ जोड़कर और प्रसन्न होती हुई अपने घर पर आ गई । नागश्री के साथ की और लड़कियों ने उसके व्रत लेने की बात को नागशर्मा से जाकर कह दिया । नागशर्मा ने तब कुछ क्रोध का सा भाव दिखाकर नागश्री से कहा -- बच्ची, तू बड़ी भोली है, जो झट से हरएक के बहकाने में आ जाती है । भला, तू नहीं जानती कि अपने पवित्र ब्राह्मण-कुल में उन नंगे मुनियों के दिये व्रत नहीं लिये जाते । वे अच्छे लोग नहीं होते । इसलिए उनके व्रत तू छोड़ दे । तब नागश्री बोली – तो पिताजी, उन मुनियों ने मुझे आते समय यह कह दिया था कि यदि तुझसे तेरे पिताजी इन व्रतों को छोड़ देने के लिए आग्रह करें तो तू पीछे हमारे व्रत हमें ही दे जाना । तब आप चलिए मैं उन्हें उनके व्रत दे आती हूँ । सोमशर्मा नागश्री का हाथ पकड़े क्रोध से गुर्राता हुआ मुनियों के पास चला । रास्ते में नागश्री ने एक जगह कुछ गुलगंपाड़ा होता सुना । उस जगह बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीच में बँधा हुआ पड़ा हुआ था । उसे कुछ निर्दयी लोग बड़ी क्रूरता से मार रहे थे । नागश्री ने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मा से पूछा -- पिताजी, बेचारा यह पुरूष इसप्रकार निर्दयता से क्यों मारा जा रहा है ? सोमशर्मा बोला -- बच्ची, इसपर एक बनिये के लड़के वरसेन का कुछ रूपया लेना था । उसने इससे अपने रूपयों का तकादा किया । इस पापी ने उसे रूपया न देकर जान से मार डाला । इसलिए उस अपराध के बदले अपने राजा साहब ने इसे प्राण-दंड की सजा दी है, और वह योग्य है । क्योंकि एक को ऐसी सजा मिलने से अब दूसरा कोई ऐसा अपराध न

करेगा । तब नागश्री ने जरा जोर देकर कहा – तो पिताजी, यही व्रत तो उन मुनियों ने मुझे दिया है, फिर आप उसे क्यों छुड़ाने को कहते हैं ? सोमशर्मा लाजवाब होकर बोला – अस्तु पुत्री, तू इस व्रत को न छोड़, चल बाकी के व्रत तो उनके उन्हें दे आयें । आगे चलकर नागश्री ने एक ओर पुरूष को बँधा देखकर पूछा – और पिताजी, यह क्यों बाँधा गया है ? सोमशर्मा ने कहा -- पुत्री, यह झूठ बोलकर लोगों को ठगा करता था । इसके फन्दे में फँसकर बहुतों को दर-दर का भिखारी बनना पड़ा है । इसलिए झूठ बोलने के अपराध में इसकी यही दशा की जा रही है । तब फिर नागश्री ने कहा – तो पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है । अब तो मैं उसे कभी नहीं छोडूंगी । इसी प्रकार चोरी, परस्त्री, लोभ आदि से दुख पाते हुए मनुष्यों को देखकर नागश्री ने अपने पिता को लाजवाब कर दिया ओर व्रतों को नहीं छोड़ा । तब सोमशर्मा ने हार खाकर कहा -- अच्छा, यदि तेरी इच्छा इन व्रतों को छोड़ने की नहीं है तो न छोड़, पर तू मेरे साथ उन मुनियों के पास तो चल । मैं उन्हें दो बातें कहूँगा कि तुम्हें क्या अधिकार था जो तुमने मेरी लड़की को बिना मेरे पूछे व्रत दे दिये ? फिर वे आगे से किसी को इस प्रकार व्रत न दे सकेंगे । सच है, दुर्जनों को कभी सत्पुरूषों से प्रीति नहीं होती । तब ब्राह्मण देवता अपनी होश निकालने को मुनियों के पास चले । उसने उन्हें दूर से ही देखकर गुस्से में आ कहा – क्यों रे नंगे । तुमरे मेरी लड़की को व्रत देकर क्यों ठग लिया ? बतलाओ, तुम्हे इसका क्या अधिकार था ? कवि कहता है कि ऐसे पापियों के विचारों को सुनकर बड़ा ही खेद होता है । भला, जो व्रत, शील, पुण्य के कारण हैं, उनसे क्या कोई ठगाया जा सकता है ? नहीं । सोमशर्मा को इसप्रकार गुस्सा हुआ देखकर सूर्यमित्र मुनि बड़ी धीरता और शान्ति के साथ बोले -- भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है । मैंने इसे व्रत दिये हैं, पर अपनी लड़की समझकर, और सच पूछो तो यह है भी मेरी ही लड़की । तेरा तो इसपर कुछ भी अधिकार नहीं हैं । तू भले ही यह कह कि यह मेरी लड़की है, पर वास्तव में यह तेरी लड़की नहीं है । यह कहकर सूर्यमित्र मुनि ने नागश्री को पुकारा । नागश्री झट से आकर उनके पास बैठ गई । अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबराये । वे 'अन्याय-अन्याय' चिल्लाते हुए राजा के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले -- देव, नंगे साधुओं ने मेरी नागश्री लड़की को जबरदस्ती छुड़ा लिया । वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं, किन्तु हमारी लड़की है । राजाधिराज, सारा शहर जानता है कि नागश्री मेरी लड़की है । महाराज, उन पापियों से मेरी लड़की दिलवा दीजिए । सोमशर्मा की बात से सारी राज-सभा बड़े विचार में पड़ गई । राजा की भी अकल में कुछ न आया । तब वे सबको साथ लिए मुनि के पास आये और उन्हें नमस्कार कर बैठ गये । फिर यही झगड़ा उपस्थित हुआ । सोमशर्मा तो नागश्री को अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी । मुनि बोले -- अच्छा, यदि वह तेरी लड़की है तो बतला तूने इसे क्या पढ़ाया ? और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाया है, इसलिए मैं अभिमान से कहता हूँ कि यह मेरी ही लड़की है । तब राजा बोले – अच्छा प्रभो, यह आप ही की लड़की सही, पर आपने इसे जो पढ़ाया है उसकी परीक्षा इसके द्वारा दिलवाइए । जिससे कि हमें विश्वास हो । तब सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरूपी किरणों द्वारा लोगों के चित्त में ठसे हुए मूर्खतारूप गाढ़े अन्धकार को नाश करते हुये बोले – हे नागश्री, हे पूर्व जन्म में वायुभूति का भव धारण करनेवाली, पुत्री, तुझे मैंने जो पूर्व-जन्म में कई शास्त्र पढ़ाये हैं, उनकी इस उपस्थित मंडली के सामने तू परीक्षा दे । सूर्यमित्र मुनि का इतना कहना हुआ कि नागश्री ने जन्मान्तर का पढ़ा-पढ़ाया सब विषय सुना दिया । राजा तथा और सब मंडली को इससे बड़ा अचम्भा हुआ । उन्होंने मुनिराज से हाथ जोड़कर कहा – प्रभो, नागश्री की परीक्षा से उत्पन्न हुआ विनोद हृदयभूमि में अठखेलियाँ कर रहा है । इसलिए कृपाकर आप अपने और नागश्री के सम्बन्ध की सब बातें खुलासा कहिए । तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने वायुभूति के भव से लगाकर नागश्री के जन्म तक की सब घटना उनसे कह सुनाई । सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्हें यह सब मोह की लीला जान पड़ी । मोह को ही सब दु:ख का मूल-कारण समझकर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ । वे उसी समय और भी बहुत से राजाओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण कर गये । सोमशर्मा भी जैन-धर्म का उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ । इधर नागश्री को भी अपना पूर्व का हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ । वह दीक्षा लेकर आर्यिका हो गई और अन्त में शरीर छोड़कर तपस्या के फल से अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई । अहा ! संसार में गुरू चिन्तामणि के समान है, सबसे श्रेष्ठ है । यही कारण है कि जिनकी कृपा से जीवों को सब सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती हैं ।

यहाँ से विहारकर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्नि-मन्दिर नाम के पर्वत पर पहुँचे । वहाँ तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, और त्रिलोक-पूज्य हो अन्त में बाकी के कर्मों का भी नाशकर परम सुखमय, अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया । वे दोनों केवलज्ञानी मुनिराज मुझे और आप लोगों का उत्तम सुख को भी दें।

अवन्ति देश के प्रसिद्ध उज्जैन शहर में एक इन्द्रदत्त नाम का सेठ है । यह बड़ा धर्मात्मा और जिनभगवान् का सच्चा भक्त है । उसकी स्त्री

का नाम गुणवती है । वह नाम के अनुसार सचमुच गुणवती और बड़ी सुन्दरी है । सोमशर्मा का जीव, जो अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था वह वहाँ अपनी आयु पूरी कर पुण्य के उदय से इस गुणवती सेठानी के सुरेन्द्रदत्त नाम का सुशील और गुणी पुत्र हुआ । सुरेन्द्रदत्त का ब्याह उज्जैन ही में रहने वाले सुभद्र सेठ की लड़की यशोभद्रा के साथ हुआ । इनके घर में किसी बात की कमी नहीं थी । पुण्य के उदय से इन्हें सबकुछ प्राप्त था । इसलिए बड़े सुख के साथ इनके दिन बीतते थे । ये अपनी इस सुख अवस्था में भी धर्म को न भूलकर सदा उसमें सावधान रहा करते थे ।

एक दिन यशोभद्रा ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा – क्यों योगिराज, क्या मेरी आशा इस जन्म में सफल होगी ? मुनिराज ने यशोभद्रा का अभिप्राय जानकर कहा -- हाँ होगी, और अवश्य होगी । तेरे होने वाला पुत्र भव्य है और मोक्ष में जाने वाला, बुद्धिमान और अनेक अच्छे-अच्छे गुणों का धारक होगा । पर साथ ही एक चिन्ता यह होगी कि तेरे स्वामी पुत्र का मुख देखकर ही जिनदीक्षा ग्रहण कर जायेंगे, जो दीक्षा स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाली है । अच्छा, और एक बात यह है कि तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैन मुनि को देख पायेगा तो वह भी उस समय सब विषय भोगों को छोड़-छाड़कर योगी बन जायगा ।

इसके कुछ महीनों बाद यशोभद्रा सेठानी के पुत्र हुआ । नागश्री के जीव ने, जो स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ था, अपनी स्वर्ग की आयु पूरी हुए बाद यशोभद्रा के यहाँ जन्म लिया । भाई-बन्धुओं ने इसके जन्म का बहुत कुछ उत्सव मनाया । इसका नाम सुकुमाल रक्खा गया । उधर सुरेन्द्र पुत्र के पवित्र दर्शनकर और उसे अपने सेठ-पद का तिलक कर आप मुनि हो गया ।

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तब उसकी माँ को यह चिन्ता हुई कि कहीं यह भी कभी किसी मुनि को देखकर मुनि न हो जाय, इसके लिए यशोभद्रा ने अच्छे घराने की कोई बत्तीस सुन्दर कन्याओं के साथ उसका विवाह कर उन सबके रहने को एक जुदा ही बड़ा भारी महल बनवा दिया और उसमें सब प्रकार की विषय-भोगों की एक से एक उत्तम वस्तु इकट्ठी करवा दी, जिससे कि सुकुमाल नाम सदा विषयों में फँसा रहे । इसके सिवा पुत्र के मोह से उसने इतना और किया कि अपने घर में जैन मुनियों का आना-जाना बन्द करवा दिया ।

एक दिन किसी बाहर के सौदागर ने आकर राजा प्रद्योतन को एक बहुमूल्य रत्न-कम्बल दिख लाया, इसलिए कि वह उसे खरीद ले पर उसकी कीमत बहुत अधिक होने से राजा ने उसे नहीं लिया । रत्न-कम्बल की बात यशोभद्रा सेठानी को मालूम हुई । उसने उस सौदागर को बुलवाकर उससे वह कम्बल सुकुमाल के लिए मोल ले लिया । पर वह रत्नों की जड़ाई के कारण अत्यन्त ही कठोर था, इसीलिए सुकुमाल ने उसे पसन्द न किया । तब यशोभद्रा ने उसे उसके टुकड़े करवाकर अपनी बहुओं के लिए उसकी जूतियाँ बनवा दी । एक दिन सुकुमाल की प्रिया जूतियाँ खोलकर पाँव् धो रही थी । इतने में एक चील माँस के लोभ से एक जूता को उठा ले उड़ी । उसकी चोंच से छूटकर वह जूती एक वेश्या के मकान की छत पर गिरी । उस जूतों को देखकर वेश्या को बड़ा आश्चर्य हुआ । वह उसे राजघराने की समझकर राजा के पास ले गई । राजा भी उसे देखकर दंग रह गये कि इतनी कीमती जिसके यहाँ जूतियाँ पहरी जाती हैं तब उसके धन का क्या ठिकाना होगा । मेरे शहर में इतना भारी धनी कौन है ? इसका अवश्य पता लगाना चाहिए । राजा ने जब इस विषय की खोज की तो उन्हें सुकुमाल सेठ का समाचार मिला कि इनके पास बहुत धन है और वह जूती उनकी स्त्री की है । राजा को सुकुमाल को देखने की बड़ी उत्कंठा हुई । वे एक दिन सुकुमाल से मिलने को आये । राजा को अपने घर आये देख सुकुमाल की माँ यशोभद्रा को बड़ी खुशी हुई उसने राजा का खूब अच्छा आदर-सत्कार किया । राजा ने प्रेमवश हो सुकुमाल को भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया । यशोभद्रा ने उन दोनों की एक साथ आरती उतारी । दिये की तथा हार की ज्योति से मिलकर बढ़े हुए तेज को सुकुमाल की आँखें न सह सकी, उन में पानी आ गया । इस का कारण पूछने पर यशोभद्रा ने राजा से कहा -- महाराज, आज इसको इतनी उमर हो गई, कभी इसने रत्नमयी दीये को छोड़कर ऐसे दीये को नहीं देखा । इसलिए इसकी आँखों में पानी आ गया है । यशोभद्रा जब दोनों को भोजन कराने बैठी तब सुकुमाल अपनी थाली में परोसे हुये एक-एक चावल को बीन-बीन कर खाने लगा । देखकर राजा को बड़ा अचम्भा हुआ । उसने यशोभद्रा से इसका भी कारण पूछा । यशोभद्रा ने कहा -- राजराजेश्वर, इसे जो चावल खाने को दिये जाते हैं वे खिले हुए कमलों में रखे जाकर सुगन्धित किये होते हैं । पर आज वे चावल थोड़े से होने से मैंने उन्हें दूसरे चावलों के साथ मिलाकर बना लिया । इससे यह एक-एक चावल चुन-चुनकर खाता है । राजा सुनकर बहुत ही खुश हुये । उन्होंने पुण्यात्मा सुकुमाल की बहुत ही प्रशंसा कर कहा – सेठानी जी, अब तक तो आपके कुँवर-साहब केवल आपके ही घर के सुकुमाल थे, पर अब मैं इनका अवन्ति-सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देश का सुकुमाल बनाता हूँ । मेरा विश्वास है कि मेरे देश-भर में इस सुन्दरता का इस सुकुमारता का यही आदर्श है । इसके बाद राजा सुकुमाल

को संग लिए महल के पीछे जल-क्रीड़ा करने बावड़ी पर गये । सुकुमाल के साथ उन्होंने बहुत देर तक जल-क्रीड़ा की । खेलते समय राजा की उँगली में से अँगुठी निकलकर क्रीड़ा-सरोवर में गिर गई । राजा उसे ढूँढ़ने लगे । वे जल के भीतर देखते है तो उन्हें उसमें हजारों बड़े-बड़े सुन्दर और कीमती भूषण देख पड़े । उन्हें देखकर राजा की अकल चकरा गई । वे सुकुमाल के अनन्त वैभव को देखकर बड़े चकित हुए । वे यह सोचते हुए, कि यह सब पुण्य की लीला है, कुछ शरमिन्दा से होकर महल लौट आये ।

सज्जनों, सुनो -- धन-धान्यादि सम्पदा का मिलना, पुत्र, मित्र और सुन्दर स्त्री का प्राप्त होना, बन्धु-बान्धवों का सुखी होना, अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषणों का होना, दुमंजले, तिमंजले आदि मनोहर महलों में रहने को मिलना, खाने-पीने को अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होना, विद्वान होना, नीरोग होना, आदि जितनी सुख सामग्री हैं, वह सब जिनेन्द्र-भगवान् के उपदेश किये मार्ग पर चलने से जीवों को मिल सकती हैं । इसलिए दु:ख देनेवाले खोटे मार्ग को छोड़कर बुद्धिमानों को सुख का मार्ग और स्वर्ग-मोक्ष के सुख का बीज पुण्य-कर्म करना चाहिए । पुण्य जिन-भगवान् की पूजा करने से, पात्रों को दान देने से तथा व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य के धारण करने से होता है ।

एक दिन जैन तत्व के परम विद्वान सुकुमाल के मामा गणधराचार्य सुकुमाल की आयु बहुत थोड़ी रही जानकर उसके महल के पीछे के बगीचें में आकर ठहरे और चातुर्मास लग जाने से उन्होंने वहीं योग धारण कर लिया । यशोभद्रा को उनके आने की खबर हुई । वह जाकर उसे कह आई । कि प्रभो, जबतक आपका योग पूरा न हो तबतक आप कभी ऊँचे से स्वाध्याय या पठन-पाठन न कीजिएगा । जब उसका योग पूरा हुआ तब उन्होंने अपने योग-सम्बन्धी सब क्रियाओं के अन्त में लोक-प्रज्ञप्ति का पाठ करना शुरू किया । उसमें उन्होंने अच्युत स्वर्ग के देवों की आयु, उनके शरीर की ऊँचाई आदि का खूब अच्छी तरह वर्णन किया । उसे सुनकर सुकुमाल को जाति-स्मरण हो गया । पूर्व-जन्म में पाये दु:खों को याद कर वह काँप उठा । वह उसी समय चुपके से महल से निकलकर मुनिराज के पास आ गया और उन्हें भक्ति से नमस्कार कर उनके पास बैठ गया । और मुनि ने उससे कहा -- बेटा, अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिन की रह गई है, इसलिए अब तुम्हें इन विषय-भोगों को छोड़कर अपना आत्म-हित करना उचित है । ये विषय-भोग पहले कुछ अच्छे से मालूम होते हैं, पर इनका अन्त बड़ा ही दु:खदायी है । जो विषय-भोगों की धुन में ही मस्त रहकर अपने हित की ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियों के अनन्त दु:ख उठाना पड़ता है । तुम समझो सियाले में आग बहुत प्यारी लगती है, पर जो उसे छुएगा वह तो जलेगा ही । यही हाल इन ऊपर के स्वरूप से मन को लुभाने वाले विषयों का है । इसलिये ऋषियों ने इन्हें 'भोगाभुजंग भोगाभा:' **अर्थ**ात् सर्प के समान भयंकर कहकर उल्लेख किया है । विषयों को भोगकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ, तब फिर ऐसी आशा करना कि इनसे सुख मिलेगा, नितान्त भूल है । मुनिराज का उपदेश सुनकर सुकुमाल को बड़ा वैराग्य हुआ । वह उसी समय सुख देने वाली जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया । मुनि होकर सुकुमाल वन की ओर चल दिया । उसका यह अन्तिम जीवन बड़ा ही करुणा से भरा हुआ है । कठोर से कठोर चित्त वाले मनुष्यों तक के हृदयों को हिला देने वाला है । सारी जिन्दगी में कभी जिनकी आँखो से आँसू न झरे हो, उन आँखों में भी सुकुमाल का यह जीवन आँसू ला देने वाला है । पाठकों को सुकुमाल की सुकुमारता का हाल मालूम है कि यशोभद्रा ने जब उसकी आरती उतारी थी, तब जो मंगल द्रव्य सरसों उस पर डाली गई थी, उन सरसों के चुभने को सुकुमाल सह न सका था । यशोभद्रा ने उसके लिये रत्नों का बहुमूल्य कम्बल खरीदा था, पर उसने उसे कठोर होने से ही ना-पास कर दिया था । उसकी माँ का उस पर इतना प्रेम था, उसने उसे इस प्रकार लाड़-प्यार से पाला था कि सुकुमाल को कभी जमीन पर तक पाँव देने का मौका नहीं आया था । उसी सुकुमार सुकुमाल ने अपने जीवनभर के रूप से बहे प्रवाह को कुछ ही मिनटों के उपदेश से बिलकुल ही उल्टा बहा दिया । जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर बाहर क्या है, वह अब अकेला भयंकर जंगल में जा बसा । जिसने स्वप्न में भी कभी दु:ख नहीं देखा, वही अब दुखों का पहाड़ अपने सिर पर उठा लेने को तैयार हो गया । सुकुमाल दीक्षा लेकर वन की ओर चला । कंकरीली जमीन पर चलने से उसके फूलों से कोमल पाँवों में कंकर-पत्थरों के गड़ने से घाव हो गये । उनसे खून की धारा बह चली । पर धन्य सुकुमाल की सहनशीलता जो उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं झाँका । अपने कर्तव्य में वह इतना एक-निष्ठ हो गया, इतना तन्मय हो गया कि उसे इस बात का भान ही न रहा कि मेरे शरीर की क्या दशा हो रही है । सुकुमाल की सहनशीलता की इतने में समाप्ति नहीं हो गई । अभी और आगे बढ़िये और देखिये कि वह अपने को इस परीक्षा में कहाँ तक उत्तीर्ण करता है ।

पाँवों से खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे हैं । चलकर वे एक पहाड़ी की गुफा में पहुँचे । वहाँ वे ध्यान लगाकर बारह-भावनाओं का विचार करने लगे । उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास एक पाँव से खड़े रहने का ले लिया, जिसमें कि किसी से अपनी सेवा-

सुश्रुषा भी कराना मना किया है । सुकुमाल मुनि तो इधर आत्म-ध्यान में लीन हुए । अब जरा इनके वायुभूति के जन्म को याद कीजिये । जिस समय वायुभूति के बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गये थे, तब इनकी स्त्री ने वायुभूति से कहा था कि देखो, तुम्हारे कारण से ही तुम्हारे भाई मुनि हो गये सुनती हूँ, तुमने अन्याय कर मुझे दु:ख के सागर में ढकेल दिया । चलो, जब तक वे दीक्षा न ले जाँय उसके पहले उन्हें हमतुम समझा-बुझाकर घर लौटा लावें । इस पर गुस्सा होकर वायुभूति ने अपनी भाभी को बुरी-भली सुना डाली थी, और फिर ऊपर से उसपर लात भी जमा दी थी । तब उसने निदान किया था कि पापी, तूने, मुझे निर्बल समझ मेरा जो अपमान किया है, मुझे कष्ट पहुँचाया है, यह ठीक है कि मैं इस समय इसका बदला नहीं चुका सकती । पर याद रख कि इस जन्म में नहीं तो पर जन्म में सही, पर बदला लूँगी और घोर बदला लूँगी ।

इसके बाद वह मरकर अनेक कुयोनियो में भटकी । अन्त में वायुभूति तो यह सुकुमाल हुए और उसकी भौजी सियारनी हुई । जब सुकुमाल मुनिवन की ओर रवाना हुए और उनके पाँवों में कंकर, पत्थर, काँटे वगैरह लगकर खून बहने लगा, तब यही सियारनी अपने पिल्लों को साथ लिए उस खून को चाटती-चाटती वहीं आ गई जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यान में मग्न हो रहे थे । सुकुमाल को देखते ही पूर्व-जन्म के संस्कार से सियारनी को अत्यन्त क्रोध आया । वह उनकी ओर घूरती हुई उनके बिलकुल नजदीक आ गई । उसका क्रोध भाव उमड़ा । उसने सुकुमाल को खाना शुरू कर दिया । उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी खाने लग गये । जो कभी एक तिनके का चुभ जाना भी नहीं सह सकता था, वह आज ऐसे घोर कष्ट को सहकर भी सुमेरू सा निश्चल बना हुआ था । जिसके शरीर को एक साथ चार हिंसक जीव बड़ी निर्दयता से खा रहे हैं, तब भी जो रंचमात्र हिलता-डुलता तक नहीं । उस महात्मा की इस अलौकिक सहन-शक्ति का किन शब्दों में उल्लेख किया जाय, यह बुद्धि में नहीं आता । तब भी जो लोग एक ना-कुछ चीज काँटे के लग जाने से तलमला उठते हैं, वे अपने हृदय में जरा गंभीरता के साथ विचारकर देखें कि सुकुमाल मुनि को आदर्श सहन-शक्ति कहाँ तक बढ़ी चढ़ी थी और उनका हृदय कितना उच्च था । सुकुमाल मुनि की यह सहन-शक्ति उन कर्तव्यशील मनुष्यों को अप्रत्यक्षरूप में शिक्षा कर रही है कि अपने उच्च और पवित्र कामों में आने वाले विघ्नों की परवाह मत करो । विघ्नों को आने दो और खूब आने दो । आत्मा की अनन्त शक्तियों के सामने ये विघ्न कुछ चीज नहीं, किसी गिनती में नहीं । तुम अपने पर विश्वास करो, भरोसा करो । हर एक कामों में आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास, उनके सिद्ध होने का मूल-मंत्र है । जहाँ ये बातें नहीं वहाँ मनुष्यता भी नहीं । तब कर्तव्यशीलता तो फिर योजनों की दूरी पर है । सुकुमाल यद्यपि सुखिया जीव थे, पर कर्तव्यशीलता उनके पास थी । इसीलिए देखने वालों के भी हृदय को हिला देने वाले कष्ट में भी वे अचल रहे । सुकुमाल मुनि को उस सियारनी ने पूर्व-बैर के सम्बन्ध में तीन दिन तक खाया । पर वे मेरू के समान धीर रहे । दु:ख की उन्होंने कुछ परवाह न की । यहाँ तक कि अपने को खाने वाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए । शत्रु और मित्र को समभावों से देखकर उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया । तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए ।

वायुभुति की भौजी ने निदान के वश सियारनी होकर अपने बैर का बदला चुका लिया । सच है, निदान करना अत्यन्त दु:खों का कारण है । इसीलिए भव्य-जनों को यह पाप का कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए । इस पाप के फल से सियारनी मरकर कुगति में गई । कहाँ वे मन को अच्छे लगने वाले भोग और कहाँ यह दारूण तपस्या । सच तो यह है कि महापुरूषों का चरित्र कुछ विलक्षण हुआ करता है । सुकुमाल मुनि अच्युत स्वर्ग में देव होकर अनेक प्रकार के दिव्य-सुखों को भोगते हैं और जिनभगवान् की भक्ति में सदा लीन रहते हैं । सुकुमाल मुनि की इस वीर-मृत्यु के उपलक्ष्य में स्वर्ग के देवों ने आकर उनका बड़ा उत्सव मनाया । 'जयजय' शब्द द्वारा महाकोलाहल हुआ । इसी दिन से उज्जैन में महाकाल नाम के कुतीर्थ की स्थापना हुई, जिसके कि नाम से अगणित जीव रोज वहाँ मारे जाने लगे । और देवों ने जो सुगन्ध जल की वर्षा की थी, उससे वहाँ की नदी गन्धवती नाम से प्रसिद्ध हुई ।

जिसने दिन-रात विषय-भोगों में ही फँसे रहकर अपनी सारी जिन्दगी बिताई, जिसने कभी दु:ख का नाम भी न सुना था, उस महापुरूष सुकुमाल ने मुनिराज द्वारा अपनी तीन दिन की आयु सुनकर उसी समय माता, स्त्री, पुत्र आदि स्वजनों को, धन-दौलत को और विषय-भोगों को छोड़-छाड़कर जिनदीक्षा ले ली और अन्त में पशुओं द्वारा दु:सह कष्ट सहकर भी जिसने बड़ी धीरज और शान्ति के साथ मृत्यु को अपनाया । वे सुकुमाल मुनि मुझे कर्तव्य के लिए कष्ट सहने की शक्ति प्रदान करें ।

सुकौशल मुनि की कथा

सुकौशल मुनि की कथा

कथा :

जग-पवित्र जिनेन्द्र भगवान्, जिनवाणी और गुरूओं को नमस्कार कर सुकोशल मुनि की कथा लिखी जाती है ।

अयोध्या में प्रजापाल राजा के समय में एक सिद्धार्थ नाम के नामी सेठ हो गये हैं । उनके कोई बत्तीस अच्छी-अच्छी सुन्दर स्त्रियाँ थीं । पर खोटे भाग्य से इनमें किसी के कोई सन्तान न थी । स्त्री कितनी भी सुन्दर हो, गुणवती हो, पर बिना सन्तान के उसकी शोभा नहीं होती । जैसे बिना फल-फूल के लताओं की शोभा नहीं होती । इन स्त्रियों में जो सेठ की खास प्राण-प्रिया थी, जिसपर सेठ महाशय का अत्यन्त प्रेम था, वह पुत्र-प्राप्ति के लिए सदा कुदेवों की पूजा-मानता किया करती थी । एक दिन उसे कुदेवों की पूजा करते एक मुनिराज ने देख लिया । उन्होंने तब उससे कहा -- बहिन, जिस आशा से तू इन कुदेवों की पूजा करती है वह आशा ऐसा करने से सफल न होगी । कारण सुख-सम्पत्ति, सन्तान प्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद्बुद्धि आदि जितनी अच्छी बातें हैं, उन सबका कारण पुण्य है । इसलिए यदि तू पुण्य-प्राप्ति के लिए कोई उपाय करे तो अच्छा हो । मैं तुझे तेरे हित की बात कहता हूँ कि इन यक्षादिक कुदेवों की पूजा-मानता छोड़कर, जो कि पुण्य-बन्ध का कारण नहीं है, जिनधर्म का विश्वास कर । इससे तू सत्य पर आ जायेगी और फिर तेरी आशा भी पूरी होने लगेगी । जयावती को मुनि का उपदेश रूचा और वह अब से जिन-धर्म पर श्रद्धा करने लगी । चलते समय उसे ज्ञानी मुनि ने यह भी कह दिया था कि जिसकी तुझे चाह है वह चीज तुझे सात वर्ष के भीतर-भीतर अवश्य प्राप्त होगी । तू चिन्ता छोड़कर धर्म का पालन कर । मुनि का यह अन्तिम वाक्य सुनकर जयावती को बड़ी भारी खुशी हुई । और क्यों न हो ? जिसकी कि वर्षों से उसके हृदय में भावना थी वही भावना तो अब सफल होने को है न ! अस्तु ।

मुनि का कथन सत्य हुआ । जयावती ने धर्म के प्रसाद से पुत्र-रत्न का मुँह देख पायी । उसका नाम रखा गया सुकोशल । सुकोशल खूबसूरत और साथ ही तेजस्वी था ।

सिद्धार्थ सेठ विषय-भोगों को भोगते-भोगते कंटाल गये थे । उनके हृदय की ज्ञानमयी आँखों ने उन्हें अब संसार का सच्चा स्वरूप बतलाकर बहुत डरा दिया था । वे चाहते तो नहीं थे कि एक मिनट भी संसार में रहें, पर अपनी सम्पत्ति को सम्हाल लेने वाला कोई न होने से पुत्र-दर्शन तक, उन्हें लाचारी से घर में रहना पड़ा । अब सुकोशल हो गया, इसका उन्हें बड़ा आनन्द हुआ । वे पुत्र का मुख-चन्द्र देखकर और अपने सेठ-पद का उसका ललाट पर तिलककर आप श्रीनयंधर मुनिराज के पास दीक्षा लेने गये ।

अभी बालक को जन्मते ही तो देर न हुई कि सिद्धार्थ सेठ घर-बार छोड़कर योगी हो गये । उनकी इस कठोरता पर जयावती को बड़ा गुस्सा आया । न केवल सिद्धार्थ पर ही उसे गुस्सा आया, किन्तु नयंधर मुनि पर भी । इसलिए कि उन्हें इस सिद्धार्थ को दीक्षा देना उचित न था और इसी कारण मुनिमात्र पर उसकी अश्रद्धा हो गई । उसने अपने घर में मुनियों का आना-जाना बन्द करा दिया । बड़े दु:ख की बात है कि यह जीव मोह के वश हो धर्म को भी छोड़ बैठता है । जैसे जन्म का अन्धा हाथ में आये चिन्तामणि को खो बैठता है ।

वय: प्राप्त होने पर सुकोशल का अच्छे-अच्छे घराने की कोई बत्तीस कन्या-रत्नों से ब्याह हुआ । सुकोशल के दिन अब बड़े ऐशो आराम के साथ बीतने लगे । माता का उसपर अत्यन्त प्यार होने से नित नई वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थी । सैंकड़ो दास-दासियाँ उसकी सेवा में सदा उपस्थित रहा करती थी । वह जो कुछ चाहता वह कार्य उसकी आँखों के इशारे-मात्र से होता था । सुकोशल को कभी कोई बात के लिए चिन्ता न करनी पड़ती थी । सच है, जिनके पुण्य का उदय होता है उन्हें सब सुख-सम्पत्ति सहज में प्राप्त हो जाती है ।

एक दिन सुकोशल, उसकी माँ, उसकी स्त्री और उसकी धाय के साथ महल पर आ बैठा अयोध्या की शोभा तथा मन को लुभाने वाली प्रकृति देवी को, नई-नई सुन्दर छटाओं को देख-देखकर बड़ा ही खुश हो रहा था । उसकी दृष्टि कुछ दूर तक गई । उसने एक मुनिराज को देखा । ये मुनि इसके पिता सिद्धार्थ ही थे । इस समय कई अन्य नगरों और गाँवों में विहार करते हुए ये आ रहे थे । इनके बदन पर नाम-मात्र के लिए भी वस्त्र न देखकर सुकोशल को बड़ा चकित हुआ । इसलिए कि पहले कभी उसने मुनि को देखा नहीं था । उनका अजब वेश देखकर सुकोशल ने माँ से पूछा -- माँ, यह कौन हैं ? सिद्धार्थ को देखते ही जयावती की आँखों से खून बरस गया । वह कुछ घृणा और कुछ उपेक्षा को लिए बोली-- बेटा, होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब ! परन्तु अपनी माँ के इस उत्तर से सुकोशल को सन्तोष नहीं हुआ । उसने फिर पूछा -- माँ, यह तो बड़ा ही खूबसूरत और तेजस्वी देख पड़ता है । तुम इसे भिखारी कैसे बताती हो ?

जयावती को अपने स्वामी से घृणा करते देख सुकोशल की धाय सुनन्दा से न रहा गया । वह बोल उठी – अरी ओ, तू इन्हें जानती है कि ये हमारे मालिक हैं । फिर भी तू इनके सम्बन्ध में ऐसा उलटा सुझा रही है ? तुझे यह योग्य नहीं । क्या हो गया यदि ये मुनि हो गये तो ?

इसके लिए क्या तुझे इनकी निन्दा करनी चाहिए ? इसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि सुकोशल की माँ ने उसे आँख के इशारे से रोककर कह दिया कि चुप क्यों नहीं रह जाती । तुझसे कौन पूछता है, जो बीच में ही बोल उठी ! सच है, दुष्ट स्त्रियों के मन में धर्म-प्रेम कभी नहीं होता । जैसे जलती हुई आग का बीच का भाग ठंडा नहीं होता ।

सुकोशल ठीक तो न समझ पाया, पर उसे इतना ज्ञान हो गया कि माँ ने मुझे सच्ची बात नहीं बतलाई । इतने में रसोइया सुकोशल को भोजन कर आने के लिए बुलाने आया । उसने कहा -- प्रभो चलिए! बहुत समय हो गया । सब भोजन ठंडा हुआ जाता है । सुकोशल ने तब भोजन के लिए इंकार कर दिया । माता और स्त्रियों ने बहुत आग्रह किया, पर वह भोजन करने को नहीं गया । उसने साफ-साफ कह दिया कि जब-तक मैं उस महापुरूष का सच्चा-सच्चा हाल न सुन लूँगा तबतक भोजन नहीं करूँगा । जयावती को सुकोशल के इस आग्रह से कुछ गुस्सा आ गया, सो वह तो वहाँ से चल दी पीछे सुनन्दा ने सिद्धार्थ मुनि की सब बातें सुकोशल से कह दीं । सुनकर सुकोशल को कुछ दु:ख भी हुआ, पर साथ ही वैराग्य ने उसे सावधान कर दिया । वह उसी समय सिद्धार्थ मुनिराज के पास गया और उन्हें नमस्कार कर धर्म का स्वरूप सुनने की उसने इच्छा प्रकट की । सिद्धार्थ ने उसे मुनिधर्म और ग्रहस्थ धर्म का खुलासा स्वरूप समझा दिया । सुकोशल को मुनिधर्म बहुत पसन्द पड़ा । वह मुनिधर्म की भावना भाता हुआ घर आया और सुभद्रा के गर्भस्थ सन्तान को अपने सेठ-पद का तिलक कर तथा सब माया-ममता, धन-दौलत और स्वजन-परिजन को छोड़-छाड़कर श्री सिद्धार्थ मुनि के पास ही दीक्षा लेकर योगी बन गया । सच है, जिसे पुण्योदय से धर्म पर प्रेम है और जो अपना हित करने के लिए सदा तैयार रहता है, उस महापुरूष को कौन झूठी-सच्ची सुझाकर अपने कैद में रख सकता है, उसे धोखा दे ठग सकता है ?

एक-मात्र पुत्र और वह भी योगी बन गया । इस दु:ख से जयावती के हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी । वह पुत्र-दु:ख से पगली सी बन गई । खाना-पीना उसके लिए जहर हो गया । उनकी सारी जिन्दगी ही धूलघानी हो गई । वह दु:ख और चिन्ता के मारे दिनों-दिन सूखने लगी । जब देखो तब ही उसकी आँखें आँसुओं से भरी रहती । मरते दम तक वह पुत्र-शोक को न भूल सकी । इसी चिन्ता, दु:ख, आर्त्त-ध्यान से उसके प्राण निकले । इस प्रकार बुरे भावों से मरकर मगध देश के मोद्गिल नाम के पर्वत पर उसने व्याघ्री का जन्म लिया । उसके तीन बच्चे हुए । यह अपने बच्चों के साथ पर्वत पर ही रहती थी । सच है, जो जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र-धर्म को छोड़ बैठते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है ।

विहार करते हुए सिद्धार्थ और सुकोशल मुनि ने भाग्य से इसी पर्वत पर आकर योग धारण कर लिया । योग पूरा हुए बाद जब ये भिक्षा के लिए शहर में जाने के लिए पर्वत पर से नीचे उतर रहे थे उसी समय वह व्याघ्री, जो कि पूर्व जन्म में सिद्धार्थ की स्त्री और सुकोशल की माता थी, इन्हें खाने- को दौड़ी और जब-तक कि ये संन्यास लेकर बैठते हैं, उसने इन्हें खा लिया । ये पिता-पुत्र समाधि से शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुए । वहाँ से आकर अब वे निर्वाण लाभ करेंगे । ये दोनों मुनिराज आप भव्य जनों को और मुझे शान्ति प्रदान करें ।

जिस समय व्याघ्री ने सुकोशल को खाते-खाते उनका हाथ खाना शुरू किया, उस समय उसकी दृष्टि सुकोशल के हाथों के लांछनों (चिन्हों) पर जा पड़ी । उन्हें देखते ही इसे अपने पूर्व-जन्म का ज्ञान हो गया । जिसे वह खा रही है, वह उसी का पुत्र है, जिसपर उसका बेहद प्यार था, उसे ही वह खा रही है, यह ज्ञान होते ही उसे जो दु:ख, जो आत्म-ग्लानि हुई , वह लिखी नहीं जा सकती । वह सोचती है, हाय! मुझ सी पापिनी कौन होगी जो अपने ही प्यारे पुत्र को मैं आप ही खा रही हूँ ! धिक्कार है मुझसी मूर्खिनी को जो पवित्र धर्म को छोड़कर अनन्त संसार को अपना वास बनती है । उस मोह को, उस संसार को धक्किार है जिसके वश हो यह जीव अपने हित-अहित को भूल जाता है और फिर कुमार्ग में फँसकर दुर्गतियों में दु:ख उठाता है । इसप्रकार अपने किये कर्मों की बहुत कुछ आलोचना कर उस व्याघ्री ने संन्यास ग्रहण कर लिया और अन्त में शुद्धभावों से मरकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुई । सच है, जीवों की शक्ति अद्भुत् ही हुआ करती है और जैनधर्म का प्रभाव भी संसार से बड़ा ही उत्तम है । नहीं तो कहाँ तो पापिनी व्याघ्री और कहाँ उसे स्वर्ग की प्राप्ति ! इसलिए जो आत्म-सिद्धि के चाहने वाले हैं, उन भव्यजनों को स्वर्ग-मोक्ष को देनेवाले पवित्र जैन-धर्म का पालन करना चाहिए ।

श्री मूल-संघ रूपी अत्यन्त ऊँचे उदयाचल से उदय होने वाले मेरे गुरू श्री मल्लिभूषण रूपी सूर्य संसार में सदा प्रकाश करते रहें ।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजय लाभ करें जो ज्ञान के समुद्र हैं । देखिए, समुद्र में रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्न को धारण किये हैं । समुद्र में तरंगें होती हैं, ये भी सप्तभंगी रूपी श्रेष्ठ रत्न को धारण किये हैं । समुद्र में तरेंगे होती हैं, ये भी सप्त-भंगी रूपी

तरंगों से युक्त हैं, स्याद्वाद विद्या के बड़े ही विद्वान् हैं । समुद्र की तरंगे जैसे कूड़ा-करकट निकाल बाहर फेंक देती है, इसी तरह से अपनी सप्तभंगी वाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्व रूपी कूड़े-करकट को हटाकर दूर करते थे, अन्य मतों के बड़े-बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर विजयलाभ करते थे । समुद्र में मगरमच्छ घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द रूपी समुद्र में उससे यह विशेषता थी, अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि भयानक मगरमच्छ न थे । समुद्र में अमृत रहता है और इनमें जिनेन्द्र भगवान् का वचनमयी निर्मल अमृत समाया हुआ था । और समुद्र में अनेक तरह के बिकने योग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होने वाली पुण्य रूपी विक्रय-वस्तु को धारण किये थे ।

गजकुमार मुनि की कथा

गजकुमार मुनि की कथा

कथा :

जो अपने गुणों से संसार में प्रसिद्ध हुए और सब कामों को करके सिद्धि, कृत्यकृत्यता लाभ की है, उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर गजकुमार मुनि की कथा लिखी जाती है ।

नेमिनाथ भगवान् के जन्म से पवित्र हुई प्रसिद्ध द्वारका के अर्धचक्री वासुदेव की रानी गन्धर्वसेना से गजकुमार का जन्म हुआ था । गजकुमार बड़ा वीर था । उसके प्रताप को सुनकर ही शत्रुओं की विस्तृत मानरूपी बेल भस्म हो जाती थी ।

पोदनपुर के राजा अपराजित ने तब बड़ा उपद्रव उठा रखा था । वासुदेव ने उसे अपने काबू में लाने के लिये अनेक यत्न किये, पर वह किसी तरह इनके हाथ न पड़ा । तब इन्होंने शहर में यह डोंडी पिटवाई कि जो मेरे शत्रु अपराजित को पकड़कर लाकर मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे उसका मनचाहा वर मिलेगा । गजकुमार डोंडी सुनकर पिता के पास गया और हाथ जोड़कर उसने स्वयं अपराजित पर चढ़ाई करने की प्रार्थना की । उसकी प्रार्थना मंजूर हुई । वह सेना लेकर अपराजित पर जा चढ़ा । दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ । अन्त में विजयलक्ष्मी ने गजकुमार का साथ दिया । अपराजित को पकड़कर लाकर उसने पिता के सामने उपस्थित कर दिया । गजकुमार की इस वीरता को देखकर वासुदेव बहुत खुश हुए । उन्होंने उसकी इच्छानुसार वर देकर उसे सन्तुष्ट किया ।

ऐसे बहुत कम अच्छे पुरूष निकलते हैं जो मन-चाहा वर लाभ कर सदाचारी और सन्तोषी बने रहें । गजकुमार की भी यही दशा हुई । उसने मनचाहा वर पिताजी से लाभकर अन्याय की ओर कदम बढ़ाया । वह पापी जबरदस्ती अच्छे-अच्छे घरों की सती स्त्रियों की इज्जत लेने लगा । वह ठहरा राजकुमार, उसे कौन रोक सकता था ! और जो रोकने की कुछ हिम्मत करता तो वह उसकी आँखो का काँटा खटकने लगता और फिर गजकुमार उसे जड़मूल से उखाड़कर फेंकने का यत्न करता । उस काम को, उस दुराचार को धिक्कार है, जिसके वश हो मूर्ख-जनों को लज्जा और भय भी नहीं रहता है ।

इसी तरह गजकुमार ने अनेक अच्छी-अच्छी कुलीन स्त्रियों की इज्जत ले डाली । पर इसके दबदबे से किसी ने चूँ तक न किया । एक दिन पांसुल सेठ की सुरति नाम की स्त्री पर इसकी नजर पड़ी और इसने उसे खराब भी कर दिया । यह देख पांसुल का हृदय क्रोधाग्नि से जलने लगा । पर वह बेचारा इसका कुछ कर नहीं सकता था । इसीलिये उसे भी चुपचाप घर में बैठ रह जाना पड़ा ।

एक दिन भगवान् नेमिनाथ भव्य-जनों के पुण्योदय से द्वारका में आये । बलभद्र, वासुदेव तथा और भी बहुत से राजे-महाराजे बड़े आनन्द के साथ भगवान् की पूजा करने को गये । खूब भक्ति-भावों से उन्होंने स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाले भगवान् की पूजा-स्तुति की, उनका ध्यान-स्मरण किया । बाद गृहस्थ और मुनिधर्म का भगवान् के द्वारा उन्होंने उपदेश सुना, जो कि अनेक सुखों को देनेवाला है । उपदेश सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने बार-बार भगवान् की स्तुति की । सच है, साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् क दिया सर्वोपदेश सुनकर किसे आनन्द या खुशी न होगी । भगवान् के उपदेश का गजकुमार के हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा । वह अपने किये पाप-कर्मों पर बहुत पछताया । संसार से उसे बड़ी घृणा हुई । वह उसी समय भगवान् के पास ही दीक्षा ले गया, जो संसार के भटकने को मिटाने वाली है ।

दीक्षा लेकर गजकुमार मुनि विहार कर गये । अनेक देशों और नगरों में विहार करते, और भव्यजनों को धर्मोपदेश द्वारा शान्तिलाभ कराते अन्त में वे गिरनार-पर्वत के जंगल में आये । उन्हें अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी । इसलिए वे प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्म-चिंतवन करने लगे । तब इनकी ध्यान-मुद्रा बड़ी निश्चल और देखने योग्य थी ।

इनके संन्यास का हाल पांसुल सेठ को जान पड़ा, जिसकी स्त्री को गजकुमार ने अपने दुराचारीपने की दशा में खराब किया था । सेठ को

अपना बदला चुकाने का बड़ा अच्छा मौका हाथ लग गया । वह क्रोध से भर्राता हुआ गजकुमार मुनि के पास पहुँचा और उनके सब सन्धि स्थानों में लोहे के बड़े-बड़े कीलें ठोककर चलते बना । गजकुमार मुनि पर उपद्रव तो बड़ा ही दु:सह हुआ पर वे जैन-तत्त्व के अच्छे अभ्यासी थे, अनुभवी थे इसलिये उन्होंने इस घोर कष्ट को एक तिनके के चुभने की बराबर भी न गिन बड़ी शान्ति और धीरता के साथ शरीर छोड़ा । यहाँ से ये स्वर्ग में गये । वहाँ अब चिरकाल तक वे सुख भोगेंगे । अहा ! महापुरूषों का चरित बड़ा ही अचंभा पैदा करनेवाला होता है । देखिये कहाँ तो गजकुमार मुनि को ऐसा दु:सह कष्ट और कहाँ सुख देनेवाली पुण्य समाधि ! इसका कारण सच्चा तत्त्व-ज्ञान है । इसलिये इस महत्ता को प्राप्त करने के लिए तत्त्व-ज्ञान अभ्यास करना सबके लिए आवश्यक है ।
सारे संसार के प्रभु कहलाने वाले जिनेन्द्र-भगवान के द्वारा सुख के कारण धर्म का उपदेश सुनकर जो गजकुमार अपनी दुर्बुद्धि को छोड़कर पवित्र बुद्धि के धारक और बड़े भारी सहन-शील योगी हो गये, वे हमें भी सुबुद्धि और शान्ति प्रदान करें, जिससे हम भी कर्तव्य के लिये कष्ट सहने में समर्थ हो सकें ।

पणिक मुनि की कथा

पणिक मुनि की कथा
कथा :
सुख के देनेवाले और सत्पुरूषों से पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर श्रीपणिक नाम के मुनि की कथा लिखी जाती है, जो सब का हित करने वाली है ।
पणीश्वर नामक शहर के राजा प्रजापाल के समय वहाँ सागरदत्त नाम का एक सेठ हो चुका है । उसकी स्त्री का नाम पणिका था । इसके एक लड़का था । उसका नाम पणिक था । पणिक सरल, शान्त और पवित्र हृदय का था । पाप कभी उसे छू भी न गया था । सदा अच्छे रास्ते पर चलना उसका कर्त्तव्य था । एक दिन वह भगवान के समवशरण में गया जो कि रत्नों के तोरणों से बड़ी ही सुन्दरता धारण किये हुए था और अपनी मानस्तंभादि शोभा से सब के चित्त को आनन्दित करनेवाला था । वहाँ उसने वर्द्धमान भगवान को गंधकुटी पर विराजे हुए देखा । भगवान की इस समय की शोभा अपूर्व और दर्शनीय थी । वे रत्न जड़े सोने के सिंहासन पर विराजे हुए थे । पूनम के चन्द्रमा को शर्मिन्दा करनेवाले तीन-छत्र उन पर शोभा दे रहे थे । मोतियों के हार के समान उज्जवल और दिव्य चँवर उनपर ढुर रहे थे, एक साथ उदय हुए अनेक सूर्यों के तेज को जिनके शरीर की कान्ति दबाती थी, नाना प्रकार की शंकाओं को मिटाने वाली दिव्य-ध्वनि द्वारा उपदेश कर रहे थे देवों के बजाये दुन्दुभि नाम के बाजों से आकाश और पृथ्वी-मण्डल शब्दमय बन गया था इन्द्र-नागेन्द्र-चक्रवर्ती-विद्याधर और बड़े-बड़े राजे महाराजे आदि आ आकर जिनकी पूजा करते थे अनेक निर्ग्रन्थ मुनिराज स्तुति कर अपने को कृतार्थ कर रहे थे, चौतीसप्रकारकेअतिशयोसेजो सुशोभित थे, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ऐसे चार अनन्त चतुष्टय आत्म-सम्पत्ति को धारण किये थे, जिन्हें संसार के सर्वोच्च महापुरूष का सम्मान प्राप्त था, तीनों लोकों की स्पष्ट देख-जानकर उसका स्वरूप भव्य-जनों को जो उपदेश कर रहे थे और जिनके लिये मुक्ति-रमणी वरमाला हाथ में लिए उत्सुक हो रही थी ।
पणिक ने भगवान् का ऐसा दिव्य-स्वरूप देखकर उन्हें अपना सिर नवाया, उनकी स्तुति-पूजा की, प्रदक्षिणा दी और बैठकर धर्मोपदेश सुना । अन्त में उसने अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी । ऐसी दशा में आत्महित करना बहुत आवश्यक समझ पणिक वहीं दीक्षा ले साधु हो गया । यहाँ से विहार कर अनेक देशों और नगरों में धर्मोपदेश करते हुए पणिक मुनि एक दिन गंगा किनारे आये । नदी पार होने के लिये ये एक नाव में बैठे । मल्लाह नाव खेये जा रहा था कि अचानक एक प्रलय की सी आँधी ने आकर नाव का खूब डगमगा दिया, उसमे पानी भर आया, नाव डूबने लगी । जबतक नाव डूबती है पणिक मुनि ने अपने भावों को खूब उन्नत किया । यहाँ तक कि उन्हें उसी समय केवल ज्ञान हो गया और तुरन्त ही वे अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष चले गये । वे सेठ पणिक मुनि मुझे भी अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी दें, उन्होंने मेरू-समान स्थिर रहकर कर्म शत्रुओं का नाश किया ।
सागरदत्त सेठ की स्त्री पणिका सेठानी के पुत्र पवित्रात्मा पणिक मुनि वर्द्धमान भगवान के दर्शन कर, जो कि मोक्ष के देने वाले हैं, और उनसे अपनी आयु बहुत ही थोड़ी जानकर संसार की सब माया-ममता छोड़ मुनि हो गये और अन्त में कर्मों का नाश कर मोक्ष गये, वे मुझे भी सुखी करें ।

भद्रबाहु मुनिराज की कथा

भद्रबाहु मुनिराज की कथा

कथा :

संसार कल्याण करनेवाले और देवों द्वारा नमस्कार किये गये श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर पंचम श्रुत-केवली श्रीभद्रबाहु मुनिराज की कथा लिखी जाती है, जो कथा सबका हित करनेवाली है ।

पुण्ड्रवर्द्धन देश के कोटीपुर नामक नगर के राजा पद्मरथ के समय वहाँ सोमशर्मा नाम का एक पुरोहित ब्राह्मण हो गया है । इस की स्त्री का नाम श्रीदेवी था । कथा-नायक भद्रबाहु इसी के लड़के थे । भद्रबाहु बचपन से ही शान्त और गम्भीर प्रकृति के थे । उनके भव्य चेहरे को देखने से यह झट से कल्पना होने लगती थी कि ये आगे चलकर कोई बड़े भारी प्रसिद्ध महापुरूष होंगे । क्योंकि यह कहावत बिलकुल सच्ची है कि 'पूत के पग पालने में ही नजर आ जाते हैं' । अस्तु !

जब भद्रबाहु आठ वर्ष के हुए और इनकी यज्ञोपवीत और मौञ्जी बन्धन हो चुका था तब एक दिन की बात है कि ये अपने साथी बालकों के साथ खेल रहे थे । खेल था गोलियों का । सब अपनी-अपनी हुशियारी और हाथों की सफाई गोलियों को एक पर एक रखकर दिखला रहे थे । किसी ने दो, किसी ने चार किसी ने छह और किसी-किसी ने अपनी होशियारी से आठ गोलियाँ तक ऊपर तले चढ़ा दी । पर हमारे कथानायक भद्रबाहु इन सबसे बढ़कर निकले । इन्होंने एक साथ कोई चौदह गोलियाँ तले ऊपर चढ़ा दी । सब बालक देखकर दंग रह गये । इसी समय एक घटना हुई । वह यह कि श्री वर्द्धमान भगवान को निर्वाण लाभ किये बाद होने वाले पाँच श्रुतकेवलियों में चौदह महापूर्व के जाननेवाले चौथे श्रुतकेवली श्रीगोवर्द्धनाचार्य गिरनार की यात्रा को जाते हुए इस ओर आ गये । उन्होंने भद्रबाहु के खेल की इस चकित करने वाली चतुरता को देखकर निमित्त ज्ञान से समझ लिया कि पाँचवें होने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु ये ही होने चाहिए । भद्रबाहु से उनका नाम वगैरह जानने पर उन्हें और भी दृढ़ निश्चय हो गया । वे भद्रबाहु को साथ लेकर उसके घर पर गये । सोमशर्मा से उन्होंने भद्रबाहु को पढ़ाने के लिए माँगा । सोमशर्मा ने कुछ आनाकानी न कर अपने लड़के को आचार्य महाराज के सुपुर्द कर दिया । आचार्य ने भद्रबाहु को अपने स्थान पर लाकर खूब पढ़ाया और सब विषयो में उसे आदर्श विद्वान बना दिया । जब आचार्य ने देखा कि भद्रबाहु अच्छा विद्वान् हो गया है तब उन्होंने उसे वापिस घर लौटा दिया । इसलिए की कहीं सोमशर्मा यह न समझ ले कि मेरे लड़के को बहकाकर इन्होंने साधु बना लिया । भद्रबाहु घर गये सही पर उनका मन घर में न लगने लगा । उन्होंने माता-पिता से अपने साधु होने की प्रार्थना की । माता-पिता को उनकी इस इच्छा से बड़ा दु:ख हुआ । भद्रबाहु उन्हें समझा बुझाकर शान्त किया और आप सब माया मोह छोड़कर गोवर्द्धनाचार्य द्वारा दीक्षा ले योगी हो गये । सच है, जिसने तत्वों का स्वरूप समझ लिया वह फिर गृह-जंजाल को क्यों अपने सिर पर उठायेगा ? जिसने अमृत चख लिया है वो फिर क्यों खारा जल पीयेगा ? मुनि हूए बाद भद्रबाहु अपने गुरू महाराज गोवर्द्धचार्य का स्वर्गवास हो गया तब उनके बाद उनके पट्ट पर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही बैठे । अब भद्रबाहु आचार्य अपने संघ को साथ लिये अनेक देशों और नगरों में अपने उपदेशामृत द्वारा भव्य-जन रूपोधान को बढ़ाते हुए उज्जैन की ओर आये और सारे संघ को एक पवित्र स्थान में ठहराकर आप आहार के लिए शहर में गये । जिस घर में इन्होंने पहले ही पाँव दिया वहाँ एक बालक पलने में झूल रहा था और जो अभी स्पष्ट बोलना तक न जानता था इन्हें घर में पाँव रखते देख वह सहसा बोल उठा कि 'महाराज' जाइए ! जाइए!! एक अबोध बालक को बोलता देखकर भद्रबाहु आचार्य बड़े चकित हुए । उन्हेंने उस पर निमित-ज्ञान से विचार किया तो उन्हें जान पड़ा कि यहाँ बारह वर्ष का भयानक दुभिक्ष पड़ेगा और वह इतना भीषण रूप धारण करेगा कि धर्म-कर्म की रक्षा तो दूर रहे, पर मनुष्यों को अपनी जान बचाना भी कठिन हो जायगा । भद्रबाहु आचार्य उसी समय अन्तराय कर लौट आये । शाम के समय उन्होंने अपने सारे संघ को इकट्ठा कर उनसे कहा साधुओं यहाँ बारह वर्ष का बड़ा भारी अकाल पड़ने वाला है, और तब धर्म-कर्म का निर्वाह होना कठिन ही नहीं असम्भव हो जायगा । इसलिए आप लोग दक्षिण दिशा की ओर जायें और मेरी आयु बहुत ही थोड़ी रह गई है, इसलिए मैं इधर ही रहूँगा । यह कहकर उन्होंने दशपूर्व के जाननेवाले अपने प्रधान शिष्य श्रीविशाखाचार्य को चरित्र की रक्षा के लिए सारे संघ सहित दक्षिण की ओर रवाना कर दिया । दक्षिण की ओर जानेवाले मुनि उधर सुख शान्ति से रहें । उनका चारित्र निर्विघ्न पला । और सच है गुरू के वचनों को मानने वाले शिष्य सदा सुखी रहते हैं ।

सारे संघ को चला गया देख उज्जैन के राजा चन्द्रगुप्त को उसके वियोग का बहुत रंज हुआ । उससे फिर वे भी दीक्षा ले मुनि बन गये और

भद्रबाहु आचार्य की सेवा में रहे । आचार्य की आयु थोड़ी रह गई थी, इसलिए उन्होंने उज्जैन में ही किसी एक बड़े के झाड़ के नीचे समाधि ले ली और भूख-प्यास आदि की परीषह जीत कर अन्त में स्वर्ग-लाभ किया । वे जैन-धर्म के सार-तत्त्व को जाननेवाले महान्त पस्वी श्रीभद्रबाहु आचार्य हमें सुखमयी सन्मार्ग में लगावें ।

सोमशर्मा ब्राह्यण के वंश के एक चमकते हुए रत्न जिन-धर्म रूप समुद्र के बढ़ाने को पूर्ण चन्द्रमा और मुनियों के योगियों के शिरोमणि श्रीभद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हमें वह लक्ष्मी दे जो सर्वोच्च सुख की देनेवाली है, सब धन-दौलत, विभव-सम्पत्ति में श्रेष्ठ है ।

बत्तीस सेठ पुत्रों की कथा

बत्तीस सेठ पुत्रों की कथा

कथा :

लोक और अलोक के प्रकाश करनेवाले उन्हें देख-जानकर स्वरूप् को समझाने वाले श्रीसर्वज्ञ भगवान को नमस्कार कर बत्तीस सेठ-पुत्रों की कथा लिखी जाती है ।

कौशाम्बी में बत्तीस सेठ थे । उनके नाम इन्द्रदत्त, जिनदत्त, सागरदत्त आदि । इनके पुत्र भी बत्तीस ही थे । उनके नाम समुद्रदत्त, वसुमित्र, नागदत्त, जिनदास आदि थे । ये सब ही धर्मात्मा थे, जिनभगवान के सच्चे भक्त थे, विद्वान थे, गुणवान थे और सम्यक्त्व रूपी रत्न से भूषित थे । इन सब की परस्पर में बड़ी मित्रता थी । यह एक इनके पुण्य का उदय कहना चाहिए जो सब ही धनवान सब ही गुणवान सब ही धर्मात्मा और सब की परस्पर में गाढ़ी मित्रता । बिना पुण्य के ऐसा योग कभी मिल ही नहीं सकता ।

एक दिन ये सब ही मित्र मिलकर एक केवलज्ञानी योगिराज की पूजा करने को गये । भक्ति से इन्होंने भगवान की पूजा की और फिर उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना । भगवान से पूछने पर इन्हें जान पड़ा इनकी उमर अब बहुत थोड़ी रह गई है । तब इस अन्त समय के आत्महित साधने के योग को जाने देना उचित न समझ इन सबही ने संसार का भटकना मिटानेवाली जिनदीक्षा ले ली । दीक्षा लेकर तपस्या करते हुए ये यमुना नदी के किनारे पर आये । यहीं इन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया । भाग्य से इन्हीं दिनों में खूब जोर की वर्षा हुई । नदी नाले सब पूर आ गये । यमुना भी खूब चढ़ी । एक जोर का ऐसा प्रवाह आया कि ये सभी मुनि उसमें बह गये । अन्त में समाधि-पूर्वक शरीर छोड़कर स्वर्ग गये । सच है महापुरूषों का चरित्र सुमेरू से कही स्थिर शाली होता है । स्वर्ग में दिव्य-सुखों को भोगते हुए वे सब जिनेन्द्र-भगवान की भक्ति में सदा लीन रहते हैं ।

कर्मों को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान सदा जयलाभ करें । उनका पवित्र शासन संसार में सदा रहकर जीवों का हित साधन करे । उनका सर्वोच्च चारित्र अनेक प्रकार के दु:सह कष्टों को सहकर भी मेरू सदृश स्थिर रहता है उसकी तुलना किसी के साथ नहीं की जा सकती है । वह संसार में सर्वोत्तम आदर्श है, भव-भ्रमण मिटाने वाला है, परम-सुख का स्थान है और मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि आत्म-शत्रुओं का नाश करने वाला है, उन्हें जड़-मूल से उखाड़ फैंक देने वाला है । हे भव्यजन ! आप भी इस उच्च आदर्श की प्राप्त करने का प्रयत्न करिये ताकि आप भी परम सुख मोक्ष के पात्र बन सकें । जिनेन्द्र भगवान इसके लिए आप सबको शक्ति प्रदान करें यही भावना है ।

धर्मघोष मुनि की कथा

धर्मघोष मुनि की कथा

कथा :

सत्य धर्म का उपदेश करनेवाले अतएव सारे संसार के स्वामी जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर श्रीधर्मघोष मुनि की कथा लिखी जाती है ।

एक महीना के उपवासे धर्ममूर्ति श्री धर्मघोष मुनि एक दिन चम्पापुरी के किसी मुहल्ले में पारणा कर तपोवन की ओर लौट रहे थे । रास्ता भूल जाने से उन्हें बड़ी दूर तक हरी हरी घास पर चलना पड़ा । चलने में अधिक परिश्रम होने से थकावट के मारे उन्हें प्यास लग आई । वे आकर गंगा के किनारे एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गये । उन्हें प्यास से कुछ व्याकुल से देखकर गंगा देवी पवित्र जल का भरा लोटा लेकर उनके पास आई । वह उनसे बोली योगिराज मैं आपके लिए ठंडा पानी लाई हूँ । आप इसे पीकर प्यास शान्त कीजिए । मुनि ने कहा – देवी तूने अपना कर्त्तव्य बजाया यह तेरे लिए उचित ही था पर हमारे लिए देवों द्वारा दिया गया आहार पानी काम नहीं आता । देवी

सुनकर बड़ी चकित हुई । वह उसी समय इसका करण जानने के लिए विदेह-क्षेत्र में गई और वहाँ सर्वज्ञ-भगवान को नमस्कार कर उसने पूछा भगवान एक प्यासे मुनि को मैं जल पिलाने गई पर उन्होंने मेरे हाथ का पानी नहीं पिया इसका क्या कारण है ? तब भगवान ने इसके उत्तर में कहा – देवों का दिया आहार मुनि लोग नहीं कर सकते । भगवान से उत्तर सुन देवी निरूपाय हुई । तब उसने मुनि को शान्ति प्राप्त हो इसके लिए उनके चारों ओर सुगन्धित और ठण्डे जल की वर्षा करना शुरू की । उससे मुनि को शान्ति प्राप्त हुई । इसके बाद शुक्ल-ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवल भव्य जनों को आत्महित के रास्ते पर लगाकर अन्त में उन्होंने निर्वाण लाभ किया ।

वे धर्मघोष मुनिराज आपको तथा मुझे भी सुखी करें, जो पदार्थों की सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति देखने के लिए केवल-ज्ञान रूपी नेत्र के धारक हैं, भव्यजनों को हितमार्ग में लगाने वाले हैं, लोक तथा अलोक के जानने वाले हैं, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं और भव्यजनों के मिथ्यात्व मोह रूपी गाढ़े अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य हैं ।

श्रीदत्त मुनि की कथा

श्रीदत्त मुनि की कथा

कथा :

केवलज्ञान रूपी सर्वोच्च लक्ष्मी के जो स्वामी हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर श्रीदत्तमुनि की कथा लिखी जाती है । जिन्होंने देवों द्वारा दिये हुए कष्ट को बड़ी शान्ति से सहा ।

श्रीदत्त इलावर्द्धनपुरी के राजा जितशत्रु की रानी इला के पुत्र थे । अयोध्या के राजा अंशुमान की राजकुमारी अंशुमती से इनका ब्याह हुआ था । अंशुमती ने एक तोते को पाल रखा था । जब ये पति-पत्नी विनोद के लिए चौपड़ वगैरह खेलते तब तोता कौन कितनी बार जीता इसके लिए अपने पैर के नख से रेखा खींच दिया करता था । पर इसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता तब तो यह एक ही रेखा खींच दिया करता था । और जब अपनी मालकिन की जीत होती तब दो रेखाएँ खींच दिया करता था । आश्चर्य है कि पक्षी भी ठगाई कर सकते हैं । श्रीदत्त तोते की इस चाल को कई बार तो सहन कर गया । पर आखिर उसे तोते पर बहुत गुस्सा आया । सो उसने तोते की गरदन पकड़कर मरोड़ दी । तोता उसी दम मर गया । बड़े कष्ट के साथ मरकर वह व्यन्तर देव हुआ ।

इधर साँझ को एक दिन श्रीदत्त अपने महल पर बैठा हुआ प्रकृति देवी की सुन्दरता को देख रहा था । इतने में एक बादल का बड़ा भारी टुकड़ा उसकी आँखो के सामने से गुजरा । वह थोड़ी दूर न गया होगा कि देखते ही देखते छिन्न-भिन्न हो गया । उसकी इस क्षणनश्वरता का श्रीदत्त के चित्त पर बहुत असर पड़ा । संसार की सब वस्तुएँ उसे बिजली कि तरह नाश्वान देख पड़ने लगी । सर्प के समान भयंकर विषय भोगों से उसे डर लगने लगा । शरीर जिसे कि वह बहुत प्यार करता था सर्व अपवित्रता का स्थान जान पड़ने लगा । उसे ज्ञान हुआ कि ऐसे दु:खमय और देखते देखते नष्ट होनेवाले संसार के साथ जो प्रेम करते हैं, माया-ममता बढ़ाते हैं वे बड़े बेसमझ हैं । वह अपने लिए बहुत पछताया कि हाय ! मैं कितना मूर्ख हूँ जो अबतक अपने हित को न शोध सका । मतलब यह कि संसार की दशा से उसे बड़ा वैराग्य हुआ और अन्त में यह सुख की कारण जिन-दीक्षा ले ही गया ।

इसके बाद श्रीदत्त मुनि ने बहुत से देशों नगरों का भ्रमण कर अनेक भव्य-जनों को सम्बोधा, उन्हे आत्महित की ओर लगाया । घूमते-फिरते वे एक बार अपने शहर की ओर आ गये । समय जाड़े का था । एक दिन श्रीदत्त मुनि शहर बाहर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे उन्हें ध्यान में खड़ा देख उस तोते के जीव को जिसे श्रीदत्त ने गरदन मरोड़ मार डाला था और जो मरकर व्यन्तर हुआ था अपने बैरी पर बड़ा क्रोध आया । उस बैर का बदला लेने के अभिप्राय में उसने मुनि पर बड़ा उपद्रव किया । एक तो वैसे ही जाड़े का समय उसपर इसने बड़ी जोर की ठंडी मार हवा चलाई, पानी बरसाया, ओले गिराये । मतलब यह कि उसने अपना बदला चुकाने में कोई बात उठा न रखकर मुनि को बहुत कष्ट दिया । श्रीदत्त मुनिराज ने इन सब कष्टों को बड़ी शान्ति और धीरज के साथ सहा । व्यन्तर इनका पूरा दुश्मन था पर तब भी इन्होंने उस पर रंचमात्र भी क्रोध नहीं किया । वे बैरी और हितु को सदा समान भाव से देखते थे । अन्त में शुक्ल-ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर वे कभी नाश न होनेवाले मोक्ष स्थान को चले गये ।

जितशत्रु राजा के पुत्र श्रीदत्त मुनि देवकृत कष्टों को बड़ी शान्ति के साथ सहकर अन्त में शुक्ल-ध्यान द्वारा सब कर्मों का नाशकर मोक्ष गये । वे केवलज्ञानी भगवान मुझे अपनी भक्ति प्रदान करें जिससे मुझे भी शान्ति प्राप्त हो ।

वृषभसेन की कथा

वृषभसेन की कथा

कथा :

जिन्हें सारा संसार बड़े आनन्द के साथ सिर झुकाता है, उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर वृषभसेन का चरित लिखा जाता है । उज्जैन के राजा प्रद्योत एक दिन उन्मत हाथी पर बैठकर हाथी पकड़ने के लिए स्वयं किसी एक घने जंगल में गये । हाथी इन्हें बड़ी दूर ले भागा और आगे-आगे भागता ही चला जाता था । इन्होंने उसके ठहराने की बड़ी कोशिश की, पर उसमें ये सफल नहीं हुए । भाग्य से हाथी एक झाड़ के नीचे होकर जा रहा था कि इन्हें सुबुद्धि सूझ गई । वे उसकी टहनी पकड़कर लटक गये और फिर धीरे-धीरे नीचे उतर आये । यहाँ से चलकर ये खेट नाम के एक छोटे से पर बहुत सुन्दर गाँव के पास पहुँचे । एक पनघट पर जाकर ये बैठ गये । इन्हें बड़ी प्यास लग रही थी । इन्होंने उसी समय पनघट पर पानी भरने को आई हुई जिनपाल की लड़की जिनदत्ता से जल पिला देने के लिए कहा । उसने इनके चेहरे के रंग-ढंग से इन्हें कोई बड़ा आदमी समझ जल पिला दिया । बाद अपने घर पर आकर उसने प्रद्योत का हाल अपने पिता से कहा । सुनकर जिनपाल दौड़ा हुआ आकर इन्हें अपने घर लिवा लाया और बड़े आदर सत्कार के साथ इसने उन्हें स्नान-भोजन कराया । प्रद्योत उसकी इन मेहमानों से बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने जिनपाल को अपना सब परिचय दिया । जिनपाल ने ऐसे महान् अतिथि द्वारा अपना सब पवित्र होने से अपने को बड़ा भाग्यशाली माना । वे कुछ दिन वहाँ और ठहरे । इतने में उनके सब नौकर-चाकर भी उन्हें लिवाने को आ गये । प्रद्योत अपने शहर जाने को तैयार हुए । इसके पहले एक बात कह देने की है कि जिनदत्ता को जब से प्रद्योत ने देखा तब ही से उनका उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया था और इसी से जिनपाल की सम्मति पा उन्होंने उसके साथ ब्याह भी कर लिया था । दोनों नवदम्पति सुख के साथ अपने राज्य में आ गये । जिनदत्ता को तब प्रद्योत ने अपनी पट्टरानी का सम्मान दिया । सच है, समय पर दिया हुआ थोड़ा भी दान बहुत ही सुखों का देने वाला होता है जैसे वर्षा-काल में बोया हुआ बीज बहुत फलता है । जिनदत्ता के उस जल-दान से, जो उसने प्रद्योत को किया था, जिनदत्ता को एक राजरानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । ये नये दम्पति सुख से संसार-यात्रा बिताने लगे, प्रतिदिन नये-नये सुखों का स्वाद लेने में इनके दिन कटने लगे ।

कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ । जिस दिन पुत्र होने वाला था, उसी रात को राजा प्रद्योत ने सपने में एक सफेद बैल को देखा था । इसलिए पुत्र का नाम भी उन्होने वृषभ-सेन रख दिया । पुत्र-लाभ हुए बाद राजा की प्रवृत्ति धर्म-कार्यों को ओर और अधिक झुक गई । वे प्रतिदिन पूजा-प्रभावना, अभिषेक, दान आदि पवित्र कार्यों को बड़ी भक्ति श्रद्धा के साथ करने लगे । इसी तरह सुख के साथ कोई आठ बरस बीत गये । जब वृषभसेन कुछ होशियार हुआ तब एक दिन राजा ने उससे कहा -- बेटा, अब तुम अपने इस राज्य के कार्यभार को सम्भालो । मैं अब जिन-भगवान् के उपदेश किये पवित्र तप को ग्रहण करता हूँ । वही शान्ति प्राप्त का कारण है । वृषभसेन ने तब कहा -- पिताजी, आप तब क्यों ग्रहण करते हैं, क्या परलोक-सिद्धि, मोक्ष प्राप्ति राज्य करते हुए नहीं हो सकती ? राजा ने कहा – बेटा हाँ, जिसे सच्ची सिद्धि या मोक्ष कहते हैं, वह बिना तप किये नहीं होती है । जिन भगवान् ने मोक्ष का कारण एक-मात्र तप बताया है । इसलिए आत्महित करने वालों को उसका ग्रहण करना अत्यन्त ही आवश्यक है । राजपुत्र वृषभसेन ने तब कहा – पिताजी यदि यह बात है तो फिर मैं ही इस दु:ख के कारण राज्य को लेकर क्या करूँगा ? कृपाकर यह भार मुझपर न रखिए । राजा ने वृषभसेन को बहुत समझाया पर उसके ध्यान में तप छोड़कर राज्य ग्रहण करने की बात बिलकुल न आई । लाचार हो राजा राज्यभार अपने भतीजे को सौंपकर आप पुत्र के साथ जिनदीक्षा ले गये ।

यहाँ से वृषभसेन मुनि तपस्या करते हुए अकेले ही देश, विदेशों में धर्मोपदेशार्थ घूमते-फिरते एक दिन कौशाम्बी के पास आ एक छोटी-सी पहाड़ी पर ठहरे । समय गर्मी का था । बड़ी तेज धूप पड़ती थी । मुनिराज एक पवित्र शिला पर कभी बैठे और कभी खड़े इस कड़ी धूप में योग साधा करते थे । उनकी इस कड़ी तपस्या और आत्मतेज से दिपते हुए उनके शारीरिक सौन्दर्य को देख लोगों की उनपर बड़ी श्रद्धा हो गई । जैनधर्म पर उनका विश्वास खूब दृढ़ जम गया ।

एक दिन चारित्र चूड़ामणि श्रीवृषभसेन मुनि भिक्षार्थ शहर में गये हुये थे कि पीछे किसी जैन-धर्म के प्रभाव को न सहने वाले बुद्धदास नाम के बुद्ध-धर्मी ने मुनिराज के ध्यान करने की शिला को आग से तपाकर लाल-सुर्ख कर दिया । सच है, साधु-महात्माओं का प्रभाव दुर्जनों से नहीं सहा जाता । जैसे सूरज के तेज को उल्लू नहीं सह सकता । जब मुनिराज आहार कर पीछे लौटे और उन्होंने शिला को अग्नि की

तपी हुई देखा, यदि वे चाहते, भौतिक शरीर से उन्हें मोह होता है तो बिना शकवे अपनी रक्षा कर सकते थे । पर उनमें यह बात न थी; वे कर्तव्यशील थे, अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन को सर्वोच्च समझते थे । यही कारण था कि वे संन्यास की शरण ले उस आग से धधकती शिला पर बैठ गये । उस समय उनके परिणाम इतने ऊँचे चढ़े कि उन्हें शिला पर बैठते ही केवल-ज्ञान हो गया और उसी समय अघातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने निर्वाण-लाभ किया । सच है, महापुरूषों का चारित्र मेरु से भी कहीं अधिक स्थिर होता है ।
जिसके चित्त-रूपी अत्यन्त ऊँचे-पर्वत की तुलना में बड़े-बड़े पर्वत एक नाकुछ चीज परमाणु की तरह दिखने लगते हैं, समुद्र दूब की अणी पर ठहरे जल-कण सा प्रतीत होता है, वे गुणों के समुद्र और कर्मों को नाश करनेवाले वृषभसेन जिन मुझे अपने गुण प्रदान करें, जो सब मनचाही सिद्धियों के देनेवाले हैं ।

कार्तिकेय मुनि की कथा

कार्तिकेय मुनि की कथा
कथा :
संसार के सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को देखने-जानने के लिए केवलज्ञान जिनका सर्वोत्तम नेत्र है और जो पवित्रता की प्रतिमा और सब सुखों के दाता हैं, उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर कार्तिकेय मुनि की कथा लिखी जाती है ।
कार्तिकपुर के राजा अग्निदत्त की रानी वीरवती के कृत्तिका नाम की एक लड़की थी । एक बार अठाई के दिनों में उसने आठ दिन के उपवास किये । अन्त के दिन वह भगवान् की पूजा कर भगवान् के लिए चढ़ाई फूल-माला को लाई । उसे उसने अपने पिता को दिया । उस समय उसकी दिव्य रूप-राशि को देखकर उसके पिता अग्निदत्त की नीयत ठिकाने न रही । काम के वश हो उस पापी ने बहुत से अन्य-धर्मों और कुछ जैन साधुओं को इकट्ठा कर उनसे पूछा -- योगी-महात्माओं, आप कृपाकर मुझे बतलावें कि मेरे घर में पैदा हुए रत्न का मालिक मैं ही हो सकता हूँ या कोई और ? राजा का प्रश्न पूरा होता है कि सब ओर से एक ही आवाज आई कि महाराज, उस रत्न के तो आप ही मालिक हो सकते हैं, न कि दूसरा । पर जैन साधुओं ने राजा के प्रश्न पर कुछ गहरा विचार कर इस रूप में राजा के प्रश्न का उत्तर दिया -- राजन्, यह बात ठीक है कि आपने यहाँ उत्पन हुए रत्न के मालिक आप हैं, पर एक कन्या-रत्न को छोड़कर । उसकी मालिकी पिता के नाते से ही आप कर सकते हैं और रूप में नहीं । जैन साधुओं का यह हित-भरा उत्तर राजा को बड़ा बुरा लगा और लगना ही चाहिए; क्योंकि पापियों को हित की बात कब सुहाती है ? राजा ने गुस्सा होकर उन मुनियों को देश-बाहर कर दिया और अपनी लड़की के साथ स्वयं ब्याह कर लिया । सच है, जो पापी हैं, कामी हैं जिन्हें आगामी दुर्गतियों में दु:ख उठाना है, उनमें कहाँ धर्म, कहाँ लाज, कहाँ नीति-सदाचार और कहाँ सुबुद्धि ?
कुछ दिनों बाद कृतिका के दो सन्तान हुई । एक पुत्र और एक पुत्री । पुत्र का नाम रखा कीर्तिकेय और पुत्री का नाम वीरमती । वीरमती बड़ी खूबसूरत थी । उसका ब्याह रोहेड़ नगर के राजा क्रोंच के साथ हुआ । वीरमती वहाँ रहकर सुख के साथ दिन बिताने लगी ।
इधर कार्तिकेय भी बड़ा हुआ । अब उसकी उम्र कोई १४ वर्ष की हो गई थी । एक दिन वह अपने साथी राजकुमारों के साथ खेल रहा था । वे सब अपने नाना के यहाँ से आए हुए अच्छे-अच्छे कपड़े और आभूषण पहने हुए थे । पूछने पर कार्तिकेय को ज्ञात हुआ कि वे वस्त्रभरण उन सब राजकुमारों के नाना-मामा के यहाँ से आए हैं । तब उसने अपनी माँ से जाकर पूछा – क्यो माँ! मेरे साथी राजपुत्रों के लिए तो उनके नाना-मामा अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण भेजते हैं, भला फिर मेरे नाना-मामा मेरे लिए क्यों नहीं भेजते हैं ? अपने प्यारे पुत्र की ऐसी भोली बात सुनकर कृतिका का हृदय भर आया । आँखो से आँसू बह चले । अब वह उसे क्या कहकर समझाये और कहने को जगह ही कौन-सी बच रही थी । परन्तु अबोध-पुत्र के आग्रह से उसे सच्ची हालत कहने को बाध्य होना पड़ा । वह रोती हुई बोली -- बेटा, मैं इस महापाप की बात तुझ से क्या कहूँ । कहते हुए छाती फटती है । जो बात कभी नहीं हुई, वही बात मेरे तेरे सम्बन्ध में है । वह केवल यही कि जो मेरे पिता हैं वे ही तेरे भी पिता हैं । मेरे पिता ने मुझसे बलात् ब्याह कर मेरी जिन्दगी कलंकित की । उसी का तू फल है । कार्तिकेय को काटो तो खून नहीं । उसे अपनी माँ का हाल सुनकर बेहद दु:ख हुआ । लज्जा और आत्म-ग्लानि से उसका हृदय तिलमिला उठा । इसके लिए वह लाइलाज था । उसने फिर अपनी माँ से पूछा – तो क्यों माँ ! उस समय मेरे पिता को ऐसा अनर्थ करते किसी ने रोका नहीं, सब कानों में तेल डाले पडे रहे ? उसने कहा – बेटा ! रोका क्यों नहीं ? मुनियों ने उन्हें रोका था, पर उनकी कोई बात नहीं सुनी गई, उलटे वे ही देश से निकाल दिये गए ।

कार्तिकेय ने तब पूछा – माँ वे गुणवान् मुनि कैसे होते हैं ? कृत्तिका बोली – बेटा ! वे शान्त रहते हैं, किसी से लड़ते-झगड़ते नहीं । कोई दस गालियाँ भी उन्हें दे जाये तो वे उससे कुछ नहीं कहते और न क्रोध ही करते हैं । बेटा ! वे बड़े पण्डित होते हैं, उनके पास धन-दौलत तो दुर रहा, एक फूटी कौडी भी नहीं रहती । वे कभी कपड़े नहीं पहिनते, उनका वस्त्र केवल यह आकाश है । चाहे कैसा हो ठण्ड या गर्मी पड़े, चाहे कैसी भी बरसात हो उनके लिए सब समान है । बेटा ! वे बड़े दयावान होते हैं, कभी किसी जीव को जरा भी नहीं सताते । इसी दया को पूरी तौर से पालने के लिए वे अपने पास सदा मोर के अत्यन्त कोमल पंखो की एक पीछी रखते हैं और जहाँ उठते-बैठते हैं, वहाँ की जमीन को पहले उस पीछी से झाड़-पोंछकर साफ कर लेते हैं । उनके हाथ में लकड़ी का एक कमण्डलु होता है, जिसमें वे शौच वगैरह के लिए प्रासुक (जीव रहित) पानी रखते हैं । बेटा, उनकी चर्या बड़ी ही कठिन है । वे भिक्षा के लिये श्रावकों के यहाँ जाते हैं जरूर, पर कभी माँगकर नहीं खाते । किसी ने उन्हें आहार नहीं दिया तो वे भूखे ही पीछे तपोवन में लौट जाते हैं । आठ-आठ पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास करते हैं । बेटा, मैं तुझे उनके आचार-विचार की बातें कहाँ तक बताऊँ । तू इतने में ही समझ ले कि संसार के सब साधुओं में वे ही सच्चे साधु हैं । अपनी माता द्वारा जैन साधुओं की तारीफ सुनकर कार्तिकेय की उनपर बड़ी श्रद्धा हो गई । उसे अपने पिता के कार्य से वैराग्य तो पहले ही हो चुका था, उस पर माता के इस प्रकार समझाने से उसकी जड़ और मजबूत हो गई । वह उसी समय सब मोह-ममता तोड़कर घर से निकल गया और मुनियों के स्थान तपोवन में जा पहुँचा । मुनियों का संघ देख उसे बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने बडी भक्ति से उन सब साधुओं को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और दीक्षा के लिए उनसे प्रार्थना की । संघ के आचार्य ने उसे होनहार जान दीक्षा देकर मुनि बना लिया । कुछ दिनों में ही कार्तिकेय मुनि, आचार्य के पास शास्त्रभ्यास कर बड़े विद्वान हो गए ।

कार्तिकेय की माता ने पुत्र के सामने मुनियों की बहुत प्रशंसा की थी, पर उसे यह मालूम न था कि उसकी की हुई प्रशंसा का कार्तिकेय पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वह दीक्षा लेकर मुनि बन जाय । इसलिए जब उसने जाना कि कार्तिकेय योगी बनना चाहता है, तो उसे बड़ा दु:ख हुआ । वह कार्तिकेय के सामने बहुत रोई, गिड़गिड़ाई कि वह दीक्षा न ले, परन्तु कार्तिकेय अपने दृढ़-निश्चय से विचलित नहीं हुआ और तपोवन में जाकर साधु बन ही गया । कार्तिकेय की जुदाई का दु:ख सहना उसकी माँ के लिये बड़ा कठिन हो गया । दिनों-दिन उसका स्वास्थ बिगड़ने लगा और आखिर वह पुत्र-शोक से मृत्यु को प्राप्त हुई । मरते समय भी पुत्र के आर्त्त-ध्यान से मरी । अत: मरकर व्यन्तर देवी हुई ।

उधर कार्तिकेय मुनि घूमते फिरते एक बार रोहेड़ नगरी की ओर आ गये जहाँ इनकी बहिन ब्याही थी । ज्येष्ठ का महीना था । खूब गर्मी थी । अमावस्या के दिन कार्तिकेय मुनि शहर में भिक्षा के लिए गये । राजमहल के नीचे होकर वे जा रहे थे कि उनपर महल पर बैठी हुई उनकी बहन वीरमती की नजर पड़ गई । वह उसी समय गोद में सिर रखकर लेटे हुये पति के सिर को नीचे रख दौड़ी हुई भाई के पास आई और बड़ी भक्ति से उसने भाई को हाथ जोड़कर नमस्कार किया । प्रेम के वशीभूत हो वह उसके पाँव में गिर पड़ी । और ठीक है – भाई होकर फिर मुनि हो तब किस का प्रेम उन पर नहो? कौंचराज ने जब एक नंगे भिखारी के पाँव पड़ते अपनी रानी को देखा । तब उसके क्रोध का कुछ ठिकाना नहीं रहा । उन्होंने आकर मुनि को खूब मार लगाई । यहाँ तक कि मुनि मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा । सच है पापी मिथ्यात्वी और जैन-धर्म का द्वेष करनेवाले लोग ऐसा कौन नीच-कर्म नहीं कर गुजरते जो जन्म-जन्म में अनंत दुखों का देनेवाला न हो ।

कार्तिकेय को अचेत पड़ा देखकर उसकी पूर्व-जन्म की माँ जो इस जन्म में व्यन्तर-देवी हो गई थी, मोरनी का रूप ले उनके पास आई और उन्हें उठा लाकर बड़े यत्न से शीतलनाथ भगवान के मन्दिर में एक निरापद जगह में रख दिया । कार्तिकेय मुनि की हालत बहुत खराब हो चुकी थी । उनके अच्छे होने की कोई सूरत न थी । इसलिये ज्यों ही मुनि का मूर्च्छा से चेत हुआ उन्होंने समाधि ले ली । उसी दशा में शरीर छोड़कर वे स्वर्ग-धाम सिधारे । तब देवों ने आकर उनकी भक्ति से बड़ी पूजा की । उसी दिन से वह स्थान भी कार्तिकेय तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वे वीरमती के भाई थे इसलिए 'भाईबीज' के नाम से दूसरा लैकिक पर्व प्रचलित हुआ ।

आप लोग जिन-भगवान् दवारा उपदिष्ट ज्ञान का अभ्यास करें । वह सब सन्देहों का नाश करने वाला और स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख प्रदान करने वाला है । जिनका ऐसा उच्च ज्ञान संसार के पदार्थों का स्वरूप दिखाने के लिये दिये की तरह सहायता करने वाला है, वे देवों द्वारा पूजे जाने वाले, जिनेन्द्र-भगवान मुझे भी कभी नाश न होने वाला सुख देकर अविनाशी बनावें ।

अभयघोष मुनि की कथा

अभयघोष मुनि की कथा

कथा :

देवों द्वारा पूजा भक्ति किये गये जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर अभयघोष मुनि का चरित्र लिखा जाता है ।

अभयघोष काकन्दी के राजा थे । उनकी रानी का नाम अभयमती था । दोनों में परस्पर बहुत प्यार था ।

एक दिन अभयघोष घूमने को जंगल में गए हुये थे । इसी समय एक मल्लाह एक बड़े और जीवित कछुए के चारो पाँव बाँधकर उसे लकड़ी में लटकाये हुए लिये जा रहा था । पापी अभयघोष की उसपर नजर पड़ गई । उन्होंने मूर्खता के वश हो अपनी तलवार से उसके चारों पाँवों को काट दिया । बड़े दु:ख की बात है कि पापी लोग बेचारे ऐसे निर्दोष जीवों को निर्दयता के साथ मार डालते हैं और न्याय-अन्याय का कुछ विचार नहीं करते ! कछुआ उसी समय तड़फड़ाकर गत-प्राण हो गया । मरकर वह अकाम-निर्जरा के फल से इन्हीं अभयघोष के यहाँ चंडवेग नाम का पुत्र हुआ ।

एक दिन राजा को चन्द्रग्रहण देखकर वैराग्य हुआ । उन्होंने विचार किया जो एक महान तेजस्वी ग्रह है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सकता और जिसकी गणना देवों में है, वह भी जब दूसरों से हार खा जाता है तब मनुष्यों की तो बात ही क्या ? जिनके कि सिर पर काल सदा चक्कर लगाता रहता है । हाय, मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आज-तक विषयों में फँसा रहा और कभी अपने हित की ओर मैने ध्यान नहीं दिया । मोहरूपी गाढ़े अँधेरे ने मेरी दोनों आँखों को ऐसी अन्धी बना डाला, जिससे मुझे अपने कल्याण का रास्ता देखने या उसपर सावधानी के साथ चलने को सूझ ही न पड़ा । इसी मोह के पापमय जाल में फँसकर मैंने जैन-धर्म से विमुख होकर अनेक पाप किये । हाय, मैं अब इस संसार रूपी अथाह समुद्र को पारकर सुखमय किनारे को कैसे प्राप्त कर सकूँगा । प्रभो, मुझे शक्ति प्रदान कीजिये, जिससे मैं आत्मिक सच्चा-सुख लाभ कर सकूँ । इस विचार के बाद उन्होंने स्थिर किया कि जो हुआ सो हुआ । अब भी मुझे अपने कर्तव्य के लिए बहुत समय है । जिसप्रकार मैंने संसार में रहकर विषय-सुख भोगा, शरीर और इन्द्रियों को खूब सन्तुष्ट किया, उसी तरह अब मुझे अपने आत्म-हित के लिए कड़ी से कड़ी तपस्या कर अनादिकाल से पीछा किये हुए इन आत्मशत्रु कर्मों का नाश करना उचित है, यही मेरे पहले किये कर्मों का पूर्ण-प्रायश्चित है, और ऐसा करने से ही मैं शिवरमणी के हाथों का सुख स्पर्ष कर सकूँगा । इसप्रकार स्थिर विचार कर अभयघोष ने सब राजभार अपने कुवँर चण्डवेग को सौंप जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर उन्हें आत्म-शक्ति के बढ़ाने को सहायक बनाती है । इसके बाद मुनि अभयघोष संसार समुद्र से पार करनेवाले और जन्म-जरा-मृत्यु को नष्ट करनेवाले अपने गुरू-महाराज को नमस्कार कर और उनकी आज्ञा ले देश-विदेशों में धर्मोपदेषार्थ अकेले ही विहार कर गये । इसके कितने वर्षों ही बाद वे घूमते फिरते फिर एक बार अपनी राजधानी काकन्दी की ओर आ निकले । एक दिन ये वीरासन से तपस्या कर रहे थे । इसी समय इनका पुत्र चण्डवेग इस ओर आ निकला । पाठकों को याद होगा कि चण्डवेग पूर्व-जन्म में कछुआ था और इसके पिता अभयघोष की शत्रुता है । कारण चण्डवेग पूर्व-जन्म में कछुआ था और उसके पाँव अभयघोष ने काट डाले थे । सो चाण्डवेग की जैसे ही इनपर नजर पड़ी उसे अपने पूर्व की याद आ गई । उसने क्रोध से अन्धे होकर उनके भी हाथ-पाँवों को काट डाला । सच है धर्म-हीन अज्ञानी जन कौन पाप नहीं कर डालते ।

अभयघोष मुनि पर महान् उपसर्ग हुआ, पर वे भी मेरू के समान अपने कर्त्तव्य में दृढ़ बने रहे । अपने आत्म-ध्यान से वे रत्तीभर भी न चिगे । इसी ध्यान-बल से केवल-ज्ञान प्राप्त कर अन्त में उन्होंने अक्षयान्त मोक्ष-लाभ किया । सच है, आत्म-शक्ति बड़ी गहन है, आश्चर्य पैदा करनेवाली है । देखिए कहाँ तो अभयघोष मुनि पर दु:ख कष्ट का आना और कहाँ मोक्ष प्राप्ति का कारण दिव्य आत्मध्यान !

सत्पुरुषों द्वारा सेवा किये गये वे अभयघोष मुनि मुझे भी मोक्ष का सुख दें, जिन्होंने दु:सह परीषह को जीता, आत्मशत्रु राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को नष्ट किया और जन्म-जन्म में दारूण दु:खों के देनेवाले कर्मों का क्षयकर मोक्ष का सर्वोच्च सुख, जिस सुख की कोई तुलना नहीं कर सकता, प्राप्त किया ।

विद्युच्चर मुनि की कथा

विद्युच्चर मुनि की कथा

कथा :

सब सुखों के देनेवाले और संसार में सर्वोच्च गिने जाने वाले जिनेन्द्र-भगवान् को नमस्कार कर शास्त्रों के अनुसार विद्युच्चर मुनि की कथा

लिखी जाती है ।
मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य में इनके समय कोतवाल के ओहदे पर एक यमदण्ड नाम का मनुष्य नियुक्त था । वहीँ विद्युच्चर नाम का चोर भी रहता था । यह अपने चोरी के फन में बड़ा चलता हुआ था । सो यह क्या करता कि दिन में तो एक कोढ़ी के वेष में किसी सुनसान मन्दिर में रहता और ज्यों ही रात होती कि एक सुन्दर मनुष्य का वेष धारण कर खूब मजा-मौज मारता । यही ढंग इसका बहुत दिनो से चला आता था । पर इसे कोई पहिचान न सकता था । एक दिन विद्दुच्चर राजा के देखते-देखते खास उन्हीं के हार को चुरा लाया । पर राजा से तब कुछ भी न बन पड़ा । सुबह उठकर राजा ने कोतवाल को बुलाकर कहा देखो कोई चोर अपनी सुन्दर वेश-भूषा से मुझे मुग्ध बनाकर मेरा रत्न-हार उठा ले गया है । इसलिए तुम्हें हिदायत की जाती है कि सात दिन के भीतर उस हार को या उसके चुरा ले जाने वाले को मेरे सामने उपस्थित करो, नहीं तो तुम्हें इसकी पूरी सजा भोगनी पड़ेगी । जान पड़ता है तुम अपने कर्तव्य-पालन में बहुत त्रुटि करते हो । नहीं तो राजमहल में से चोरी हो जाना कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है । 'हुक्म हुजूर का' कहकर कोतवाल चोर को ढूँढने को निकला । उसने सारे शहर की गली-कूँची, घर-बार आदि एक-एक कर के छान डाला पर उसे चोर का पता कहीं न चला । ऐसे उसे छह दिन बीत गये । सातवें दिन वह फिर घर बाहर हुआ । चलते-चलते उसकी नजर एक सुनसान मन्दिर पर पड़ी । वह उसके भीतर घुस गया । वहाँ उसने एक कोढ़ी को पड़ा पाया । उस कोढ़ी का रंगढ़ंग देखकर कोतवाल को कुछ संदेह हुआ । उसने उससे कुछ बातचीत कुछ इस ढ़ंग से की कि जिससे कोतवाल उसके हृदय का कुछ पता पा सके । यद्यपि उस बातचीत से कोतवाल को जैसी चाहिए थी वैसी सफलता न हुई । पर तब भी उसके पहले शक को सहारा अवश्य मिला । कोतवाल उस कोढ़ी को राजा के पास ले गया और बोला – महाराज यही आपके हार का चोर है । राजा के पूछने पर उस कोढ़ी ने साफ इन्कार कर दिया कि मैं चोर नहीं हूँ । मुझे ये जबरदस्ती पकड़ लाये हैं । राजा ने कोतवाल की ओर तब नजर की । कोतवाल ने फिर भी दृढ़ता से कहा कि महाराज, यही चोर है । इसमें कोई सन्देह नहीं । कोतवाल को बिना कुछ किसी सुबूत के इस प्रकार जोर देकर कहते देखकर कुछ लोगों के मन में यह विश्वास जग गया कि यह अपनी रक्षा के लिए जबरन बेचारे गरीब भिखारी को चोर बताकर सजा दिलवाना चाहता है । उसकी रक्षा हो जाये इस आशय से उन लोगों ने राजा से प्रार्थना की कि महाराज कहीं ऐसा न हो कि बिना ही अपराध के इस गरीब भिखारी को कोतवाल साहब की मार खाकर बेमौत मर जाना पड़े । और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये इसे मारेंगे अवश्य । तब कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे अपना हार भी मिल जाये और बिचारे गरीब की जान भी न जाये । जो हो, राजा ने उन लोगों की प्रार्थना पर ध्यान दिया या नहीं पर यह स्पष्ट है कि कोतवाल साहब उस कोढ़ी को अपने घर लिवा ले गये । और जहाँ तक उनसे बन पड़ा उन्होंने उसके मारने पीटने सजा देने बाँधने आदि में कोई कसर न की । वह कोढ़ी इतने दु:सह कष्ट दिये जाने पर भी हर बार यही कहता रहा कि मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ । दूसरे दिन कोतवाल फिर उसे राजा के सामने खड़ा करके कहा महाराज यही पक्का चोर है । कोढ़ी ने फिर भी यही कहा कि महाराज मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ । सच है, चोर बड़े ही कट्टर साहसी होते हैं ।
तब राजा ने उससे कहा -- अच्छा, मैं तेरा सब अपराध क्षमा कर तुझे अभय देता हूँ । तू सच्चा-सच्चा हाल कह दे कि तू चोर है या नहीं ? राजा से जीवनदान पाकर उस कोढ़ी या विद्यच्चर ने कहा यदि ऐसा है तो लीजिए कृपानाथ मैं सब बात आपके सामने प्रगट कर देता हूँ । यह कहकर वह बोला – राजाधिराज अपराध क्षमा हो । वास्तव में मैं ही चोर हूँ । आपके कोतवाल साहब का कहना सत्य है । सुनकर राजा चकित हो गये । उन्होंने तब विद्दुच्चर से पूछा -- जब कि तू चोर था तब फिर तूने इतनी मारपीट कैसे सह ली रे ? विद्दुच्चर बोला -- महाराज इसका तो कारण यह है कि मैंने एक मुनिराज द्वारा नरकों के दु:खों का हाल सुन रखा था । तब मैंने विचारा कि नरकों में और इन दु:खों में तो पर्वत और राई का सा अन्तर है । और जब मैंने अनन्त बार नरकों के भयंकर दु:ख, जिनके कि सुनने मात्र से छाती दहल उठती है, सहे हैं तब इन तुच्छ, ना-कुछ चीज दु:खों का सह लेना कौन बड़ी बात है ! यही विचारकर मैंने सब-कुछ सहकर चूँ तक भी नहीं की । विद्दुच्चर से उसकी सच्ची घटना सुनकर राजा ने खुश होकर उसे वर दिया कि तुझे जो कुछ माँगना हो माँग । मुझे तेरी बातें सुनने से बड़ी प्रसन्नता हुई । तब विद्दुच्चर ने कहा -- महाराज, आपकी इस कृपा का मैं अत्यन्त उपकृत हूँ । इस कृपा के लिए आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं वह मेरे मित्र इन कोतवाल साहब को दीजिए । राजा सुनकर और भी अधिक अचम्भे में पड़ गये । उन्होंने विद्दुच्चर से कहा – क्यों यह तेरा मित्र कैसे है ? विद्युच्चर ने तब कहा – सुनिए महाराज, मैं सब आपको खुलासा सुनाता हूँ । यहाँ से दक्षिण की ओर आभीर प्रान्त में बहनेवाली बेना-नदी के किनारे पर बेनावट नामक एक शहर बसा हुआ है । उसके राजा जितशत्रु और उनकी रानी जयावती, ये

मेरे माता-पिता हैं । मेरा नाम विद्युच्चर है । मेरे शहर में ही एक यमपाश नाम के कोतवाल थे । उनकी स्त्री यमुना थी । ये आपके कोतवाल यमदण्ड साहब उन्हीं के पुत्र हैं । हम दोनों एक ही गुरू के पास पढ़े हुऐ हैं । इसलिए तभी से मेरी इनके साथ मित्रता है । विशेषता यह है कि इन्होंने तो कोतवाली सम्बन्धी शास्त्रभ्यास किया था और मैंने चौर्य-शास्त्र का । यद्यपि मैने यह विद्या केवल विनोद के लिए पढ़ी थी, तथापि एक दिन हम दोनों अपनी-अपनी चतुरता की तारीफ कर रहे थे, तब मैंने जरा घमण्ड के साथ कहा -- भाई, मैं अपने फन में कितना होशियार हूँ, इसकी परीक्षा मैं इसी से कराऊँगा कि जहाँ तुम कोतवाली के ओहदे पर नियुक्त होंगे, वहीं मैं आकर चोरी करूँगा । तब इन महाशय ने कहा -- अच्छी बात है, मैं भी उसी जगह रहूँगा जहाँ तुम चोरी करोगे और मैं तुमसे शहर की अच्छी तरह रक्षा करूँगा । तुम्हारे द्वारा मैं उसे कोई तरह की हानि न पहुँचने दूँगा ।

इसके कुछ दिनों बाद मेरे पिता जितशत्रु मुझे सब राजभार दे जिन-दीक्षा ले गये । मैं तब राजा हुआ । और इनके पिता यमपाश भी तभी जिनदीक्षा लेकर साधु बन गये । इनके पिता की जगह तब इन्हें मिली । पर ये मेरे डर के मारे मेरे शहर में न रहकर यहाँ आकर आपके कोतवाल नियुक्त हुए । मैं अपनी प्रतिज्ञा के वश चोर बनकर इन्हें ढूँढने को यहाँ आया । यह कहकर फिर विद्युच्चर ने उनके हार के चुराने की सब बातें कह सुनाई और फिर यमदण्ड को साथ लिए वह अपने शहर में आ गया ।

विद्युच्चर को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ । उसने राजमहल में पहुँचते ही अपने पुत्र को बुलाया और उसके साथ जिनेन्द्र-भगवान् का पूजा अभिषेक किया । इसके बाद वह सब राजभार पुत्र को सौंपकर आप बहुत से राजकुमारों के साथ जिनदीक्षा ले मुनि बन गया ।

यहाँ से विहार कर विद्दुच्चर मुनि अपने सारे संघ को साथ लिए देश-विदेशों में बहुत घूमे-फिरे । बहुत से बे-समझ या मोह-माया में फँसे हुए लोगों को इन्होंने आत्महित के मार्ग पर लगाया और स्वयं भी काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादि आत्म-शत्रुओं का प्रभुत्व नष्ट कर उनपर विजय लाभ किया । आत्मोन्नति के मार्ग में दिन-ब-दिन बे-रोकटोक ये बढ़ने लगे । एक दिन घूमते-फिरते ये तामलिप्त पुरी की ओर आये । अपने संघ के साथ में पुरी में प्रवेश करने को ही थे कि इतने में यहाँ की चामुण्डा देवी ने आकर भीतर घुसने से रोका और कहा -- योगिराज, जरा ठहरिए, अभी मेरी पूजा-विधि हो रही है । इसलिए जब तक वह पूरी न हो जाये जब तक कि आप यहीं ठहरें, भीतर न जायें । देवी के इस प्रकार मना करने पर भी अपने शिष्यों के आग्रह से वे न रूककर भीतर चले गये और पुरी के पश्चिम तरफ परकोटे के पास कोई पवित्र जगह देखकर वहीं सारे संघ ने ध्यान करना शुरू कर दिया । अब तो देवी के क्रोध का ठिकाना न रहा । उसने अपनी माया से कोई कबूतर के बराबर डाँस तथा मच्छर आदि खून पीने-वाले जीवों की सृष्टि रचकर मुनि पर घोर उपद्रव किया । विद्युच्चर मुनि ने इस कष्ट को बड़ी शान्ति से सहकर बारह-भावनाओं के चिन्तन से अपने आत्मा को वैराग्य की ओर खूब दृढ़ किया और अन्त में शुक्ल-ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर अक्षय और अनन्त मोक्ष के सुख को अपनाया ।

उन देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों तथा राजा-महाराजों द्वारा, जो अपने मुकुटों में जड़े हुए बहुमूल्य दिव्य-रत्नों की कान्ति से चमक रहे हैं, बड़ी भक्ति से पूजा किये गये और केवल-ज्ञान से विराजमान वे विद्युच्चर मुनि मुझे और आप भव्य-जनों को मंगल-मोक्ष सुख दें, जिससे संसार का भटकना छूट कर शान्ति मिले ।

गुरूदत्त मुनि की कथा

गुरूदत्त मुनि की कथा

कथा :

जिनकी कृपा से केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है, उन पंच-परमेष्ठी -- अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार कर गुरूदत्त मुनि का पवित्र चरित लिखा जाता है ।

गुरूदत्त हस्तिनापुर के धर्मात्मा राजा विजयदत्त की रानी विजया के पुत्र थे । बचपन से ही इनकी प्रकृति में गम्भीरता, धीरता, सरलता तथा सौजन्यता थी । सौन्दर्य में भी ये अद्वितीय थे । अस्तु, पुण्य की महिमा अपरम्पार है ।

विजयदत्त अपना राज्य गुरूदत्त को सौंपकर स्वयं मुनि हो गये और आत्महित करने लगे । राज्य की बागडोर गुरूदत्त ने अपने हाथ में लेकर बड़ी सावधानी और नैतिक साथ शासन आरम्भ किया । प्रजा उनसे बहुत खुश हुई । वह अपने नये राजा को हजार-हजार साधुवाद देने लगी । दु:ख किसे कहते हैं, यह बात गुरूदत्त की प्रजा जानती ही न थी । कारण किसी को कुछ, थोड़ा भी कष्ट होता था तो गुरूदत्त फौरन ही उसकी सहायता करता । तन से, मन से और धन से वह सभी के काम आता था ।

लाट-देश में द्रोणीमान पर्वत के पास चन्द्रपुरी नाम की सुन्दर नगरी बसी हुई थी । उसके राजा थे चन्द्रकीर्ति । इनकी रानी का नाम चन्द्रलेखा था । इनके अभयमती नामकी एक पुत्री थी । गुरूदत्त ने चन्द्रकीर्ति से अभयमती के लिए प्रार्थना की कि वे अपनी कुमारी का ब्याह उसके साथ कर दें । परन्तु चन्द्रकीर्ति ने उनकी इस बात से साफ इन्कार कर दिया, वे गुरूदत्त के साथ अभयमती का ब्याह करने को राजी न हुए । गुरूदत्त ने इससे कुछ अपना अपमान हुआ समझा । चन्द्रकीर्ति पर उसे गुस्सा आया । उसने उसी समय चन्द्रपुरी पर चढ़ाई कर दी और उसे चारों ओर से घेर लिया । कुमारी अभयमती गुरूदत्त पर पहले ही से मुग्ध थी और जब उसने उसके द्वारा चन्द्रपुरी का घेरा जाना सुना तो वह अपने पिता के पास आकर बोली – पिताजी ! अपने सम्बन्ध में आपसे कुछ कहना उचित नहीं समझती, पर मेरे संसार को सुखमय होने में कोई बाधा या विघ्न न आये, इसलिए कहना या प्रार्थना करना उचित जान पड़ता है । क्योंकि मुझे दु:ख में देखना तो आप सपने में भी पसन्द नहीं करेंगे । वह प्रार्थना यह है कि आप गुरूदत्तजी के साथ ही मेरा ब्याह कर दें, इसी में मुझे सुख होगा । उदार-हृदय चन्द्रकीर्ति ने अपनी पुत्री की बात मान ली । इसके बाद अच्छा दिन देख खूब आनन्दोत्सव के साथ उन्होंने अभयमती का ब्याह गुरूदत्त के साथ कर दिया । इस सम्बन्ध से कुमार और कुमारी दोनों ही सुखी हुए । दोनों की मनचाही बात पूरी हुई ।
ऊपर जिस द्रोणीमान पर्वत का उल्लेख किया है, उसमें एक बड़ा ही भयंकर सिंह रहता था । उसने सारे शहर को बहुत ही आतंकित कर रखा था । सबके प्राण सदा मुट्ठी में रहा करते थे । कौन जाने कब आकर सिंह खा ले, इस चिन्ता से सब हर-समय घबराए हुए से रहते थे । इस समय कुछ लोगों ने गुरूदत्त से जाकर प्रार्थना की कि राजाधिराज, इस पर्वत पर एक बड़ा भारी हिंसक सिंह रहता है । उससे हमें बड़ा कष्ट है । इसलिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे हम लोगों का कष्ट दूर हो ।
गुरूदत्त उन लोगों को धीरज बँधाकर आप अपने कुछ वीरों को साथ लिये पर्वत पर पहुँचा । सिंह को उसने सब ओर से घेर लिया । पर मौका पाकर वह भाग निकला और जाकर एक अँधेरी गुफा में घुसकर छिप गया । गुरूदत्त ने तब इस मौके को अपने लिए और भी अच्छा समझा । उसने उसी समय बहुत से लकड़े गुहा में भरवाकर सिंह के निकलने का रास्ता बन्द कर दिया । और बाहर गुफा के मुँह पर भी एक लकड़ी का ढेर लगवाकर उसमें आग लगवा दी । लकड़ों की खाक के साथ-साथ उस सिंह की भी देखते-देखते खाक हो गई ।
सिंह बड़े कष्ट के साथ मरकर इसी चन्द्रपुरी में भरत नाम के ब्राह्मण की विश्वदेवी स्त्री के कपिल नाम का लड़का हुआ । यह जन्म से ही बड़ा क्रूर हुआ और यह ठीक भी है कि पहले जैसा संस्कार होता है, वह दूसरे जन्म में भी आता है । इसके बाद गुरूदत्त अपनी प्रिया को लिए राजधानी में लौट आया । दोनों नव-दम्पती बड़े सुख से रहने लगे । कुछ दिनों बाद अभयमती के एक पुत्र ने जन्म लिया । इसका नाम रखा गया सुवर्णभद्र । यह सुन्दर था, सरलता और पवित्रता की प्रतिमा था और बुद्धिमान था । इसीलिये सब ही इसे बहुत प्यार करते थे । जब इसकी उमर योग्य हो गई और सब कामों में यह होशियार हो गया तब जिनेन्द्र-भगवान् के सच्चे भक्त इसके पिता गुरूदत्त ने अपना राज्यभार इसे देकर आप वैरागी बन मुनि हो गये । इसके कुछ वर्षों बाद ये अनेक देशों, नगरों और गाँवों में धर्मोपदेश करने, भव्य-जनों को सुलटाते हुए एक बार चन्द्रपुरी की ओर आये ।
एक दिन गुरूदत्त मुनि कपिल ब्राह्मण के खेत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे । इसी समय कपिल घर पर अपनी स्त्री से यह कहकर, कि प्रिये, मैं खेत पर जाता हूँ, तुम वहाँ भोजन लेकर जल्दी आना, खेत पर आ गया । जिस खेत पर गुरूदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे, उसे तब जोतने योग्य न समझ वह दूसरे खेत पर जाने लगा । जाते समय मुनि से वह यह कहता गया कि मेरी स्त्री यहाँ भोजन लिए हुये आवेगी सो उसे आप कह दीजियेगा कि कपिल दूसरे खेत पर गया है । तू भोजन वहीं ले जा । सच है, मूर्ख लोग महामुनि के मार्ग को न समझकर कभी-कभी बड़ा ही अनर्थ कर बैठते हैं । इसके बाद जब कपिल की स्त्री भोजन लेकर खेत पर आई और उसने अपने स्वामी को खेत पर न पाया तब मुनि से पूछा – क्यों साधु-महाराज, मेरे स्वामी यहाँ से कहाँ गये हैं ? मुनि चुप रहे, कुछ बोले नहीं । उनसे उत्तर न पाकर वह घर पर लौट आई । इधर समय पर समय बीतने लगा ब्राह्मण देवता भूख के मारे छट-पटाने लगे पर ब्राह्मणी का अभी तक पता नहीं, यह देख उन्हें बड़ा गुस्सा आया । वे क्रोध से गुर्राते हुए घर आये और लगे बेचारी ब्राह्मणी पर गालियों की बौछार करने । राँड़, मैं तो भूख के मारे मरा जाता हूँ, और तेरा अभी तक आने का ठिकाना ही नहीं ! उस नंगे को पूछकर खेत पर चली आती । बेचारी ब्राह्मणी घबराती हुई बोली – अजी तो इसमें मेरा क्या अपराध था । मैंने उस साधु से तुम्हारा ठिकाना पूछा । उसने कुछ न बताया ! तब मैं वापिस घर पर आ गई । ब्राह्मण ने तुरन्त दाँत पीसकर कहा – हाँ उस नंगे ने तुझे मेरा ठिकाना नहीं बताया ! और मैं तो उससे कह गया था । अच्छा, मैं अभी ही जाकर उसे इसका मजा चखाता हूँ । पाठकों को याद होगा कि कपिल पहले जन्म में सिंह था, उसे इन्हीं गुरूदत्त मुनि ने राज अवस्था

में जलाकर मार डाला था । तब इस हिसाब से कपिल के वे शत्रु हुए । यदि कपिल को किसी तरह यह जान पड़ता ये मेरे शत्रु हैं, तो उस शत्रुता का बदला उसने कभी का ले लिया होता । पर उसे इसके जानने का न तो कोई जरिया मिला और न था ही । तब उस शत्रुता को जाग्रत करने के लिए कपिल की स्त्री को कपिल के दूसरे खेत पर जाने का हाल जो मुनि ने न बताया, यह घटना सहायक हो गई । कपिल गुस्से से लाल होता हुआ मुनि के पास पहुँचा । वहाँ बहुत सी सेमल की रूई पड़ी हुई थी । कपिल ने उस रूई से मुनि को लपेटकर उसमें आग लगा दी । मुनि पर बड़ा उपसर्ग हुआ । पर उसे उन्होंने बड़ी धीरता से सहा । उस समय शुक्ल-ध्यान के बल से घातिया-कर्मों का नाश होकर उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया । देवों ने आकर उनपर फूलों की वर्षा की, आनन्द मनाया । कपिल ब्राह्मण यह सब देखकर चकित हो गया । उसे तब जान पड़ा कि जिन साधु को मैंने अत्यन्त निर्दयता से जला डाला उनका कितना महात्म्य था ! उसे अपनी इस नीचता पर बड़ा पछतावा हुआ । उसने बड़ी भक्ति से भगवान् को हाथ जोड़कर अपने अपराध की उनसे क्षमा माँगी । भगवान् के उपदेश को उसने बड़े चाव से सुना । उसे यह बहुत रूचा भी । वैराग्य-पूर्ण भगवान् के उपदेश उसके हृदय पर गहरा असर किया । वह उसी समय सब छोड़-छाड़कर अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिये मुनि हो गया । सच है, सत्पुरूषों-महात्माओं की संगति सुख देनेवाली होती है । यही तो कारण था कि एक महा-क्रोधी ब्राह्मण पलभर में सब छोड़-छाड़कर योगी बन गया । इसलिये भव्य-जनों की सत्पुरूषों की संगति से अपने को, अपनी सन्तान को और अपने कुल को सदा पवित्र करने का यत्न करते रहना चाहिए । यह सत्संग परम सुख का कारण है ।
वे कर्मों के जीतने वाले जिनेन्द्र-भगवान् सदा संसार में रहें, उनका शासन चिरकाल तक जयलाभ करे जो सारे संसार को सुख देनेवाले हैं, सब सन्देहों का नाश करनेवाले हैं और देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते हैं । तथा दु:सह उपसर्ग आने पर भी जो मेरू की तरह स्थिर रहे और जिन्होंने अपना आत्म-स्वभाव प्राप्त किया ऐसे गुरूदत्त मुनि तथा मेरे परम गुरू श्री प्रभाचन्द्राचार्य, ये मुझे आत्मीक सुख प्रदान करें ।

चिलात-पुत्र की कथा

चिलात-पुत्र की कथा
कथा :
केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर चिलात-पुत्र की कथा लिखी जाती है ।
राजगृह के राजा उपश्रेणिक एक बार हवाखोरी के लिए शहर बाहर गए । वे जिस घोड़े पर सवार थे, वह बड़ा दुष्ट था । सो उसने उन्हें एक भयानक वन में जा छोड़ा । उस वन का मालिक एक यमदंड नाम का भील था । इसके एक लड़की थी । उसका नाम तिलकवती था । वह बड़ी सुन्दर थी । उपश्रेणिक उसे देखकर काम के बाणों से अत्यन्त बींधे गये । उनकी यह दशा देखकर यमदण्ड ने उससे कहा -- राजाधिराज, यदि आप इससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को राज्य का मालिक बनाना मंजूर करें तो मैं इसे आपके साथ ब्याह सकता हूँ । उपश्रेणिक ने यमदण्ड की शर्तें मंजूर कर ली । यमदण्ड ने तब तिलकवती का ब्याह उनके साथ कर दिया । वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिये राजगृह लौट आये ।
बहुत दिनों तक उन्होंने तिलकवती के साथ सुख भोगा, आनन्द मनाया । तिलकवती के एक पुत्र हुआ । इसका नाम चिलातपुत्र रखा गया । उपश्रेणिक के पहली रानियों से उत्पन्न हुये और भी कई पुत्र थे । यद्यपि राज्य वे तिलकवती के पुत्र को देने का संकल्प कर चुके थे, तो भी उनके मन में यह खटका सदा बना रहता था कि कहीं इसके हाथ में राज्य जाकर धूलखानी न हो जाय । जो हो, पर वे अपनी प्रतिज्ञा के न तोड़ने को लाचार थे । एक दिन उन्होंने एक अच्छे विद्वान ज्योतिषी को बुलाकर उससे पूछा -- पंडितजी, अपने निमित्त-ज्ञान को लगाकर मुझे आप यह समझाइए कि मेरे इन पुत्रों में राज्य का मालिक कौन होगा ? ज्योतिषी जी बहुत कुछ सोच-विचार के बाद राजा से बोले – सुनिये महाराज, मैं आपको इसका खुलासा करता हूँ । आपके सब पुत्र खीर का भोजन करने को एक जगह बैठ जाँय और उस समय उनपर कुत्तों का एक झुँड छोड़ा जाय । तब उन सब में जो निडर होकर वहीं रखे हुए सिंहासन पर बैठ नगारा बजाता जाय और भोजन भी करता जाय और दूर से कुत्तों को भी डालकर खिलाता जाय, उसमें राजा होने की योग्यता है । मतलब यह है कि अपनी बुद्धिमानी से कुत्तों को स्पर्श से अछूता रहकर आप भोजन कर ले ।
दूसरा निमित्त यह होगा कि आग लगने पर जो सिंहासन, छत्र, चँवर आदि राज्य-चिन्हों को निकाल सके, वह राजा हो सकेगा । इत्यादि और भी कई बातें हैं, पर उनके विशेष कहने की जरूरत नहीं ।

कुछ दिन बीतने पर उपश्रेणिक ने ज्योतिषीजी के बताये निमित्त की जाँच करने का उद्योग किया । उन्होंने सिंहासन के पास ही एक नगारा रखवाकर वहीं अपने सब पुत्रों को खीर खाने को बैठाया । वे जीमने लगे कि दूसरी ओर से कोई पाँच सौ कुत्तों का झुण्ड दौड़कर उन पर लपका । उन कुत्तों को देखकर राजकुमारों के होश गायब हो गये । वे सब चीख मारकर भाग खड़े हुए । पर हाँ एक श्रेणिक जो इन सबसे वीर और बुद्धिमान था, उन कुत्तों से डरा नहीं और बड़ी फुरती से उठकर उसने खीर परोसी हुई बहुत सी पत्तलों को एक ऊँची जगह रखकर अपने पास ही रखे हुए सिंहासन पर बैठ गया और आनन्द से खीर खाने लगा । साथ में वह उन कुत्तों को भी थोड़ी-थोड़ी देर बाद एक-एक पत्तल उठा-उठा डालता गया और नगारा बजाता गया, जिससे कि कुत्ते उपद्रव न करें ।
इसके कुछ दिनों बाद उपश्रेणिक ने दूसरे निमित्त की भी जाँच की । अब की बार उन्होंने कहीं कुछ थोड़ -सी आग लगवा लोगों द्वारा शोरगुल करवा दिया कि राजमहल में आग लग गई । श्रेणिक ने जैसे ही आग लगने की बात सुनी वह दौड़ा गया और झटपट राजमहल से सिंहासन, चँवर आदि राज्यचिन्हों को निकाल बाहर हो गया । यही श्रेणिक आगे तीर्थंकर होगा । श्रेणिक की वीरता और बुद्धिमानी को देखकर उपश्रेणिक को निश्चय हो गया कि राजा यही होगा और इसी के यह योग्य भी है । श्रेणिक के राजा होने की बात तब तक कोई न जान पाये जब तक कि वह अपना अधिकार स्वयं अपनी भुजाओं द्वारा प्राप्त न कर ले । इसके लिए उन्हें उसके रक्षा की चिन्ता हुई । कारण उपश्रेणिक राज्य का अधिकारी तिलकवती के पुत्र चिलात को बना चुके थे और इस हालत से किसी दुश्मन को या चिलात के पक्षपातियों को यह पता लग जाता है कि इस राज्य का राजा तो श्रेणिक ही होगा, तब यह असम्भव नहीं था कि वे उसे राजा होने देने के पहले ही मार डालते ? इसलिये उपश्रेणिक का यह चिन्ता करना वाजिब था, समयोचित और दूरदर्शिता का था । इसके लिये उन्हें एक अच्छी युक्ति सूझ गई और बहुत जल्दी उन्होंने उसे कार्य में भी परिणित कर दिया । उन्होंने श्रेणिक के सिर पर यह अपराध मढ़ा कि उसने कुत्तों का झूठा खाया, इसलिये वह भ्रष्ट है । अब वह न तो राज-घराने में ही रहने योग्य रहा और न देश में ही । इसलिये मैं उसे आज्ञा देता हूँ कि यह बहुत जल्दी राजगृह से बाहर हो जाये । सच है पुण्यवानों की सभी रक्षा करते हैं ।
श्रेणिक अपने पिता की आज्ञा पाते ही राजगृह से उसी समय निकल गया । वह फिर पलभर के लिए भी वहाँ न ठहरा । वहाँ से चलकर वह द्राविड़ देश की प्रधान नगरी काञ्ची में पहुँचा । इसने अपनी बुद्धिमानों से वहाँ कोई ऐसा बसीला लगा लिया जिससे इसके दिन बड़े सुख से कटने लगे ।
इधर उपश्रेणिक कुछ दिनों तक तो और राज-काज चलाते रहे । इसके बाद कोई ऐसा कारण उन्हें देख पड़ा जिससे संसार और विषय-भोगों से वे बहुत उदासीन हो गये । अब उन्हें संसार का वास एक बहुत ही पेंचीला जाल जान पड़ने लगा । उन्होंने तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चिलातपुत्र को राजा बनाकर सब जीवों का कल्याण करने वाला मुनिपद ग्रहण कर लिया ।
चिलातपुत्र राजा हो गया सही, पर उसका जाति-स्वभाव न गया । और ठीक भी है कौए को मोर के पंख भले ही लगा दिये जायें, पर वह मोर न बनकर रहेगा कौआ का कौआ ही । यही दशा चिलातपुत्र की हुई । वह राजा बना भी दिया गया तो क्या हुआ, उसमें राजा के तो कुछ गुण नहीं थे, तब वह राजा होकर भी क्या बड़ा कहला सका ? नहीं । अपने जाति-स्वभाव के अनुसार प्रजा को कष्ट देना, उसपर जबरन जोर-जुल्म करना उसने शुरू किया । यह एक साधारण बात है कि अन्यायी का कोई साथ नहीं देता और यही कारण हुआ कि मगध की प्रजा की श्रद्धा उसपर से बिलकुल ही उठ गई । सारी प्रजा उससे हृदय से नफरत करने लगी । प्रजा का पालक होकर जो राजा उसी पर अन्याय करे तब इससे बढ़कर और दु:ख की बात क्या हो सकती है ?
परन्तु इसके साथ ही यह भी बात है कि प्रकृति अन्याय को नहीं सहती । अन्यायी को अपने अन्याय का फल तुरन्त मिलता है । चिलातपुत्र के अन्याय की डुगडुगी चारों ओर पिट गई । श्रेणिक को जब यह बात सुन पड़ी तब उसे चिलातपुत्र का प्रजा पर जुल्म करना न सहा गया । वह उसी समय मगध की ओर रवाना हुआ । जैसे ही प्रजा को श्रेणिक के राजगृह आने की खबर लगी उसने उसका एकमत होकर साथ दिया । प्रजा की इस सहायता से श्रेणिक ने चिलात को राज्य से बाहर निकाल आप मगध का सम्राट बना । सच है, राजा होने के योग्य वही पुरूष है जो प्रजा का पालन करनेवाला हो । जिसमें यह योग्यता नहीं वह राजा नहीं, किन्तु इस लोक में तथा पर-लोक में अपनी कीर्ति का नाश करनेवाला है ।
चिलातपुत्र मगध से भागकर एक वन में जाकर बसा । यहाँ उसने एक छोटा-मोटा किला बनवा लिया और आसपास के छोटे-छोटे गाँवों से जबरदस्ती कर वसूल कर आप उनका मालिक बन बैठा । इसका भर्तृमित्र नामका एक मित्र था । भर्तृमित्र के मामा रूद्रदत्त के एक

लड़की थी । सो भर्तृमित्र ने अपने मामा से प्रार्थना की – वह अपनी लड़की का ब्याह चिलातपुत्र के साथ कर दे । उसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर रूद्रदत्त चिलातपुत्र को लड़की देने से साफ मुकर गया । चिलातपुत्र से अपना यह अपमान न सहा गया । वह छुपा हुआ राजगृह में पहुँचा और विवाह स्नान करती हुई सुभद्रा को उठा चलता बना । जैसे ही यह बात श्रेणिक के कानों में पहुँची वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा । चिलातपुत्र ने जब देखा कि अब श्रेणिक के हाथ से बचना कठिन है, तब उस दुष्ट निर्दयी ने बेचारी सुभद्रा को तो जान से मार डाला और आप जान लेकर भागा । वह वैभार-पर्वत पर से जा रहा था कि उसे वहाँ एक मुनियों का संघ देख पड़ा । चिलातपुत्र दौड़ा हुआ संघाचार्य श्रीमुनिदत्त मुनिराज के पास पहुँचा और उन्हें हाथ जोड़ सिर नवा उसने प्रार्थना की कि प्रभो, मुझे तप दीजिए, जिससे मैं अपना हित कर सकूँ । आचार्य ने तब उससे कहा – प्रिय, तूने बड़ा अच्छा सोचा जो तू तप लेना चाहता है । तेरी आयु अब सिर्फ आठ दिन की रह गई है । ऐसे समय जिन-दीक्षा लेकर तुझे अपना हित करना उचित ही है । मुनिराज से अपनी जिन्दगी इतनी थोड़ी सुन उसने उसी समय तप ले लिया जो संसार-समुद्र से पार करनेवाला है । चिलातपुत्र तप लेने के साथ ही प्रायोपगमन संन्यास ले धीरता से आत्म-भावना भाने लगा । उधर उसके पकड़ने को पीछे आने वाले श्रेणिक ने वैभार-पर्वत पर आकर उसे इस अवस्था में जब देखा तब उसे चिलातपुत्र की इस धीरता पर बड़ा चकित होना पड़ा । श्रेणिक ने तब उसके इस साहस की बड़ी तारीफ की । इसके बाद वह उसे नमस्कार कर राजगृह लौट आया । चिलातपुत्र ने जिस सुभद्रा को मार डाला था, वह मरकर व्यन्तर देवी हुई । उसे जान पड़ा कि मैं चिलातपुत्र द्वारा बड़ी निर्दयता से मारी गई हूँ । मुझे भी तब अपने बैर का बदला लेना ही चाहिए । यह सोचकर वह चील का रूप ले चिलात मुनि के सिर पर आकर बैठ गई । उसने मुनि को कष्ट देना शुरू किया । पहले उसने चोंच से उनकी दोनों आँखें निकाल ली और बाद मधुमक्खी बनकर वह उन्हें काटने लगी । आठ दिन तक उन्हें उसने बेहद कष्ट पहुँचाया । चिलात मुनि ने विचलित न हो इस कष्ट को बड़ी शान्ति से सहा । अन्त में समाधि से मरकर उसने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की ।
जिस वीरों के वीर और गुणों की खान चिलातमुनि ने ऐसा दु:सह उपसर्ग सहकर भी अपना धैर्य न छोड़ा और जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को, जो कि देवों द्वारा भी पूज्य हैं, खूब मन लगाकर ध्यान करते रहे और अन्त में जिन्होंने अपने पुण्यबल से सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की वे मुझे भी मंगल दें ।

धन्य मुनि की कथा

धन्य मुनि की कथा

कथा :

सर्वोच्च धर्म का उपदेश करनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धन्य नाम के मुनि की कथा लिखी जाती है, जो पढ़ने या सुनने से सुख प्रदान करने वाली है।

जम्बूद्वीप के पूर्व की ओर बसे हुए विदेहक्षेत्र की प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक बड़ा ही लोभी राजा हो चुका है। जब फसल काट कर खेतों पर खले किए जाते थे तब वह बेचारे बैलों का मुँह बँधवा दिया करता और रसोईघर में रसोई बनाने वाली स्त्रियों के स्तन बँधवाकर उनके बच्चे को दूध न पीने देता था । सच है, लोभी मनुष्य कौन सा पाप नहीं करते हैं ।

एक दिन अशोक के मुँह में कोई बीमारी हो गई । जिससे उसका सारा मुँह आ गया । सिर में भी हजारों फोड़े-फुन्सी हो गए । उससे उसे बड़ा कष्ट होने लगा । उसने उस रोग की औषधि बनवाई । वह उसे धोने को ही था कि इतने में अपने चरणों से पृथ्वी को पवित्र करते हुए एक मुनि आहार के लिए इसी ओर आ निकले । भाग्य से ये मुनि भी राजा की तरह इसी महारोग से पीड़ित हो रहे थे । इन तपस्वी मुनि की यह कष्टमय दशा देखकर राजा ने सोचा कि जिस रोग से मैं कष्ट पा रहा हूँ, जान पड़ता है उसी रोग से ये तपोनिधि भी दु:खी हैं । यह सोचकर या दया से प्रेरित होकर राजा जिस दवा को स्वयं पीने वाला था, उसे उसने मुनिराज को पिला दिया और साथ ही उन्हें पथ्य भी दिया । दवा ने बहुत लाभ किया । बारह वर्ष का यह मुनि का महारोग थोड़े ही समय में मिट गया, मुनि भले चंगे हो गए ।

अशोक जब मरा तो इस पुण्य के फल से वह अमलकण्ठपुर के राजा निष्ठसेन की रानी नन्दमती के धन्य नाम का सुन्दर गुणवान् पुत्र हुआ । धन्य को एक दिन श्रीनेमिनाथ भगवान् के पास धर्म का उपदेश सुनने का मौका मिला । वह भगवान् के द्वारा अपनी उमर बहुत थोड़ी जानकर उसी समय सब माया ममता छोड़ मुनि बन गया । एक दिन वह शहर में भिक्षा के लिए गया, पर पूर्वजन्म के पापकर्म के उदय से उसे भिक्षा न मिली । वह वैसे ही तपोवन में लौट आया । यहाँ से विहार कर वह तपस्या करता तथा धर्मोपदेश देता हुआ सौरीपुर आकर

यमुना के किनारे आतापन योग द्वारा ध्यान करने लगा । इसी ओर यहाँ का राजा शिकार के लिये आया हुआ था, पर आज उसे शिकार न मिला । वह वापिस अपने महल को जा रहा था कि इसी समय इसकी नजर मुनि पर पड़ी । इसने समझ लिया कि बस, शिकार न मिलने का कारण इस नंगे का दिख पड़ना है, इसी ने यह अपशकुन किया है । यह धारणा कर इस पापी राजा ने मुनि को बाणों से खूब बेध दिया । मुनि ने तब शुक्लध्यान की शक्ति से कर्मों का नाश कर सिद्धगति प्राप्त की । सच है, महापुरूषों की धीरता बड़ी ही चकित करनेवाली होती है । जिससे महान्कष्ट के समय में भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

वे धन्यमुनि रोग, शोक, चिन्ता आदि दोषों को नष्ट कर मुझे शाश्वत कभी नाश न होने वाला सुख दें, जो भव्यजनों का भय मिटाने वाला है, संसार समुद्र से पार करनेवाला है, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं, मोक्ष महिला के स्वामी हैं, ज्ञान के समुद्र हैं और चरित्र-चूड़ामणि हैं ।

पाँच सौ मुनियों की कथा

पाँच सौ मुनियों की कथा

कथा :

जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को नमस्कार कर पाँच सौ मुनियों पर एक साथ बीतने वाली घटना का हाल लिखा जाता है, जो कि कल्याण का कारण है ।

भरत के दक्षिण की ओर बसे हुए कुम्भकार कटनाम के पुराने शहर के राजा का नाम दण्डक और उनकी रानी का नाम सुव्रता था । सुव्रता रूपवती और विदुषी थी । राज्यमंत्री का नाम बालक था । यह पापी जैनधर्म से बड़ा द्वेष रखा करता था । एक दिन इस शहर में पाँच सौ मुनियों का संघ आया । बालक मंत्री को अपनी पण्डिताई पर बड़ा अभिमान था । सो वह शास्त्रार्थ करने को मुनिसंघ के आचार्य के पास जा रहा था । रास्ते में इसे एक खण्डक नाम के मुनि मिल गये । सो उन्हीं से आप झगड़ा करने को बैठ गया और लगा अन्टसन्ट बकने । तब मुनि ने इसकी युक्तियों का अच्छी तरह खण्डन कर स्याद्वाद्-सिद्धान्त का इस शैली से प्रतिपादन किया कि बालक मंत्री का मुँह बन्द हो गया, उनके सामने फिर उससे कुछ बोलते न बना । झख मार कर तब उसे लज्जित हो घर लौट आना पड़ा । इस अपमान की आग उसके हृदय में खूब धमकी । उसने तब इसका बदला चुकाने की ठानी । इसके लिए उसने यह युक्ति की कि एक भाँड़ को छल से मुनि बनाकर सुव्रतारानी के महल में भेजा । यह भाँड़ रानी के पास जाकर उससे भला-बुरा हँसी-मजाक करने लगा । इधर उसने यह सब लीला राजा को बतला दी और कहा -- महाराज ,आप इन लोगों की इतनी भक्ति करते हैं, सदा इनकी सेवा में लगे रहते हैं, तो क्या यह सब इसी दिन के लिए है ? जरा आँख खोलकर देखिए कि सामने क्या हो रहा है ? उस भाँड़ की लीला देखकर मूर्ख राजदण्डक के क्रोध का कुछ पार न रहा । क्रोध से अन्धे होकर उसने उसी समय हुक्म दिया कि जितने मुनि इस समय मेरे शहर में मौजूद हों, उन सबको घानी में पेल दो । पापी मंत्री तो इसी पर मुँह धोये बैठा था । सो राजाज्ञा होते ही उसने एक पलभर का विलम्ब करना उचित न समझ मुनियों के पेले जाने की सब व्यवस्था फौरन जुटा दी । देखते-देखते वे सब मुनि घानी में पेल दिये गये । बदला लेकर बालक मंत्री की आत्मा संतुष्ट हुई । सच है, जो पापी होते हैं, जिन्हें दुर्गतियों में दु:ख भोगना है, वे मिथ्यात्वी लोग भयंकर से भयंकर पाप करने से जरा भी नहीं हिचकते । चाहे फिर उस पाप के फल से उन्हें जन्म-जन्म में भी क्यों न कष्ट सहना पड़े । जो हो, मुनिसंघ पर इस समय बड़ा ही घोर और दुःसह उपद्रव हुआ । पर वे साहसी धन्य हैं, जिन्होंने जुबान से चूँ तक न निकाल कर सब कुछ बड़े साहस के साथ सह लिया । जीवन की इस अन्तिम कसौटी पर वे खूब तेजस्वी उतरे । उन मुनियों ने शुक्लध्यान रूपी अपनी महान् आत्मशक्ति से कर्मों का, जो कि आत्मा के पक्के दुश्मन हैं, नाश कर मोक्ष लाभ किया ।

दिपते हुए सुमेरू के समान चिर, कर्मरूपी मैल को, जो कि आत्मा को मलिन करनेवाला है, नाश करनेवाले और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिनमुनिराजों ने संसार का नाश कर मोक्ष किया वे मेरा भी संसार-भ्रमण मिटावें ।

चाणक्य की कथा

चाणक्य की कथा

कथा :

देवों द्वारा पूजा किये जाने वाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर चाणक्य कथा लिखी जाती है ।

पाटलिपुत्र या पटना के राजा नन्द के तीन मंत्री थे । कावी, सुबन्धु और शकटाल ये उनके नाम थे । यहीं एक कपिल नाम का पुरोहित रहता था । कपिल की स्त्री का नाम देविला था । चाणक्य इन्हीं का पुत्र था । यह बड़ा बुद्धिमान् और वेदों का ज्ञाता था ।

एक बार आस-पास के छोटे-मोटे राजाओं ने मिलकर पटना पर चढाई कर दी । कावी मंत्री ने इस चढ़ाई का हाल नन्द से कहा । नन्द ने घबराकर मंत्री से कह दिया कि जाओ जैसे बने उन अभिमानियों कों समझा-बुझाकर वापिस लौटा दो । धन देना पड़े तो वह भी दो । राजाज्ञा पा मंत्री ने उन्हें धन वगैरह देकर लौटा दिया । सच है, बिना मंत्री के राज्य स्थिर हो ही नहीं सकता ।

एक दिन नन्द को स्वयं कुछ धन की जरूरत पड़ी । उसने खजांची से खजाने में कितना धन मौजूद है, इसके लिए पूछा । खजांची ने कहा -- महाराज, धन तो सब मंत्री महाशय ने दुश्मनों को दे डाला । खजाने में तो अब नाममात्र के लिए थोड़ा बहुत धन बचा होगा । यद्यपि दुश्मनों को धन स्वयं राजा ने दिलवाया था और इसलिये गलती उसी की थी, पर उस समय अपनी यह भूल उसे न दिख पड़ी और दूसरे के उस्काने में आकर उसने बेचारे निर्दोष मंत्री को और साथ में उसके सारे कुटुम्बकों को एक अन्धे कुएँ में डलवा दिया । मंत्री तथा उसका कुटुम्ब वहाँ बड़ा कष्ट पाने लगा, इनके खाने-पीने के लिए बहुत थोड़ा सा पानी दिया जाता था । यह इतना थोड़ा होता था कि एक मनुष्य भी उससे अच्छी तरह पेट न भर सकता था, सच है, राजा किसी का मित्र नहीं होता । राजा के इस अन्याय ने कावी के मन में प्रतिहिंसा की आग धधका दी । इस आग ने बड़ा भयंकर रूप धारण किया । कावी ने तब अपने कुटुम्ब के लोगों से कहा – जो भोजन हमें इस समय मिलता है उसे यदि हम इसी तरह थोड़ा-थोड़ा सब मिलकर खाया करेंगे । तब तो हम धीरे-धीरे सब ही मर मिटेंगे और ऐसी दशा में कोई राजा से उसके इस अन्याय का बदला लेने वाला न रहेगा । पर मुझे यह सहा नहीं जाएगा । इसलिये मैं चाहता हूँ कि मेरा कोई कुटुम्ब का मनुष्य राजा से बदला ले । तब ही मुझे शान्ति मिलेगी । इसलिये इस भोजन को वही मनुष्य अपने में से खाये जो बदला लेने की हिम्मत रखता हो । तब उसके कुटुम्बियों ने कहा – इसका बदला लेने में आप ही समर्थ देख पड़ते हैं । इसीलिये हम खुशी के साथ कहते हैं कि इस भार को आप ही अपने सर पर लें । उस दिन से उनका सारा कुटुम्ब भूखा रहने लगा और धीरे-धीरे सब का सब मर मिटा । इधर कावी अपने रहने योग्य एक छोटा सा गढ़ उस कुएँ में बनाकर दिन काटने लगा । ऐसे रहते उसे कोई तीन वर्ष बीत गए ।

जब यह हाल आस-पास के राजाओं के पास पहुँचा तब उन्होंने इस समय राज्य को अव्यवस्थित देख फिर चढ़ाई कर दी । अब तो नन्द के कुछ होश ढीले पड़े, अकल ठिकाने आई । अब उसे न सूझ पड़ा कि यह क्या करें ? तब उसे अपने मंत्री कावी की याद आई । उसने नौकरों को आज्ञा दे कुएँ से मंत्री को निकलवाया और पीछा मंत्री की जगह नियत किया । मंत्री ने भी इस समय तो उन राजाओं से सुलह कर नन्द की रक्षा कर ली । पर अब उसे अपना बैर निकालने की चिन्ता हुई । वह किसी मनुष्य की खोज करने लगा, जिससे उसे सहायता मिल सके । एक दिन कावी किसी वन में हवाखोरी के लिए गया हुआ था । इसने वहाँ एक मनुष्य को देखा कि जो काँटो के समान चुभनेवाली दूबा को जड़-मूल से उखाड़-उखाड़कर फेंक रहा था । उसे एक निकम्मा काम करते देखकर कावी ने चकित होकर पूछा – ब्राह्मण देव इसे खोदने से तुम्हारा क्या मतलब है ? क्यों बे-फायदा इतनी तकलीफ उठा रहे हो ? इस मनुष्य का नाम चाणक्य था । इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है ? चाणक्य ने तब कहा – वाह महाशय! इसे आप बे-फायदा बतलाते हैं । आप जानते हैं कि इसका क्या अपराध है ? सुनिये! इसने मेरा पाँव छेद डाला और मुझे महाकष्ट दिया, तब मैं ही क्यों इसे छोड़ने चला ? मैं तो इसका जड़मूल से नाश कर ही उठूँगा । यही मेरा संकल्प है । तब कावी ने उसके हृदय की थाह लेने के लिए कि इसकी प्रतिहिंसा की आग कहाँ जाकर ठण्डी पड़ती है, कहा – तो महाशय! अब इस बेचारी को क्षमा कीजिए, बहुत हो चुका । उत्तर में चाणक्य ने कहा -- नहीं, तब तक इसके खोदने से लाभ ही क्या जब तक कि इसकी जड़ें बाकी रह जायें । उस शत्रु के मारने से क्या लाभ जबकि उसका सिर न काट लिया जाये ? चाणक्य की यह ओजस्विता देखकर कावी को बहुत संतोष हुआ । उसे निश्चय हो गया कि इसके द्वारा नन्द कुल का जड़-मूल से नाश हो सकेगा । इससे अपने को सहायता मिलेगी । अब सूर्य और राहु का योग मिला देना अपना काम है । किसी तरह नन्द के सम्बन्ध में इसका मनमुटाव करा देना ही अपने कार्य का श्रीगणेश हो जायेगा । कावी मंत्री इस तरह का विचार कर ही रहा था कि प्यासे को जल की आशा होने की तरह का योग मिल ही गया । इसी समय चाणक्य की स्त्री यशस्वती ने आकर चाणक्य से कहा – सुनती हूँ, राजा नन्द ब्राह्मणों को गौदान किया करते हैं । तब आप भी जाकर उनसे गौ लाइए न ? चाणक्य ने कहा – अच्छी बात है, मैं अपने महाराज के पास जाकर जरूर गौ लाऊँगा । यशस्वती के मुँह से यह सुनकर कि नन्द गौओं का दान किया करता है, कावी मंत्री खुश होता हुआ राज-दरबार में गया और राजा से बोला -- महाराज! क्या आज आप गौएं दान करेंगे ? ब्राह्मणों को इकठ्ठा करने की योजना की जाय ?

महाराज, आपको तो यह पुण्य कार्य करना ही चाहिए । धन का ऐसी जगह सदुपयोग होता है । मंत्री ने अपना चक्र चलाया और वह राजा पर चल भी गया । सच है, जिनके मन में कुछ और होता है, जो वचनों से कुछ और बोलते हैं तथा शरीर जिनका माया से सदा लिपटा रहता है, उन दुष्टों की दुष्टता का पता किसी को नहीं लग पाता । कावी की सत्सम्मति सुनकर नन्द ने कहा – अच्छा ब्राह्मणों को आप बुलवाइए, मैं उन्हें गौएं दान करूँगा । मंत्री जैसा चाहता था, वही हो गया । वह झटपट जाकर चाणक्य को ले आया और उसे सबसे आगे रख आसन पर बैठा दिया । लोभी चाणक्य ने तब अपने आस-पास रखे हुए बहुत से आसनों को घर ले जाने की इच्छा से इकठ्ठा कर अपने पास रख लिया । उसे इस प्रकार लोभी देख कावी ने कपट से कहा – पुरोहित महाराज! राजा साहब कहते हैं और बहुत से ब्राह्मण विद्वान् आए हैं, आप उनके लिये आसन दीजिये । चाणक्य ने तब एक आसन निकाल कर दे दिया । इसी तरह मंत्री ने उससे सब आसन रखवाकर अन्त में कहा -- महाराज, क्षमा कीजिए । मेरा कोई अपराध नहीं है । मैं तो पराया नौकर हूँ । इसलिये जैसा मालिक कहते हैं उनका हुक्म बजाता हूँ । पर जान पड़ता है कि राजा बड़ा अविचारी है जो आप जैसे सरीखे महाब्राह्मण का अपमान करना चाहता है । महाराज, राजा का कहना है कि आप जिस अग्रासन पर बैठे हैं उसे छोड़कर चले जाइये । यह आसन दूसरे विद्वान् के लिये पहले ही से दिया जा चुका है । यह कहकर ही कावी ने गर्दन पकड़ चाणक्य को निकाल बाहर कर दिया । चाणक्य एक तो वैसे ही महाक्रोधी और उसका ऐसा अपमान किया गया और वह भी भरी राजसभा में । तब तो अब चाणक्य के क्रोध का पूछना ही क्या ? वह नन्द वंश को जड़मूल से उखाड़ फेंकने का दृढ़ संकल्प कर जाता-जाता बोला कि जिसे नन्द का राज्य चाहना हो, वह मेरे पीछे-पीछे चला आवे । यह कहकर वह चलता बना । चाणक्य की इस प्रतिज्ञा के साथ ही कोई एक मनुष्य उसके पीछे ही गया । चाणक्य उसे लेकर उन आस-पास के राजाओं से मिल गया, और फिर कोई मौका देख एक घातक मनुष्य को साथ ले वह पटना आया और नन्द को मरवाकर आप उस राज्य का मालिक बन बैठा । सच है, मंत्री के क्रोध से कितने राजाओं का नाम इस पृथ्वी पर से न उठ गया होगा ।
इसके बाद चाणक्य ने बहुत दिनों तक राज्य किया । एक दिन उसे श्रीमहीधर मुनि द्वारा जैन धर्म का उपदेश सुनने का मौका मिला । उस उपदेश का उसके चित्त पर खूब असर पड़ा । वह उसी समय सब राज-काज छोड़कर मुनि बन गया । चाणक्य बुद्धिमान और बड़ा तेजस्वी था । इसलिए थोड़े ही दिनों बाद उसे आचार्य पद मिल गया । वहाँ से कोई पाँच सौ शिष्यों को साथ लिये उसने विहार किया । रास्ते में पड़ने वाले देशों, नगरों, और गाँवों में धर्मोपदेश करता और अनेक भव्य-जनों को हितमार्ग में लगाता वह दक्षिण की ओर बसे हुए वनवास देश के क्रौंचपुर में आया । इस पुर के पश्चिम किनारे कोई अच्छी जगह देख इसने संघ को ठहरा दिया । चाणक्य को यहाँ यह मालूम हो गया कि उसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई । इसलिये उसने वहीं प्रायोगमन संन्यास ले लिया ।
नन्द का दूसरा मंत्री सुबन्धु था । चाणक्य ने जब नन्द को मरवा डाला तब उसके क्रोध का पार नहीं रहा । प्रतिहिंसा की आग उसके हृदय में दिन-रात जलने लगी । पर उस समय उसके पास कोई साधन बदला लेने का न था । इसलिये वह लाचार चुप रहा । नन्द की मृत्यु के बाद वह इसी क्रौंचपुर में आकर यहाँ के राजा सुमित्र का मंत्री हो गया । राजा ने जब मुनिसंघ के आने का समाचार सुना तो वह उसकी वन्दना पूजा के लिए आया, बड़ी भक्ति से उसने सब मुनियों की पूजा कर उनसे धर्मोपदेश सुना और बाद उनकी स्तुति कर वह अपने महल में लौट आया ।
मिथ्यात्वी सुबन्धु को चाणक्य से बदला लेने का अब अच्छा मौका मिल गया । उसने उस मुनिसंघ के चारों ओर खूब घास इकठ्ठा करवाकर उसमें आग लगवा दी । मुनिसंघ पर हृदय को हिला देने वाला बड़ा ही भयंकर दु:सह उपसर्ग हुआ सही, पर उसने उसे बड़ी सहंन-शीलता के साथ सह लिया और अन्त में अपनी शुक्लध्यान रूपी आत्मशक्ति से कर्मों का नाश कर सिद्धगति लाभ की । जहाँ राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, दु:ख, चिन्ता आदि दोष नहीं है और सारा संसार जिसे सबसे श्रेष्ठ समझता है ।
चाणक्य आदि निर्मल चरित्र के धारक ये सब मुनि अब सिद्धगति में ही सदा रहेंगे । ज्ञान के समुद्र ये मुनिराज मुझे भी सिद्धगति का सुख दें ।

वृषभसेन की कथा

वृषभसेन की कथा

कथा :

जिनेन्द्र भगवान् जिनवाणी और ज्ञान के समुद्र साधुओं को नमस्कार कर वृषभसेन की उत्तम कथा लिखी जाती है ।

दक्षिण दिशा की ओर बसे हुए कुण्डल नगर के राजा वैश्रवण बड़े धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे । और रिष्टामात्य नाम का इनका मंत्री इन से बिलकुल उल्टा-मिथ्यात्वी और जैन धर्म का बड़ा द्वेषी था । सो ठीक ही है, चन्दन के वृक्षों के आस-पास सर्प रहा ही करते हैं ।

एक दिन श्रीवृषभसेन मुनि अपने संघ को साथ लिये कुण्डलनगर की ओर आये । वैश्रवण उनके आने का समाचार सुन बड़ी विभूति के साथ भव्यजनों को संग लिये उनकी वन्दना को गया । भक्ति से उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की वन्दना की और पवित्र द्रव्यों से पूजा की तथा उनसे जैन धर्म का उपदेश सुना । उपदेश सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ । सच है, इस सर्वोच्च और सब सुखों के देनेवाले जैन धर्म का उपदेश सुनकर कौन सद्गति का पात्र सुखी न होगा ।

राजमंत्री भी मुनि संघ के पास आया । पर वह इसलिए नहीं की वह इनकी पूजा–स्तुति करे ; किन्तु उनसे वाद–शास्त्रार्थ कर उनका मानभंग करने ,लोगों की श्रद्धा उन पर से उठा देने । पर यह उसकी भूल थी । कारण जो दूसरों के लिए कुआँ खोदते हैं उसमें पहले उन्हें ही गिरना पड़ता है । यही हुआ भी । मंत्री ने मुनियों को अपमान करने की गर्ज से उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान उसी का हुआ । मुनियों के साथ उसे हार जाना पड़ा । इस अपमान की उसके हृदय पर गहरी चोट लगी । इसका बदला चुकाना निश्चित कर वह शाम को छुपा हुआ मुनिसंघ के पास आया और जिस स्थान में वह ठहरा था उसमें उस पापी ने आग लगा दी । बड़े दु:ख की बात है कि दुर्जनों का स्वभाव एक विलक्षण ही तरह का होता है । वे स्वयं तो पहले दूसरों के साथ छेड़-छाड़ करते हैं और जब उन्हें अपने किये का फल मिलता है तब वे यह समझकर, कि मेरा इसने बुरा किया, दूसरे निर्दोष सत्पुरूषों पर क्रोध करते हैं और फिर उनसे बदला लेने के लिए उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देते हैं ।

जो हो, मंत्री ने अपनी दुष्टता में कोई कसर न की । मुनिसंघ पर उसने बड़ा ही भयंकर उपसर्ग किया । पर उन तत्वज्ञानी-वस्तुस्थिति को जाननेवाले मुनियों ने इस कष्ट की कुछ परवाह न कर बड़ी सहनशीलता के साथ सब कुछ सह लिया और अन्त में अपने-अपने भावों की पवित्रता के अनुसार उनमें से कितने ही मोक्ष में गये और कितने ही स्वर्ग में ।

दुष्ट पुरूष सत्पुरूषों को कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावें उससे खराबी उन्हीं को है, उन्हें ही दुर्गति में दुख ना भोगना पड़ेंगे । और सत्पुरूष तो ऐसे कष्ट के समय में भी अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहकर अपना धर्म **अर्थ**ात् कर्तव्य पालन कर सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे । जैसा कि उक्त मुनिराजों ने किया ।

वे मुनिराज आप लोगों को भी सुख दें, जिन्होंने ध्यान रूपी पर्वत का आश्रय ले बड़ा दु:सह उपसर्ग जीता, अपने कर्तव्य से सर्वश्रेष्ठ कहलाने का सम्मान लाभ किया और अन्त में अपने उच्चभावों से मोक्षसुख प्राप्तकर देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों आदि लाभ द्वारा पूजा को प्राप्त हुए और संसार में सबसे पवित्र गिने जाने लगे ।

शालिसिक्थ मच्छ के भावों की कथा

शालिसिक्थ मच्छ के भावों की कथा

कथा :

केवलज्ञान रूपी नेत्र के धारक और स्वयंभू श्रीआदिनाथ भगवान् को नमस्कार कर सत्पुरूषों को इस बात का ज्ञान हो कि केवल मन की भावना से ही मन में विचार करने से ही कितना दोष या कर्मबन्ध होता है, इसकी एक कथा लिखी जाती है ।

सबसे अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र में एक बड़ा भारी दीर्घकाय मच्छ है । वह लम्बाई में एक हजार योजन, चौड़ाई में पाँच सौ योजन और ऊँचाई में ढाई सौ योजन का है । (एक योजन चार या दो हजार कोस का होता है) यहीं एक और शालिसिक्थ नाम का मच्छ इस बढ़े मच्छ के कानों के आस-पास रहता है । पर यह बहुत ही छोटा है और इस बड़े मच्छ के कानों का मैल खाया करता है । जब यह बड़ा मच्छ सैकड़ों छोटे-मोटे जल-जीवों को खाकर और मुँह फाड़े छह मास की गहरी नींद के खुर्राटे में मग्न हो जाता उस समय कोई एक-एक, दो-दो योजन के लम्बे-लम्बे कछुए, मछलियाँ, घड़ियाल, मगर आदि जल जन्तु, बड़े निर्भीक होकर इसके विकराल डाढ़ों वाले मुँह में घुसते और बाहर निकलते रहते हैं । तब यह छोटा सिक्थ-मच्छ रोज-रोज सोचा करता है कि यह बड़ा मच्छ कितना मूर्ख है जो अपने मुख में आसानी से आये हुए जीवों को व्यर्थ ही जाने देता है । यदि कहीं मुझे वह सामर्थ्य प्राप्त हुई हो तो मैं कभी एक भी जीव को न जाने देता । बड़े दु:ख की बात है कि पापी लोग अपने आप ही ऐसे बुरे भावों द्वारा महान् पाप का बन्ध कर दुर्गतियों में जाते हैं और वहाँ अनेक कष्ट सहते हैं । सिक्थ-मच्छ की भी यही दशा हुई । वह इस प्रकार बुरे भावों से तीव्रकर्मों का बन्ध कर सातवें नरक गया । क्योंकि मन के भाव

ही तो पुण्य या पाप के कारण होते हैं । इसलिए सत्पुरूषों को जैन शास्त्रों के अभ्यास या पढ़ने-पढ़ाने से मन को सदा पवित्र बनाये रखना चाहिए, जिससे उसमें बुरे विचारों का प्रवेश ही न हो पाये । और शास्त्रों के अभ्यास के बिना अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए शास्त्राभ्यास पवित्रता का प्रधान कारण है ।

यही जिनवाणी मिथ्यारूपी अँधेरे को नष्ट करने के लिए दीपक है, संसार के दु:खों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाली है, स्वयं मोक्ष के सुख को कारण है और देव, विद्याधर आदि सभी महापुरूषों के आदर की पात्र हैं सभी जिनवाणी की उपासना बड़ी भक्ति से करते हैं । आप लोग भी इस पवित्र जिनवाणी का शांति और सुख के लिए, सदा अभ्यास मनन-चिन्तन करें ।

सुभौम चक्रवर्ती की कथा

सुभौम चक्रवर्ती की कथा

कथा :

चारों प्रकार के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर आठवें चक्रवर्ती सुभौम की कथा लिखी जाती है ।

सुभौम ईर्ष्यावान् शहर के राजा कार्तवीर्य की रानी रेवती के पुत्र थे । चक्रवर्ती का एक जयसेन नामका रसोइया था । एक दिन चक्रवर्ती जब भोजन करने को बैठे तब रसोइया उन्हें गरम-गरम खीर परोस दी । उसके खाने से चक्रवर्ती का मुँह जल गया । इससे उन्हें रसोइये पर बड़ा गुस्सा आया । गुस्से से उन्होंने खीर रखे गरम बरतन को ही उसके सिर पर दे मारा । उससे उसका सारा सिर जल गया । इसकी घोर वेदना से मरकर वह लवण समुद्र में व्यन्तरदेव हुआ । कु-अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव की बात जानकर चक्रवर्ती पर उसके गुस्से का पार न रहा । प्रतिहिंसा से उसका जी बेचैन हो उठा । तब वह एक तपस्वी बनकर अच्छे-अच्छे सुन्दर फलों को अपने हाथ में लिये चक्रवर्ती के पास पहुँचा । फलों को उसने चक्रवर्ती को भेंट किया । चक्रवर्ती उन फलों को खाकर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उस तापस से कहा -- महाराज, ये फल तो बड़े ही मीठे हैं । आप इन्हें कहाँ से लाये ? और ये मिले तो कहाँ मिलेंगे ? तब उस व्यन्तर ने धोखा देकर चक्रवर्ती से कहा – समुद्र के बीच में एक छोटा सा टापू है । वहीं मेरा घर है । आप मुझ गरीब पर कृपाकर मेरे घर को पवित्र करें तो मैं आपको बहुत से ऐसे-ऐसे उत्तम और मीठे फल भेंट करूँगा । कारण वहाँ ऐसे फलों के बहुत बगीचे हैं । चक्रवर्ती लोभ में फँसकर व्यन्तर के झाँसे में आ गये और उसके साथ चल दिये । जब व्यन्तर इन्हें साथ लिये बीच समुद्र में पहुँचा तब अपने सच्चे स्वरूप में आ उसने बड़े गुस्से से चक्रवर्ती को कहा -- पापी, जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ ? यदि न जानता हो तो सुन – मैं तेरा जयसेन नाम का रसोइया था, तब तूने मुझे निर्दयता के साथ जलाकर मार डाला था । अब उसी का बदला लेने को मैं तुझे यहाँ लाया हूँ । बतला अब कहाँ जायेगा ? जैसा किया उसका फल भोगने को तैयार हो जा । तुझ से पापियों की ऐसी गति होनी ही चाहिए । पर सुन, अब भी एक उपाय है, जिससे तू बच सकता है । और वह यह कि यदि तू पानी में पंच नमस्कार मन्त्र लिखकर उसे अपने पाँवों से मिटा दे तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ । अपनी जान बचाने के लिए कौन किस काम को नहीं कर सकता ? वह भला है या बुरा इसके विचार करने की तो उसे जरूरत ही नहीं रहती । उसे तब पड़ी रहती है अपनी जान की । यही दशा चक्रवर्ती महाशय की हुई । उन्होंने तब नहीं सोच पाया कि इस अनर्थ से मेरी क्या दुर्दशा होगी ? उन्होंने उस व्यन्तर के कहे अनुसार झटपट जल में मंत्र लिखकर पाँव से उसे मिटा डाला । उनका मन्त्र मिटाना था कि व्यन्तर ने उन्हें मारकर समुद्र में फेंक दिया । इसका कारण यह हो सकता है कि मंत्र को पाँव से न मिटाने के पहले व्यन्तर की हिम्मत चक्रवती को मारने की इसलिए न पड़ी होगी कि जगत्पूज्य जिनेन्द्र भगवान् के भक्त को वह कैसे मारे, या यह भी संभव था कि उस समय कोई जिनशासन का भक्त अन्य देव उसे इस अन्याय से रोककर चक्रवर्ती की रक्षा कर लेता और अब मंत्र को पाँवों से मिटा देने से चक्रवर्ती जिनधर्म का द्वेषी समझा गया और इसीलिए व्यन्तर ने उसे मार डाला । मर कर इस पाप के फल में चक्रवर्ती सातवें नरक गया । उस मूर्खता को, उस लम्पटता को धिक्कार चक्रवर्ती सारी पृथ्वी का सम्राट दुर्गति में गया । जिसका जिन भगवान् के धर्म पर विश्वास नहीं होता उसे चक्रवर्ती की तरह कुगति में जाना पड़े तो इसमें आश्चर्य क्या ? वे पुरूष धन्य हैं और वे ही सबके आदर पात्र हैं, जिनके हृदय में सुख देने वाले जिन वचन रूप अमृत का सदा स्त्रोत बहता रहता है । इन्हीं वचनों पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं । यह सम्यग्दर्शन जीवमात्र का हित करनेवाला है, संसार भय मिटाने वाला है, नाना प्रकार के सुखों को देने वाला है, और मोक्ष प्राप्तिका मुख्य कारण है । देव, विद्याधर आदि सभी बड़े-बड़े पुरूष सम्यग्यदर्शन की या उसके धारण करने वाले की पूजा करते हैं । यह गुणों का खजाना

है । सम्यग्यदृष्टि को कोई प्रकार का भय-बाधा नहीं होती । वह बड़ी सुख-शान्ति में रहता है । इसलिए जो सच्चे सुख की आशा रखते है उन्हें आठ अंग सहित इस पवित्र सम्यग्यदर्शन का विश्वास के साथ पालन करना चाहिए ।

शुभ राजा की कथा

शुभ राजा की कथा

कथा :

संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को प्रसन्नता पूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है ।

मिथिला नगर के राजा शुभ की रानी मनोरमा के देवरति नाम का एक पुत्र था । देवरति गुणवान और बुद्धिमान था । किसी प्रकार का दोष या व्यसन उसे छू तक न गया था ।

एक दिन देवगुरू नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज अपने संघ को साथ लिये मिथिला में आये । शुभ राजा तब बहुत से भव्यजनों के साथ-मुनि पूजा के लिए गया । मुनिसंघ की सेवा-पूजा कर उसने धर्मोपदेश सुना । अन्त में उसने अपने भविष्य के सम्बन्ध का मुनिराज से प्रश्न किया-योगिराज, कृपा कर बतलाइए कि आगे मेरा जन्म कहाँ होगा ? उत्तर में मुनि ने कहा-राजन्, सुनिए-पाप कर्मों के उदय से तुम्हें आगे के जन्म में तुम्हारे ही पाखाने में एक बड़े कीड़े की देह प्राप्त होगी, शहर में घुसते समय तुम्हारे मुँह में विष्टा प्रवेश करेगा, तुम्हारा छत्रभंग होगा और आज के सातवें दिन बिजली गिरने से तुम्हारी मौत होगी । सच है, जीवों के पाप के उदय से सभी कुछ होता है । मुनिराज ने ये सब बातें राजा से बड़े निडर होकर कहीं । और यह ठीक भी है कि योगियों के मन में किसी प्रकार का भय नहीं रहता |

मुनि का शुभ के सम्बन्धका भविष्य-कथन सच होने लगा । एक दिन बाहरसे लौट कर जब वे घर में घुसने लगे तब घोड़े के पाँवों को ठोकर से उड़े हुए थोड़े से विष्टाका अंश उनके मुँह में आ गिरा और यहाँ से वे थोड़े से आगे बढ़े होंगे कि एक जोर की आँधी ने उनके छत्र को तोड़ डाला । सच है, पाप कर्मों के उदय से क्या नहीं होता । उन्होंने तब अपने पुत्र देवरति को बुलाकर कहा-बेटा, मेरा कोई ऐसा पाप कर्म का उदय आवेगा उससे मैं मरकर अपने पाखाने में पाँच रंग का कीड़ा होऊँगा, सो तुम उस समय मुझे मार डालना । इसलिए कि फिर में कोई अच्छी गति प्राप्त कर सकूँ । उक्त घटना को देखकर शुभ को यद्यपि यह एक तरह निश्चय-सा हो गया था कि मुनिराज की कही बातें सच्ची हैं और वे अवश्य होंगी पर तब भी उनके मन में कुछ-कुछ सन्देह बना रहा और इसी कारण बिजली गिरने के भय से डरकर उन्होंने एक लोहे की बड़ी मजबूत सन्दूक मंगवाई और उसमें बैठकर गंगा के गहरे जल में उसे रख आने को नौकरों को आज्ञा की । इसलिए कि जल में बिजली का असर नहीं होता । उन्हें आशा थी कि मैं इस उपाय से रक्षा पा जाऊँगा । पर उनकी यह नासमझी थी । कारण प्रत्यक्ष ज्ञानियों की कोई बात कभी झूठी नहीं होती । जो हो, सातवाँ दिन आया । आकाश में बिजलियाँ चमकने लगीं । इसी समय भाग्य से एक बड़े मच्छने राजा की उस सन्दूक को एक ऐसा जोरका उथेला दिया कि सन्दूक जल बाहर दो हाथ ऊँचे तक उछल आई । सन्दूक का बाहर होना था कि इतने में बड़े जोर से कड़क कर उस पर बिजली आ गिरी । खेद है कि उस बिजली के गिरने से राजा अपने यत्न में कामयाब न हुए और आखिर वे मौत के मुँह में पड़ ही गये । मरकर वह मुनिराज के कहे अनुसार पाखाने में कीड़ा हुए । पिता के माफिक जब देवरतिने जाकर देखा तो सचमुच एक पाँच रंग का कीड़ा उसे देख पड़ा और तब उसने उसे मार डालना चाहा । पर जैसे ही देवरतिने हाथ का हथियार उसके मारने को उठाया, वह कीड़ा उस विष्टा के ढेर में घुस गया । देवरतिको इससे बड़ा ही अचम्भा हुआ । उसने जिन-जिनसे इस घटना का हाल कहा, उन सबको संसार की इस भयंकर लीला को सुन बड़ा डर मालूम हुआ । उन्होंने तब संसार का बन्धन काट देने के लिए जैनधर्म का आश्रय लिया, कितनों ने सब माया-ममता तोड़ जिनदीक्षा ग्रहण की और कितनों ने अभ्यास बढ़ाने को पहले श्रावकों के व्रत ही लिये ।

देवरतिको इन घटना से बड़ा अचम्भा हो ही रहा था, सो एक दिन उसने ज्ञानी मुनिराज से इसका कारण पूछा-भगवन्, क्यों तो मेरे पिता नेमुझसे कहा कि मैं विष्टा में कीड़ा होऊँगा सो मुझे तू मार डालना और जब मैं उस कीड़े को मारने जाता हूँ तब वह भीतर ही भीतर घुसने लगता है । मुनि ने उसके उत्तर में देवरति से कहा-भाई, जीव गतिसुखी होता है । फिर चाहे वे कितनी ही बुरी से बुरी जगह भी क्यों न पैदा हो । वह उसी में अपने को सुखी मानेगा, वहाँ से कभी मरना पसन्द न करेगा । यही कारण है कि जब तक तुम्हारे पिता जीते थे तब तक उन्हे मनुष्य जीवन से प्रेम था, उन्होंने न मरने के लिए यत्न भी किया, पर उन्हें सफलता न मिली । और ऐसी उच्च मनुष्य गति से वे मरकर कीड़ा होंगे, सो भी विष्टा में । उसका उन्हें बहुत खेद था और इसलिए उन्होंने तुमसे उस अवस्था में मार डालने-को कहा था । पर अब उन्हें

वही जगह अत्यन्त प्यारी है, वे मरना पसन्द नहीं करते । इसलिए जब तुम उस कीड़ा को मारने जाते हो तब वह भीतर घुस जाता है । इसमें आश्चर्य और खेद करने की कोई बात नहीं । संसार की स्थिति ही ऐसी है । मुनिराज द्वारा यह मार्मिक उपदेश सुनकर देवरति को बड़ा बैराग्य हुआ । वह संसार को छोड़कर, इसलिए कि उसमें सार कुछ नहीं है, मुनिपद स्वीकार कर आत्महित साधक योगी हो गया । जिसके वचन पापों के नाश करनेवाले हैं, सर्वोत्तम हैं और संसार का भ्रमण मिटाने वाले हैं, वे देवों द्वारा पूजे जाने वाले जिनभगवान् मुझे तब तक अपने चरणों की सेवा का अधिकार दें जब तक कि मैं कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त न कर लूँ ।

सुदृष्टि सुनार की कथा

सुदृष्टि सुनार की कथा

कथा :

देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये जानेवाले जिनभगवान् को नमस्कार कर सुदृष्टि नामक सुनार की, जो रत्नों के काम में बड़ा होशियार था कथा लिखी जाती है ।

उज्जैन के राजा प्रजापाल बड़े प्रजाहितैषी, धर्मात्मा और भगवान् कि सच्चे भक्त थे । इनकी रानी का नाम सुप्रभा था । सुप्रभा बड़ी सुन्दरी और सती थी । सच है संसार में वही रूप् और वही सौन्दर्य प्रशंसा के लायक होता है जो शील से भूषित हो |

यहाँ एक सुदृष्टि नाम का सुनार रहता था । जवाहिरात के काम में यह बड़ा चतुर था तथा सदाचारी और सरल-स्वभावी था । इसकी स्त्री का नाम विमला था । विमला दुराचारिणी थी । अपने घर में रहने वाले एक वक्र नाम के विद्यार्थी से, जिसे कि सुदृष्टि अपने खर्च से लिखाता-पढ़ाता था, विमला का अनुचित सम्बन्ध था । विमला अपने स्वामी से बहुत ना-खुश थी । इसलिए उसने अपने प्रेमी वक्र को उस्का कर, उसे कुछ भली-बुरी सुझाकर सुदृष्टि का खून करवा दिया । खून उस समय किया गया जब कि सुदृष्टि विषय-सेवन में मग्न था । सो यह मरकर विमला के ही गर्भ में आया । विमला ने कुछ दिनों बाद पुत्र प्रसव किया । आचार्य कहते है कि संसार की स्थिति बड़ी ही विचित्र है जो पल भर में कर्मों की पराधीनता से जीवों का अजब परिवर्तन हो जाता है । वे नटकी तरह क्षणक्षण में रूप बदला ही करते हैं ।

चैत का महीना था वसन्त की शोभा ने सब ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा था । वन उपवनों की शोभा मनको मोह लेती थी । इसी सुन्दर समय में एक दिन महारानी सुप्रभा अपने खास बगीचे में प्राणनाथ के साथ हँसी विनोद कर रही थी । इसी हँसी-विनोद में उसका क्रीड़ा-विलास नाम का सुन्दर बहुमूल्य हार टूट पड़ा । उसके सब रत्न बिखर गये । राजा ने उसे फिर वैसा ही बनवाने का बहुत प्रयत्न किया, जगह-जगह से अच्छे सुनार बुलवाये पर हार पहले सा किसी से नहीं बना । सच है, बिना पुष्प के कोई उत्तम कला का ज्ञान नहीं होता । इसी टूटे हुए हार को विमला के लड़के ने **अर्थ**ात् पूर्वभव के उसके पति सुदृष्टि ने देखा । देखते ही उसे जाति स्मरण पूर्व जन्म का हो गया । उससे उसने उस हार को पहले-सा ही बना दिया । इसका कारण यह था कि इस हार को पहले भी सुदृष्टि ने ही बनाया था और यह बात सच है कि इस जीवको पूर्व जन्म के संसार पुण्य से ही कला कौशल, ज्ञान-विज्ञान दान-पूजा आदि सभी बातें प्राप्त हुआ करती हैं । प्रजापाल उसकी यह हुशियार देखकर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उससे पूछा भी कि भाई, यह हार जैसा सुदृष्टि का बनाया था वैसा ही तुमने कैसे बना दिया ? तब वह विमला का लड़का मुँह नीचा कर बोला-राजाधिराज, मैं अपनी कथा आपसे क्या कहूँ । आप यह समझें कि वास्तव में मै ही सुदृष्टि हूँ । इसके बाद उसने बीती हुई सब घटना राजा से कह सुनाई । वे संसार की इस विचित्रता को सुनकर विषय-भोगों से बड़े विरक्त हुए । उन्होंने उसी समय सब माया-जाल छोड़कर आत्महित का पथ जिन दीक्षा ग्रहण कर ली ।

इधर विमला के लड़के को भी अत्यन्त वैराग्य हुआ । वह स्वर्ग मोक्ष के सुखों को देने वाली जिनदीक्षा लेकर योगी बन गया । यहाँ से फिर यह विशुद्धात्मा धर्मोपदेश के लिये अनेक देशों और शहरों में घूम-फिर कर तपस्या करता हुआ और अनेक भव्यजनों को आत्महित के मार्ग पर लगता हुआ सौरीपुर के उत्तर भाग में यमुना के पवित्र किनारे पर आकर ठहरा । यहाँ शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का नाश कर इसने लोकालोक का ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अन्त में मुक्ति लाभ किया । वे विमला-सुत मुनि मुझे शान्ति दें ।

वे जिन भगवान् आप भव्यजनों को और मुझे मोक्ष का सुख दें, जो संसार-सिन्धु में डूबते हुए, असहाय-निराधार जीवों को देखने वाले हैं, कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले हैं, संसार के सब पदार्थों को देखने वाले केवल ज्ञान से युक्त हैं, सर्वज्ञ तथा मोक्ष का सुख देने वाले है

और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों आदि प्राय: सभी महापुरूषों से पूजा किये जाते हैं ।

धर्मसिंह मुनि की कथा

धर्मसिंह मुनि की कथा
कथा :
इस प्रकार के देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते है और ज्ञान के समुद्र है, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर धर्मसिंह मुनि की कथा लिखी जाती है
दक्षिण देश के कौशलगिर नगर के राजा वीर सेन की रानी वीरमती के दो सन्तान थीं । एक पुत्र था और एक कन्या थी । पुत्र का नाम चन्द्रभूति और कन्या का चन्द्रश्री था । चन्द्रश्री बड़ी सुन्दर थी । उसकी सुन्दरता देखते ही बनती थी ।
कौशल देश और कौशल ही शहर के राजा धर्मसिंह के साथ चन्द्रश्री की शादी हुई थी । दोनों दम्पति सुख से रहते थे । नाना प्रकार की भोगोपभोग वस्तुएँ सदा उनके लिये मौजूद रहती थीं । इतना होने पर भी राजा का धर्म पर पूर्ण विश्वास था, अगाध श्रद्धा थी । वे सदा दान, पूजा, व्रतादि धर्म कार्य करते थे ।
एक दिन धर्मसिंह तपस्वी दमधर मुनि के दर्शनार्थ गये । उनकी भक्ति से पूजा-स्तुति कर उन्होंने उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना, जो धर्म देवों द्वारा भी बड़ी भक्ति के साथ पूजा माना जाता है । धर्मोपदेश का धर्मसिंह के चित पर बड़ा गहरा असर पड़ा । उससे वे संसार और विषय भोगों से विरक्त हो गये । उनकी रानी चन्दश्री को उन्हें जवानी में दीक्षा ले जाने से बड़ा कष्ट हुआ । पर बेचारी लाचार थी । उसके दु:ख की बात जब उसके भाई चन्द्रभूति को मालूम हुई तो उसे भी अत्यन्त दु:ख हुआ । उसने अपनी बहिन की यह हालत न देखी गई । उसने तब जबरदस्ती अपने बहनोई धर्मसिंह को उठा लाकर चन्द्रश्री के पास ला रक्खा । धर्मसिंह फिर भी न ठहरे और जाकर उन्होंने पुन: दीक्षा ले ली और महा तप तपने लगे ।
एक दिन इसी तरह वे तपस्या कर रहे थे । तब उन्होंने चन्द्रभूति को अपनी ओर आता हुआ देखा । उन्होंने समझ लिया कि यह फिर मेरी तपस्या बिगाड़ेगा । सो तप को रक्षा के लिये पास ही पड़े हुए मृत हाथी के शरीर में घुसकर उन्होंने समाधि ले ली और अन्त में शरीर को छोड़कर वे स्वर्ग में गये । इसलिये भव्य जनों को कष्टके समय भी अपने व्रत की रक्षा करनी ही चाहिए कि जिससे स्वर्ग या मोक्ष का सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है ।
निर्मल जैनधर्म के प्रेमी जिन श्रीधर्मसिंह मुनि ने जिनभगवान् के उपदेश किये और स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले तप मार्ग का आश्रय ले उसके पुण्य से स्वर्ग-सुख लाभ किया वे संसार प्रसिद्ध महात्मा और अपने गुणों से सबकी बुद्धि पर प्रकाश डालने वाले मुझे भी मंगल-सुख दान करें ।

वृषभसेन की कथा

वृषभसेन की कथा
कथा :
स्वर्ग और मोक्ष का सुख देने वाले तथा सारे संसार के द्वारा पूजे-माने जाने वाले श्री जिन भगवान् को नमस्कार कर वृषभसेन की कथा लिखी जाती है ।
पाटिलपुत्र (पटना) में वृषभदत्त नाम का एक सेठ रहता था । पूर्व २१पुण्य के प्रभाव से इसके पास धन सम्पत्ति खूब थी । इसकी स्त्री का नाम वृषभदत्ता था । इसके वृषभसेन का नाम सर्वगुण-सम्पन्न एक पुत्र था । वृषभसेन बड़ा धर्मात्मा और सदा दान-पूजादिक पुण्यकर्मों का करने वाला था ।
वृषभसेन के मामा धनपति की स्त्री श्रीकान्ता के एक लड़की थी । इसका नाम धनश्री था । धनश्री सुन्दर थी, चतुर थी और लिखी-पढ़ी थी । धनश्री का ब्याह वृषभसेन के साथ हुआ था । दोनों दम्पत्ति सुख से रहते थे । नाना प्रकार के विषय-भोगों की वस्तुएँ उनके लिये सदा हाजिर रहती थीं ।
एक दिन वृषभसेन दमधर मुनिराज के दर्शनों के लिये गया । भक्ति सहित उसकी पूजा-वन्दना कर उसने उनसे धर्म का पवित्र उपदेश

सुना । उपदेश उसे बहुत रूचा और उसका प्रभाव भी उसपर बहुत पड़ा । वह उसी समय संसार और भ्रम से सुख जान पड़ने वाले विषय-भोगों से उदासीन हो मुनिराज के पास आत्महित की साधक जिन दीक्षा ले गया । उसे युवावस्था में ही दीक्षा ले-जाने से धनश्री को बड़ा दु:ख हुआ । उसे दिन-रात रोनेके सिवा कुछ न सूझता था । धनश्री का यह दु:ख उसके पिता धनपति से न सहा गया । वह तपोवन में जाकर वृषभसेन को उठा लाया और जबरदस्ती उसकी दीक्षा वगैरह खण्डित कर दी, उसे गृहस्थ बना दिया । सच है, मोही पुरूष करने और न करने योग्य कामों का विचार न कर उन्मत्त की तरह हर एक काम करने लग जाता है, जिससे कि पापकर्मों का उसके तीव्र बन्ध होता है ।

जैसे मनुष्य को कैद में जबरदस्ती रहना पड़ता है उसी तरह वृषभसेन को भी कुछ समय तक और घर में रहना पड़ा । इसके बाद वह फिर मुनि हो गया । इसका फिर मुनि हो जाना जब धनपति को मालूम हुआ तो किसी बहाने से घर पर लाकर अब की बार उसे उसने लोहे की साँकल से बाँध दिया । मुनि ने यह सोचकर, कि यह मुझे अबकी बार फिर व्रतरूपी पर्वत से गिरा देगा, मेरा व्रत भंग कर देगा, संन्यास ले लिया और इसी अवस्था में शरीर छोड़कर वह पुण्य के उदय से स्वर्ग में देव हुआ । दुर्जनों द्वारा सत्पुरूषों को कितने ही कष्ट क्यों न पहुँचाये जायँ पर वे कभी पाप बन्ध के कारण कामों में नहीं फँसते ।

दुर्जन पुरूष चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न दें, पर पवित्र बुद्धि के धारी सज्जन महात्मा पुरूष तो जिनभगवान् के चरणों की सेवा-पूजा से होने वाले पुण्य से सुख ही प्राप्त करेंगे । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

जयसेन राजा की कथा

जयसेन राजा की कथा

कथा :

स्वर्गादि सुखों के देने वाले और मोक्षरूपी रमणी के स्वामी श्रीजिनभगवान् को नमस्कार कर जयसेन राजा की सुन्दर कथा लिखी जाती है ।

सास्वती के राजा जयसेन की रानी वीरसेना के एक पुत्र था । इसका नाम वीरसेन था । वीरसेन बुद्धिमान् और सच्चे हृदय का था, मायाचार-कपट उसे छू तक न गया था ।

यहाँ एक षिवगुप्त नाम का बुद्धभिक्षुक रहता था । यह माँसभक्षी और निर्दयी था । ईर्षा और द्वेष इसके रोम-रोम में ठसा था मानों वह इतना पुतला था । यह शिवगुप्त राजगुरू था । ऐसे मिथ्यात्व को धिक्कार है जिसके वश हो ऐसे मायावी और द्वेषी भी गुरू हो जाते है । एक दिन यतिवृषभ मुनिराज अपने सारे संघ को साथ लिये सावस्ती में आये । राजा यद्यपि बुद्धधर्म का माननेवाला था, तथापि वह और-और लोगों को मुनिदर्शन के लिये जाते देख आप भी गया । उसने मुनिराज द्वारा धर्मका पवित्र उपदेश चित लगाकर सुना । उपदेश उसे बहुत पसन्द आया । उसने मुनिराज से प्रार्थना कर श्रावकों के व्रत लिये । जैन धर्म पर अब उसकी दिनों-दिन श्रद्धा बढ़ती ही गई । उसने अपने सारे राज्यभर में कोई ऐसा स्थान न रहने दिया जहाँ जिनमन्दिर न हो । प्रत्येक शहर, प्रत्येक गाँव में इसने जिनमन्दिर बनवा दिया । जिनधर्म के लिये राजा का यह प्रयत्न देख शिवगुप्त ईर्षा और द्वेष के मारे जल कर खाक हो गया । वह अब राजा को किसी प्रकार मार डालने के प्रयत्न में लगा । और एक दिन खास इसी काम के लिये वह पृथिवीपुरी गया और वहाँ के बुद्धधर्म के अनुयायी राजा सुमति को उसने जयसेन के जैनधर्म धारण करने और जगह-जगह जिनमन्दिरों के बनवाने आदि का सब हाल कह सुनाया । यह सुन सुमति ने जयसेन को एक पत्र लिखा कि ‘‘ तुमने बुद्धधर्म छोड़कर जो जैनधर्म जैनधर्म ग्रहण किया, यह बहुत बुरा किया है । तुम्हें उचित है कि तुम पीछा बुद्धधर्म स्वीकार कर लो ।”इसके उत्तर में जयसेन ने लिख भेजा कि- ‘‘ मेरा विश्वास है, निश्चय है कि जैनधर्म ही संसार में एक ऐसा सर्वोच्च धर्म है जो जीवमात्र का हित करने वाला है । जिस धर्म में जीवों का मांस खाया जाता है या जिनमें धर्म के नाम पर हिंसा वगैरह महापाप बड़ी खुशी के साथ किये जाते हैं वे धर्म नहीं हो सकते । धर्म का **अर्थ** है जो संसार के दु:खों से छुड़ाकर उत्तम सुख में रक्खे, सो यह बात सिवा जैनधर्म के और धर्मों में नहीं है । इसलिए इसे छोड़कर और सब अशुभ बन्धके कारण है ।”सच है, जिसने जैनधर्म का सच्चा स्वरूप जान लिया वह क्या फिर किसी से डिगाया जा सकता है ? नहीं । प्रचण्ड से प्रचण्ड हवा भी क्यों न चले पर क्या वह मेरूको हिला देगी ? नहीं । जयसेन ने इस प्रकार विश्वास को देख सुमति को बड़ा गुस्सा आया । तब उसने दो आदमियों को इसलिए सावस्ती मे भेजा कि वे जयसेन की हत्या कर आवे । वे दोनों आकर कुछ समय तक सावस्ती में ठहरे और जयसेन के मार डालने की खोज में लगे

रहे, पर उन्हें ऐसा मौका ही न मिल पाया जो वे जयसेन को मार सकें । तब लाचार हो वे वापिस पृथ्वीपुरी आये और सब हाल उन्होंने राजा से कह सुनाया । इससे सुमति का क्रोध और भी बड़ गया । उसने तब अपने सब नौकरों को इकट्ठा कर कहा-क्या कोई मेरे आदमियों में ऐसा भी हिम्मत बहादुर है जो सावस्ती जाकर किसी तरह जयसेन को मार आवे ! उनमें से एक हिमारक नाम के दुष्ट ने कहा-हाँ महाराज, मैं इस कामको कर सकता हूँ । आप मुझे आज्ञा दें । इसके बाद ही वह राजाज्ञा पाकर सावस्ती आया और यतिवृषभ मुनिराज के पास मायाचार से जिन दीक्षा लेकर मुनि हो गया ।

एक दिन जयसेन मुनिराज दर्शन करने को आया और अपने नौकर-चाकरों को मन्दिर बाहर ठहरा कर आप मन्दिर में गया । मुनि को नमस्कार कर वह कुछ समय के लिए उनके पास बैठा और उसने कुशल समाचार पूछकर उसने कुछ धर्म-सम्बन्धी बातचीत की । इसके बाद जब वह चलने से पहले मुनिराज को ढोक देने के लिए झुका कि इतने में वह दुष्ट हिमारक जयसेन को मार कर भाग गया । सच है बुद्ध लोग बड़े ही दुष्ट हुआ करते है । यह देख मुनि यतिवृषभ को बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने सोचा-कहीं सारे संघ पर विपत्ति न आये, इसलिए पास ही की भीत पर उन्होंने यह लिखकर, कि ‘‘ दर्शन या धर्म की डाहके वश होकर ऐसा काम किया गया है”छुरी से अपना पेट चीर लिया और स्थिरता से सन्यास द्वारा मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग गये ।

वीरसेनको जब अपने पिता की मृत्यु का हाल मालूम हुआ तो वह उसी समय दौड़ा हुआ मन्दिर आया । उसे इस प्रकार दिन-दहाड़े किसी साधारण आदमी की नहीं, किन्तु खास राजा साहबकी हत्या हो जाने और हत्याकारीका कुछ पता न चलने का बड़ा ही आश्चर्य हुआ । और जब उसने अपने पिता के पास मुनि को भी मरा पाया तब तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना ही न रहा । वह बड़े विचार में पड़ गया । ये हत्याएँ क्यों हुईं ? और कैसे हुई ? इसका कारण कुछ भी उसकी समझ में न आया । उसे यह भी सन्देह हुआ कि कहीं इन मुनि ने तो यह काम न किया हो ? पर दूसरे ही क्षण में उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता । इनका और पिताजी का कोई बैर-विरोध नहीं, लेना देना नहीं, फिर वे क्यों ऐसा करने चले ? और पिताजी तो इनके इतने बड़े भक्त थे । और न केवल यह बात थी कि पिताजी ही इतने भक्त हों, ये साधुजी भी तो उनसे बड़ा प्रेम करते थे;घण्टों तक उनके साथ इनकी धर्म चर्चा हुआ करती थी । फिर इस सन्देह को जगह नहीं रहती कि एक निस्पृह और शांत योगी द्वारा यह अनर्थ घड़ा जा सके । तब हुआ क्या ? बेचारा वीरसेन बड़ी कठिन समस्या में फँसा । वह इस प्रकार चिन्तातुर हो कुछ सोच-विचार कर ही रहा था कि उसकी नजर सामने की भीत पर जा पड़ी । उस पर यह लिखा हुआ, कि ‘‘ दर्शन या धर्म की डाह के वश होकर ऐसा हुआ है,”देखते ही उसकी समझ में उसी समय सब बातें बराबर आ गईं । उसके मन का अब रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया । उसकी अब मुनिराज पर अत्यन्त ही श्रद्धा हो गई । उसने मुनिराज के धैर्य और सहनपने की बड़ी प्रशंसा की । जैन धर्म के विषय में उसका पूरा-पूरा विश्वास हो गया । जिनका दुष्ट स्वभाव है, जिनसे दूसरों के धर्म का अभ्युदय-उन्नति नहीं सही जाती, ऐसे लोग जिनधर्म सरीखे पवित्र धर्म पर चाहे कितना ही दोष क्यों न लगावें, पर जिनधर्म तो बादलों से न ढके हुए सूरज की तरह सदा ही निर्दोष रहता है ।

जिस धर्म को चारों प्रकार के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, राजे-महाराजे आदि सभी महापुरूष भक्ति से पूजते-मानते हैं, जो संसार के दु:खों का नाश कर स्वर्ग या मोक्ष का देनेवाला है, सुख का स्थान है, संसार के जीव मात्र का हित करने वाला है और जिसका उपदेश सर्वज्ञ भगवान् ने किया है और इसीलिए सबसे अधिक प्रमाण या विश्वास करने योग्य है, वह धर्म-वह आत्मा ही एक खास शक्ति मुझे प्राप्त होकर मोक्ष सुख दें ।

शकटाल मुनि की कथा

शकटाल मुनि की कथा

कथा :

सुख के देनेवाले और संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को नमस्कार कर शकटाल मुनि की कथा लिखी जाती है । पाटलिपुत्र (पटना) के राजा नन्द के दो मंत्री थे । एक शकटाल और दूसरा वररूचि । शकटाल जैनी था, इसलिए सुतरां उसकी जैन धर्म पर अचल श्रद्धा या प्राति थी । और वररूचि जैनी नहीं था, इसलिए सुतरां उसे जैन धर्म से, जैन धर्म के पालने वालों से द्वेष था, ईर्षा थी । और इसलिए शकटाल और वररूचि की कभी न बनती थी, एक से एक अत्यन्त विरूद्ध थे ।

एक दिन जैन धर्म के परम विद्वान महापद्म मुनिराज अपने संघ को साथ लिये पटना में आये । शकटाल उनके दर्शन को गया । बड़ी भक्ति

के साथ उसने उनकी पूजा-वन्दना की और उनके पास बैठकर और मुनि और गृहस्थ धर्म का उसने पवित्र उपदेश सुना । उपदेश का शकटाल के धार्मिक अतएव कोमल हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा । वह उसी समय संसार का सब माया-जाल तोड़कर दीक्षा ले मुनि हो गया । इसके बाद उसने अपने गुरू द्वारा सिद्धान्त शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया । थोड़े ही दिनों में शकटाल मुनि ने कई विषयों में बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली । गुरू इनकी बुद्धि, विद्वत्ता, तर्कना शक्ति और सर्वोपरि इनकी स्वाभाविक प्रतिभा देखकर बहुत ही खुश हुए । उन्होंने अपना आचार्यपद अब इन्हें ही दे दिया । यहाँ से ये धर्मोपदेश और धर्म प्रचार के लिए अनेक देशों, शहरों और गाँवों में घूमे-फिरे । इन्होने बहुतों को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गतिके दु:खों का नाश करने वाले पवित्र जैन धर्म का सब ओर प्रकाश फैलाया । इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए ये एक बार फिर पटना में आये ।

एक दिन की बात है कि शकटाल मुनि राजा के अन्त:पुर में आहार कर तपोवन की ओर जा रहे थे । मंत्री वररूचि ने इन्हें देख लिया । सो इस पापी ने पुराने बैरका बदला लेने का अच्छा मौका देखकर नन्द से कहा-महाराज, आपको कुछ खबर है कि इस समय अपना पुराना मंत्री पापी शकटाल भीख के बहाने आपके अन्त:पुर में, रनवास में घुसकर न जाने क्या अनर्थ कर गया है ! मुझे तो उसके चले जाने बाद से समाचार मिले, नहीं तो मैंने उसे कभी का पकड़वा कर पापकी सजा दिलवा दी होती । अस्तु, आपको ऐसे धूर्तों के लिए चुप बैठना उचित नहीं । सच है, दुर्गति में जाने वाले ऐसे पापी लोग बुरा से बुरा कोई काम करते नहीं चूकते । नन्द ने अपनेमंत्री के बहकाने में आकर गुस्से से उसी समय एक नौकर को आज्ञा की कि वह जाकर शकटाल को जान से मार आवे । सच है, मूर्ख पुरूष दुर्जनों द्वारा उस्केरे जाकर करने और न करने योग्य भले-बुरे कार्य का कुछ विचार न कर अन्याय कर ही डालते है । शकटाल मुनि ने जब उस घातक मनुष्य को अपनी ओर आते देखा तब उन्हें विश्वास हो गया कि यह मेरे ही मारने को आ रहा है और यह सब काम मंत्री वररूचिका है । अस्तु जब तक वह घातक शकटाल मुनि के पास पहुँचता है उसके पहले ही उन्होने सावधान होकर सन्यास ले लिया । घातक अपना काम पूरा कर वापिस लौट गया | इधर शकटाल मुनि ने समाधि से शरीर त्याग कर स्वर्ग लाभ किया । सच है, दुष्ट पुरूष अपनी ओर से कितनी ही दुष्टता क्यों न करें, पर उससे सत्पुरूषों को कुछ नुकसान न पहुँच कर लाभ ही होता है ।

परन्तु जब नन्द को यह सब सच्चा हाल ज्ञात हुआ और उसने सब बातों को गहरी छान-बीन की तब उसे मालूम हो गया कि शकटाल मुनि का कोई दोष न था, वे सर्वथा निरपराध थे । इससे पहले जैन मुनियों के सम्बन्ध में जो उसकी मिथ्या धारण हो गई थी और उन पर जो उसका बेहद क्रोध हो रहा था उस सबको हृदय से दूर कर वह अब बड़ा ही पछताया । अपने पाप कर्मों की उसने बहुत निन्दा की । इसके बाद वह श्री महापद्म मुनि के पास गया । बड़ी भक्ति से उसने उनकी पूजा-वन्दना की और सुख के कारण पवित्र जैन धर्म का उनके द्वारा उपदेश सुना । धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा । उसने श्रावकों के व्रत धारण किये । जैन धर्म पर अब इसकी अचल श्रद्धा हो गई ।

इस जीवको जब कोई बुरी संगति मिल जाती है तब तो यह बुरे से बुरे पापकर्म करने लग जाता है और जब अच्छे महात्मा पुरूषों की संगति मिलती है तब यही पुण्य-पवित्र कर्म करने लगता है । इसलिए भव्यजनों को सदा ऐसे महापुरूषों की संगति करना चाहिए जो संसार के आदर्श हैं और जिनकी सत्संगति से स्वर्ग मोक्ष प्राप्त हो सकता है ।

इन सम्यग्दर्शन, सम्यगान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूपी रत्नों की सुन्दर माला को प्रभाचन्द्र आदि पूर्वाचार्यों ने शास्त्रों का सार लेकर बनाया है, जो ज्ञान समुद्र और सारे संसार के जीव मात्र का हित करने वाले थे । उन्हीं की कृपा से मैने इस आराधनारूपी माला को अपनी बुद्धि और शांति के अनुसार बनाया है । यह माला भव्यजनों को और मुझे सुख दे ।

श्रद्धायुक्त मनुष्य की कथा

श्रद्धायुक्त मनुष्य की कथा

कथा :

निर्मल केवल ज्ञान द्वारा सारे संसार के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर श्रद्धागुण के धारी विनयंधर राजा की कथा लिखी जाती है जो कथा सत्पुरूषों को प्रिय है ।

कुरूजांगल देश की राजधनी हस्तिनापुर का राजा विनयधर था । उसकी रानी का नाम विनयवती था । यहाँ वृषभसेन नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम वृषभसेना था । इसके जिनदास नाम का एक बुद्धिमान पुत्र था ।

विनयंधर बड़ा कामी था । सो एक वार इसके कोई महारोग हो गया । सच है, ज्यादा मर्यादासे बाहर विषय सेवन भी उल्टा दु:ख का ही कारण होता है । राजा ने बड़े-बड़े वैद्यों का इलाज करवाया पर उसका रोग किसी तरह न मिटा । राजा इस रोग से बड़ा दु:खी हुआ । उसे दिन रात चैन न पड़ने लगा ।

राजा का एक सिद्धार्थ नाम का मंत्री था । यह जैनी था । शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक था । सो एक दिन इसने पादौषधिऋद्धि के धारक मुनिराज के पाँव प्रक्षालन का जल लेकर, जो कि सब रोगों का नाश करनेवाला होता है, राजाको दिया । जिन भगवान् के सच्चे भक्त उस राजाने बड़ी श्रद्धा के साथ उस जल को पी-लिया । उसे पीने से उसका सब रोग जाता रहा । जैसे सूरज के उगने से अन्धकार जाता रहता है । सच है, महात्माओं के तपके प्रभावकी कौन कह सकता है, जिनके कि पाँव धोने के पानी से ही सब रोगों की शान्ति हो जाती है । जिस प्रकार सिद्धार्थ मन्त्री ने मुनि के पाँव प्रक्षालन का पवित्र जल राजा को दिया, उसी प्रकार अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे धर्मरूपी जल सर्व-साधारण को देकर उनका संसार ताप शान्त करें । जैनतत्व के परम विद्वान के पादौषधिऋद्धि के धारक मुनिराज मुझे शान्ति-सुख दें ।

जैनधर्म में या जैनधर्म के अनुसार किये जाने वाने दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि पवित्र कार्यो में की हुई श्रद्धा, किया हुआ विश्वास दु:खों का नाश करने वाला है । इस श्रद्धा का आनुषङ्गिक फल है-इन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि की सम्पदा का लाभ और वास्तविक फल है मोक्ष का कारण केवलज्ञान, जिसमें कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय आत्मा की खास शक्तियाँ प्रगट हो जाती है । वह श्रद्धा आप भव्यजों का कल्याण करें ।

आत्मनिन्दा करने वाली की कथा

आत्मनिन्दा करने वाली की कथा

कथा :

चारों प्रकार के देवों द्वारा पूजे जाने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर उस स्त्री की कथा लिखी जाती है कि जिसने अपने किये पापकर्मों की आलोचना कर अच्छा फल प्राप्त किया है ।

बनारस के राजा विशाखदत्त थे । उनकी रानी का नाम कनकप्रभा था । इनके यहाँ एक चितेरा रहता था । इसका नाम विचित्र था । यह चित्रकला का बड़ा अच्छा जानकार था । चितेरे की स्त्री का नाम विचित्र पताका था । इसके बुद्धिमती नाम की एक लड़की थी । बुद्धिमती बड़ी सुन्दरी और चतुर थी ।

एक दिन विचित्र चितेरा राजा के खास महल में, जो बड़ा सुन्दर था, चित्र कर रहा था । उसकी लड़की बुद्धिमती उसके लिए भोजन लेकर आई । उसने विनोद वश हो भींत पर मोर की पींछी का चित्र बनाया । वह चित्र इतना सुन्दर बना कि सहसा कोई न जान पाता कि वह चित्र है । जो उसे देखता वह यहीं कहता कि यह मोर की पींछी है । इसी समय महाराज विषाखदत्त इस ओर आ गये । वे उस चित्र को मोर की पींछी समझ उठाने को उसकी ओर बढ़े । यह देख बुद्धिमतीने समझा कि महाराज वेसमझ हैं । नहीं तो इन्हें इतना भ्रम नहीं होता ।

दूसरे दिन बुद्धिमती ने एक और अद्भुत् चित्र राजाको बतलाते हुए अपने पिताको पुकारा-पिताजी, जल्दी आइए, भोजन की जवानी का समय बीत रहा है । बुद्धिमती के इन शब्दों को सुनकर राजा बड़े अचम्भे में पड़ गया । वह उसके कहने का कुछ भाव न समझ कर एक टकटकी लगाये उसके मुँह की ओर देखता रह गया । राजा को अपना भाव न समझा देख बुद्धिमती को उसके मूर्ख होने का और दृढ़ विश्वास हो गया ।'

अबकी बार बुद्धिमती ने और ही चाल चली । एक भींत पर दो पड़दे लगा दिये और राजा को चित्र बतलाने के बहाने से उसने एक पड़दा उठाया । उसमें चित्र न था । तब राजा उस दूसरे पड़दे की ओर चित्र की आशा से आँख फाड़कर देखने लगा । बुद्धिमती ने दूसरा पड़दा भी उठा दिया । भींत पर चित्र को न देखकर राजा बड़ा शर्मिंदा हुआ । उसकी इन चेष्टाओं से उसे पूरा मूर्ख समझ बुद्धिमती ने जरा हँस दिया । राजा और भी अचम्भे में पड़ गया । यह बुद्धिमती का कुछ भी अभिप्राय न समझ सका । उसने तब व्यग्र हो बुद्धिमती से ऐसा करने का कारण पूछा ।

बुद्धिमति के उत्तर से उसे जान पड़ा कि वह उसे चाहती है और इसीलिए पिता को भोजन के लिये पुकारते समय व्यंग से राजा पर उसने

अपना भाव प्रगट किया था । राजा उसकी सुन्दरता पर पहले ही से मुग्ध था, सो वह बुद्धिमती की बातों से बड़ा खुश हुआ । उसने फिर बुद्धिमती के साथ ब्याह भी कर लिया । धीरे-धीरे राजा का उस पर इतना अधिक प्रेम बढ़ गया कि अपनी सब रानियों में पट्टरानी उसने उसे ही बना दिया । सच बात यह है कि प्राणियों की उन्नति के लिये उनके गुण ही उनका दूतपना करते है उन्हें उन्नति पर पहुँचा देने हैं । राजा ने बुद्धिमती को सारे रनवास की स्वामिनी बना तो दिया, पर उसमें सब रानियाँ उस बेचारी की शत्रु बन गईं, उससे डाह, ईर्षा करने लगी । आते-जाते वे बुद्धिमती के सिर पर मारती और उसे बुरी-भली सुनाकर बे-हद कष्ट पहुँचाती । बेचारी बुद्धिमती सीधी-साधी थी, सो न तो वह उनसे कुछ कहती और महाराज से ही कभी उनकी शिकायत करती । इस कष्ट और चिन्ता से मन ही मन घुलकर वह सूख सी गई । वह जब जिनमन्दिर दर्शन करने जाती तब सब सिद्धियों के देनेवाले भगवान् के सामने खड़े हो अपने पूर्व कर्मों की निन्दा करती और प्रार्थना करती कि हे संसारपूज्य, हे स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले और दु:खरूपी दावानल के बुझानेवाले मेघ, और हे दयासगर, मै एक छोटे कुल में पैदा हुई हूँ, इसलिये मुझे से सब कष्ट हो रहे हैं । पर नाथ, इसमें दोष किसी का नहीं । मेरे पूर्व जनम के पापों का उदय है । प्रभो, जो हो, पर मुझे विश्वास है कि जीवों को चाहे कितने कष्ट क्यों न सता रहे हों, पर जो आपको हृदय से चाहता है, आपका सच्चा सेवक है, उसके सब कष्ट बहुत जल्दी नष्ट हो जाते है । और इसलिये हे नाथ, कामी, क्रोधी, मानी मायावी देवों को छोड़कर मैने आपकी शरण ली है । आप मेरा कष्ट दूर करेंगे ही । बुद्धिमती न मन्दिर में ही किन्तु महल पर भी अपने कर्मों की आलाचना किया करती । वह सदा एकान्त में रहती और न किसी से विशेष बोलती-चालती । राजाने उसके दुर्बल होने का कारण पूछा-बार-बार आग्रह किया, पर बुद्धिमती ने उससे कुछ भी न कहा ।

बुद्धिमती क्यों दिनों दिन दुर्बल होती जाती है, इसका शोध लगाने के लिये एक दिन राजा उसके पहले जिनमन्दिर आ गया । बुद्धिमती ने प्रतिदिन की तरह आज भी भगवान् के सामने खड़ी होकर आलोचना की । राजाने वह सब सुन लिया । सुनकर ही वह सीधा महल पर आया । अपनी सब रानियों को उसने खूब ही फटकारा, धिक्कारा और बुद्धिमती को ही उनकी मालकिन-पट्टरानी बनाकर उन सबको उसकी सेवा करने के लिए बाध्य किया ।

जिस प्रकार बुद्धिमती ने अपनी आत्म-निन्दा की, उसी तरह अन्य बुद्धिवानों और क्षुल्लक आदि को भी जिनभगवान् के सामने भक्तिपूर्वक आत्मनिन्दा-पूर्वकर्मों की आलोचना करना उचित है ।

उत्तम कुल और उत्तम सुखों की देनेवाली तथा दुर्गतिके दु:खों की नाश करने वाली जिनभगवान् की भक्ति मुझे भी मोक्ष का सुख दे ।

आत्मनिन्दा की कथा

आत्मनिन्दा की कथा

कथा :

सब दोषों के नाश करने वाले और सुख के देने वाले ऐसे जिनभगवान् को नमस्कार कर अपने बुरे कर्मों की निन्दा-आलोचना करने वाली बीरा ब्राह्मणी की कथा लिखी जाती है ।

दुर्योधन जब अयोध्या का राजा था तब की यह कथा है । यह राजा बड़ा न्यायी और बुद्धिमान् हुआ है । इसकी रानी का नाम श्रीदेवी था । श्रीदेवी बड़ी सुन्दरी और सच्ची पतिव्रता थी ।

यहाँ एक सर्वोपाध्याय नाम का ब्राह्मण रहता था । इसकी स्त्री का नाम बीरा था । इसका चाल-चलन अच्छा न था । जवानी के जोर में यह मस्त रहा करती थी । उपाध्याय के घर पर एक विद्यार्थी पढ़ा करता था । उसका नाम अग्निभूति था । बीरा ब्राह्मणी के साथ इसकी अनुचित प्रीति थी । ब्राह्मणी इसे बहुत चाहती थी । पर उपाध्याय इन दोनों के सुख का काँटा था । इसलिये ये मनमाना ऐशोआराम न कर पाते थे । ब्राह्मणी को यह बहुत खटका करता था । सो एक दिन मौका पाकर ब्राह्मणी ने अपने पति को मार डाला । और उसे मसान में फेंक आने को छत्री में छुपाकर अन्धेरी रात में वह घरसे निकली । मसान में जैसे ही वह उपाध्याय के मुर्दे को फेंकने को तैयार हुई कि एक व्यन्तर देवीने उसके ऐसे नीच कर्म पर गुस्सा होकर छत्रीको कील दिया और कहा- ‘‘ सबेरा होने पर जब तू सारे शहरकी स्त्रियों के घर-घर पर जाकर अपना यह नीच कर्म प्रगट करेगी, अपने कर्म पर पछतायेगी तब तेरे सिर पर से यह छत्री गिरेगी ।”देवी के कहे अनुसार ब्राह्मणी ने वैसा ही किया । तब कहीं उसका पीछा छूटा, छत्री सिर से अलग हो सकी । इस आत्म-निन्दा से ब्राह्मणी का पाप कर्म बहुत हलका हो गया, वह शुद्ध हुई । इसी तरह अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे प्रतिदिन होने वाले बुरे कर्मों की गुरूओ के पास

आलोचना किया करें । उससे उनका पाप न होगा और अपने आत्मा को वे शुद्ध बना सकेंगे ।
किसी पुरूष के शरीर में काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है । पर जब तक वह काँटा उसके शरीर से न निकलेगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता । इसलिए उस काँटे को निकाल फैककर वैसे वह पुरूष सुखी होता है, उसी तरह जो आत्म-हितैषी जैनधर्म के बताये सिद्धान्त पर चलने वाले वीतरागी साधुओं की शरण ले अपने आत्मा को कष्ट पहुँचानेवाले पापकर्मरूपी काँटे को कृतकर्मों की आलोचना द्वारा निकाल फैकते हैं वे फिर कभी नाश न होने वाली आत्मीक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

सोमशर्म मुनि की कथा

सोमशर्म मुनि की कथा
कथा :
सर्वोत्तम धर्म का उपदेष करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर सोमषर्म मुनिकी कथा लिखी जाती है ।
आलोचना, गर्हा, आत्मनिन्दा, व्रत, उपवास, स्तुति और कथाएँ इनके द्वारा प्रमादको, असावधानी को नाश करना चाहिए । जैसे मंत्र, औषधि आदि से विषका वेग नाश किया जाता है । इसी सम्बन्धकी यह कथा है ।
भारत के किसी एक हिस्से में बसे हुए पुण्ड्रक देश के प्रधान शहर देवी कोटपुर में सोमशर्म नाम का ब्राह्मण हो चुका है । सोमशर्म वेद और वेदांगका, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा और कला का अच्छा विद्वान था । इसकी स्त्री का नाम सोमिल्या था । इसके अग्निभूति और वायुभूति दो लड़के थे ।
यहाँ विष्णुदत्त नाम का एक और ब्राह्मण रहता था । इसकी स्त्री का नाम विष्णुश्री था । विष्णुदत्त अच्छा धनी था । पर स्वभाव का अच्छा आदमी न था । किसी दिन कोई खास जरूरत पड़ने पर सोमशर्म ने विष्णुदत्त से कुछ रूपया कर्ज लिया था । उसका कर्ज अदा न कर पाया था कि एक दिन सोमशर्म को किसी जैनमुनि के धर्मोपदेश से बैराग्य हो जाने से वह मुनि हो गया । वहाँ से बिहार कर वह कहीं अन्यत्र चला गया और दूसरे नगरों और याँवों में धर्म का उपदेश करता हुआ एक बार फिर वह कोटपुर में आया । विष्णुदत्त ने तब इसे देखकर पकड़ लिया और कहा-साधुजी, आपके दोनों लड़के तो इस समय महादरिद्र दशा में है । उनके पास एक फूटी कौड़ी तक नहीं है । वे मेरा रुपया नहीं दे सकते । इसलिये या तो आप मेरा रुपया दे दीजिये, या अपना धर्म बेच दीजिये । सोमशर्म मुनि के सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई । वे क्या करें, इसकी उन्हें कुछ सूझ न पड़ी । तब उनके गुरू वीर-भद्राचार्य ने उनसे कहा-अच्छा तुम जाओ और धर्म बेचो ! उनकी आज्ञा पाकर सोमषर्म मुनि मसान में जाकर धर्म बेचने लगे । इस समय एक देवी ने आकर उनसे पूछा-मुनिराज, जिस धर्म को आप बेच रहे है, भला, कहिये तो वह कैसा है ? उत्तर में मुनि ने कहा-मेरा धर्म अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुणों से युक्त है तथा उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दस भेद रूप् है । धर्म का यह स्वरूप् श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । मुनि द्वारा अपने बेचे जानेवाले धर्म को इस प्रकार व्याख्या सुनकर वह देवी बहुत प्रसन्न हुई । उसने मुनिको नमस्कार कर धर्म की प्रशंसा में कहा-मुनिराज, आपने जो कहा वह बहुत ठीक है । सही धर्म संसार को वश करने के लिए एक वशीकरण मंत्र है, अमूल्य चिन्ता-मणि है, सुखरूप अमृत की धारा है, और मनचाही वस्तुओं के दुहने-देने के लिये कामधेनु है । अधिक क्या, किन्तु यह समझना चाहिये कि संसार में जो-जो मनोहरता देख पड़ती है वह सब एक धर्मही का फल है । धर्म एक सर्वोत्तम अमोल वस्तु है । उसका मोल हो ही नहीं सकता । पर मुनिराज, आपको उस ब्राह्मण का कर्ज चुकाना है । आपका यह उपसर्ग दूर हो, इसलिये दीक्षा समय लोंच किये आपके बालों की उसे कर्ज के बदले दिये देती हूँ । यह कहकर देवी उन बालों को अपनी देवी-माया से चमकते हुए बहुमूल्य रत्न बनाकर आप अपने स्थान पर चल दी । सच है, जैनधर्म का प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है, जो कि सदा ही सुख देनेवाला और देवों द्वारा पूजा किया जाता है ।
सबेरा होने पर विष्णुदत्त, सोमशर्म मुनि के तप का प्रभाव देखकर चकित रह गया । उसको मुनि पर बड़ी श्रद्धा हो गई । उसने नमस्कार कर उनकी प्रशंसा में कहा-योगिराज, सचमुच आप बड़े ही भाग्यशाली है । आपके सरीखा विद्वान् और धीर मैने किसी को नहीं देखा । यह आप ही से महात्माओं का काम है जो मोहवश तोड़-तुड़ाकर इस प्रकार दु:सह तपस्या कर रहे है । महाराज, आपको मै किन शब्दों मे तारीफ करूँ, यह मुझे नहीं जान पड़ता । आपने तो अपने जीवन को सफल बना लिया । पर हाय ! मैं पापी पापकर्म के उदय से धनरूपी चोरों द्वारा ठगा गया । मैं अब इनके पैंचीले जाल से कैसे छूट सकूँगा । दयासागर, मुझे बचाइये । नाथ, अब तो मै आप ही के चरणों की

सेवा करूँगा । आपकी सेवा को ही अपना ध्येय बनाऊँगा । तब ही कहीं मेरा भला होगा । इस प्रकार बड़ी देर तक विष्णुदत्त ने सोमशर्म मुनि की स्तुति की । अन्त में प्रार्थना कर उनसे दीक्षा ले वह मुनि हो गया । जो विष्णुदत्त एक ही दिन पहले मुनि को इज्जत, प्रतिष्ठा बिगाड़ने को हाथ धोकर उनके पीछा पड़ा था और मुनि को उपसर्ग कर जिसने पाप बाँधा था वही गुरूभक्ति से स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र हो गया । सच है, धर्म की शरण ग्रहण कर सभी सुखी होते है । विष्णुदत्त के सिवा और भी बहुतेरे भव्यजन जैनधर्म का ऐसा प्रभाव देखकर जैनधर्म के प्रेमी हो गए और उस धन से, जिस देवीने मुनि के बालों को रत्नों के रूप में बनाया था, कोटितीर्थ, नामका एक बड़ा ही सुन्दर जिनमन्दिर बनवा दिया, जिसमें धर्मसाधन कर भव्यजन सुख-शान्ति लाभ करते थे ।

जो बुद्धिरूपी धनके मालिक, बड़े विचारशील साधु-सन्त जिन भगवान् के द्वारा उपदेश किये, सारे संसार में पूजे-माने जाने वाले, स्वर्ग-मोक्ष के या और सब प्रकार सांसारिक सुख के कारण, संसार का भय मिटानेवाले ऐसे परम पवित्र तप को भक्ति से ग्रहण करते हैं वे कभी नाश न होने वाले मोक्ष का सुख का लाभ करते है । ऐसे महात्मा योगीराज मुझे भी आत्मीक सच्चा सुख दें ।

कालाध्ययन की कथा

कालाध्ययन की कथा

कथा :

जिनका ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है और संसारसमुद्र पार करनेवाला है, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर उचित काल में शास्त्राध्ययन कर जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है ।

जैनतत्व के विद्वान वीरभद्र मुनि एक दिन सारी रात शास्त्राभ्यास करते रहे । उन्हें इस हालत में देखकर श्रुतदेवी एक अहीरनीका वेश लेकर उनके पास आई । इसलिये कि मुनिको इस बात का ज्ञान हो जाय कि यह समय शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने का नहीं है । देवी अपने सिर पर छाछकी मटकी रखकर और यह कहती हुई, कि लो, मेरे पास बहुत ही मीठी छाछ है, मुनिके चारों ओर घूमने लगी । मुनिने तब उसकी ओर देखकर कहा-अरी, तू बड़ी बेसमझ जान पड़ती है, कहीं पगली तो नहीं हो गई है । बतला तो ऐसे एकान्त स्थान में और सो भी रात में कौन तेरी छाछ खरी-देगा ? उत्तर में देवी ने कहा-महाराज क्षमा कीजिये । मै तो पगली नहीं हूँ; किन्तु मुझे आप ही पागल देख पड़ते है । नहीं तो ऐसे असमय में, जिसमें पठन-पाठन की मना है, आप क्यों शास्त्राभ्यास करते ? देवी का उत्तर सुनकर मुनिजी की आँखें खुली । उन्होंने आकाशकी ओर नजर उठाकर देखा तो उन्हें तारे चमकते हुए देख पड़े । उन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत रात है । तब वे पढ़ना छोड़कर सो गये ।

सबेरा होने पर वे अपने गुरू महाराज के पास गये और अपनी इस क्रिया की आलोचना कर उनसे उन्होंने प्रायश्चित लिया । अबसे वे शास्त्राभ्यासका जो काल है उसी में पठन-पाठन करने लगे । उन्हें अपनी गलती का सुधार किये देखकर देवी उनसे बहुत खुश हुई । बड़ी भक्ति से उसने उनकी पूजा की । सच है, गुणवानों की सभी पूजा करते हैं ।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्रका यथार्थ पालन कर वीरभद्र मुनिराज अन्त समय में धर्म-ध्यान से मृत्यु लाभ कर स्वर्गधाम सिधारे । भव्यजनों को भी उचित है कि वे जिन भगवान् के उपदेश किए, संसार को अपनी महत्तासे मुग्ध करने वाले, स्वर्ग या मोक्ष सर्वोच्च सम्पदाको देनेवाले, दु:ख, शोक, कलंक आदि आत्मा पर लगे हुए कीचड़- को धो-देनेवाले, संसार के पदार्थों का ज्ञान कराने में दीये की तरह काम देनेवाले और सब प्रकार के सांसारिक सुख के आनुषंगिक कारण ऐसे पवित्र ज्ञान को भक्ति से प्राप्त कर मोक्ष का अविनाशी सुख लाभ करें ।

अकाल में शास्त्राभ्यास करनेवाले की कथा

अकाल में शास्त्राभ्यास करनेवाले की कथा

कथा :

संसार द्वारा पूजे जानेवाले और केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, ऐसे जिनभगवान् को नमस्कार कर असमय में जो शास्त्राभ्यास के लिए योग्य नहीं है, शास्त्राभ्यास करने से जिन्हें उसका बुरा फल भोगना पड़ा, उनकी कथा लिखी जाती है । इसलिए कि विचारशीलों को इस बात का ज्ञान हो कि असमय में शास्त्राभ्यास करना अच्छा नहीं है, उसका बुरा फल होता है ।

शिवनन्दी मुनि ने अपने गुरूद्वारा यद्यपि यह जान रक्खा था कि स्वाध्याय का समय-काल श्रवण नक्षत्र का उदय होने के बाद माना गया है, तथापि कर्मों के तीव्र उदय से वे अकाल में ही शास्त्राभ्यास किया करते थे । फल इसका यह हुआ कि मिथ्या समाधि-मरण द्वारा मरकर उन्होंने गंगा में एक बड़े भारी मच्छ की पर्याय धारण की । सो ठीक ही है जिन-भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने से इस जीव को दुर्गति के दु:ख भोगना ही पड़ते हैं ।
एक दिन नदी किनारे पर एक मुनि शास्त्राभ्यास कर रहे थे । इस मच्छ ने उनके पाठ को सुन लिया । उससे उसे जाति-स्मरण हो गया । तब उसने इस बात का बहुत पछतावा किया कि हाय ! मैं पढ़कर भी मूर्ख बना रहा, जो जैन-धर्म से विमुख होकर मैंने पाप-कर्म बांधा । उसी का यह फल है, जो मुझे मच्छ-शरीर लेना पड़ा । इसप्रकार अपनी निन्दा और अपने पाप-कर्म की आलोचना कर उसने भक्ति से सम्यक्त्व ग्रहण किया, जो कि सब जीवों का हित करने वाला है । इसके बाद वह जिन-भगवान् की आराधना कर पुण्य के उदय से स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ । सच है, मनुष्य धर्म की आराधना कर स्वर्ग जाता है और पापी धर्म से उलटा चलकर दुर्गित में जाता है । पहला सुख भोगता है और दूसरा दु:ख उठाता है । यह जानकर बुद्धिवानों को उचित है, उनका कर्त्तव्य है कि वे जिनेन्द्र-भगवान् के उपदेश किये धर्म की भक्ति के अनुसार आराधना करें, जो कि सब सुखों का देनेवाला है ।
सम्यग्ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया उसको सारे संसार में कीर्ति होती है, सब प्रकार की उत्तम सम्पदाएँ उसे प्राप्त होती हैं, शान्ति मिलती है और वह पवित्रता की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है । इसलिए भव्य-जनों को उचित है कि वे जिन-भगवान् के पवित्र ज्ञान को, जो कि देवों और विद्याधरों द्वारा पूजा-माना जाता है, प्राप्त करने का यत्न करें ।

विनयी पुरूष की कथा

विनयी पुरूष की कथा
कथा :
इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों द्वारा पूजे जाने वाले जिनभगवान् को नमस्कार कर विनय धर्म के पालने वाले मनुष्य की पवित्र कथा लिखी जाती है ।
वत्स देश में सुप्रसिद्ध कौशाम्बी के राजा धनसेन वैष्णव-धर्म के मानने-वाले थे । उनकी रानी धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी । उसने श्रावकों के व्रत ले रक्खे थे । यहाँ सुप्रतिष्ठ नाम का एक वैष्णव साधु रहता था । राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन बैठाकर भोजन कराते थे । इसके पास एक जलस्तंभिनी नामकी विद्या थी । उससे यह बीच यमुना में खड़ा रहकर ईश्वराराधना किया करता था । पर डूबता न था , इसके ऐसे प्रभाव को देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे । सो ठीक ही है मूर्खों को ऐसी मूर्खता की क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती हैं ।
विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर के राजा विद्युत्प्रभ तो जैनी थे, श्रावकों के व्रतों के पालनेवाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा वैष्णव धर्म की माननेवाली थी । सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृति की सुन्दरता देखते और अपने मन को बहलाते कौशाम्बी की ओर आ गये । नदी-किनारे पहुँँचकर इन्होंने देखा कि एक साधु बीच यमुना में खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है । विद्यूत्प्रभ ने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है । पर उनकी रानी विद्युद्वेगा ने उस साधू की बहुत प्रशंसा की । तब विद्युत्प्रभ ने रानी से कहा – अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ । इसके बाद ये दोनों चाण्डाल का वेष बना ऊपर किनारे की ओर गये और मरे ढोरों का चमड़ा नदी में धोने लगे । अपने इस निन्द्य कर्म द्वारा इन्होंने जल को अपवित्र कर दिया । उस साधु को यह बहुत बुरा लगा । सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपर की ओर चला गया । वहाँ उसने फिर नहाया धोया । सच है मूर्खता के वश लोग कौन काम नहीं करते । साधु की यह मूर्खता देखकर ये भी फिर और आगे जाकर चमड़ा धोने लगे । इनकी बार-बार यह शैतानी पर साधु को बड़ा गुस्सा आया । तब वह और आगे चला गया । इसके पीछे ही ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे । गर्ज यह कि इन्होंने उस साधु को बहुत ही कष्ट दिया । तब हार खाकर बेचारे को अपना जप-तप, नाम-ध्यान ही छोड़ देना पड़ा । इसके बाद उस साधु को इन्होंने अपनी विद्या के बल से वन में एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर इस पर झूलना आदि अनेक अचम्भे में डालनेवाली बातें बतलाईं । उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ । वह मन में सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डालों के पास है ऐसी तो अच्छे-अच्छे विद्याधरों या देवों के पास भी न होगी । यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता । अस्तु, देखें, इनके पास जाकर मैं कहूँ

कि ये अपनी विद्या मुझे भी दे दें । इसके बाद वह इनके पास आया और उनसे बोला – आप लोग कहाँ से आ रहे हैं ? आपके पास तो लोगों को चकित करनेवाली बड़ी-बड़ी करामतें हैं ! आपका वह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । उत्तर में विद्युत्प्रभ विद्याधर ने कहा – योगीजी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ । मैं तो अपने गुरू महाराज के दर्शन के लिए यहाँ आया हुआ था । गुरूजी ने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसी के प्रभाव से यह सब कुछ मैं करता हूँ । अब तो साधुजी के मुँह में भी विद्या-लाभ के लिए पानी आ गया । उन्होंने तब उस चांडाल रूपधारी विद्धद्याधर से कहा – तो क्या कृपाकर के आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ । उत्तर में विद्याधर नें कहा -- भाई, विद्या के देने में तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं देता, पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेद वेदांग के पढ़े हुए एक उत्तम कुल के मनुष्य, तब आपका मेरा गुरू-शिष्य भाव नहीं बन सकता । और ऐसी हालत में आपसे मेरा विनय भी न हो सकेगा और बिना विनय के विद्या आ नहीं सकती । हाँ यदि आप यह स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पाँवों में पड़कर बड़ी भक्ति के साथ यह कहें कि प्रभो, आप ही की चरण कृपा से मैं जीता हूँ ! तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध्व हो सकती है । बिना ऐसा किए सिद्ध्व हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है । उस साधु ने ये सब बातें स्वीकार कर लीं । तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया ।

इधर सुप्रतिष्ठ साधु को जैसे ही विद्या सिद्ध्व हुई, उसने उन सब लीलाओं को करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधर ने किया था । सब बातें वैसी ही हुईं देखकर सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ । उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध्व हो गई । इसके बाद वह भोजन के लिए राजमहल आया । उसे देर से आया हुआ देखकर राजा ने पूछा -- भगवान्, आज आपको बड़ी देर लगी ? मैं बड़ी देर से आपका रास्ता देख रहा हूँ । उत्तर में सुप्रतिष्ठ ने मायाचारी से झूठ-मूठ ही कह दिया कि राजन् आज मेरी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आये थे । वे बड़ी भक्ति से मेरी पूजा कर के अभी गये हैं । यही कारण मुझे देरी लग जाने का है । राजन्, एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाश में ही चलने -फिरने लग गया । सुनकर राजा को बडा आश्चर्य हुआ और साथ ही में यह सब कौतुक देखने की उसकी मंशा हुई । उसने तब सुप्रतिष्ठ से कहा – अच्छा तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए । क्योंकि बहुत देर हो चुकी है । आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइएगा । सुप्रतिष्ठ ‘अच्छी बात है’ अब आप आइए और भोजन के लिए चला आया ।

दूसरे दिन सवेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी प्रतिष्ठ साधु के मठ में उपस्थित हुए । दर्शकों का भी ठाठ लग गया । सबकी आँखें और मन साधु की ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें । सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामत बतलाने को आरंभ करनेवाला ही था कि इतने में वह विद्युत्प्रभ विद्याधर और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेष में वहीं आ धमके । सुप्रतिष्ठ के देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गये । ऐसे समय उनके आ जाने से इसे उनपर बड़ी घृणा हुई । उसने मन ही मन घृणा के साथ कहा – ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये ! उसका यह कहना था कि उसकी विद्या नष्ट हो गई । वह राजा वगैरह को अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ । तब राजा ने ‘ऐसा एक साथ क्यों हुआ’ इसका सब कारण सुप्रतिष्ठ से पूछा । झख मारकर फिर उसे सब बातें राजा से कह देनी पड़ीं । सुनकर राजा ने उन चाण्डालों को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया । राजा की यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजा को दे दी । राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नता से अपने महल लौट गया । सो ठीक ही है विद्या का लाभ सभी को सुख देनेवाला होता है ।

राजा की भी परीक्षा का समय आया । विद्या प्राप्ति के कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबार में सिंहासन पर बैठा हुआ था । राजसभा सब अमीर-उमरावों से ठसा-ठस भरी हुई थी । इसी समय राजगुरू चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजा को विद्या दी थी । राजा उसे देखते ही बड़ी भक्ति से सिंहासन पर से उठा और उसके सत्कार के लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा -- प्रभो, आप ही के चरणों की कृपा से मैं जीता हूँ । राजा की ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ । उसने तब अपना खास रूप प्रगट किया और राजा को और भी कई विद्याएँ देकर वह उपने घर चला गया । सच है, गुरूओं के विनय से लोगों को सभी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं ।

इस आश्चर्य को देखकर धनसेन, विद्युद्वेगा तथा और भी बहुत से लोगों ने श्रावक-व्रत स्वीकार किये । विनय का इस प्रकार फल देखकर अन्य भव्य-जनों को भी उचित है कि वे गुरूओं की विनय, भक्ति निर्मल भावों से करें ।

जो गुरू-भक्ति क्षण-मात्र में कठिन से कठिन काम को पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओं की भूषण बने । मैं उन गुरूओं को नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्र से स्वयं तैरकर पार होते है और साथ ही और-और भव्यजनों को पार करते हैं ।

जिनके चरणों की पूजा देव; विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरूष करते हैं उन जिन-भगवान् का उनके रचे पवित्र शास्त्रों का और उनके बताये मार्ग पर चलने वाले मुनिराजों का जो हृदय से विनय करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान-आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं । **अर्थ**ात् विनय के फल से उन्हें सब गुण प्राप्त होते हैं ।

अवग्रह-नियम लेनेवाले की कथा

अवग्रह-नियम लेनेवाले की कथा

कथा :

पुण्य कारण जिन-भगवान् के चरणों को नमस्कार कर उपधान-अवग्रह की **अर्थ**ात् यह काम जब तक न होगा तब-तक मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, इस प्रकार का नियम कर जिसने फल प्राप्त किया, उसकी कथा लिखी जाती है, जो सुख की देनेवाली है ।

अहिछत्रपुर के राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे । जैन-धर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी । उनकी रानी का नाम वसुमती था । वसुमती भी अपने स्वामी के अनुरूप् बुद्धिमती और धर्म से प्रेम करने वाली थी । वसुपाल ने एक बड़ा ही विशाल और सुन्दर ‘सहस्त्रकूट’ नाम का जिन-मन्दिर बनवाया । उसमें उन्होंने श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा विराजमान की । राजा ने प्रतिमा पर लेप चढ़ाने को एक अच्छे हुशियार चित्रकार को बुलाया और प्रतिमा पर लेप चढ़ाने को उससे कहा । राजाज्ञा पाकर चित्रकार ने प्रतिमा पर बहुत सुन्दरता से लेप चढ़ाया । पर रात होने पर वह लेप प्रतिमा पर से गिर पड़ा । दूसरे दिन फिर ऐसा ही किया गया । रात में वह गिर पड़ा । गर्ज यह कि वह दिन में लेप लगाता और रात में वह गिर पड़ता । इस तरह उसे कई दिन बीत गये । ऐसा क्यों होता है, इसका उसे कुछ भी कारण न जान पड़ा । उससे वह तथा राजा वगैरह बड़े दुखी हुए । बात असल में यह थी कि लेपकार मांस खानेवाला था । इसलिए उसकी अपवित्रता-से प्रतिमा पर लेप न ठहरता था । तब उस लेपकार को एक मुनि द्वारा ज्ञान हुआ कि प्रतिमा अतिशय वाली है, कोई शासन-देवी या देव उसकी रक्षा में सदा नियुक्त रहते हैं । इसलिऐ जबतक यह कार्य पूरा हो तबतक तुझे मांस के न खाने का व्रत लेना चाहिये । लेपकार ने वैसा ही किया । मुनि-राज के पास उसने मांस न खाने का नियम लिया । इसके बाद जब उसने दूसरे दिन लेप किया तो अबकी बार वह ठहर गया । सच है, व्रती पुरूषों के कार्य की सिद्धि होती ही है । तब राजा ने अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण देकर चित्रकार का बड़ा आदर-सत्कार किया । जिस तरह इस लेपकार ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए नियम किया उसीप्रकार और-और लोगों को तथा मुनियों को भी ज्ञान-प्रचार, शासन-प्रभावना आदि कामों में अवग्रह या प्रतिमा करना चाहिए ।

वह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश किया ज्ञानरूपी समुद्र मुझे भी केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बनावे, जो अत्यन्त पवित्र साधुओं द्वारा आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए सेवन किया जाता है और देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरूष जिसे भक्ति से पूजते हैं ।

अभिमान करने वाली की कथा

अभिमान करने वाली की कथा

कथा :

निर्मल केवल-ज्ञान के धारी जिन-भगवान् को नमस्कार कर मान करने से बुरा फल प्राप्त करनेवाले की कथा लिखी जाती है । इस कथा को सुनकर जो लोग मान के छोड़ने का यत्न करेंगे सुख-लाभ करेंगे ।

बनारस के राजा वृषभध्वज प्रजा का हित चाहनेवाले और बड़े बुद्धिमान् थे । इनकी रानी का नाम वसुमती था । वसुमती बड़ी सुन्दरी थी । राजा का इस पर अत्यन्त प्रेम था ।

गंगा के किनारे पर पलास नाम का एक गाँव बसा हुआ था । इसमें अशोक नाम का एक गुवाल रहता था । यह गुवाल राजा को गाँव के लगान में कोई एक हजार घी के भरे घड़े दिया करता था । इसकी स्त्री नन्दा पर इसका प्रेम न था । इसलिए कि वह बांझ थी । और यह सच है, सुन्दर या गुणवान स्त्री भी बिना पुत्र के शोभा नहीं पाती है और न उसपर पति का पूरा प्रेम होता है । वह फल-रहित लता की तरह निष्फल समझी जाती है । अपनी पहली स्त्री को नि:सन्तान देखकर अशोक गुवाल ने एक और ब्याह कर लिया । इस नई स्त्री का नाम सुनन्दा था । कुछ दिनों तक तो इन दोनों सौतों में लोक-लाज से पटती रही, पर जब बहुत ही लड़ाई-झगड़ा होने लगा तब अशोक ने इनसे तंग आकर अपनी जितनी धन-सम्पत्ति थी उसे दोनों के लिये आधी-आधी बाँट दिया । नन्दा को अलग घर में रहना पड़ा और सुनन्दा

अशोक के पास ही रही । नन्दा में एक बात बड़ी अच्छी थी । वह एक तो समझदार थी । दूसरे वह अपने दूध दुहने के लिये बरतन वगैरह को बड़ा साफ रखती । उसे सफाई बड़ी पसन्द थी । इसके सिवा वह अपने नौकर गुवालों पर बड़ा प्रेम करती । उन्हें अपना नौकर न समझ अपने कुटुम्ब की तरह मानती । वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करती । उन्हें हर एक त्यौहारों के मौकों पर दान-मानादि से बड़ा खुश रखती । इसलिए वे गुवाल लोग भी उसे बहुत चाहते थे और उसके कामों को अपना ही समझकर किया करते थे । जब वर्ष पूरा होता तो नन्दाराज लगान के हजार घी के घड़ों में से अपना आधा हिस्सा पाँच-सौ घड़े अपने स्वामी को प्रति वर्ष दे दिया करती थी । पर सुनंदा में ये सब बातें न थीं । उसे अपनी सुन्दरता का बड़ा अभिमान था । इसके सिवा यह बड़ी शौकीन थी । साज–सिंगार में ही उसका सब समय चला जाता था । वह अपने हाथों से कोई काम करना पसन्द न करती थी । सब नौकर-चाकरों द्वारा ही होता था । इसपर भी उसका अपने नौकरों के साथ अच्छा बरताव न था । सदा उनके साथ वह माथा-फोड़ी किया करती थी । किसी का अपमान करती, किसी को गालियाँ देती और किसी को भला-बुरा कहकर झिटकारती । न वह उन्हें कभी त्यौहारों पर कुछ दे-लेकर प्रसन्न करती । गर्ज यह कि सब नौकर-चाकर उससे प्रसन्न न थे । जहाँ तक उनका बस चलता वे भी सुनन्दा को हानि पहुँचाने का यत्न करते थे । यहाँ तक कि वे जो गायों को चराने जंगल को ले जाते, सो वहाँ उनका दूध तक दुहकर पी लिया करते थे । इससे सुनन्दा के यहाँ पहले वर्ष में ही घी बहुत थोड़ा हुआ । वह राज-लगान का अपना आधा हिस्सा भी न दे सकी । उसके इस आधे हिस्से को भी बेचारी नन्दा ने ही चुकाया । सुनन्दा की यह दशा देखकर अशोक ने घर से निकाल बाहर की । नन्दा को अपना गया अधिकार पीछे प्राप्त हुआ । पुण्य से वह पीछे अशोक की प्रेम-पात्र हुई । घरबार, धन-दौलत की वह मालकिन हुई । जिस प्रकार नन्दा अपने घर-गृहस्थी के काम को अच्छी तरह चलाने के लिये सदा दान-मानादि किया करती उसी प्रकार अपने पारमार्थिक कामों के लिये भव्य-जनों को भी अभिमान रहित होकर जैन-धर्म की उन्नति के कार्यों में दान-मानादि करते रहना चाहिए । उससे वे सुखी होंगे और सम्यग्ज्ञान लाभ करेंगे ।

जो स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाले जिन-भगवान् की बड़ी भक्ति से पूजा-प्रभावना करते हैं, भगवान् के उपदेश किये शास्त्रों के अनुसार चल उनका सत्कार करते हैं, पवित्र जैन-धर्म पर श्रद्धा-विश्वास करते हैं और सज्जन धर्मात्माओं का आदर-सत्कार करते हैं वे संसार में सर्वोच्च यश-लाभ करते हैं और अन्त में कर्मों का नाशकर परम-पवित्र केवल-ज्ञान, कभी नाश न होने वाला सुख प्राप्त करते हैं ।

निह्नव-असल बात को छुपाने वाले की कथा

निह्नव-असल बात को छुपाने वाले की कथा

कथा :

जिनके सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान में यह सारा संसार परमाणु के समान देख पड़ता है, उन सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर निह्नव, जिसप्रकार जो बात हो उसे उसी प्रकार न कहना, उसे छुपाना, इस सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ।

उज्जैन के राजा धृतिषेण की रानी मलयावती के चण्डप्रद्योत नाम का एक पुत्र था । वह जैसा सुन्दर था वैसा ही गुणवान भी था । पुण्य के उदय से उसे सभी सुख-सामग्री प्राप्त थी । एक बार दक्षिण देश के बेनातट नगर में रहने वाले सोमशर्मा ब्राह्मण का कोलसंदीव नाम का विद्वान पुत्र उज्जैन में आया । वह कई भाषाओं का जानने वाला था । इसलिये धृतिषेण ने चण्डप्रद्योत को पढ़ाने के लिये उसे रख लिया । कालसंदीव ने चण्डप्रद्योत को कई भाषाओं का ज्ञान कराये बाद एक म्लेच्छ-अनार्य भाषा को पढ़ाना शुरू किया । इस भाषा का उच्चारण बड़ा ही कठिन था । राजकुमार को उसके पढ़ने में बहुत दिक्कत पड़ा करती थी । एक दिन कोई ऐसा ही पाठ आया, जिसका उच्चारण बहुत क्लिष्ट था । राजकुमार से उसका ठीक-ठीक न बन सका । कालसंदीव ने उसे शुद्ध-उच्चारण कराने की बहुत कोशिश की, पर उसे सफलता प्राप्त न हुई । इससे कालसन्दीव को कुछ गुस्सा आ गया । गुस्से में आकर उसने राजकुमार को एक लात मार दी । चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही, सो उसका भी कुछ मिजाज बिगड़ गया । उसने अपने गुरू-महाराज से तब कहा – अच्छा महाराज, आपने जो मुझे मारा है, मैं भी इसका बदला लिये बिना न छोड़ूँगा । मुझे आप राजा होने दीजिए, फिर देखिएगा कि मै भी आपके इसी पाँव को काटकर ही रहूँगा । सच है, बालक कम-बुद्धि हुआ ही करते हैं । कालसन्दीव कुछ दिनों तक और यहाँ रहा, फिर वह यहाँ से दक्षिण की ओर चला गया । उधर कालसन्दीव को एक दिन किसी मुनि का उपदेश सुनने का मौका मिला । उपदेश सुनकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ । वह मुनि हो गया ।

इधर धृतिषेण राजा भी चण्डप्रद्योत को सब राज-काज सौंपकर साधु बन गया । राज्य की बागडोर चण्डप्रद्योत के हाथ में आई । इसमें

कोई सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योत ने भी राज्य-शासन बड़ी नीति के साथ चलाया । प्रजा के हित के लिये उसने कोई बात उठा न रखी । एक दिन चण्डप्रद्योत पर एक यवनराज का पत्र आया । भाषा उसकी अनार्य थी । उस पत्र को कोई राज-कर्मचारी न बाँच सका । तब राजा ने उसे देखा तो वह उससे बँच गया । पत्र पढ़कर राजा को अपने गुरू कालसन्दीव पर बड़ी भक्ति हो गई । उसने बचपन की अपनी प्रतिज्ञा को उसी समय भुला दिया । इसके बाद राजा ने कालसन्दीव का पता-लगाकर उन्हें अपने शहर बुलाया और बड़ी भक्ति से उनके चरणों की पूजा की । सच है, गुरूओं के वचन भव्य-जनों को उसी तरह सुख देने वाले होते हैं जैसे रोगी को औषधि ।

कालसन्दीव मुनि यहाँ श्वेतसन्दीव नाम के किसी एक भव्य को दीक्षा देकर फिर विहार कर गये । मार्ग में पड़ने वाले शहरों और गाँवों में उपदेश करते हुए वे विपुलाचल पर महावीर भगवान् के समवशरण में गये, जो कि बड़ी शान्ति का देनेवाला था । भगवान् के दर्शनकर उन्हें बहुत शान्ति मिली । वन्दना कर भगवान् उपदेश सुनने के लिये वे वहीं बैठ गये ।

श्वेतसन्दीव मुनि भी इन्हीं के साथ थे । वे आकर समवशरण के बाहर आतापन-योग द्वारा तप करने लगे । भगवान् के दर्शन कर जब महामण्डलेश्वर श्रेणिक जाने लगे तब उन्होंने श्वेतसन्दीव मुनि को देखकर पूछा – आपके गुरू कौन हैं, किनसे आपने यह दीक्षा ग्रहण की ? उत्तर में श्वेतसंदीव मुनि ने कहा -- राजन्, मेरे गुरू श्रीवर्द्धमान् भगवान् हैं । इतना कहना था कि उनका सारा शरीर काला पड़ गया । यह देख श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने पीछे जाकर गणधर भगवान् से इसका कारण पूछा । उन्होंने कहा – श्वेतसन्दीव के असल गुरू हैं कालसंदीव, जो कि यहीं बैठे हुए हैं । उनका इन्होंने निह्नव किया – सच्ची बात न बतलाई । इसलिये उनका शरीर काला पड़ गया है । तब श्रेणिक ने श्वेतसंदीव को समझाकर उनकी गलती उन्हें सुझाई और कहा -- महाराज, आपकी अवस्था के योग्य ऐसी बातें नहीं हैं । ऐसी बातों से पाप-बन्ध होता है । इसलिए आगे से आप कभी ऐसा न करेंगे, यह मेरी आपसे प्रार्थना है । श्रेणिक की इस शिक्षा का श्वेतसंदीव मुनि के चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा । वे अपनी भूल पर बहुत पछताये । इस आलोचना से उनके परिणाम बहुत उन्नत हुए । यहाँ तक कि उसी समय शुक्ल-ध्यान द्वारा कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवल-ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया । वे सारे संसार द्वारा अब पूजे जाने लगे । अन्त में अघातिया कर्मों को नष्टकर उन्होंने मोक्ष का अनन्त सुख-लाभ किया । श्वेतसंदीव मुनि के इस वृत्तान्त से भव्य-जनों को शिक्षा लेनी चाहिये कि वे अपने गुरू आदि का निह्नव न करें – सच्ची बात के छिपाने का यत्न न करें । क्योंकि गुरू स्वर्ग-मोक्ष के देनेवाले हैं, इसलिए सेवा करने योग्य हैं ।

वे श्रीश्वेतसंदीव मुनि मेरे बढ़ते हुए संसार को, भव-भ्रमण की शान्ति कर, मेरा संसार का भटकना मिटाकर मुझे कभी नाश न होने वाला और अनन्त मोक्ष-सुख दें, जो केवल-ज्ञान रूपी अपूर्व नेत्र के धारक हैं, भव्य-जनों को हित की ओर लगाने वाले हैं, देव, विद्याधर चक्रवर्ती आदि महापुरूषों द्वारा पूज्य हैं, और अनन्त-चतुष्टय -- अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त हैं तथा और भी अनन्त गुणों के समुद्र हैं ।

अक्षरहीन अर्थ की कथा

अक्षरहीन **अर्थ** की कथा

कथा :

जिन भगवान के चरणों को नमस्कार कर अक्षरहीन **अर्थ** की कथा लिखी जाती है ।

मगधदेश की राजधानी राजगृह के राजा जब वीरसेन थे, उस समय की यह कथा है । वीरसेन की रानी का नाम वीरसेना था । इनके एक पुत्र हुआ, उसका नाम रक्खा गया सिंह । सिंह को पढ़ाने के लिए वीरसेन महाराज ने सोमशर्मा ब्राह्मण को रक्खा । सोमशर्मा सब विषयों का अच्छा विद्वान् था ।

पोदनापुर के राजा सिंहरथ के साथ वीरसेन की बहुत दिनों से शत्रुता चली आती थी । सो मौका पाकर वीरसेन ने उसपर चढ़ाई कर दी । वहाँ से वीरसेन ने अपने यहाँ एक राज्य-व्यवस्था की बाबत पत्र लिखा । और-और समाचारों के सिवा पत्र में वीरसेन ने एक यह भी समाचार लिख दिया था कि राजकुमार सिंह के पठन-पाठन की व्यवस्था अच्छी तरह करना । इसके लिए उन्होंने यह वाक्य लिया था कि 'सिंहोध्यापयितव्य:' । जब यह पत्र पहुंचा तो इसे एक अर्धदग्ध ने बांच कर सोचा -- 'ध्ये' धातु का **अर्थ** है स्मृति या चिन्ता करना । इसलिए इसका अर्थ हुआ कि 'राजकुमार पर अब राज्य-चिन्ता का भार डाला जाय' । उसे अब पढ़ाना उचित नहीं । बात यह थी कि उक्त वाक्य के पृथक पद करने से -- 'सिंह:अध्यापयितव्य:' ऐसे पद होते हैं और इनका अर्थ होता है – सिंह को पढ़ाना, पर उस बाँचने

वाले अर्धदग्ध ने इस वाक्य के -- 'सिंह:ध्यापयितव्य' ऐसे पद समझकर इसके सन्धिस्थ अकार पर ध्यान न दिया और केवल 'ध्यै' धातु से बने हुए 'ध्यापयितव्य:' का चिन्ता अर्थ करके राजकुमार का लिखना- पढना छुड़ा दिया । व्याकरण के अनुसार तो उक्त वाक्य के दोनों ही तरह पद होते हैं और दोनों ही शुद्ध हैं, पर यहाँ केवल व्याकरण की ही दरकार न थी । कुछ अनुभव भी होना चाहिए था । पत्र बाँचने वाले में इस अनुभव की कमी होने से उसने राजकुमार का पठन-पाठन छुड़ा दिया । इसका फल यह हुआ कि जब राजा आये और अपने कुमार का पठन-पाठन छूटा हुआ देखा तो उन्होंने उसके कारण की तलाश की । यथार्थ बात मालूम हो जाने पर उन्हें उस अर्धदग्ध – मूर्ख पत्र बाँचनेवाले पर बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने इस मूर्खता की उसे बड़ी कड़ी सजा दी । इस कथा से भव्य-जनों को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि वे कभी ऐसा प्रमाद न करें, जिससे कि अपने कार्य को किसी भी तरह की हानि पहुँचे ।

जिसप्रकार गुणहीन औषधि से कोई लाभ नहीं होता, वह शरीर के किसी रोग को नहीं मिटा सकती, उसी तरह अक्षर-रहित शास्त्र या मन्त्र वगैरह भी लाभ नहीं पहुँचा सकते । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे सदा शुद्ध रीति से शास्त्राभ्यास करें – उसमें किसी तरह का प्रमाद न करें, जिससे कि हानि होने की संभावना है ।

अर्थहीन वाक्य की कथा

अर्थहीन वाक्य की कथा

कथा :

गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ऐसे पाँचों कल्याणों में स्वर्ग के देवों ने आकर जिनकी बड़ी भक्ति पूजा की, उन जिनभगवान् को नमस्कार कर **अर्थ**हीन अर्थात् उल्टा अर्थ करने के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ।

वसुपाल अयोध्या के राजा थे । उनकी रानी का नाम वसुमती था । इनके वसुमित्र नाम का एक बुद्धिमान् पुत्र था । वसुपाल ने अपने पुत्र के लिखने-पढ़ने का भार एक गर्ग नाम के विद्वान् पंडित को सौंपकर उज्जैन के राजा वीरदत्त पर चढ़ाई कर दी । कारण वीरदत्त हर समय वसुपाल का मानभंग किया करता था । और उनकी प्रजा को भी कष्ट दिया करता था । वसुपाल उज्जैन आकर कुछ दिनों तक शहर का घेरा डाले रहे । इस समय उन्होंने अपनी राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध का एक पत्र अयोध्या भेजा । उसी में उपने पुत्र के बाबत उन्होंने लिखा --

'पुत्रोध्यापयितव्योसौवसुमित्रोतिसादरम् ।

शालिभक्तंमसिस्पृक्तंसर्पियक्तंदिनंप्रति ॥

गर्गोपाध्यायकस्योच्चैर्द्दीयतेभोजनायच ।'

इसका भाव यह है – वसुमित्र के पढ़ाने-लिखाने का प्रबन्ध अच्छा करना, कोई त्रुटि न करना और उसके पढ़ाने वाले पंडितजी को खाने-पीने की कोई तकलीफ न हो, उन्हें घी, चावल, दूध-भात, वगैरह खाने को दिया करना ।

पत्र पहुँचा । बाँचनेवाले ने उसे ऐसा ही बाँचा । पर श्लोक में 'मसिस्पृक्तं' एक शब्द है । इसका **अर्थ** करने में वह गलती कर गया । उसने इसे 'शालिभक्तं' का विशेषण समझ यह अर्थ किया कि घी, दूध और मसिमिले चावल पंडितजी को खाने को देना । ऐसा ही हुआ ।

१. श्लोक में 'मसिस्पृक्त' शब्द है; उससे ग्रन्थकार का क्या मतलब है यह समझ में नहीं आता । पर वह ऐसी जगह प्रयोग किया गया है कि उसे 'शालिभक्त' का विशेषण न किये गति ही नहीं है । आराधना कथा कोश की छन्दोबन्ध भाषा बनाने वाले पंडित वख्तावरमल उक्त श्लोकों भाषा यों करते हैं --

'सुतवसुमित्रपढ़ाइयोनित्त, गर्गनामपाठकजीपवित्त ।

ताकोभोजनतंगुलघीव, लिखनहेतमसिदेवसदीव ॥'

पंडित वख्तावरमलजी ने 'मसिस्पृक्त' शब्द का **अर्थ** किया है – उपाध्याय को लिखने को स्याही देना । यह उन्होंने कैसे ही किया हो, पर उस शब्द में ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे कि यह अर्थ किया जा सके । और यदि ग्रन्थकार का भी इसी अर्थ से मतलब हो तो कहना पड़ेगा कि उनकी रचना-शक्ति बड़ी ही शिथिल थी । हमारा यह विश्वास केवल इसी डेढ़ श्लोक से ही ऐसा नहीं हुआ, किन्तु इतने बड़े ग्रन्थ में जगह-जगह, श्लोक-श्लोक में ऐसी शिथिलता देख पड़ती है । हाँ यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने इतना बड़ा ग्रंथ बना जरूर लिया पर हमारे विश्वास के अनुसार उन्हें ग्रंथ की साहित्य सुन्दरता, रचना सुन्दता आदि बातों में बहुत थोड़ी भी सफलता शायद ही प्राप्त

हुई हो ! इस विषय का एक पृथक् लेख लिखकर हम पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे, जिससे वे हमारे कथन में कितना तथ्य है, इसका ठीक-ठीक पता पा सकेंगे ।

'मसि' का **अर्थ** स्याही प्रसिद्ध है । पं. वख्तावरमलजी ने भी स्याही अर्थ किया है । पर ग्रंथकार इसका अर्थ करते हैं -- कोयला । देखिए --

मसघृतंसुभक्तंचदीयतेभोजनक्षणे ।

चूर्णीकृत्यततोङ्गारंधृतभक्तेनंमिश्रितम ॥ दत्तंतस्मैइति ।

स्याही काली होती है और कोयला भी काला, शायद इसी रंग की समानता से ग्रन्थकार ने कोयले की जगह मसि का प्रयोग कर दिया होगा? पर हे आश्चर्य ! ग्रन्थकार ने इस श्लोक में मसि शब्द को अलग लिखा है, पर ऊपर के श्लोक में आये हुए 'मसिस्पृक्तं' शब्द का ऐसा जुदा **अर्थ** किसी तरह नहीं किया जा सकता । ग्रन्थकार की कमजोरी की हद है, जो उनकी रचना इतनी शिथिल देख पड़ती है । जब बेचारे पंडितजी भोजन करने को बैठते तब चावलों में घी वगैरह के साथ थोड़ा कोयला भी पीसकर मिला दिया जाया करता था । जब राजा विजय प्राप्त कर लौटे तब उन्होंने पंडितजी से कुशल-समाचार पूछा । उत्तर में पंडित जी ने कहा -- राजाधिराज, आपके पुण्य-प्रसाद से मैं हूँ तो अच्छी तरह, पर खेद है कि आपके कुल-परम्परा की रीति के अनुसार मुझसे मसि-कोयला नहीं खाया जा सकता । इसलिए अब क्षमाकर आज्ञा दें तो बड़ी कृपा हो । राजा को पंडितजी की बात का बड़ा अचम्भा हुआ । उनकी समझ में न आया कि बात क्या है । उन्होंने फिर उसका खुलासा पूछा । जब सब बातें उन्हें जान पडी तब उन्होंने रानी से पूछा – मैंने तो अपने पत्र में ऐसी कोई बात न लिखी थी, फिर पंडितजी को ऐसा खाने को दिया जाकर क्यों तंग किया जाता था ? रानी ने राजा के हाथ में उनका लिखा हुआ पत्र देकर कहा – आपके बाँचने वाले ने हमें यही मतलब समझाया था । इसलिए यह समझकर, कि ऐसा करने से राजा-साहब का कोई विशेष मतलब होगा, मैंने ऐसी व्यवस्था की थी । सुनकर राजा को बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने पत्र वाँचने वाले को उसी समय देश-निकाले की सजा देकर उसे उपने शहर-बाहर करवा दिया । इसलिए बुद्धिवानों को उचित है कि वे लिखने-बाँचने में ऐसा प्रमाद का **अर्थ** कर अनर्थ न करें ।

यह विचार कर जो पव़ित्र आचरण के धारी और ज्ञान जिनका धन है ऐसे सत्पुरूष भगवान् के उपदेश किये हुए, पुण्य के कारण और यश तथा आनन्द को देनेवाले ज्ञान-सम्यग्ज्ञान के प्राप्त करने का भक्ति-पूर्वक यत्न करेंगे, वे अनन्त-ज्ञान रूपी लक्ष्मी का सर्वोच्च सुख-लाभ करेंगे ।

व्यंजनहीन अर्थ की कथा

व्यंजनहीन **अर्थ** की कथा

कथा :

निर्मल केवल-ज्ञान के धारक श्री जिनेन्द्र-भगवान् को नमस्कार कर व्यंजन-हीन **अर्थ** करनेवाले की कथा लिखी जाती है ।

गुरूजांगल देश की राजधानी हस्तिनापुर के राजा महापद्म थे । ये बड़े धर्मात्मा और जिन-भगवान् के सच्चे-भक्त थे । इनकी रानी का नाम पद्मश्री था । पद्मश्री सरल-स्वभाव वाली थी, सुन्दरी थी और कर्मों के नाश करनेवाले जिन-पूजा, दान, व्रत, उपवास आदि पुण्य-कर्म निन्तर किया करती थी । मतलब यह कि जिन-धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी ।

सुरम्य देश के पोदनापुर का राजा सिंहनाद और महापद्म में कई दिनों की शत्रुता चली आ रही थी । इसलिए मौका पाकर महापद्म ने उसपर चढ़ाई कर दी । पोदनापुर में महापद्म ने 'सहस्त्रकूट' नाम से प्रसिद्ध जिन-मन्दिर देखा । मन्दिर की हजार खम्भों वाली भव्य और विशाल इमारत देखकर महापद्म बड़े खुश हुए । इनके हृदय में भी धर्म-प्रेम का प्रवाह बहा । अपने शहर में भी एक ऐसे ही सुन्दर मन्दिर के बनवाने की उनकी भी इच्छा हुई । तब उसी-समय इन्होंने उपनी राजधानी में पत्र लिखा । उसमें इन्होंने लिखा --

''महास्तंभ-सहस्त्रस्य-कर्त्तव्य:संग्रहो-ध्रुवम् ।''

अर्थात् – बहुत जल्दी बड़े-बड़े एक-हजार खम्भे इकट्ठे करना । पत्र बाँचने-वाले ने इसे भ्रम से पढा - 'महास्तंभ-सहस्त्रस्य-कर्त्तव्य:संग्रहो-ध्रुवम' । 'स्तंभ' शब्द को 'स्तभ' समझकर उसने खम्भे की जगह एक हजार बकरों को इकट्टा करने को कहा । ऐसा ही किया गया । तत्काल एक-हजार बकरे मँगवाये जाकर वे अच्छे खाने पिलाने द्वारा पाले जाने लगे ।

जब महाराज लौटकर वापिस आये तो उन्होंने अपने कर्मचारियों से पूछा कि मैंने जो आज्ञा की थी, उसकी तामील की गई ? उत्तर में उन्होंने 'जी हाँ' कहकर उन बकरों को महाराज को दिखलाया । महापद्म देखकर सिर से पैर तक जल उठे । उन्होंने गुस्सा होकर कहा – मैंने तो तुम्हें एक हजार खम्भों को इकट्ठा करने को लिखा था, तुमने वह क्या किया ? तुम्हारे इस अविचार की सजा में तुम्हें जीवन-दण्ड देता हूँ । महापद्म की ऐसी कठोर सजा सुनकर वे बेचारे बड़े घबराये ! उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज, इसमें हमारा तो कुछ दोष नहीं है । हमें तो जैसा पत्र बाँचनेवाले ने कहा, वैसा ही हमने किया । महाराज ने तब उसी समय पत्र बाँचनेवाले को बुलाकर उसके इस गुरूतर अपराध को जैसी चाहिए वैसी सजा की । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे ज्ञान, ध्यान आदि कामों में कभी ऐसा प्रमाद न करें । क्योंकि प्रमाद कभी सुख के लिए नहीं होता ।

जो सत्पुरूष भगवान् के उपदेश किये पवित्र और पुण्यमय ज्ञान का अभ्यास करेंगे वे फिर मोह उत्पन्न करनेवाले प्रमाद को न कर सुख देनेवाले जिन-पूजा, दान, व्रत उपवासादि धार्मिक-कामों में अपनी बुद्धि को लगाकर केवल-ज्ञान का अनन्त सुख प्राप्त करेंगे ।

सुव्रत मुनिराज की कथा

सुव्रत मुनिराज की कथा

कथा :

उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर, जिसका कि केवल-ज्ञान एक सर्वोच्च नेत्र की उपमा धारण करनेवाला है, हीनाधिक अक्षरों से सम्बन्धर खनेवाले धरसेनाचार्य की कथालिखी जाती है ।

गिरनार-पर्वत की एक गुहा में श्रीधरसेनाचार्य, जो कि जैन-धर्म रूप समुद्र के लिये चन्द्रमा की उपमा धारण करनेवाले हैं, निवास करते थे । उन्हें निमित्त-ज्ञान से जान पड़ा कि उनकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है । तब उन्हें दो ऐसे विद्यार्थियों की आवश्यकता पड़ी कि जिन्हें वे शास्त्र-ज्ञान की रक्षा के लिए कुछ अंगादि का ज्ञान करा दें । आचार्य ने तब तीर्थ-यात्रा के लिए आन्ध्र-प्रदेश के वेनातट नगर में आये हुए संघाधिपति महासेनाचार्य को एक पत्र लिखा । उसमें उन्होंने लिखा --

'भगवान् महावीर शासन अचल रहे, उसका सब देशों में प्रचार हो । लिखने का कारण यह है कि इस कलियुग में अंगादिका ज्ञान यद्यपि न रहेगा तथापि शास्त्र-ज्ञान की रक्षा हो, इसलिए कृपाकर आप दो ऐसे बुद्धिमान् विद्यार्थियों को मेरे पास भेजिये, जो बुद्धि के बड़े तीक्ष्ण हों, स्थिर हों, सहनशील हों और जैन-सिद्धान्त का उद्धार कर सकें ।

आचार्य ने पत्र देकर एक ब्रह्मचारी को महासेनाचार्य के पास भेजा । महासेनाचार्य उस पत्र को पढ़कर बहुत खुश हुए । उन्होंने तब अपने संघ से पुष्पदंत और भूतबलि ऐसे दो धर्मप्रेमी और सिद्धांत के उद्धार करने में समर्थ मुनियों को बड़े प्रेम के साथ धरसेनाचार्य के पास भेजा । ये दोनों मुनि जिस दिन आचार्य के पास पहुँचने वाले थे, उसकी पिछली रात को धरसेनाचार्य को एक स्वप्न देख पड़ा । स्पप्न में उन्होंने दो हृष्ट-पुष्ट, सुडौल और सफेद बैलों को बड़ी भक्ति से अपने पाँवों में पड़ते देखा । इस उत्तम स्वप्न को देखकर आचार्य को जो प्रसन्नता हुई वह लिखी नहीं जा सकती । वे ऐसा कहते हुए, कि सब सन्देहों के नाश करनेवाले श्रुतदेवी-जिनवाणी सदा-काल इस संसार में जय-लाभ करे, उठ बैठे । स्वप्न का फल उनके विचारानुसार ठीक निकला । सवेरा होते ही दो मुनियों ने जिनकी कि उन्हें चाह थी, आकर आचार्य के पाँवों में बड़ी भक्ति के साथ अपना सिर झुकाया और आचार्य की स्तुति की । आचार्य ने तब उन्हें आशीर्वाद दिया – तुम चिरकाल जीकर महावीर भगवान् के पवित्र शासन की सेवा करो । अज्ञान और विषयों के दास बने संसारी जीवों को ज्ञान देकर उन्हें कर्त्तव्य की ओर लगाओ । उन्हे सुझाओ कि अपने धर्म और अपने भाइयों के प्रति जो उनका कर्त्तव्य है उसे पूरा करें ।

इसके बाद आचार्य ने इन दोनों मुनियों को दो-तीन दिन तक अपने पास रक्खा और उनकी बुद्धि, शक्ति, सहनशीलता, कर्त्तव्य-बुद्धि का परिचय प्राप्त कर दोनों को दो विधाएँ सिद्ध करने को दीं । आचार्य ने इनकी परीक्षा के लिये विद्या साधने के मन्त्रों के अक्षरों को कुछ न्यूनाधिक कर दिया था । आचार्य की आज्ञानुसार ये दोनों इस गिरनार पर्वत के एक पवित्र और एकान्त भाग में भगवान् नेमिनाथ की निर्वाण शिला पर पवित्र मन से विद्या-सिद्ध करने को बैठे । मंत्र-साधन की अवधि जब पूरी होने को आई तब दो देवियाँ इनके पास आई । इन देवियों में एक देवी तो आँखों से अन्धी थी । और दूसरी के दाँत बड़े और बाहर निकले हुए थे । देवियों के ऐसे असुन्दर रूप को देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । इन्होंने सोचा देवों का तो ऐसा रूप होता नहीं, फिर यह क्यों ? तब इन्होंने मंत्रों की जाँच की, मंत्रों को व्याकरण से उन्होंने मिलाया कि कहीं उनमें तो गल्ती न रह गई हो ? इनका अनुमान सच हुआ । मंत्रों की गल्ती उन्हें भास गई । फिर

उन्होंने उन्हें शुद्ध कर जपा । अबकी बार दो देवियाँ सुन्दर वेष में इन्हें देख पड़ीं । गुरू के पास आकर तब इन्होंने अपना सब हाल कहा । धरसेनाचार्य इनका वृत्तान्त सुनकर बड़े प्रसन्न हुए । आचार्य ने इन्हें सब तरह योग्य पा फिर खूब शास्त्राभ्यास कराया । आगे चलकर यही दो मुनिराज गुरू-सेवा के प्रसाद से जैन-धर्म के धुरन्धर विद्वान् बनकर सिद्धान्त के उद्धारकर्ता हुए । जिस प्रकार इन मुनियों ने शास्त्रों का उद्धार किया उसी प्रकार उन धर्म-प्रेमियों को भी शास्त्रों द्धारा शास्त्र प्रचार करना उचित है ।
श्रीमान् धरसेनाचार्य और जैन-सिद्धान्त के समुद्र श्रीपुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य मेरी बुद्धि को स्वर्ग-मोक्ष का सुख देनेवाले पवित्र जैन-धर्म में लगावें; जो जीव-मात्र का हित करनेवाले और देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं ।

हरिषेण चक्रवर्ती की कथा

हरिषेण चक्रवर्ती की कथा
कथा :
देवों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, उन जिन्-भगवान को नमस्कार कर सुव्रत-मुनिराज की कथा लिखी जाती है ।
सौराष्ट-देश की सुन्दर नगरी द्वारका में अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण का जन्म हुआ । श्रीकृष्ण की कई स्त्रियाँ थीं, पर उन सबमें सत्यभामा बड़ी भाग्यवती थी । श्रीकृष्ण का सबसे अधिक प्रेम इसी पर था । श्रीकृष्ण अर्धचकी थे, तीन खण्ड के मालिक थे । हजारों राजे-महारजे इनकी सेवा में सदा उपस्थित रहा करते थे ।
एक दिन श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् के दर्शनार्थ समवशरण में जा रहे थे । रास्ते में इन्होंने तपस्वी श्रीसुव्रत-मुनिराज को सरोग दशा में देखा । सारा शरीर उनका रोग से कष्ट पा रहा था । उनकी यह दशा श्रीकृष्ण से न देखी गई । धर्म-प्रेम से उनका हृदय अस्थिर हो गया । उन्होंने उसी समय एक जीवक नामके प्रसिद्ध वैद्य को बुलाया और मुनि को दिखलाकर औषधि के लिये पूछा । वैद्य के कहे अनुसार सब श्रावकों के घरों में उन्होंने औषधि-मिश्रित लड्डूओं के बनवाने की सूचना करवा दी । थोड़े ही दिनों में इस व्यवस्था से मुनि को आराम हो गया, सारा शरीर फिर पहले सा सुन्दर हो गया । इस औषधि-दान के प्रभाव से श्रीकृष्ण के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ । सच है, सुख के कारण सुपात्र-दान से संसार में सत्पुरूषों को सभी कुछ प्राप्त होता है ।
निरोग अवस्था में सुव्रत-मुनिराज को एक दिन देखकर श्रीकृष्ण बड़े खुश हुए । इसलिये कि उन्हें अपने काम में सफलता प्राप्त हुई । उनसे उन्होंने पूछा -- भगवन्, अब अच्छे तो हैं ? उत्तर में मुनिराज ने कहा -- राजन्, शरीर स्वभाव ही से अपवित्र, नाश होने वाला और क्षण-क्षण में अनेक अवस्थाओं को बदलनेवाला है, इसमें अच्छा और बुरापन क्या है ? पदार्थों का जैसा परिवर्तन स्वभाव है उसी प्रकार यह कभी निरोग और कभी सरोग हो जाया करता है । हाँ, मुझे न इसके रोगी होने में खेद है और न निरोग होने में हर्ष ! मुझे तो अपने आत्मा से काम, जिसे कि मैं प्राप्त करने में लगा हुआ हूँ और जो मेरा परम कर्तव्य है । सुव्रत योगिराज की शरीर से इस प्रकार निस्पृहता देखकर श्रीकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने मुनि को नमस्कार कर उनकी बड़ी प्रशंसा की ।
पर जब मुनि की यह निस्पृहता जीवक वैद्य के कानों में पहुँची तो उन्हें इस बात का बड़ा दु:ख हुआ, बल्कि मुनि पर उन्हें अत्यन्त घृणा हुई, कि मुनि का मैंने इतना उपकार किया तब भी उन्होंने मुनि को बड़ा कृतघ्न समझा उनकी बहुत निन्दा की, बुराई की । इस मुनि-निन्दा से उन्हें बहुत पाप का बन्ध हुआ । अन्त मे जब उनकी मृत्यु हुई तब वे इस पाप के फल से नर्मदा के किनारे पर एक बन्दर हुए । सच है, अज्ञानियों को साधुओ के आचार-विचार व्रत-नियमादिकों का कुछ ज्ञान तो होता नहीं और व्यर्थ उनकी निन्दा-बुराई कर वे पाप-कर्म बाँध लेते हैं । इससे उन्हें दु:ख उठाना पड़ता है ।
एक दिन की बात है कि यह जीवक-वैद्य का जीव बन्दर जिस वृक्ष पर बैठा हुआ था, उसके नीचे यही सुव्रत-मुनिराज ध्यान कर रहे थे । इस समय उस वृक्ष की एक टहनी टूटकर मुनि पर गिरी । उसकी तीखी नोंक जाकर मुनि के पेट में घुस गई । पेट का कुछ हिस्सा चिरकर उससे खून बहने लगा । मुनि पर जैसे ही उस बन्दर की नजर पड़ी उसे जाति-स्मरण हो गया । वह पूर्व-जन्म की शत्रुता भूलकर उसी समय दौड़ा गया ओर थोड़ी ही देर में और बहुत से बन्दरों को बुला लाया । उन सबने मिलकर उस डाली को बड़ी सावधानी से खींचकर निकाल लिया । और वैद्य के जीव ने पूर्व-जन्म के संस्कार से जंगल से जड़ी-बूटी लाकर उसका रस मुनि के घाव पर निचोड़ दिया । उससे मुनि को कुछ शान्ति मिली । इस बन्दर ने भी इस धर्म-प्रेम से बहुत पुण्य-बंध किया । सच है, पूर्व-जन्मो में जैसा अभ्यास किया जाता है, जैसा पूर्व-जन्म का संस्कार होता है दूसरे जन्मों मे भी उसका संस्कार बना रहता है और प्राय: जीव वैसा ही कार्य करने लगता है ।

बन्दर में, एक पशु में इस प्रकार दयाशीलता देखकर मुनिराज ने अवधि-ज्ञान द्वारा तो उन्हें जीवक वैद्य के जन्म का सब हाल ज्ञात हो गया । उन्होंने तब उसे भव्य समझकर उसके पूर्व-जन्म की सब कथा उसे सुनाई और धर्म का उपदेश किया । मुनि की कृपा से धर्म का पवित्र उपदेश सुनकर धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा हो गई । उसने भक्ति से सम्यक्त्व-व्रत-पूर्वक अणुव्रतों को ग्रहण किया । उन्हें उसने बड़ी अच्छी तरह पाला भी । अन्त में वह सात दिन का संन्यास ले मरा । इस धर्म के प्रभाव से वह सौधर्म-स्वर्ग में जाकर देव हुआ । सच है जैन-धर्म से प्रेम करने वालों को क्या प्राप्त नहीं होता । देखिए, यह धर्म का ही तो प्रभाव था जिससे कि एक बन्दर-पशु देव हो गया । इसलिये धर्म या गुरू से बढ़कर संसार में कोई सुख का कारण नहीं है ।
वह जैन-धर्म जय-लाभ करे, संसार में निरन्तर चमकता रहे, जिसके प्रसाद से एक तुच्छ प्राणी भी देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरूषों की सम्पत्ति लाभकर-उसका सुख भोगकर अन्त में मोक्षश्री का अनन्त, अविनाशी सुख प्राप्त करता है । इसलिये आत्महित चाहनेवाले बुद्धिवानों को उचित है, उनका कर्त्तव्य है कि वे मोक्ष-सुख के लिये परम-पवित्र जैन-धर्म के प्राप्त करने का और प्राप्त कर उसके पालने का सदा यत्न करें ।

हरिषेण चक्रवर्ती की कथा

हरिषेण चक्रवर्ती की कथा
कथा :
केवल-ज्ञान जिनका नेत्र है ऐसे जिन-भगवान् को नमस्कार कर हरिषेण चक्रवर्ती की कथा लिखी जाती है ।
अंगदेश के सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगर के राजा सिंहध्वज थे । इनकी रानी का नाम वप्रा था । कथानायक हरिषेण इन्हीं का पुत्र था । हरिषेण बुद्धिमान् था, सुन्दर था और बड़ा तेजस्वी था । सब उसका बड़ा मान-आदर करते थे ।
हरिषेण की माता धर्मात्मा थी । भगवान् पर उसकी अचल भक्ति थी । यही कारण था कि वह अठाई के पर्व में सदा जिन-भगवान् के रथ निकलवाया करती और उत्सव मनाती । सिंहध्वज की दूसरी रानी लक्ष्मीमती को जैन-धर्म पर विश्वास न था । वह सदा उसकी निन्दा किया करती थी । एक बार उसने अपने स्वामी से कहा -- प्राणनाथ, आज पहले मेरा ब्रह्माजी का रथ शहर में घूमे, ऐसी आप आज्ञा दीजिये, सिंहध्वज ने इसका परिणाम क्या होगा, इस पर कुछ विचार न कर लक्ष्मीमती का कहा मान लिया । पर जब धर्मवत्सल वप्रा रानी को इस बात की खबर मिली तो उसे बड़ा दु:ख हुआ । उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं खाना-पीना तभी करूँगी जबकि मेरा रथ पहले निकलेगा । सच है, सत्पुरूषों को धर्म ही शरण होता है, उनकी धर्म तक ही दौड़ होती है ।
हरिषेण इतने में भोजन करने को आया । उसने सदा की भाँति आज अपनी माता को हँस-मुख न देखकर उदास मन देखा । इससे उसे बड़ा खेद हुआ । माता क्यों दुखी हैं, इसका कारण जब उसे जान पड़ा तब वह एक पलभर भी फिर वहाँ न ठहरकर घर से निकल पड़ा । यहाँ से चलकर वह एक चोरों के गाँव में पहुंचा । इसे देखकर एक तोता अपने मालिकों से बोला – जो कि चोरों का सिखाया पढ़ाया था, देखिये, यह राजकुमार जा रहा है, इसे पकड़ो । तुम्हें लाभ होगा । तोते के इस कहने पर किसी चोर का ध्यान न गया । इसलिये हरिषेण बिना किसी आफत के आये यहाँ से निकल गया । सच है, दुष्टों की संगति पाकर दुष्टता आती है । फिर ऐसे जीवों से कभी किसी का हित नहीं होता ।
यहाँ से निकलकर हरिषेण फिर एक शतमन्यु नाम के तापसी के आश्रम में पहुँचा । वहाँ भी एक तोता था । परन्तु यह पहले तोते सा दुष्ट न था । इसलिये इसने हरिषेण को देखकर मन में सोचा कि जिसके मुँह पर तेजस्विता और सुन्दरता होती है उसमें गुण अवश्य ही होते हैं । यह जानेवाला भी कोई ऐसा ही पुरुष होना चाहिये । इसके बाद ही उसने अपने मालिक तापसियों से कहा – वह राजकुमार जा रहा है । इसका आप लोग आदर करें । राजकुमार को बड़ा अचम्भा हुआ । उसने पहले का हाल कहकर इस तोते से पूछा – क्यों भाई, तेरे एक भाई ने तो अपने मालिकों से मेरे पकड़ने को कहा था और तू अपने मालिक से मेरा मान-आदर करने को कह रहा है, इसका क्या कारण है ? तोता बोला -- अच्छा राजकुमार, सुनो मैं तुम्हें इसका कारण बतलाता हूँ । उस तोते की और मेरी माता एक ही हैं । हम दोनों भाई-भाई हैं । इस हालत में मुझमें और उसमें विशेषता होने का कारण यह है कि मैं इन तपस्वियों के हाथ पड़ा और वह चोरों के । मैं रोज-रोज इन महात्माओं की अच्छी-अच्छी बातें सुना करता हूँ और वह उन चोरों की बुरी-बुरी बातें सुनता है । इसलिये मुझमें और उसमें इतना अन्तर है । सो आपने अपनी आँखों देखा ही लिया कि दोष और गुण ये संगति के फल हैं । अच्छों की संगति गुण प्राप्त होते हैं और बुरों

की संगति से दुर्गुण ।
इस आश्रम के स्वामी तापसी शतमन्यु पहले चम्पापुरी के राजा थे । इनकी रानी का नाम नागवती है । इनके जनमेजय नाम का एक पुत्र और मदनावली नाम की एक कन्या है । शतमन्यु अपने पुत्र को राज्य देकर तापसी हो गये । राज्य अब जनमेजय करने लगा । एक दिन जनमेजय से मदनावली के सम्बन्ध में एक ज्योतिषी ने कहा कि यह कन्या चक्रवर्ती का सर्वोच्च स्त्री-रत्न होगा । और यह सच भी है कि ज्ञानियों का कहा कभी झूठा नहीं होता ।
जब मदनावली के इस भविष्य-वाणी की सब ओर खबर पहुँची तो अनेक राजे लोग उसे चाहने लगे । इन्हीं में उड्रदेश का राजा कलकल भी था । उसने मदनावली के लिये उसके भाई से मँगनी की । उसकी यह मँगनी जनमेजय ने नहीं स्वीकारी । इससे कलकल को बड़ा ना-गवार गुजारा । उसने रूष्ट होकर जनमेजय पर चढ़ाई कर दी और चम्पापुरी के चारों ओर घेरा डाल दिया । सच है, काम से अन्धे हुए मनुष्य कौन काम नहीं कर डालते । जनमेजय भी ऐसा डरपोक राजा न था । उसने फौरन ही युद्ध-स्थल में आ-डटने की अपनी सेना को आज्ञा दी । दोनों ओर के वीर योद्धओं की मुठभेड़ हो गई । खूब घमासान युद्ध आरम्भ हुआ । इघर युद्ध छिड़ा और उधर नागवती अपनी लड़की मदनावली को साथ ले सुरंग के रास्ते से निकल भागी । वह इसी शतमन्यु के आश्रम में आई । पाठकों को याद होगा कि यही शतमन्यु नागवती का पति है । उसने युद्ध का सब हाल शतमन्यु को कह सुनाया । शतमन्यु ने तब नागवती और मदनावली को अपने आश्रम में ही रख लिया ।
हरिषेण राजकुमार का ऊपर जिकर आया है । इसका मदनावली पर पहले से ही प्रेम था । हरिषेण उसे बहुत चाहता था । यह बात आश्रमवासी तापसियों को मालूम पड़ जाने से उन्होंने हरिषेण को आश्रम से निकाल बाहर कर दिया । हरिषेण को इससे बुरा तो बहुत लगा, पर वह कुछ कर-धर नहीं सकता था । इसलिये लाचार होकर उसे चला जाना ही पड़ा । इसने चलते समय प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा इस पव़ित्र राजकुमारी के साथ ब्याह होगा तो मैं अपने सारे देश में चार-चार कोस की दूरी पर अच्छे-अच्छे सुन्दर और विशाल जिनमन्दिर बनवाऊँगा, जो पृथ्वी को पवित्र करनेवाले कहलायेंगे । सच है, उन लोगों के हृदय में जिनेन्द्र-भगवान् की भक्ति सदा रहा करती है जो स्वर्ग या मोक्ष का सुख प्राप्त करनेवाले होते हैं ।
प्रसिद्ध सिन्धुदेश के सिन्धुतट शहर के राजा सिन्धुनद और रानी सिन्धुमती के कोई सौ लड़कियाँ थीं । ये सब ही बड़ी सुन्दर थीं । इन लड़कियों के सम्बन्ध में नैमित्तिक ने कहा था कि – ये सब राजकुमारियाँ चक्रवर्ती हरिषेण की स्त्रियाँ होंगी । ये सिन्धुनदी पर स्नान करने के लिये जायेंगी । इसी समय हरिषेण भी यहीं आ जाएगा । तब परस्पर की चार आँखें होते ही दोनों ओर से प्रेम का बीज अंकुरित हो उठेगा ।
नैमित्तिक का कहना ठीक हुआ । हरिषेण दूसरे राजाओं पर विजय करता हुआ इसी सिन्धुनदी के किनारे पर आकर ठहरा । इसी समय सिन्धुनद की कुमारियाँ भी यहाँ स्नान करने के लिए आई हुई थी । प्रथम ही दर्शन में दोनों हृदयों में प्रेम का अंकुर फूटा और फिर वह क्रम से बढ़ता ही गया । सिन्धुनद से यह बात छिपी न रही । उसने प्रसन्न होकर हरिषेण के साथ अपनी लड़कियों का ब्याह कर दिया ।
रात को हरिषेण चित्रशाला नाम के एक खास महल में सोया हुआ था । इसी समय एक वेगवती नाम की विद्याधरी आकर हरिषेण को सोता हुआ ही उठा ले चली । रास्ते में हरिषेण जग उठा । अपने को एक स्त्री कहाँ लिये जा रही है, इस बात की मालूम होते ही उसे बड़ा गुस्सा आया । उसने तब उस विद्याधरी को मारने के लिये घूँसा उठाया । उसे गुस्सा हुआ देख विद्याधरी डरी और हाथ जोड़कर बोली -- महाराज, क्षमा कीजिए । मेरी एक प्रार्थना सुनिए । विजयार्द्ध पर्वत पर बसे एक सूर्योदर शहर के राजा इन्द्रधनु और रानी बुद्धमती को एक कन्या है । उसका नाम जयचन्द्रा है । वह सुन्दर है, बुद्धिमती है और बड़ी चतुर है । पर उसमें एक एब है और वह महाऐब है । वह यह कि उसे पुरूषों से बड़ा द्वेष है, पुरूषों को वह आँखो से देखना तक पसन्द नहीं करती । नैमित्तिक ने उसके सम्बन्ध में कहा कि जो सिन्धुनद की सौ राजकुमारियों का पति होगा, वही इसका भी होगा । तब मैंने आपका चित्र ले जाकर उसे बतलाया । वह उसे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई, उसका सब कुछ आप पर न्योछावर हो चुका है । वह आपके सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें पूछा करती है और बड़े चाव से उन्हें सुनती है । आपका जिकर छिड़ते ही वह ध्यान से उसे सुनने लगती है । उसकी इन सब चेष्टाओं से जान पड़ता है कि उसका आप पर अत्यन्त प्रेम है । यही कारण है कि मै उसकी आज्ञा से आपको उसके पास लिये जा रही हूँ । सुनकर हरिषेण बहुत खुश हुआ और फिर वह कुछ भी न बोलकर जहाँ उसे विद्याधरी लिवा गई, चला गया । वेगवती ने हरिषेण को इन्द्रधनु के महल पर ला रक्खा । हरिषेण के रूप

और गुणों को देखकर सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई । जयचन्द्रा के माता-पिता ने उसके ब्याह का भी दिन निश्चित कर दिया । जो दिन ब्याह का था उस दिन राजकुमारी जयचन्द्रा के मामा के लड़के गंगाधर और महोधर ये दोनों हरिषेण पर चढ़ आये । इसलिये कि वे जयचन्द्रा को स्वयं ब्याहना चाहते थे । हरिषेण ने इनके साथ बड़ी वीरता से युद्ध कर इन्हें हराया । इस युद्ध में हरिषेण के हाथ जवाहरात और बहुत धन-दौलत लगी । यह चक्रवर्ती होकर अपने घर लौटा । रास्ते में इसने अपनी प्रेमिणी मदनावली से भी ब्याह किया । घर आकर इसने अपनी माता की इच्छा पूरी की । पहले उसी का रथ चला । इसके बाद हरिषेण ने अपने देश-भर में जिन-मन्दिर बनवाकर अपनी प्रतिज्ञा को भी निबाहा । सच है, पुण्यवानों के लिये कोई काम कठिन नहीं ।

वे जिनेन्द्र भगवान् सदा जय-लाभ करें, जो देवादिकों द्वारा पूजा किये जाते, गुणरूपी रत्नों की खान हैं, स्वर्ग-मोक्ष के देनेवाले हैं, संसार को प्रकाशित करनेवाले निर्मल चन्द्रमा हैं केवलज्ञानी, सर्वज्ञ हैं और जिनके पवित्र-धर्म का पालन कर भव्यजन सुख-लाभ करते हैं ।

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

कथा :

जिन्हें स्वर्ग के देव पूजते हैं उन जिन-भगवान् को नमस्कार कर दूसरों के दोषों को न देखकर गुण ग्रहण करनेवाले की कथा लिखी जाती है ।

एक दिन सौधर्म-स्वर्ग का इन्द्र धर्म-प्रेम के वश हो गुणवान् पुरूषों की अपनी सभा में प्रशंसा कर रहा था । उस समय उसने कहा – जिस पुरूष का, जिस महात्मा का हृदय इतना उदार है कि वे दूसरों के बहुत से औगुणों पर बिलकुल ध्यान न देकर उसमें रहनेवाले गुणों के थोड़े भी हिस्से को खूब बढ़ाने का यत्न करता है, जिसका ध्यान सिर्फ गुणों के ग्रहण करने की ओर है, वह पुरूष, वह महात्मा संसार में सबसे श्रेष्ठ है, उसी का जन्म भी सफल है । इन्द्र के मुँह से इसप्रकार दूसरों की प्रशंसा सुन एक मौजीले देव ने उससे पूछा -- देवराज, जैसी इस समय आपने गुण-ग्राहक पुरूष की प्रशंसा की है, क्या ऐसा कोई बड़भागी पृथ्वी पर है भी । इन्द्र ने उत्तर में कहा -- हाँ हैं, और वे अन्तिम वासुदेव द्वारका के स्वामी श्रीकृष्ण । सुनकर वह देव उसी समय पृथ्वी पर आया । इस समय श्रीकृष्ण नेमिनाथ-भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे । इनकी परीक्षा के लिये यह मरे कुत्ते का रूप ले रास्ते में पड़ गया । इसके शरीर से बड़ी ही दुर्गन्ध भभक रही थी । आने-जानेवालों के लिए इधर होकर आना-जाना मुश्किल हो गया था । इसकी इस असह्य-दुर्गन्ध के मारे श्रीकृष्ण के साथी सब भग खड़े हुए । इसी समय वह देव एक दूसरे ब्राह्मण का रूप लेकर श्रीकृष्ण के पास आया और उस कुत्ते की बुराई करने लगा, उसके दोष दिखाने लगा । श्रीकृष्ण ने उसकी सब बातें सुन-सुनाकर कहा -- अहा ! देखिए, इस कुत्ते के दाँतों की श्रेणी स्फटिक के समान कितनी निर्मल और सुन्दर है । श्रीकृष्ण ने कुत्ते के और दोषों पर, उसकी दुर्गन्ध आदि पर कुछ ध्यान न देकर उसके दाँतों की, उसमें रहनेवाले थोड़े से भी अच्छे भाग की उल्टी प्रशंसा ही की । श्रीकृष्ण की एक पशु के लिये इतनी उदार-बुद्धि देखकर वह देव बहुत खुश हुआ । उसने फिर प्रत्यक्ष होकर सब हाल श्रीकृष्ण से कहा – और उचित आदर-मान करके आप अपने स्थान चला गया ।

उसी तरह अन्य जिन-भगवान् के भक्त भव्य-जनों को भी उचित है कि वे दूसरों के दोषों को छोड़कर सुख की प्राप्ति के लिये प्रेम के साथ उनके गुणों को ग्रहण करने का यत्न करें । इसी से वे गुणज्ञ और प्रशंसा-पात्र कहे जा सकेंगे ।

जिनाभिषेक से प्रेम करने वाले की कथा

जिनाभिषेक से प्रेम करने वाले की कथा

कथा :

अतिशय निर्मल केवल-ज्ञान के धारक जिनेन्द्र-भगवान् को नमस्कार कर मनुष्य-जन्म का मिलना कितना कठिन है, इस बात को दस दृष्टान्तों-उदाहरणों द्वारा खुलासा समझाया जाता है ।

१. चोल्लक, २. पासा, ३. धान्य, ४. जुआ, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र, ८. कछुआ, ९. युग और १० परमाणु ।

१.चोल्लक

संसार के हितकर्ता नेमिनाथ भगवान् को निर्वाण गये बाद अयोध्या में ब्रह्मादत्त बारहवें चक्रवर्ती हुए । उनके एक वीर सामन्त का नाम

सहस्‍्त्रभट था । सहस्‍्त्रभठ की स्त्री सुमित्रा के सन्तान में एक लड़का था । इसका नाम वसुदेव था । वसुदेव न तो कुछ पढ़ा-लिखा था और न राज-सेवा वगैरह की उसमें योग्यता थी । इसलिये अपने पिता को मृत्यु के बाद उनकी जगह इसे न मिल सकी, जो कि एक अच्छी प्रतिष्ठित जगह थी । और यह सच है कि बिना कुछ योग्यता प्राप्त किये राज-सेवा आदि में आदर-मान को जगह मिल भी नहीं सकती । इसकी इस दशा पर माता को बड़ा दु:ख हुआ । पर बेचारी कुछ करने-धरने को लाचार थी । वह अपनी गरीबी के मारे एक पुरानी गिरी-पड़ी झोंपड़ी में आकर लगी और जिस किसी प्रकार अपना गुजारा चलाने लगी । उसने भावी आशा से वसुदेव से कुछ काम लेना शुरू किया । वह लड्डू, पेड़ा, पान आदि वस्तुएँ एक खोमचे में रखकर उसे आस-पास के गावों में भेजने लगी, इसलिये कि वसुदेव को कुछ परिश्रम करना आ जाय, वह कुछ हुशियार हो जाय । ऐसा करने से सुमित्रा को सफलता प्राप्त हुई और वसुदेव कुछ सीख भी गया । उसे पहले की तरह अब निकम्मा बैठे रहना अच्छा न लगने लगा । सुमित्रा ने तब कुछ वसीला लगाकर वसुदेव को राजा अंगरक्षक नियत करा दिया ।

एक दिन चक्रवर्ती हवा-खोरी के लिये घोड़े पर सवार हो शहर-बाहर हुए । जिस घोड़े पर वे बैठे थे वह बड़े दुष्ट स्वभाव को लिए था । सो जरा ही पाँव की ऐड़ी लगाने पर वह चक्रवर्ती को लेकर हवा हो गया । बड़ी दूर जाकर उसने उन्हे एक बड़ी भयावनी वनी में ला गिराया । इस समय चक्रवर्ती बड़े कष्ट में थे । भूख-प्यास से उनके प्राण छटपटा रहे थे । पाठकों को स्मरण है कि इनके अंगरक्षक वसुदेव को उसकी माँ ने चलने-फिरने और दौड़ने-दुड़ाने के काम में अच्छा हुशियार कर दिया था । यही कारण था कि जिस समय चक्रवर्त्ती को घोड़ा लेकर भागा, उस समय वसुदेव भी कुछ खाने-पीने की वस्तुयें लेकर उनके पीछे-पीछे बेतहाशा भागा गया । चक्रवर्त्ती को आध-पौन घंटा वनी में बैठे हुआ होगा कि इतने में वसुदेव भी उनके पास जा पहुँचा । खाने-पीने की वस्तुएँ उसने महाराज को भेंट की । चक्रवर्त्ती उससे बहुत सन्तुष्ट हुए । सच है, योग्य समय में थोड़ा भी दिया हुआ सुख का कारण होता है । जैसे बुझते हुए दिये में थोड़ा भी तेल डालने से वह झट से तेज हो उठता है । चक्रवर्त्ती ने खुश होकर उससे पूछा –- तू कौन है ? उत्तर में वसुदेव ने कहा -- महाराज, सहस्त्रभट सामन्त का मैं पुत्र हूँ । चक्रवर्त्ती फिर विशेष कुछ पूछ-ताछ न करके चलते समय उसे एक रत्नमयी कंकण देते गये ।

अयोध्या में पहुँचकर ही उन्होंने कोतवाल से कहा – मेरा कड़ा खो गया है, उसे ढूंढ़कर पता लगाइए । राजाज्ञा पाकर कोतवाल उसे ढूँढ़ने को निकला । रास्ते में एक जगह इसने वसुदेव को कुछ लोगों के साथ कड़े के सम्बन्ध की ही बात-चीत करते पाया । कोतवाल तब उसे पकड़कर राजा के पास लिया ले गया । चक्रवर्त्ती उसे देखकर बोले -- महाराज, इस विषय में मैं कुछ नहीं जानता कि मैं आपसे क्या माँगूँ । यदि आप आज्ञा करें तो मैं मेरी माँ को पूछ आऊँ । चक्रवर्त्ती के कहने से वह अपनी माँ के पास गया और उसे पूछ आकर चक्रवर्त्ती से उसने प्रार्थना की -- महाराज, आप मुझे चोल्लक भोजन कराइए । उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी । तब चक्रवर्त्ती ने उनसे पूछा -- भाई, चोल्लक भोजन किसे कहते हैं ? हमने तो उसका नाम भी आज तक नहीं सुना । वसुदेव ने कहा – सुनिए महाराज, पहले तो बड़े आदर के साथ आपके महल में मुझे भोजन कराया जाय और खूब अच्छे-अच्छे सुन्दर कपड़े, गहने-दागीने दिये जाँय । इसके बाद इसी तरह आपकी रानियों के महलों में क्रम-क्रम से मेरा भोजन हो । फिर आपके परिवार तथा मण्डलेश्वर राजाओं के यहाँ मुझे इसी प्रकार भोजन कराया जाय । इतना सब हो चुकने पर क्रम-क्रम से फिर आप ही के यहाँ मेरा अन्तिम भोजन हो । महाराज, मुझे पूर्ण-विश्वास है कि आपकी आज्ञा से मुझे यह सब प्राप्त हो सकेगा ।

भव्यजनों, इस उदाहरण से यह शिक्षा लेने की है कि यह चोल्लक भोजन वसुदेव सरीखे कंगाल को शायद प्राप्त हो भी जाय तो भी इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं, पर एक बार प्रमाद से खो-दिया गया मनुष्य-जन्म बेशक अत्यन्त दुर्लभ है । फिर लाख प्रयत्न करने पर भी वह सहसा नहीं मिल सकता । इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे दु:ख के कारण खोटे मार्ग को छोड़कर जैन-धर्म की शरण लें, जो कि मनुष्य जन्म की प्राप्ति और मोक्ष का प्रधान कारण है ।

२. पाशे का दृष्टान्त

मगधदेश में शतद्वार नाम का एक अच्छा शहर था । उसके राजा का नाम भी शतद्वार था । शतद्वार ने अपने शहर में एक ऐसा देखने योग्य दरवाजा बनवाया, कि जिसके कोई ग्यारह हजार खंभे थे । उन एक-एक खम्भों में छयानवे ऐसे स्थान बने हुए थे जिनमें जुआरी लोग पाशे द्वारा सदा जुआ खेला करते थे । एक सोमशर्मा नाम के ब्राह्मण ने उन जुआरियों से प्रार्थना की -- भाइयों, मैं बहुत ही गरीब हूँ, इसलिए यदि आप मेरा इतना उपकार करें, कि आप सब खेलने वालों का दाव यदि किसी समय एक ही सा पड़ जाय और वह सब धन-माल आप

मुझे दे दें, तो बहुत अच्छा हो । जुआरियों ने सोमशर्मा की प्रार्थना स्वीकार कर ली । इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि ऐसा होना नितान्त ही कठिन है, बल्कि असंभव है । पर देवयोग ऐसा हुआ कि एक बार सबका दाव एक ही सा पड़ गया और उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सब धन सोमशर्मा को दे देना पड़ा । वह उस धन को पाकर बहुत खुश हुआ । इस दृष्टान्त से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसा योग सोमशर्मा को मिला था, वैसा योग मिलकर और कर्मयोग से इतना धन भी प्राप्त हो जाय तो कोई बात नहीं, परन्तु जो मनुष्य-जन्म एक बार प्रमादवश हो नष्ट कर दिया जाय तो वह फिर सहज में नहीं मिल सकता । इसलिए सत्पुरूषों को निरन्तर ऐसे पवित्र कार्य करते रहना चाहिए, जो मनुष्य-जन्म या स्वर्ग-मोक्ष के प्राप्त कराने वाले हैं । ऐसे कर्म हैं – जिनेन्द्र-भगवान् की पूजा करना, दान देना, परोपकार करना, व्रतों का पालना, ब्रह्मचर्य से रहना और उपवास करना आदि ।

२. धान्य का दृष्टान्त

जम्बूद्वीप के बराबर चौड़ा और एक हजार योजन **अर्थ**ात् दो हजार कोस या चार कोस ऊँचा एक बड़ा भारी गढ़ा खोदा जाकर वह सरसों से भर दिया जाय । उसमें से फिर रोज-रोज एक-एक सरसों निकाली जाया करे । ऐसा निरन्तर करते रहने से एक दिन ऐसा भी आयगा कि जिस दिन वह कुण्ड सरसों से खाली हो जायगा । पर यदि प्रमाद से यह जन्म नष्ट हो गया तो वह समय फिर आना एक तरह असम्भव सा ही हो जाएगा, जिनमें कि मनुष्य जन्म मिल सके । इसलिये बुद्धिवानों को उचित है कि वे प्राप्त हुए मनुष्य-जन्म को निष्फल न खोकर जिन-पूजा, व्रत, दान, परोपकारादि पवित्र-कामों में लगावें । क्योंकि ये सब परम्परा मोक्ष के साधन हैं ।

धान्य का दूसरा दृष्टांत

अयोध्या के राजा प्रजापाल पर राजगृह के जितशत्रु राजा ने एक बार चढ़ाई की और सारी अयोध्या को सब ओर से घेर लिया । तब राजा ने अपनी प्रजा से कहा -- जिसके यहाँ धान के जितने बोरे हों, उन बोरों को लाकर और गिनती करके मेरे कोठों में सुरक्षित रख दें । मेरी इच्छा है कि शत्रु को यहाँ से अन्न का एक दाना भी प्राप्त न हो । ऐसी हालत में उसे झख मारकर लौट जाना पड़ेगा । सारी प्रजा ने राजा की आज्ञानुसार ऐसा ही किया । जब अभिमानी शत्रु को अयोध्या से अन्न न मिला तब थोड़े ही दिनों में उसकी अकल ठिकाने पर आ गई । उसकी सेना भूख के मारे मरने लगी । आखिर जितशत्रु को लौट जाना ही पड़ा । जब शत्रु अयोध्या का घेरा उठा चल दिया तब प्रजा ने राजा से अपने-अपने धान के ले-जाने की प्रार्थना की । राजा ने कह दिया कि हाँ अपना-अपना धान पहचानकर सब लोग ले जायें । कभी कर्मयोग से ऐसा हो जाना भी सम्भव है, पर यदि मनुष्य जन्म एक बार व्यर्थ नष्ट हो गया तो उसका पुन: मिलना अत्यन्त ही कठिन है । इसलिए इसे व्यर्थ खोना उचित नहीं । इसे तो सदा शुभ-कामों में ही लगाये रहना चाहिए ।

४. जुआ का दृष्टान्त

शतद्वारपुर में पाँच सौ सुन्दर दरवाजे हैं । उन एक-एक दरवाजों में जुआ खेलने के पाँच-पाँच सौ अड्डे हैं । उन एक-एक अड्डों में पाँच-पाँच सौ जुआरी लोग जुआ खेलते हैं । उनमें एक चयी नाम का जुआरी है । ये सब जुआरी कौड़ियाँ जीत-जीतकर अपने-अपने गाँवों में चले गये । चयी वहीं रहा । भाग्य से इन सब जुआरियों का और इस चयी का फिर भी कभी मुकाबला होना सम्भव है, पर नष्ट हुए मनुष्य-जन्म का पुण्य ही न पुरूषों को फिर सहसा मिलना दरअसल कठिन है ।

जुआ का दूसरा दृष्टान्त

इसी शत द्वारपुर में निर्लक्षण नाम का एक जुआरी था । उसके इतना भारी पाप कर्म का उदय था कि वह स्वप्न में भी कभी जीत नहीं पाता था । एक दिन कर्म योग से वह भी खूब धन जीता । जीतकर उस धन को उसने याचकों को बाँट दिया । वे सब धन लेकर चारों दिशाओं में जिसे जिधर जाना था उधर ही चले गये । ये सब लोग देव-योग से फिर भी कभी इकट्ठे हो सकते हैं, पर गया जन्म फिर हाथ आना दुष्कर है । इसलिए जब तक-मोक्ष न मिले तब-तक यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता रहे, इसके लिए धर्म की शरण सदा लिये रहना चाहिए ।

५. रत्न-दृष्टान्त

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्त्ती, इनके मुकुटों में जड़े हुए मणि, जिन्हें स्वर्गों के देव ले गये हैं, और इनके वे चौदह रत्न नौ निधि तथा वे सब देव, ये सब कभी इकट्ठे नहीं हो सकते; इसी तरह खोया हुआ मनुष्य जीवन पुण्य-हीन पुरूष कभी प्राप्त नहीं कर सकते । यह जानकर बुद्धिवानों को उचित है, उनका कर्त्तव्य है कि वे मनुष्य जीवन प्राप्त करने के कारण जैन-धर्म को ग्रहण करें ।

६. स्वप्न-दृष्टान्त

उज्जैन में एक लकड़हारा रहता था । वह जंगल में लकड़ी काटकर लाता और बाजार में बेच दिया करता था । उसी से उसका गुजारा चलता था । एक दिन वह लकड़ी का गट्ठा सिर पर लादे आ रहा था । ऊपर से बहुत गरमी पड़ रही थी । सो वह एक वृक्ष की छाया में सिर पर का गट्ठा उतारकर वहीं सो गया । ठंडी हवा बह रही थी । सो उसे नींद आ गई । उसने एक सपना देखा कि वह सारी पृथिवी का मालिक चक्रवर्त्ती हो गया । हजारों नौकर-चाकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं । जो वह आज्ञा-हुक्म करता है वह सब उसी समय बजाया जाता है । यह सब कुछ हो रहा था इतने में उसकी स्त्री ने आकर उसे उठा दिया । बेचारे की सब सपने की सम्पत्ति आँख खोलते ही नष्ट हो गई । उसे फिर वही लकड़ी का गट्ठा सिर पर लादना पड़ा । जिस तरह वह लकड़हारा स्वप्न में चक्रवर्त्ती बन गया, पर जगने पर रहा लकड़हारा का लकड़हारा ही । उसके हाथ कुछ भी धन-दौलत न लगी । ठीक इसी तरह जिसने एक बार मनुष्य-जन्म प्राप्तकर व्यर्थ गँवा दिया उस पुण्यहीन मनुष्य के लिए फिर यह मनुष्य-जन्म जाग्रत् दशा में लकड़हारे को न मिलने वाली चक्रवर्त्ती की सम्पत्ति की तरह असम्भव है ।

७. चक्र-दृष्टान्त

अब चक्र दृष्टान्त कहा जाता है । बाईस बड़े मजबूत खम्भे हैं । एक-एक चक्र लगा हुआ है । एक-एक चक्र में हजार-हजार आरे हैं । उन आरों में एक-एक छेद है । चक्र सब उलटे घूम रहे हैं । पर जो धीर पुरूष हैं वे ऐसी हालत में भी उन खम्भों पर की राधा को वेध देते हैं । काकन्दी के राजा द्रुपद की कुमारी का नाम द्रौपदी था । वह बड़ी सुन्दरी थी । उसके स्वयंवर में अर्जुन से ऐसी ही राधा बेधकर द्रौपदी को ब्याहा था । सो ठीक ही है पुण्य के उदय से प्राणियों सब कुछ प्राप्त हो सकता है ।

यह सब योग कठिन होने पर भी मिल सकता है, पर यदि प्रमाद से मनुष्य जन्म एक बार नष्ट कर दिया जाय तो उसका मिलना बेशक कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है । वह प्राप्त होता है पुण्य से, इसलिए पुण्य के प्राप्त करने का यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है ।

८. कछुए का-दृष्टान्त

सबसे बड़े स्वयंभूरमण समुद्र को एक बड़े भारी चमड़े में छोटा-सा छेद करके उससे ढक दीजिए । समुद्र में घूमते हुए एक कछुए ने कोई एक हजार वर्ष बाद उस चमड़े के छोटे से छेद में से सूर्य को देखा । वह छेद उससे फिर छूट गया । भाग्य से यदि फिर कभी ऐसा ही योग मिल जाय कि यह उस छिद्र पर फिर भी आ पहुँचे और सूर्य को देख ले, पर यदि मनुष्य-जन्म इसी तरह प्रमाद से नष्ट हो गया तो सचमुच ही उसका मिलना बहुत कठिन है ।

९. युग का दृष्टान्त

दो लाख योजन चौड़े पूर्व के लवण-समुद्र में युग (धुरा) के छेद से गिरी हुई समिला का पश्चिम समुद्र में बहते हुए युग (धुरा) के छेद में समय पाकर प्रवेश कर जाना सम्भव है, पर प्रमाद या विषय-भोगों द्वारा गँवाया हुआ मनुष्य-जीवन पुण्य हीन पुरूषों के लिए फिर सहसा मिलना असम्भव है । इसलिए जिन्हें दु:खों से छूटकर मोक्ष-सुख प्राप्त करना है उन्हें तब-तक ऐसे पुण्य-कर्म करते रहना चहिए कि जिनसे मोक्ष होने तक बराबर मनुष्य-जीवन मिलता रहे ।

१०. परमाणु का दृष्टान्त

चार हाथ लम्बे चक्रवर्त्ती के दण्ड-रत्न के परमाणु बिखरकर दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लें और फिर वे ही परमाणु देवयोग से फिर कभी दण्ड-रत्न के रूप में आ जाएं तो असम्भव नहीं, पर मनुष्य पर्याय यदि एक बार दुष्कर्मों द्वारा व्यर्थ खो दिया तो इसका फिर उन अभागे जीवों को प्राप्त हो जाना जरूर असम्भव है । इसलिए पण्डितों को मनुष्य पर्याय की प्राप्ति के लिए पुण्य-कर्म करना कर्त्तव्य है ।

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ समझकर बुद्धिमानों को उचित है कि वे मोक्ष-सुख के लिए संसार के जीव-मात्र का हित करनेवाले पवित्र जैन-धर्म को ग्रहण करें ।

भावानुराग-कथा

भावानुराग-कथा

कथा :

सब-प्रकार सुख के देनेवाले जिन-भगवान् को नमस्कार कर धर्म में प्रेम करनेवाले नागदत्त की कथा लिखी जाती है ।

उज्जैन के राजा धर्मपाल थे । उनकी रानी का नाम धर्मश्री था । धर्मश्री धर्मात्मा और बड़ी उदार प्रकृति की स्त्री थी । यहाँ एक सागरदत्त नाम का सेठ रहता था । इसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था । सुभद्रा के नागदत्त नाम का एक लड़का था । नागदत्त भी अपनी माता की तरह धर्म-प्रेमी था । धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी । इसका ब्याह समुद्रदत्त सेठ की सुन्दर कन्या प्रियंगुश्री के साथ बड़े ठाटबाट से हुआ । ब्याह में खूब दान दिया गया । पूजा उत्सव किया गया । दीन-दुखियों की अच्छी सहायता की गई ।
प्रियंगुश्री को इसके मामा का लड़का नागसेन चाहता था और सागरदत्त ने उसका ब्याह कर दिया नागदत्त के साथ । इससे नागसेन को बड़ा ना-गवार मालूम हुआ । सो उसने बेचारे नागदत्त के साथ शत्रुता बाँध ली और उसे कष्ट देने का मौका ढूँढने लगा ।
एक दिन नागदत्त धर्म-प्रेम से जिन-मन्दिर में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था । उसेनागसेननेदेखलिया । सो इस दुष्ट ने अपनी शत्रुता का बदला लेने के लिये एक षड़यन्त्र रचा । गले में से अपना हार निकालकर उसे इसने नागदत्त के पाँवों के पास रख दिया और हल्ला कर दिया कि यह मेरा हार चुराकर लिये जा रहा था, सो मैंने पीछे दौड़कर इसे पकड़ लिया । अब ढोंग बनाकर ध्यान करने लग गया, जिससे यह पकड़ा न जाय । नागसेन का हल्ला सुनकर आसपास के बहुत से लोग इकट्ठे हो गए और पुलिस भी आ जमा हुई । नागदत्त पकड़ा जाकर राज-दरबार में उपस्थित किया गया । राजा ने नागदत्त की ओर से कोई प्रमाण न पाकर उसे मारने का हुक्म दे दिया । नागदत्त उसी समय वध्य-भूमि में ले जाया गया । उसका सिर काटने के लिये तलवार का जो वार उसपर किया गया, क्या आश्चर्य कि वह वार उसे ऐसा जान पड़ा मानो किसी ने उसपर फूलों की माला फेंकी हो । उसे जरा भी चोट न पहुँची और इसी समय आकाश से उसपर फूलों की वर्षा हुई । जय-जय, धन्य-धन्य, शब्दों से आकाश गूँज उठा । यह आश्चर्य देखकर सब-लोग दंग रह गए । सच है, धर्मानुराग से सत्पुरूषों का, सहनशील महात्माओं का कौन उपकार नहीं करता । इसप्रकार जैन-धर्म का सुखमय प्रभाव देखकर नागदत्त और धर्मपाल राजा बहुत प्रसन्न हुए । वे अब मोक्ष-सुख की इच्छा से संसार की सब माया-ममता को छोड़कर जिन-दीक्षा ले साधु हो गए और बहुत से लोगों ने, जो जैन नहीं थे, जैनधर्म को ग्रहण किया ।
संसार के बड़े-बड़े महापुरूषों से पूजे जाने वाला, जिनेन्द्र-भगवान का उपदेश किया पवित्र-धर्म, स्वर्ग मोक्ष के सुख का कारण है, इसी के द्वारा भव्य-जन उत्तम-सुख प्राप्त करते हैं । यही पवित्र-धर्म कर्मों का नाश कर मुझे आत्मिक सच्चा-सुख प्रदान करे ।

प्रेमानुराग-कथा

प्रेमानुराग-कथा

कथा :

जो जिन-धर्म के प्रवर्त्तक हैं, उन जिनेन्द्र-भगवान् को नमस्कार कर धर्म से प्रेम करनेवाले सुमित्र-सेठ की कथा लिखी जाती है ।
अयोध्या के राजा सुवर्णवर्मा और उनकी रानी सुर्णश्री के समय अयोध्या में सुमित्र नाम के एक प्रसिद्ध सेठ हो गये हैं । सेठ का जैन-धर्म पर अत्यन्त प्रेम था । एक दिन सुमित्र सेठ रात के समय अपने घर ही में कायोत्सर्ग-ध्यान कर रहे थे । उनकी ध्यान-समय की स्थिरता और भावों की दृढ़ता देखकर किसी एक देव ने सशंकित हो उनकी परीक्षा करनी चाही कि कहीं यह सेठ का कोरा ढोंग तो नहीं है । परीक्षा में उस देव ने सेठ की सारी सम्पत्ति, स्त्री, बाल-बच्चे आदि को अपने अधिकार में कर लिया । सेठ के पास इस बात की पुकार पहुँची । स्त्री, बाल-बच्चे रो-रोकर उसके पाँवों में जा गिरे और छुड़ाओ, छुड़ाओ की हृदय भेदनेवाली दीन प्रार्थना करने लगे । जो न होने का था वह सब हुआ । परन्तु सेठजी ने अपने ध्यान को अधूरा नहीं छोड़ा, वे वैसे ही निश्चल बने रहे । उनकी यह अलौकिक स्थिरता देखकर उस देव को बड़ी प्रसन्ता हुई । उसने सेठ की शत-मुख से भूरि-भूरि प्रशंसा की । अन्त में अपने निज-स्वरूप में आ और सेठ को एक साँकरी नाम की आकाश-गामिनी विद्या भेंट कर आप स्वर्ग चला गया । सेठ के इस प्रभाव को देखकर बहुतेरे भाइयों ने जैन-धर्म को ग्रहण किया, कितनों ने मुनिव्रत, कितनों ने श्रावकव्रत और कितनों ने केवल सम्यग्दर्शन ही लिया ।
जिन-भगवान् के चरण-कमल परम-सुख के देनेवाले हैं और संसार-समुद्र से पार करनेवाले हैं, इसलिये भव्य-जनों को उचित है कि वे सुख प्राप्ति के लिये उनकी पूजा करें, स्तुति करें, ध्यान करें, स्मरण करें ।

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

कथा :

इन्द्रादिकों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, ऐसे जिनभगवान् को नमस्कार कर जिनाभिषेक से अनुराग करनेवाले जिनदत्त और वसुमित्र की कथा लिखी जाती है ।

उज्जैन के राजा सागरदत्त के समय उनकी राजधानी में जिनदत्त और वसुमित्र नाम के दो प्रसिद्ध और बड़े गुणवान् सेठ हो गये हैं । जिनधर्म और जिनाभिषेक पर उनका बड़ा ही अनुराग था । ऐसा कोई दिन उनका खाली न जाता था, जिस दिन वे भगवान् का अभिषेक न करते हों, पूजा-प्रभावना न करते हों, दान-व्रत न करते हों ।

एक दिन ये दोनों सेठ व्यापार के लिये उज्जैन से उत्तर की ओर रवाना हुए । मंजिल-दर-मंजिल चलते हुये एक ऐसी घनी अटवी में पहुँच गये, जो दोनों बाजू आकाश से बातें करने वाले अवसीर और माला पर्वत नाम के पर्वतों से घिरी थी और जिसमें डाकू लोगों का अड्डा था । डाकू लोग इनका सब माल-असबाब छीन कर हवा हो गये । अब ये दोनों उस अटवी में इधर-उधर घूमने लगे । इसलिये कि इन्हें उससे बाहर होने का रास्ता मिल जाय । पर इनका सब प्रयत्न निष्फल गया । न तो ये स्वयं रास्ते का पता लगा सके और न कोई इन्हे रास्ता बताने वाला ही मिला । अपने अटवी बाहर होने का कोई उपाय न देखकर अन्त में इन जिन-पूजा और जिनाभिषेक से अनुराग करनेवाले महानुभावों ने संन्यास ले लिया और जिनभगवान् का ये स्मरण-चिंतन करने लगे । सच है, सत्पुरूष सुख और दु:ख में सदा समान भाव रखते हैं, विचारशील रहते हैं ।

एक और अभागा भूला भटका सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण इस अटवी में आ फँसा । घूमता-फिरता वह इन्हीं के पास आ गया । अपनी-सी इस बेचारे ब्राह्मण की दशा देखकर ये बड़े दिलगीर हुए । सोमशर्मा से इन्होंने सब हाल कहा और यह भी कहा -- यहाँ से निकलने का कोई मार्ग प्रयत्न करने पर भी जब हमें न मिला तो हमने अन्त में धर्म का शरण लिया । इसलिये कि यहाँ हमारी मरने के सिवा कोई गति ही नहीं है और जब हमें मृत्यु के सामने होना ही है तब कायरता और बुरे भावों से क्यों उसका सामना करना, जिससे कि दुर्गति में जाना पड़े । धर्म दु:खों का नाश कर सुखों का देने वाला है । इसिलये उसी का ऐसे समय में आश्रय लेना परम हितकारी है । हम तुम्हें भी सलाह देते हैं कि तुम भी सुगति की प्राप्ति के लिये धर्म का आश्रय ग्रहण करो । इसके बाद उन्होंने सोमशर्मा को धर्म का सामान्य स्वरूप समझाया -- देखो, जो अठारह दोषों से रहित और सबके देखने वाले सर्वज्ञ हैं, वे देव कहाते हैं और ऐसे निर्दोष भगवान् द्वारा बताये दयामय मार्ग को धर्म कहते हैं । धर्म का वैसे सामान्य लक्षण है – जो दु:खों से छुड़ाकर सुख प्राप्त करावे । ऐसे धर्म को आचार्यों ने दस भागों में बाँटा है । **अर्थ**ात् सुख प्राप्त करने के दस उपाय हैं । वे ये हैं -- उत्तमक्षमा, मार्दव –हृदय का कोमल होना, आर्जव – हृदय का सरल होना, सच बोलना, शौच – निर्लोभी या संतोषी होना, संयम – इन्द्रियों को वश करना, तप – व्रत उपवासादि करना, त्याग – पुण्य से प्राप्त हुए धन को सुकृत के काम जैसे दान, परोपकार आदि में लगाना, आकिंचन – परिग्रह अर्थात धन-धान्य, चाँदी-सोना, दास-दासी आदि इस प्रकार के परिग्रह की लालसा कम करके आत्मा को शान्ति के मार्ग पर ले जाना और ब्रह्मचर्य का पालना ।

गुरू वे कहलाते हैं जो माया, मोह-ममता से रहित हों, विषयों की वासना जिन्हें छू तक न गई हो, जो पक्के ब्रह्मचारी हों, तपस्वी हों और संसार के दु:खी जीवों को हित का रास्ता बतलाकर उन्हें सुख प्राप्त कराने वाले हों । इन तीनों पर **अर्थ**ात् देव, धर्म, गुरू पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं । यह सम्यगदर्शन सुख-स्थान पर पहुँचने की सबसे पहली सीढ़ी है । इसलिये तुम इसे ग्रहण करो । इस विश्वास को जैन-शासन या जैन-धर्म भी कहते हैं । जैन-धर्म में जीव को, जिसे कि आत्मा भी कहते हैं, अनादि माना है । न केवल माना ही है, किन्तु वह अनादि ही है, नास्तिकों की तरह वह पंच-भूत -- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनसे बना हुआ नहीं है । क्योंकि ये सब पदार्थ जड़ हैं । ये देख-जान नहीं सकते । और जीव का देखना जानना ही खास गुण है । इसी गुण से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है । जीव को जैन-धर्म दो भागों में बाँट देता है । एक भव्य-अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ-कर्मों का, जिन्होंने कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनादि से ढाँक रक्खा है, नाश कर मोक्ष जाने वाला और दूसरा अभव्य – जिसमें कर्मों के नाश करने की शक्ति न हो । इनमें कर्म-युक्त जीव को संसारी कहते हैं और कर्म-रहित को मुक्त । जीव के सिवा संसार में एक और भी द्रव्य है । उसे अजीव या पुद्गल कहते हैं । इसमें जानने-देखने की शक्ति नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है । अजीव को जैन-धर्म पाँच-भागों में बाँटता है, जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन पाँचों की दो श्रेणियाँ की गई हैं । एक मूर्तिक और दूसरी अमूर्तिक । मूर्तिक उसे कहते हैं जो छुई जा सके, जिसमें कुछ न कुछ स्वाद हो, गन्ध और वर्ण रूप-रंग हो । अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये बातें पाई जाय वह मूर्तिक है

और जिसमें ये न हों वह अमूर्तिक है । उक्त पाँच द्रव्यों में सिर्फ पुद्गल तो मूर्तिक है अर्थात् इसमें उक्त चारों बातें सदा से हैं और रहेंगीं – कभी उससे जुदा न होंगी । इसके सिवा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्तिक हैं । इन सब विषयों का विशेष खुलासा अन्य जैन-ग्रन्थों में किया है । प्रकरणवश तुम्हें यह सामान्य स्वरूप कहा । विश्वास है अपने हित के लिये इसे ग्रहण करने का यत्न करोगे ।
सोमशर्मा को यह उपदेश बहुत पसन्द पड़ा । उसने मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को स्वीकार कर लिया । इसके बाद जिनदत्त व सुमित्र की तरह वह भी संन्यास ले भगवान् का ध्यान करने लगा । सोमशर्मा को भूख-प्यास, ड़ाँस-मच्छर आदि की बहुत बाधा सहनी पड़ी । उसे उसने बड़ी धीरता के साथ सहा । अन्त में समाधि से मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म-स्वर्ग में देव हुआ । वहाँ से श्रेणिक महाराज का अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ । अभयकुमार बड़ा ही धीर-वीर और पराक्रमी था, परोपकारी था । अन्त में वह कर्मों का नाश कर मोक्ष गया ।
सोमशर्मा की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद जिनदत्त और वसुमित्र को भी समाधि से मृत्यु हुई । वे दोनों भी इसी सौधर्म-स्वर्ग में, जहाँ कि सोमशर्मा देव हुआ था, देव हुए ।
संसार का उपकार करनेवाले और पुण्य के कारण जिनके उपदेश किये धर्म को कष्ट समय में भी धारणकर भव्य-जन उस कठिन से कठिन सुख को, जिसके कि प्राप्त करने की उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं होती, प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ भगवान् मुझे वह निर्मल सुख दें, जिस सुख की इन्द्र, चक्री और विद्याधर राजे पूजा करते हैं ।

धर्मानुराग-कथा

धर्मानुराग-कथा
कथा :
जो निर्मल केवल-ज्ञान द्वारा लोक और अलोक के जानने-देखने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, उन जिनेन्द्र-भगवान् को नमस्कार कर धर्म से अनुराग करने वाले राजकुमार लकुच की कथा लिखी जाती है ।
उज्जैन के राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्री के लकुच नाम का एक पुत्र था । लकुच बड़ा अभिमानी था । पर साथ में वीर भी था । उसे लोग मेंघ की उपमा देते थे । इसलिए कि वह शत्रुओं की मानरूपी अग्नि को बुझा देता था, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथ का खेल था ।
कालमेंघ नाम के म्लेच्छ राजा ने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी । अवन्ति देश की प्रजा को तब जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी । लकुच ने इसका बदला चुकाने के लिए कालमेंघ के देश पर भी चढ़ाई कर दी । दोनों ओर से घमासान युद्ध होने पर विजय-लक्ष्मी लकुच की गोद में आकर लेटी । लकुच ने तब कालमेंघ को बाँध लाकर पिता के सामने रख दिया । धनवर्मा अपने पुत्र की इस वीरता को देखकर बड़े खुश हुए । इस खुशी में धनवर्मा ने लकुच को कुछ वर देने की इच्छा जाहिर की । पर उसकी प्रार्थना से वर को उपयोग में लाने का भार उन्होंने उसी की इच्छा पर छोड़ दिया । अपनी इच्छा के माफिक करने की पिता की आज्ञा पा लकुच की आँखें फिर गईं । उसने अपनी इच्छा का दुरूपयोग करना शुरू किया । व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई । तब अच्छे-अच्छे घराने की सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं । उनका धर्म-भ्रष्ट किया जाने लगा । अनेक सतियों ने इस पापी से अपने धर्म की रक्षा के लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं । प्रजा के लोग तंग आ गये । वे महाराज से राजकुमार की शिकायत तक करने नहीं पाते । कारण राजकुमार के जासूस उज्जैन के कोने-कोने में फैल रहे थे, इसलिए जिसने कुछ राजकुमार के विरूद्ध जबान हिलाई या विचार किया, फौरन ही मौत के मुँह में फैंक दिया जाता था ।
यहाँ एक पुंगल नाम का सेठ रहता था । इसकी स्त्री का नाम नागदत्ता था । नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी । एक दिन पापी लकुच की इस पर आँखें चली गईं । बस, फिर क्या देर थी ? उसने उसी समय उसे प्राप्त कर अपनी नीच मनोवृत्ति की तृप्ति की । पुंगल उसकी इस नीचता से सिर से पाँव तक जल उठा । क्रोध की आग उसके रोम-रोम में फैल गई । वह राजकुमार के दबदबे से कुछ करने-धरने को लाचार था । पर उस दिन की बाट वह बड़ी आशा से जोह रहा था । जिस दिन कि वह लकुच से उसके कर्मों का भरपूर बदला चुकाकर अपनी छाती ठण्डी करे ।
एक दिन लकुच वन-क्रीड़ा के लिए गया हुआ था । भाग्य से वहाँ उसे मुनिराज के दर्शन हो गये । उसने उनसे धर्म का उपदेश सुना ।

उपदेश का प्रभाव उसपर खूब पड़ा । इसलिए वह वहीं उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया । उधर पुंगल ऐसे मौके को आशा लगाये बैठा ही था, सो जैसे ही उसे लकुच का मुनि होना जान पड़ा वह लोहे के बड़े-बड़े तीखे कीलों को लेकर लकुच मुनि के ध्यान करने की जगह पर आया । इस समय लकुच मुनि ध्यान में थे । पुंगल तब उन कीलों को मुनि के शरीर में ठोककर चलता बना । लकुच मुनि ने इस दु:सह उपसर्ग को बड़ी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुराग से सहकर स्वर्ग-लोक प्राप्त किया । सच है, महात्माओं का चरित्र विचित्र ही हुआ करता है । वे अपने जीवन की गति को मिनट भर में कुछ को कुछ बदल डालते हैं ।
वे लकुच मुनि जयलाभ करें, कर्मों को जीतें, जिन्होंने असहय कष्ट सहकर जिनेन्द्र-भगवान् रूपी चन्द्रमा के उपदेश रूपी अमृतमयी किरणों से स्वर्ग का उत्तम-सुख प्राप्त किया, गुणरूपी रत्नों के जो पर्वत हुए और ज्ञान के गहरे समुद्र कहलाये ।

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा

दूसरों के गुण ग्रहण करने की कथा
कथा :
सब प्रकार के दोषों से रहित जिनभगवान् को नमस्कार कर सम्यग्दर्शन को खूब दृढ़ता के साथ पालन करनेवाले जिनदास सेठ की पवित्र कथा लिखी जाती है ।
प्राचीन काल से प्रसिद्ध पाटलिपुत्र (पटना) में जिनदत्त नामका एक प्रसिद्ध और जिनभक्त सेठ हो चुका है । जिनदत्त सेठ की स्त्री का नाम जिनदासी था । जिनदास, जिसकी कि यह कथा है, इसी का पुत्र था । अपनी माता के अनुसार जिनदास भी ईश्वर-प्रेमी, पवित्र-हृदयी और अनेक गुणों का धारक था ।
एक बार जिनदास सुवर्ण द्वीप से धन कमाकर अपने नगर की ओर आ रहा था । किसी काल नामके देव की जिनदास के साथ कोई पूर्व-जन्म की शत्रुता होगी । और इसलिए वह देव इसे मारना चाहता होगा । यही कारण था कि उसने कोई सौ-योजन चौड़े जहाज पर बैठे-बैठे ही जिनदास से कहा -- जिनदास, यदि तू यह कह दे कि जिनेन्द्र-भगवान् कोई चीज नहीं, जैन-धर्म कोई चीज नहीं, तो तुझे मै जीता छोड़ सकता हूँ, नहीं तो मार डालूँगा । उस देव का वह डराना सुन जिनदास वगैरह ने हाथ जोड़कर श्री महावीर भगवान् को बड़ी भक्ति से नमस्कार किया और निडर होकर वे उससे बोले -- पापी, यह हम कभी नहीं कह सकते कि जिन-भगवान् और उनका धर्म कोई चीज नहीं बल्कि हम यह दृढ़ता के साथ कहते हैं कि केवल-ज्ञान द्वारा सूर्य से अधिक तेजस्वी जिनेन्द्र-भगवान् और संसार द्वारा पूजा जाने वाला उनका मत सबसे श्रेष्ट है । उनकी समानता करनेवाला कोई देव और कोई धर्म संसार में है ही नहीं । इतना कहकर ही जिनदास ने सबके सामने ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती की कथा, जो कि पहले लिखी जा चुकी है, कह सुनाई । उस कथा को सुनकर सबका विश्वास और भी दृढ़ हो गया ।
इन धर्मात्माओं पर इस विपत्ति के आने से उत्तरकुरू में रहने वाले अनाव्रत नाम के यक्ष का आसन कँपा । उसने उसी समय आकर क्रोध से कालदेव के सिर पर चक्र की बड़ी जोर की मार जमाई और उसे उठाकर बडवानल में डाल दिया ।
जहाज के लोगों की इस अचल भक्ति से लक्ष्मी-देवी बड़ी प्रसन्न हुई । उसने आकर इन धर्मात्माओं का बड़ा आदर-सत्कार किया और इनके लिए भक्ति से अर्घ चढ़ाया । सच है, जो भव्य-जन सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं, संसार में उनका आदर, मान कौन नहीं करता । इसके बाद जिनदास वगैरह सब लोग कुशलता से अपने घर आ गये । भक्ति से उत्पन्न हुए पुण्य ने इनकी सहायता की । एक दिन मौका पाकर जिनदास ने अवधिज्ञानी मुनि से कालदेव ने ऐसा क्यों किया, इस बाबत खुलासा पूछा । मुनिराज ने इस बैर का सब कारण जिनदास से कहा । जिनदास को सुनकर सन्तोष हुआ ।
जो बुद्धिमान् हैं, उन्हें उचित है या उनका कर्त्तव्य है कि वे परम-सुख के लिए संसार का हित करनेवाले और मोक्ष के कारण पवित्र-सम्यग्दर्शन को ग्रहण करें । इसे छोड़कर उन्हें और बातों के लिए कष्ट उठाना उचित नहीं, कारण वे मोक्ष के कारण नही हैं ।

सम्यक्त्व को न छोड़ने वाले की कथा

सम्यक्त्व को न छोड़ने वाले की कथा
कथा :

जिन्हें स्वर्ग के देव नमस्कार करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर सम्यक्त्व को न छोड़नेवाली जिनमती की कथा लिखी जाती है ।

लाटदेश के सुप्रसिद्ध गलगोद्रह नामके शहर में जिनदत्त नाम का एक सेठ हो चुका है । उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था । इसके जिनमती नाम की एक लड़की थी । जिनमती बहुत सुन्दरी थी । उसकी भुवनमोहिनी सुन्दरता देखकर स्वर्ग की अप्सराएँ भी लजा जाती थीं । पुण्य से सुन्दरता प्राप्त होती ही है ।

यहीं पर एक दूसरा और सेठ रहता था । इसका नाम नागदत्त था । नागदत्त की स्त्री नागदत्ता के रूद्रदत्त नाम का एक लड़का था । नागदत्त ने बहुतेरा चाहा कि जिनदत्त जिनमती का ब्याह उसके पुत्र रूद्रदत्त से कर दे । पर विधर्मी होने से जिनदत्त ने उसे अपनी पुत्री न ब्याही । जिनदत्त का यह हठ नागदत्त को पसन्द न आया । उसने तब एक दूसरी ही युक्ति की । वह यह कि नागदत्त और रूद्रदत्त समाधिगुप्त मुनि से कुछ व्रत नियम लेकर श्रावक बन गये और श्रावक सरीखी सब क्रियाएँ करने लगे । जिनदत्त को इससे बड़ी खुशी हुई । और उसे इस बात पर पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि वे सचमुच ही जैनी हो गये हैं । तब इसने बड़ी खुशी के साथ जिनमती का ब्याह रूद्रदत्त से कर दिया । जहाँ ब्याह हुआ कि इन दोनों पिता-पुत्रों ने जैन-धर्म छोड़कर पीछा अपना धर्म ग्रहण कर लिया ।

रूद्रदत्त अब जिनमती से रोज-रोज आग्रह के साथ कहने लगा कि प्रिये, तुम भी अब क्यों न मेरा ही धर्म ग्रहण कर लेती हो । वह बड़ा उत्तम धर्म है । जिनमती की जिनधर्म पर गाढ़ श्रद्धा थी । वह जिनेन्द्र-भगवान् की सच्ची सेविका थी । ऐसी हालत में उसे जिनधर्म के सिवा अन्य धर्म कैसे रूच सकता था । उसने तब अपने विचार बड़ी स्वतन्त्रता के साथ अपने स्वामी पर प्रगट किये । वह बोली – प्राणनाथ, आपका जैसा विश्वास हो, उसपर मुझे कुछ कहना-सुनना नहीं । पर मैं अपने विश्वास के अनुसार यह कहूँगी कि संसार में जैन-धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सर्वोच्च होने का दावा कर सकता है । इसलिए कि जीवमात्र का उपकार करने की उसमें योग्यता है और बड़े-बड़े राजे-महाराजे, स्वर्ग के देव, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि उसे पूजते-मानते हैं । फिर मैं ऐसी कोई बेजा बात उसमें नहीं पाती कि जिससे मुझे उसके छोड़नेके लिए बाध्य होना पड़े । बल्कि मैं आपको भी सलाह दूँगा कि आप इसी सच्चे और जीवका मात्र का हित करनेवाले जैन-धर्म को ग्रहण कर लें तो बड़ा अच्छा हो । इसी प्रकार इन दोनों पति-पत्नीमें परस्पर बात-बीच हुआ करती थी । अपने-अपने धर्म की दोनों ही तारीफ किया करते थे । रूद्रदत्त जरा अधिक हठी था । इसलिए कभी-कभी जिनमती पर जिनमती बुद्धिमती और चतुर थी, इसलिए यह उसकी नाराजगी पर कभी अप्रसन्नता जाहिर न करती । बल्कि उसकी नाराजी हँसी का रूप दे झट से रूद्रदत्त को शान्त कर देती थी । जो हो, पर ये रोज-रोजकी विवाद भरी बातें सुखका कारण नहीं होतीं ।

इस तरह कुछ समय बीत गया । एक दिन ऐसा मौका आया कि दुष्ट भीलों ने शहर के किसी हिस्से में आग लगा दी । चारों ओर आग बुझाने के लिये दौड़ा-दौड़ पड़ गई । उस भयंकर आग को देखकर लोगों को अपनी जान का भी सन्देह होने लगा । इस समय को योग्य अवसर देख जिनमती ने अपने स्वामी रूद्रदत्त से कहा -- प्राणनाथ, मेरी बात सुनिए । रोज-रोज का जो अपने में वाद-विवाद होता है, मैं उसे अच्छा नहीं समझती । मेरी इच्छा है कि यह झगड़ा रफा हो जाय ।

इसके लिए मेरा यह कहना है कि आज अपने शहर में आग लगी है उस आग को जिसका देव बुझा दे, समझना चाहिए कि वही देव सच्चा है और फिर उसी को हमें परम्परा में स्वीकार कर लेना चाहिए । रूद्रदत्त ने जिनमती की यह बात मान ली । उसने तब कुछ लोगों को इस बात का गवाह कर महादेव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों के लिए अर्घ दिया, बड़ी भक्ति से उनकी पूजा-स्तुति कर उसने अग्निशान्ति के लिए प्रार्थना की । पर उसकी इस प्रार्थना कुछ उपयोग न हुआ । अग्नि जिस भयंकरता के साथ जल रही थी वह उसी तरह जलती रही । सच है, ऐसे देवों से कभी उपद्रवों की शान्ति नहीं होती, जिनका हृदय दुष्ट है, जो मिथ्यात्त्वी हैं ।

अब धर्मवत्सला जिनमती की बारी आई । उसने बड़ी भक्ति से पंच परमेंष्ठियों के चरण-कमलों को अपने हृदय में विराजमान कर उनके लिये अर्घ चढ़ाया । इसके बाद वह अपने पति, पुत्र आदि कुटुम्ब वर्ग को अपने पास बैठाकर आप कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा पंच-नमस्कार मंत्र का चिन्तन करने लगीं । इसकी इस अचल श्रद्धा और भक्ति को देखकर शासन देवता बड़ी प्रसन्न हुई । उसने तब उसी समय आकर उस भयंकर आग को देखते-देखते बुझा दिया । इस अतिशय को देखकर रूद्रदत्त वगैरह बड़े चकित हुए । उन्हें विश्वास हुआ कि जैनधर्म ही सच्चा धर्म है । उन्होंने फिर सच्चे मन से जैनधर्म की दीक्षा ले श्रावकों के व्रत ग्रहण किये । जैनधर्म की खूब प्रभावना हुई । सच है, संसार श्रेष्ठ जैनधर्म की महिमा को कौन कह सकता है जो कि स्वर्ग-मोक्ष का देनेवाला है । जिस प्रकार जिनमती ने अपने सम्यक्त्व की

रक्षा की उसी तरह अन्य भव्यजनों को भी सुख प्राप्ति के लिये पवित्र सम्यग्दर्शन की सदा सुरक्षा करते रहना चाहिये ।
जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में जिनमती की अचल भक्ति, उसके हृदय की पवित्रता और उसका दृढ़ विश्वास देखकर देवों ने दिव्य वस्त्राभूषणों से उसका खूब आदर-मान किया । और सच भी है, सच्चे जिनभक्त सम्यग्दृष्टि की कौन पूजा नहीं करते ।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव की कथा

सम्यग्दर्शन के प्रभाव की कथा

कथा :

जो सारे संसारके देवाधिदेव हैं और स्वर्ग के देव जिनकी भक्ति से पूजा किया करते हैं उन जिन भगवान् को प्रणाम कर महारानी चेलिनी और श्रेणिक के द्वारा होने वाली सम्यक्त्व के प्रभाव की कथा लिखी जाती है ।
उपश्रेणिक मगध के राजा थे । राजगृह मगध की तब खास राजधानी थी । उपश्रेणिक की रानी का नाम सुप्रभा था । श्रेणिक इसी के पुत्र थे । श्रेणिक जैसे सुन्दर थे जैसे ही उनमें अनेक गुण भी थे । वे बुद्धिमान थे, बड़े गम्भीर प्रकृति के थे, शूरवीर थे, दानी थे और अत्यन्त तेजस्वी थे ।
मगध राज्य की सीमा से लगते ही एक नागधर्म नाम के राजा का राज्य था । नागदत्त की ओर उपश्रेणिक की पुरानी शत्रुता चली आती थी । नागदत्त उसका बदला लेने का मौका तो सदा ही देखता रहता था, पर इस समय उसका उपश्रेणिक के साथ कोई भारी मनमुटाव न था । वह कपट से उपश्रेणिक का मित्र बना रहता था । यही कारण था कि उसने एक बार उपश्रेणिक के लिये एक दुष्ट घोड़ा भेंट में भेजा । घोडा इतना दुष्ट था कि वैसे तो वह चलता ही न था और उसे जरा ही ऐड़ लगाई या लगाम खींची कि बस वह फिर हवा से बात करने लगता था । दुष्टों की ऐसी गति हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । उपश्रेणिक एक दिन इसी घोड़े पर सवार हो हवाखोरी के लिये निकले । इन्होंने बैठते ही जैसे उसकी लगाम तानी कि वह हवा हो गया । बड़ी देर बाद वह एक अटवी में जाकर ठहरा । उस अटवी का मालिक एक यमदण्ड नाम का भील था, जो दीखने में सचमुच ही यम सा भयानक था । इसके तिलकावती नामकी एक लड़की थी । तिलकावती बड़ी सुन्दरी थी । उसे देख यह कहना अनुचित न होगा कि कोयले की खानमें हीरा निकला । कहाँ काला भुसंड यमदण्ड और कहाँ स्वर्ग की अप्सराओं को लजाने वाली इसकी लड़की चन्द्रवती तिलकावती ! अस्तु, इस भुवन-सुन्दर रूपराशि को देखकर उपश्रेणिक उस पर मोहित हो गये । उन्होंने तिलकावती के लिए यमदण्ड से मंगनी की । उत्तर में यमदण्ड ने कहा-----राज-राजेश्वर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ । जब कि एक पृथिवी के सम्राट मेरे जमाई बनते हैं । और इसके लिये मुझे बेहद खुशी है । मैं अपनी पुत्री का आपके साथ ब्याह करूँ, इसके पहले आपको एक शर्त करनी होगी और वह कि आप राज्य तिलकावती से होनेवाली सन्तान को दें । उपश्रेणिकने यमदण्ड की इस बात को स्वीकार कर लिया । यमदण्ड ने भी तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह उपश्रेणिक से कर दिया । उपश्रेणिक फिर तिलकावती को साथ ले राजगृह आ गये ।
कुछ समय सुखपूर्वक बीतने पर तिलकावती के एक पुत्र हुआ । उसका नाम रक्खा गया चिलातपुत्र । एक दिन उपश्रेणिक ने विचार कर, कि मेरे इन पुत्रों में राजयोग किसका है, एक निमित्तज्ञानी को बुलाया और उससे पूछा-----पंडितजी, अपना निमित्तज्ञान देखकर बतलाइए कि मेरे इतने पुत्रों में राज्य-सुख कौन भोग सकेगा ? निमित्तज्ञानी कहा-----महाराज, जो सिंहासन पर बैठा हुआ नगारा बजाता रहे और दूर ही से कुत्तों को खीर खिलाता हुआ आप भी खाता रहे और आग लगने पर सिंहासन, छत्र, चँवर आदि राज्य चिन्हों को निकाल ले भागे, वह राज्य-लक्ष्मी का सुख भोग करेगा । इसमें आप किसी तरह का सन्देह न समझे । उपश्रेणिक ने एक दिन इस बात की परीक्षा करने के लिये अपने सब पुत्रों को खीर खाने के लिये बैठाया । उनके पास ही सिंहासन और एक नगारा भी रखवा दिया । पर यह किसी को पता न पड़ने दिया कि ऐसा क्यों किया गया । सब कुमार भोजन करने को बैठे और खाना उन्होंने आरम्भ किया, कि इतने में एक ओर से सैकडों कुत्तों का झुण्ड का झुण्ड उन पर आ टूटा । तब वे सब डरके मारे उठ उठकर भागने लगे । श्रेणिक उन कुत्तों से न डरा, वह जल्दी से उठकर खीर की पत्तलों का एक ऊँचे स्थान पर धरने लगा । थोड़ी ही देर में उसने बहुत-सी पत्तलें इकट्ठी कर ली । इसके बाद वह स्वयं उस ऊँचे स्थान पर रखे हुये सिंहासन पर बैठकर नगारा बजाने लगा, जिससे कुत्ते उसके पास न आ पावें और इकट्ठी की हुई पत्तलों में से एक-एक पत्तल उठा-उठा कर दूर-दूर फैंकता गया । इस प्रकार अपनी बुद्धि से व्यवस्था कर उसने बड़ी निर्भयता के साथ भोजन किया । इसी प्रकार आग लगने पर श्रेणिक ने सिंहासन, छत्र, चँवर आदि राज्य चिन्हों की रक्षा कर ली ।

उपश्रेणिक के तब निश्चय हो गया कि इन सब पुत्रोंमें श्रेणिक हो एक ऐसा भाग्यशाली है जो मेरे राज्य की अच्छी तरह चलायेगा । उपश्रेणिक ने तब उसकी रक्षा के लिये उसे यहाँ से कहाँ भेज देना उचित समझा । उन्हें इस बात का खटका था कि मैं राज्य का मालिक तिलकावती के पुत्र को बना चुका हूँ, और ऐसी दशा में श्रेणिक यहाँ रहा तो कोई असंभव नहीं कि इसकी तेजस्विता, इसकी बुद्धिमानी, इसकी कार्यक्षमता हो जाय । इसलिए जब तक यह अच्छा हुशियार न हो जाये तब तक इसका कहीं बाहर रहना ही उत्तम है । फिर यदि इसमें बल होगा तो यह स्वयं राज्य को हस्तगत कर सकेगा । इसके लिये उपश्रेणिक ने श्रेणिक के सिर पर यह अपराध मढ़ा कि इसने कुत्तों का झूंठा खाया है, इसलिये अब यह राजघराने में रहने योग्य नहीं रहा । मैं इसे आज्ञा करता हूँ कि यह मेरे राज्य से निकल जाये । सच है, राजे लोग बड़े विचार के साथ काम करते है । निरपराध श्रेणिक पिता की आज्ञा पा उसी समय राजगृह से निकल गया । फिर एक मिनट लिये भी वह वहाँ न ठहरा ।

श्रेणिक यहाँ से चलकर कोई दुपहरके समय नन्द नामक गाँव में पहुँचा । यहाँ के लोगों को श्रेणिक के निकाले जाने का हाल मालूम हो गया था, इसलिए राजद्रोह के भय से उन्होंने श्रेणिक को अपने गाँव में न रहने दिया । श्रेणिक ने तब लाचार हो आगे का रास्ता लिया । रास्ते में इसे एक संन्यासियों का आश्रम मिला । इसने कुछ दिनों यही अपना डेरा जमा दिया । मठ में यह रहता और संन्यासियों का उपदेश सुनता । मठ का प्रधान संन्यासी बड़ा विद्वान् था । श्रेणिक पर उसका बहुत असर पड़ा । उसने तब वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया । श्रेणिक और कुछ दिनों तक यहाँ ठहरा । इसके बाद वह यहाँ से रवाना होकर दक्षिण दिशा की ओर बड़ा |

इस समय दक्षिण की राजधानी काँची थी । काँची के राजा वसुपाल थे । उनकी रानी का नाम वसुमती था । इनके वसुमित्रा नाम की एक सुन्दर और गुणवती पुत्री थी । यहाँ एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था, सोमशर्मा की स्त्री का नाम सोमश्री था । इसके भी एक पुत्री थी । इसका नाम अभयमती था । अभयमती बड़ी बुद्धिमती थी ।

एक बार सोमशर्मा तीर्थयात्रा करके लौट रहा था । रास्ते में उसे श्रेणिक ने देखा । कुछ मेंल-मुलाकात और बोल चाल हुए बाद जब ये दोनों चलने को तैयार हुए तब श्रेणिक ने सोमशर्मा से कहा-----मामाजी, आप भी बड़ी दूर से आते हैं और मैं भी बड़ी दूर से चला आ रहा हूँ, इसलिये हम दोनों ही थक चुके हैं । अच्छा हो यदि आप मुझे अपने कन्धे पर बैठा लें और आप मेरे कंधे पर बैठ कर चलें तो ।श्रेणिक की यह बे सिर पैर की बात सुनकर सोमशर्मा बड़ा चकित हुआ । उसने समझा कि यह पागल हो गया जान पड़ता है । उसने तब श्रेणिक की बात का कुछ जबाब न दिया । थोड़ी दूर चुपचाप आगे बढ़ने पर श्रेणिक ने दो गाँवों को देखा । उसने तब जो छोटा गाँव था उसे तो बड़ा बताया और जो बड़ा था उसे छोटा बताया । रास्ते में श्रेणिक जहाँ सिर पर कड़ी धूप पड़ती वहाँ तो छत्री उतार लेता और जहाँ वृक्षों की ठंडी छाया आती वहा छत्री को चढ़ा लेता । इसी तरह जहाँ कोई नदी-नाला पड़ता तब तो वह जूतियों को पाँवों में पहर लेता और रास्ते में उन्हें हाथ में लेकर नंगे पैरों चलता । आगे चलकर उसने एक स्त्रीको पति द्वारा मार खाती देखकर सोमशर्मा से कहा-----क्यों मामाजी, यह जो स्त्री पिट रही है वह बंधी है या खुली ? आगे एक मरे पुरूष को देखकर उसने पूछा कि यह जीता है या मर गया ? थोड़ी दूर चलकर इसने एक एक धान के पके हुये खेत को देखकर कहा-----इसे इसके मालिकों ने खा लिया है । या वे अब खायेंगे ? इसी तरह सारे रास्ते में एक से एक असंगत और वे-मतलब के प्रश्न सुनकर बेचारा सोमशर्मा ऊब गया । राम-राम करते वह घर पर आया । श्रेणिक को वह शहर बाहर ही एक जगह बैठाकर यह कह आया कि मैं अपनी लड़की से पूछकर अभी आता हूँ, तब तक तुम वहाँ बैठना ।

अभयवती अपने पिता को आया देख बड़ी खुश हुई । उन्हें कुछ खिला-पिला कर उसने पूछा-----पिताजी, आप अकेले गये थे और अकेले ही आये हैं क्या ? सोमशर्मा ने कहा-----बेटा, मेरे साथ एक बड़ा ही सुन्दर लड़का आया है । पर बड़े दु:खकी बात है कि वह बेचारा पागल हो गया जान पड़ता है । उसकी देवकुमार सी सुन्दर जिन्दगी धूलधानी हो गई । कर्मों की लीला बड़ी ही विचित्र है । मुझे तो उसकी वह स्वर्गीय सुन्दरता और साथ ही उसका वह पागलपन देखकर उस पर बड़ी दया आती है । मैं उसे शहर बाहर एक स्थान पर बैठा आया हूँ । अपने पिता की बातें सुनकर अभयमती को बड़ा कौतुक हुआ । उसने सोमशर्मा से पूछा-----हाँ तो पिताजी उसमें किस तरह का पागलपन है ? मुझे उसके सुनने की बड़ी उत्कण्ठा हो गई है । आप बतलायें । सोमशर्मा ने तब अभयमती से श्रेणिक की से सब चेष्टाएँ-----कन्धे पर चढ़ना-चढ़ाना छोटे गाँव को बड़ा और बड़े को छोटा कहना, वृक्ष के नीचे छत्री चढ़ा लेना और धूप में उतार देना, पानी में चलने समय जूते, पहर लेना और रास्ते में चलते उन्हें हाथ में ले लेना आदि कह सुनाई । अभयमती ने उन सबको सुनकर अपने पिता से कहा-----पिताजी, जिस पुरूष ने ऐसी बातें की हैं उसे आप पागल या साधारण पुरूष न समझें । वह तो बड़ा ही बुद्धिमान है । मुझे मालूम होता है उसकी

बातों के रहस्य पर आपने ध्यान से विचार न किया इसी से आपको उसकी बातें बे-सिर पैर की जान पड़ी । पर ऐसा नहीं है । उन सब में कुछ न कुछ रहस्य जरूर है । अच्छा, वह सब मैं आपको समझाती हूँ-----पहले ही उसने जो यह कहा था कि आप मुझे अपने कंधे पर चढ़ा लीजिए और आप मेरे कंधों पर चढ़ जाइये, इससे उसका मतलब था, आप हम दोनों एक ही रास्ते से चलें । क्योंकि स्कन्ध शब्द का रास्ता **अर्थ** भी होता है । और यह उसका कहना ठीक भी था । इसलिए कि दो जने साथ रहने से हर तरह बड़ी सहायता मिलती रहती है । दूसरे उसने दो ग्रामों को देखकर बड़े को तो छोटा और छोटे को बड़ा कहा था । इससे उसका अभिप्राय यह है कि छोटे गाँव के लोग सज्जन हैं, धर्मात्मा हैं, दयालु हैं, परोपकारी हैं और हर एक की सहायता करने वाले हैं । इसलिए यद्यपि वह गाँव छोटा था, पर तब भी उसे बड़ा ही कहना चाहिए । क्योंकि बड़प्पन गुणों और कर्त्तव्य पालन से कहलाता है । केवल बाहरी चमक दमक से नहीं । और बड़े गाँव को उसने तब छोटा कहा, इससे उसका मतलब स्पष्ट ही है कि उसके रहवासी अच्छे लोग नहीं हैं, उनमें बड़प्पन के जो गुण होने चाहिए वे नहीं है ।

तीसरे उसने वृक्षके नीचे छत्री को चढ़ा लिया था और रास्ते में उसे उतार लिया था । ऐसा करने से उसकी मंशा यह थी । रास्ते में छत्रीको न लगाया जाय तो भी कुछ नुकसान नहीं और वृक्ष के नीचे न लगाने से उस पर बैठे हुए पक्षियों के बीट बगैरह के करने का डर बना रहता है । इसलिए वहाँ छत्री का लगाना आवश्यक है ।

चौथे उसने पानी में चलते समय तो जूतों को पहर लिया और रास्ते में चलते समय उन्हें हाथ में ले लिया था । इससे वह यह बतलाना चाहता है-----पानी में चलते समय यह नहीं देख पड़ता है कि कहाँ क्या पड़ा है । कांटे, कीलें और कंकर-पत्थरों के लगे जाने का भय रहता है, जल जन्तुओं के काटने का भय रहता है । अतएव पानी में उसने जूतों को पहर कर बुद्धिमानी का ही काम किया । रास्तें में अच्छी तरह देख-भाल कर चल सकते है, इसलिए यदि वहाँ जूते न पहरे जाये तो उतनी हानि की संभावना नहीं ।

पाँच वे उसने एक स्त्री को मार खाते देखकर पूछा था कि यह स्त्री बँधी है या खुली ? इस प्रश्न से मतलब था-----उस स्त्री का ब्याह हो गया है या नहीं ?

छठे-----उसने एक मुर्दे को देखकर पूछा था-----यह मर गया है या जीता है ? पिताजी, उसका यह पूछना बड़ा मार्के का था । इससे वह यह जानना चाहता था कि यदि यह संसार का कुछ काम करके मरा है, यदि इसने स्वार्थ त्याग अपने धर्म, अपने देश और अपने देश के भाई-बन्धुओं के हित में जीवन का कुछ हिस्सा लगाकर मनुष्य जीवन का कुछ कर्त्तव्य पालन किया है, तब तो वह मरा हुआ भी जीता ही है । क्योंकि उसकी वह प्राप्त की हुई कीर्ति मौजूद है, सारा संसार उसे स्मरण करता है, उसे ही अपना पथ प्रदर्शक बनाता है । फिर ऐसी हालत में उसे मरा कैसे कहा जाय ? और इससे उलटा जो जीता रह कर भी संसार का कुछ काम नहीं करता, जिसे सदा अपने स्वार्थ की ही पड़ी रहती है और जो अपनी भलाई के सामने दूसरों के होने वाले अहित या नुकसान को नहीं देखता; बल्कि दूसरों का बुरा करने की कोशिश करता है ऐसे पृथिवी के बोझ की कौन जीता कहेगा ? उससे जब किसी को लाभ नहीं तब उसे मरा हुआ ही समझना चाहिए ।

सातवें उसने पूछा यह धान का खेत मालिकों द्वारा खा-लिया गया या अब खाया जायगा ? इस प्रश्न से उसका यह मतलब था कि इसके मालिकों ने कर्ज लेकर इस खेत को बोया है या इसके लिए उन्हें कर्ज लेने की जरूरत न पड़ी **अर्थ**ात् अपना ही पैसा उन्होंने इसमें लगाया है ? यदि कर्जा लेकर उन्होंने तैयार किया तब तो समझना चाहिए कि यह खेत पहले ही खा लिया गया और यदि कर्ज नहीं लिया गया तो अब वे इसे खायँगे-----अपने उपयोग में लावेंगे ।

इस प्रकार श्रेणिक के सब प्रश्नों का उत्तर अभयमती ने अपने पिता को समझाया । सुनकर सोमशर्मा को बड़ा ही आनन्द हुआ । सोमशर्मा ने तब अभयमती से कहा-----तो बेटा ऐसे गुणवान् और रूपवान् लड़के को तो अपने घर लाना चाहिए । और अभयमती, वह जब पहले ही मिला तब उसने मुझे मामाजी कह कर पुकारा था । इसलिए उसका कोई अपने साथ सम्बन्ध भी होगा । अच्छा तो मैं उसे बुलाये लाता हूँ ।

अभयमती बोली-----पिताजी, आपको तकलीफ उठाने की कोई आवश्यकता नहीं । मैं अपनी दासी को भेजकर, उसे बुलवा लेती हूँ । मुझे अभी एक दो बातों द्वारा और उसको जाँच करना है । इसके लिये मैं निपुणमती को भेजती हूँ । अभयमती ने इसके बाद निपुणमती को कुछ थोड़ा सा उबटन चूर्ण देकर भेजा और कहा तू उस नये आगन्तुक से कहना कि मेंरी मालिकन ने आपकी मालिश के लिए यह तेल और उबटन चूर्ण भेजा है, सो आप अच्छी तरह मालिश तथा स्नान करके फलॉ रास्ते से घर पर आवें । निपुणमती ने श्रेणिक के पास पहुँच

कर सब हाल कहा और तेल तथा उबटन रखने को उससे बरतन माँगा । श्रेणिक उस थोड़े से तेल और उबटनको देखकर, जिससे कि एक हाथकी भी मालिश होना असंभव था, दंग रह गया । उसने तब जान लिया कि सोमशर्मा से मैंने जो-जो प्रश्न किये थे उसने अपनी लड़की से अवश्य कहा है । अस्तु कुछ परवा नहीं । यह विचार कर उस उपजत-बुद्धि श्रेणिक ने तेल और उबटन चूर्ण के रखने को अपने पाँव के अँगूठे से दो गढ़े बनाकर निपुणमती से कहा-----आप तेल और चूर्ण के लिए बरतन चाहती हैं । अच्छी बात है, ये (गड्ढे की ओर इशारा करके) बरतन हैं । आप इनमें तेल और चूर्ण रख दीजिए । मैं थोड़ी ही देर बाद स्नान करके आपकी मालिकन की आज्ञा का पालन करूँगा । निपुणमती श्रेणिक की इस बुद्धिमानी को देखकर दंग रह गई । वह फिर श्रेणिक के कहे अनुसार तेल और चूर्ण को रखकर चली गई । अभयमतीने श्रेणिक को जिस रास्ते से बुलाया था, उसमें उसने कोई घुटने-घुटने तक कीचड़ करवा दिया था । और कीचड़ बाहर होने के स्थान पर बाँस की एक छोटी सी पतली छोई (कमची) और बहुत ही थोड़ा सा जल रख दिया था । इसलिए कि श्रेणिक अपने पाँवोंको साफ कर भीतर आये ।

श्रेणिकने घर पहुँच कर देखा तो भीतर जानेके रास्तेमें बहुत कीचड़ हो रहा है । वह कीचड़में होकर यदि जाये तो उसके पाँव् भरते है और दूसरी ओरसे भीतर जानेका रास्ता उसे मालूम नहीं है । यदि वह मालूम भी करे तो उससे कुछ लाभ नहीं है । अभयमतीने उसे इसी रास्ते बुलाया है । वह फिर कीचड़में ही होकर गया । बाहर होते ही उसे पाँव् धोनेके लिए थोड़ा जल रखा हुआ मिला । वह बड़े आश्चर्यमें आ गया कि कीचड़से ऐसे लथपथ भरे पाँवोंको मैं इस थोड़े से पानीसे कैसे धो सकूँगा । पर इसके सिवा उसके पास और कुछ उपाय भी न था । तब उसने पानीके पास ही रखी हुई उस छाईको उठाकर पहले उससे पाँवोंका कीचड़ साफ कर लिया और फिर उस थोड़े से जलसे धोकर एक कपड़े से उन्हेंपोंछ लिया। इन सब परीक्षाओंमें पास होकर जब श्रेणिक अभयमतीके सामने आया तब अभयमतीने उसके सामने एक ऐसा मूँगेका दाना रक्खा कि जिसमें हजारों बांके-सीधे छेद थे । यह पता नहीं पड़ पाता था कि किस छेदमें सूतका धागा पिरोनेसे उसमें पिरोया जा सकेगा और साधारण लोगोंके लिए यह बड़ा कठिन भी था । पर श्रेणिकने अपनी बुद्धिकी चतुरतासे उस मूँगमें बहुत जल्दी धागा पिरो दिया। श्रेणिककी इस बुद्धिमानीका बड़ी अच्छी तरह आदर-सत्कार किया, खूब आनन्दके साथ उसे अपने ही घर पर जिमाया और कुछ दिनोंके लिए उसे वहीं ठहरा भी लिया । अभयमतीकी मंशा उसकी सखी द्वारा जानकर उसके माता-पिताको बड़ी प्रसन्नता हुई । घर बैठे उन्हें ऐसा योग्य जँवाई मिल गया, इससे बढ़कर और प्रसन्नताकी बात उनके लिए हो भी क्या सकती थी । कुछ दिनों बाद श्रेणिकके साथ अभयमतीका ब्याह भी हो गया । दोनोंने नए जीवनमें प्रवेश किया । श्रेणिकके कष्ट भी बहुत कम हो गए । वह अब अपनी प्रियाके साथ सुखसे दिन बिताने लगा ।

सोमशर्मा नामका एक ब्राह्मण एक अटवीमें जिनदत्त मुनिके पास दीक्षा लेकर संन्याससे मरा था । उसका उल्लेख अभिषेकविधिसे प्रेम करने वाले जिनदत्त और वसुमित्रकी १०३ वीं कथामें आ चुका है । यह सोमशर्मा यहाँसे मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ । जब इसकी स्वर्गायु पूरी हई तब यह काँचीपुरमें हमारे इस कथानायक श्रेणिकके अभयकुमार नामका पुत्र हुआ । अभयकुमार बड़ा वीर और गणुवान् था और सच भी है जो कर्मों का नाशकर मोक्ष जाने वाला है, उसकी वीरताका क्या पूछना ?

काँचीके राजा वासुपाल एक बार दिग्विजय करनेको निकले । एक जगह उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमंदिर देखा । उसमें विशेषता यह थी कि वह एक ही खम्भेके ऊपर बनाया गया था-----उसका आधार एक ही खम्भा था । वसुपाल उसे देखकर बहुत खुश हुए । उनकी इच्छा हुई कि ऐसा मंदिर काँचीमें भी बनवाया जाये । उन्होंने उसी समय अपने पुरोहित सोमशर्माको एक पत्र लिखा । उसमें लिखा कि----- ‘‘ अपने यहाँ एक ऐसा सुन्दर जिनमंदिर तैयार करवाना, जिसकी इमारत भव्य और बड़ी मनोहर हो । सिवा इसके उसमें यह विशेषता भी हो कि मंदिर की सारी इमारत एक ही खम्भे पर खड़ी की जाए । मैं जब तक जाऊँ तब तक मंदिर तैयार हो जाना चाहिए । ’सोमशर्मा पत्र पढ़कर बड़ी चिन्ता में पड़ गया । वह इस विषय में कुछ जानता न था ,इसलिये वह क्या करे ? कैसा मन्दिर बनवाये ? इसकी उसे कुछ सूझ न पड़ती थी । चिन्ता उसके मुँह पर सदा छाई रहती थी । उसे इस प्रकार उदास देखकर श्रेणिक ने उससे उसकी उदासी का कारण पूछा । सोमशर्मा ने तब वह पत्र श्रेणिक ने हाथ में देकर कहा-----यही पत्र मेंरी चिन्ता का मुख्य कारण है । मुझे इस विषय का किंचित् भी ज्ञान नहीं तब मैं मंदिर बनवाऊँ भी तो कैसा ? इसी से मैं चिन्तामग्न रहता हूँ । श्रेणिक ने तब सोमशर्मा से कहा-----आप इस विषयकी चिन्ता छोड़कर इसका सारा भार मुझे दे दीजिए । फिर देखिए, मैं थोड़े ही समय में महाराज के लिखे अनुसार मंदिर बनवाए देता हूँ । सोमशर्मा को श्रेणिक के इस साहस पर आश्चर्य तो अवश्य हुआ, पर उसे श्रेणिक की बुद्धिमानी का परिचय पहले ही से

मिल चुका था; इसलिए उसने कुछ सोच-विचार न कर सब काम श्रेणिक के हाथ सौंप दिया । श्रेणिक ने पहले मंदिर का एक नक्शा तैयार किया । जब नक्शा उसके मन के माफिक बन गया तब उसने हजारों अच्छे-अच्छे कारीगरों को लगाकर थोड़े ही समय में मंदिर की विशाल और भव्य इमारत तैयार करवा ली । श्रेणिक की इस बुद्धिमानी को जो देखता वही उसकी शतमुख से तारीफ करता । और वास्तव में श्रेणिक ने यह कार्य प्रशंसा के लायक किया भी था । सच है, उत्तम ज्ञान, कला-चतुराई ये सब बातें बिना पुण्य के प्राप्त नहीं होती ।

जब वसुपाल लौटकर काँची आये और उन्होंने मंदिर की उस भव्य इमारत को देखा तो वे बड़े खुश हुए । श्रेणिक पर उनकी अत्यन्त प्रीति हो गई । उन्होंने तब अपनी कुमारी वसुमित्रा का उसके साथ ब्याह भी कर दिया । श्रेणिक राजजमाई बनकर सुख के साथ रहने लगा ।

अब राजगृह की कथा लिखी जाती है—

उपश्रेणिक ने श्रेणिक को, उसकी रक्षा हो इसके लिए, देश बाहर कर दिया । इसके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने और राज्य किया । फिर कोई कारण मिल जानेसे उन्हें संसार-विषय-भोगादि से बड़ा वैराग्य हो गया । इसलिए वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, चिलातपुत्र को सब राज्यभार सौंपकर दीक्षा ले, योगी हो गये । राज्यसिहासन अब चिलातपुत्र ने अलंकृत किया ।

प्राय: यह देख जाता है कि एक छोटी जाति के या विषयों के कीड़े , स्वार्थी, अभिमानी, मनुष्य को कोई बड़ा अधिकार या खूब मनमानी दौलत मिल जाती है तो फिर उसका सिर आसमान में चढ़ जाता है, आंखें उसकी अभिमान के मारे नीची देखती ही नहीं । ऐसा मनुष्य संसार में फिर सब कुछ अपने को ही समझने लगता है । दूसरों की इज्जत-आबरू की वह कुछ परवा न कर उनका कौड़ी के भाव भी मोल नहीं समझता । चिलातपुत्र भी ऐसे ही मनुष्यों में था । बिना परिश्रम या बिना हाथ-पाँव् हिलाये उसे एक विशाल राज्य मिल गया और मजा यह कि अच्छे शूरवीर और गुणवान् भाइयों के बैठे रहते । तब उसे क्यों न राजलक्ष्मी का अभिमान हो ? क्यों न वह गरीब प्रजा को पैरों नीचे कुचल कर इस अभिमानका उपयोग करें ? उसकी माँ भील की लड़की, जिसका कि काम दिन-रात लूट-खसोट करने और लोगों को मारने-काटने का रहा, उसके विचार गन्दे, उसकी वासनाएँ नीचातिनीच; तब वह अपनी जाति, अपने विचार और अपनी वासना के अनुसार यदि काम करें तो इसमें नई बात क्या ? कुछ लोग ऐसा कहें कि यह सब होने पर भी अब वह राजा है, प्रजा का प्रतिपालक है, तब उसे तो अच्छा होना ही चाहिये । इसका यह उत्तर है कि ऐसा होना आवश्यक है और एक ऐसे मनुष्य को, जिसका कि अधिकार बहुत बड़ा है-----हजारों लाखों अच्छे-अच्छे इज्जत-आबरूदार, धनी गरीब, दीन, दु:खी जिसकी कृपा की चाह करते हैं, विशेष कर शिष्ट और सबका हितैषी होना चाहिए । हाँ ये सब बातें उसमें हो सकती हैं, जिसमें दयालुता, परोपकारता, कुलीनता, निरभिमानता, सरलता, सज्जनता आदि गुण कुल-परम्परा से चले आते हों । और जहाँ इनका मूल में ही कुछ ठिकाना नहीं वहाँ इन गुणों का होना असम्भव नहीं तो दु:साध्य अवश्य है । आप एक कौए को मोर के पंखों से खूब सजाकर सुन्दर बना दीजिए, पर रहेगा वह कौआ का कौआ ही । ठीक इसी तरह चिलातपुत्र आज एक विशाल राज्य का मालिक जरूर बन गया, पर उसमें भील-जाति का अंश है वह अपने चिर संस्कार के कारण इसमें पवित्र गुणों की दाल गलने नहीं देता । और यही कारण हुआ कि राज्यधिकार प्राप्त होते ही उसकी प्रवृति अच्छी ओर न होकर अन्याय की ओर हुई । प्रजा को उसने हर तरह तंग करना शुरू किया । कोई दुर्व्यसन, कोई कुकर्म उससे न छूट पाया । अच्छे–अच्छे घराने की कुलशील सतियों की इज्जत ली जाने लगी । लोगों का धनमाल जबरन लूटा-खोसा जाने लगा । उसकी कुछ पुकार नहीं, सुनवाई नहीं, जिसे रक्षक जानकर नियत किया वही जब भक्षक बन बैठा तब उसकी पुकार, की भी कहाँ जाये ? प्रजा अपनी आंखों से घोर से घोर अन्याय देखती, पर कुछ करने-धरने को समर्थ न होकर वह मन मसोस कर रह जाती । जब चिलात बहुत ही अन्याय करने लगा तब उसकी खबर बड़ी-बड़ी दूर तक बात सुन पड़ने लगी । श्रेणिक को भी प्रजा द्वारा यह हाल मालूम हुआ । उसे अपने पिता की निरीह प्रजा पर चिलात का यह अन्याय सहन नहीं हुआ । उसने तब अपने श्वसुर वसुपाल से कुछ सहायता लेकर चिलात पर चढ़ाई कर दी । प्रजा को जब श्रेणिक की चढ़ाई का हाल मालूम हुआ तो उसने बहुत खुशी मनाई, और हृदय से उसका स्वागत किया । श्रेणिक ने प्रजा को सहायता से चिलात को सिंहासन से उतार देश बाहर किया और प्रजा की अनुमति से फिर आप ही सिंहासन पर बैठा । सच है, राज्यशासन वहीं कर सकता है और वही पात्र भी है जो बुद्धिमान् हो, समर्थ हो और न्यायप्रिय हो । दुर्बुद्धि, दुराचारी, कायर और अकर्मण्य पुरूष उसके योग्य नहीं ।

इधर कई दिनोंसे अपने पिताको न देखकर अभयकुमार ने अपनी माता से एक दिन पूछा-----माँ, बहुत दिनों से पिताजी देख नहीं पड़ते,

सो वे कहाँ है । अभयमती ने उत्तर में कहा-----बेटा, वे जाते समय कह गये थे कि राजगृह में 'पाण्डुकुटि' नाम का महल है । प्राय: मैं वहीं रहता हूँ । सो मैं जब समाचार दूँ तब वही आ जाना । तब से अभी तक उनका कोई पत्र न आया । जान पड़ता है राज्य के कामों से उन्हें स्मरण न रहा । माता द्वारा पिता का पता पा अभयकुमार अकेला ही राजगृह को रवाना हुआ । कुछ दिनों में वह नन्दगाँव में पहुँचा । पाठकों को स्मरण होगा कि जब श्रेणिक को उसके पिता उपश्रेणिक ने देश बाहर हो जाने की आज्ञा दी थी और श्रेणिक उसके अनुसार राजगृह से निकल गया था तब उसे सबसे पहले रास्ते में यही नन्दगाँव पड़ा था । पर यहाँ के लोगों ने राजद्रोह के भय से श्रेणिक को गाँव में आने नहीं दिया था । श्रेणिक इससे उन लोगों पर बड़ा नाराज हुआ था । इस समय उन्हें उनकी उस असहानुभूति की सजा देने के अभिप्राय से श्रेणिक ने उन पर एक हुक्मनामा भेजा और उसमें लिखा कि '' आपके गाँव में एक मीठे पानी का कुँआ है । उसे बहुत जल्दी मेरे यहाँ भेजो, अन्यथा इस आज्ञा का पालन न होने से तुम्हें सजा दी जायगी ।'' बेचारे गाँव के रहने वाले स्वभाव से डरपौक ब्राह्मण राजा के इस विलक्षण हुक्मनामें को सुनकर बड़े घबराये । जो ले जाने की चीज होती है वही ले-जाई जाती है, पर कुँआ एक स्थान से अन्य स्थान पर कैसे-ले जाया जाय ? वह कोई ऐसी छोटी-मोटी वस्तु नहीं जो यहाँ से उठाकर वहाँ रख दी जाये । तब वे बड़ी चिन्तामें पड़े । क्या करें, और क्या न करें, यह उन्हें बिलकुल न सूझ पड़ा, न वे राजा के पास ही जाकर कह सकते हैं कि-----महाराज, यह असम्भव बात कैसे हो सकती है । कारण गाँव के लोगों में इतनी हिम्मत कहाँ ? सारे गाँव में यही एक चर्चा होने लगी । सबके मुँह पर मुर्दनी छा गई । और बात भी ऐसी ही थी । राजाज्ञा न पालने पर उन्हें दण्ड भोगना चाहिये । यह चर्चा घरों घर हो रही थी कि इसी समय अभयकुमार यहाँ आ पहुँचा, जिसका कि जिकर ऊपर आ चुका है । उसने इस चर्चा का आदि अन्त मालूम कर गाँव के सब लोगों को इकट्ठा कर कहा-----इस साधारण बात के लिये आप लोग ऐसी चिन्तामें पड़ गये । घबराने की कोई बात नहीं । मै जैसा कहूँ वैसा कीजिये । आपका राजा उससे खुश होगा । तब उन लोगों ने अभयकुमार की सलाह से श्रेणिक की सेवा में एक पत्र लिखा । उसमें लिखा कि----- '' राजराजेश्वर, आपकी आज्ञा को सिर पर चढ़ाकर हमने कुँए से बहुत-बहुत प्रार्थनायें कर कहा कि-----महाराज तुझ पर प्रसन्न हैं । इसलिये वे तुझे अपने शहर में बुलाते हैं, तू राजगृह जा । पर महाराज, उसने हमारी एक भी प्रार्थना न सुनी और उलटा रूठकर गाँव बाहर चल दिया । सो हमारे कहने सुनने से तो वह आता नहीं देख पड़ता । पर हाँ उसके ले जाने का एक उपाय है और उसे यदि आप करें तो सम्भव है वह रास्ते पर आ जाये । वह उपाय यह है कि पुरूष स्त्रियों का गुलाम होता है, स्त्रियों द्वारा वह जल्दी वश हो जाता है । इसलिए आप अपने शहर की उदुम्बर नाम की कुई को इसे लेने को भेजें तो अच्छा हो । बहुत विश्वास है कि उसेदेखते ही हमारा कुँआ उसके पीछे-पीछे हो जायगा । '' श्रेणिक पत्र पढ़कर चुप रह गये । उनसे उसका कुछ उत्तर न बन पड़ा । सच है, जब जैसे को तैसा मिलता है तब अकल ठिकाने पर आती है । और धूतों को सहज में काबू में ले लेना कोई हँसी खेल थोड़े ही है ?

कुछ दिनों बाद श्रेणिक ने उनके पास एक हाथी भेजा और लिखा कि इसका ठीक-ठीक तोल कर जल्दी खबर दो कि यह वजन में कितना है ? अभयकुमार उन्हें बुद्धि सुझाने वाला था ही, सो उसके कहे अनुसार उन लोगों ने नाव में एक ओर तो हाथी को चढ़ा दिया और दूसरी ओर खूब पत्थर रखना शुरू किया । जब देखा कि दोनों ओर का वजन समतोल हो गया तब उन्होंने उन सब पत्थरों को अलग तोलकर श्रेणिक को लिख भेजा कि हाथी का तोल इतना है । श्रेणिक को अब भी चुप रह जाना पड़ा ।

तीसरी बार तब श्रेणिक ने लिख भेजा कि '' आपका कुँआ गाँव के पूर्व में है, उसे पश्चिम की ओर कर देना । मैं बहुत जल्दी उसे देखने को आऊँगा । '' इसके लिये अभयकुमार ने उन्हें युक्ति सुझाकर गाँव को ही पूर्व की ओर बसा दिया । इससे कुँआ सुतरा पश्चिम में हो गया ।

चौथी बार श्रेणिक ने एक मेंढ़ा भेजा कि '' यह मेंढ़ा न दुर्बल हो, न बढ जाय और न इसके खाने पिलाने में किसी तरह की असावधानी की जाय । मतलब यह कि जिस स्थिति में यह अब है इसी स्थिति में बना रहे । मैं कुछ दिनों बाद इसे वापिस मंगा लूँगा । '' इसके लिये अभयकुमार ने उन्हें यह युक्ति बताई कि मेंढ़े को खूब खिला-पिला कर घण्टा दो घण्टा के लिये उसे सिंह के सामने बाँध दिया करिए, ऐसा करने से न यह बढ़ेगा और न घटेगा ही । वैसा ही किया गया । मेंढ़ा जैसा था वैसा ही रहा । श्रेणिक को इस युक्ति में भी सफलता प्राप्त न हुई ।

पाँचवी बार श्रेणिक ने उनसे घड़े में रखा एक कोला (कद्दू) मँगाया । इसके लिये अभयकुमार ने बेल पर लगे हुये एक छोटे कोले को घड़े में रखकर बढ़ाना शुरू किया और जब उससे घड़ा भर गया तब उस घड़े को श्रेणिक के पास पहुँचा दिया ।

छठी बार श्रेणिक ने उन्हें लिख भेजा कि '' मुझे बालूरेत की रस्सी की दरकार है, सो तुम जल्दी बनाकर भेजो '' अभयकुमार ने इसके

उत्तर में यह लिख भेजा कि '' महाराज, जैसी रस्सी आप तैयार करवाना चाहते है कृपा कर उसका नमूना भिजवा दीजिए । हम वैसी ही रस्सी फिर तैयार कर सेवा में भेज देंगे । इत्यादि कई बातें श्रेणिक ने उनसे करवाई । सबका उत्तर उन्हें बराबर मिला । उत्तर ही न मिला किन्तु श्रेणिक को हतप्रभ भी होना पड़ा । इसलिये कि वे उन ब्राह्मणों को इस बात की सजा देना चाहते थे कि उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति क्यों न बतलाई ? पर वे सजा दे नहीं पाये । श्रेणिक को जब यह मालूम हुआ कि कोई एक विदेशी नन्द गाँव में है । वही गाँव के लोगों को यह सब बातें सुझाया करता है । उन्हें उस विदेशी की बुद्धि देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सन्तोष भी हुआ । श्रेणिक की उत्कण्ठा तब उसके देखने के लिये बढ़ी । उन्होंने एक पत्र लिखा । उसमें लिखा कि '' आपके यहाँ जो एक विदेशी आकर रहा है, उसे मेरे पास भेजिये । पर साथ में उसे इतना और समझा देना कि वह न तो रात में आये, और न दिन में, न सीधे रास्ते से आये और न टेढ़े -मेंढ़े रास्ते से । अभयकुमार को पहले तो कुछ जरा विचार में पड़ना पड़ा , पर फिर उसे इसके लिये भी युक्ति सूझ गई और अच्छी सूझी । वह शाम के वक्त गाड़ी के एक कोने में बैठकर श्रेणिक के दरबार में पहुँचा । वहाँ वह देखता है तो सिंहासन पर एक साधारण पुरूष बैठा है-----उस पर श्रेणिक नहीं है । वह बड़ा आश्चर्य में पड़ गया । उसे ज्ञात हो गया कि यहाँ भी कुछ न कुछ चाल खेली गई है । बात यह थी कि श्रेणिक अंगरक्षक पुरूषों के साथ बैठ गये थे । उनकी इच्छा थी कि अभयकुमार मुझे न पहचान कर लज्जित हो । इसके बाद ही अभयकुमार ने एक बार अपनी दृष्टि राजसभा पर डाली । उसे कुछ गहरी निगाह से देखने पर जान पड़ा कि राजसभा में बैठे हुए लोगों की नजर बार-बार एक पुरूष पर पड़ रही है और वह लोगों की अपेक्षा सुन्दर और तेजस्वी है । पर आश्चर्य यह कि वह राजा के अंगरक्षक लोगों में बैठा है । अभयकुमार को उसी पर कुछ सन्देह गया । तब उसके कुछ चिन्हों को देखकर उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि यही मेरे पूज्य पिता श्रेणिक हैं । तब उसने जाकर उनके पाँवों में अपना सिर रख लिया । श्रेणिक ने उठाकर झट उसे छाती से लगा लिया । वर्षो बाद पिता पुत्र का मिलाप हुआ । दोनों को ही बड़ा आनन्द हुआ । इसके बाद श्रेणिक ने पुत्र प्रवेश के उपलक्ष्य में प्रजा को उत्सव मनाने की आज्ञा की । खूब आनन्द–उत्सव मनाया गया । दुखी, अनाथो को दान किया गया । पूजा-प्रभावना की गई । सच है, कुलदीपक पुत्र के लिये कौन खुशी नहीं मनाता ? इसके बाद ही श्रेणिक ने अपने कुछ आदमियों को भेजकर काँची से अभयमती और वसुमित्रा इन दोनों प्रियाओं को भी बुलवा लिया । इस प्रकार प्रिया-पुत्रसहित श्रेणिक सुख से राज्य करने लगे । अब इसके आगे की कथा लिखी जाती है-----

सिन्धु देश की विशाला नगरी के राजा चेटक थे । वे बड़े बुद्धिमान, धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे । जिन भगवान् पर उनकी बड़ी भक्ति थी । उनकी रानी का नाम सुभद्रा था । सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और सुन्दरी थी । इसके सात लड़कियाँ थीं । इनमें पहली लड़की प्रियकारिणी थी । इसके पुण्य का क्या कहना, जो इसका पुत्र संसार का महान् नेता तीर्थंकर हुआ । दूसरी मृगावती, तीसरी सुप्रभा, चौथी प्रभावती, पाँचवीं चेलिनी, छठी ज्येष्ठा और सातवीं चन्दना थी । इनमें अन्त की चन्दना को बड़ा उपसर्ग सहना पड़ा । उस समय इसने बड़ी वीरता से अपने सतीधर्म की रक्षा की ।

चेटक महाराज का अपनी इन पुत्रियों पर बड़ा प्रेम था । इससे उन्होंने इन सबकी एक ही साथ तस्वीर बनवाई । चित्रकार बड़ा हुशियार था, सो उसने उन सबका बड़ा ही सुन्दर चित्र बनाया । चित्रपट को चेटक महाराज बड़ी बरीकी के साथ देख रहे थे । देखते हुए उनकी नजर चेलिनी की जाँघ पर जा पड़ी , चेलिनी की जाँघ पर जैसा तिल का चिन्ह था, चित्रकार ने चित्र में भी वैसा ही तिल का चिन्ह बना दिया था । सो चेटक महाराज ने ज्यों ही उस तिल को देखा उन्हें चित्रकार पर बड़ा गुस्सा आया । उन्होंने उसी समय उसे बुलाकर पूछा कि-----तुझे इस तिल का हाल कैसे जान पड़ा । महाराज की क्रोध भरी आँखें देखकर वह बड़ा घबराया । उसने हाथ जोड़कर कहा-----राजाधिराज, इस तिल को मैंने कोई छह सात बार मिटाया, पर मैं ज्यों ही चित्र के पास लिखने को कलम ले जाता त्यों ही उसमें से रंग की बूँद इसी जगह पड़ जाती । तब मेरे मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि ऐसा चिन्ह राजकुमारी चेलिनी के होना ही चाहिए और यही कारण है कि मैंने फिर उसे न मिटाया । यह सुनकर चेटक महाराज बड़े खुश हुए । उन्होंने फिर चित्रकार को बहुत पारितोषिक दिया । सच है बड़े पुरूषों का खुश होना निष्फल नहीं जाता ।

अब से चेटक महाराज भगवान् की पूजन करते समय पहले इस चित्र पट को खोलकर भगवान् की प्रतिमा के पास ही रख लेते हैं और फिर बड़ी भक्ति के साथ जिन पूजा करते रहते हैं । जिन पूजा सब सुखों की देने वाली और भव्यजनों के मन को आनन्दित करने वाली है ।

एक बार चेटक महाराज किसी खास कारण वश अपनी सेना को साथ लिये राजगृह आये । वे शहर बाहर बगीचें में ठहरे प्रात: काल शौच

मुखमार्जनादि आवश्यक क्रियाओं से निवट उन्होंने स्नान किया और निर्मल वस्त्र पहर भगवान् की विधि पूर्वक पूजा की । रोज के माफिक आज भी चेटक महाराज ने अपनी राजकुमारियों के उस चित्रपट को पूजन करते समय अपने पास रख लिया था और पूजन के अन्त में उस पर फूल वगैरह डाल दिये थे ।

इसी समय श्रेणिक महाराज भगवान् के दर्शन करने को आये । उन्होंने इस चित्रपट को देखकर पास खड़े हुये लोगों से पूछा-----यह किनका चित्रपट है ? उन लोगों ने उत्तर दिया-----राजराजेश्वर, ये जो विशाला के चेटक महाराज आये है, उनकी लड़कियों का यह चित्रपट है । इनमें चार लड़कियों का तो ब्याह हो चुका है और चेलिनी तथा ज्येष्ठा ये दो लड़कियाँ ब्याह योग्य है । सातवीं चन्दना अभी बिलकुल बालिका है । ये तीनों ही इस समय विशाला में हैं । यह सुन श्रेणिक महाराज चेलिनी और ज्येष्ठा पर मोहित हो गये । इन्होनें महल पर आकर अपने मन की बात मंत्रियों से कही । मंत्रियों ने अभयकुमार से कहा—आपके पिताजी ने चेटक महाराज से इनकी दो सुन्दर लड़कियों के लिये मँगनी की थी, पर उन्होंने अपने महाराज की अधिक उमर देख उन्हें अपनी राजकुमारियों के देने से इंकार कर दिया । अब तुम बतलाओं कि क्या उपाय किया जाये जिससे यह काम पूरा पड़ ही जाये ।

बुद्धिमान् अभयकुमार मंत्रियों के वचन सुनकर बोला-----आप इस विषय की चिन्ता न करें जबत क कि सब कामों को करने वाला मैं मौजूद हूँ । यह कहकर अभयकुमार ने अपने पिता का एक बहुत सुन्दर चित्र तैयार किया और उसे लेकर साहूकार के वेष में आप विशाला पहुँचा । किसी उपाय से उसने वह चित्रपट दोनों राजकुमारियों को दिखलाया । वह इतना बढ़िया बना था कि उसे यदि एक बार देवाङ्गनाएँ देख पाती तो उनसे भी अपने आपे में न रहा जाता तब ये दोनों कुमारियाँ उसे देखकर मुग्ध हो जाँय, इसमें आश्चर्य क्या । उन दोनों को श्रेणिक महाराज पर मुग्ध देख अभयकुमार उन्हें सुरंग के रास्ते से राजगृह ले जाने लगा । चेलिनी बड़ी धूर्त थी । उसे स्वयं तो जाना पसन्द था, पर वह ज्येष्ठा को ले जाना न चाहती थी । सो जब ये थोड़ी ही दूर आई होंगी कि चेलिनी ने ज्येष्ठा से कहा-----हाँ, बहिन मैं तो अपने सब गहने-दागी ने महलहो में छोड़ आई हूँ, तू जाकर उन्हें ले-आ न ? तब तक मैं यहीं खड़ी हूँ । बेचारी भोली-भाली ज्येष्ठा इसके झांसे में आकर चली गई। वह आँखों की ओट हुई होगी कि चेलिनी वहाँ से रवाना होकर अभयकुमार के साथ राजगृह आ गई । फिर बड़े उत्सव के साथ यहाँ इसका श्रेणिक महाराज के साथ ब्याह हो गया । पुण्य के उदय से श्रेणिक की सब रानियों में चेलिनी के ही भाग्य का सितारा चमका-----पट्टरानी यही हुई ।

यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है-----श्रेणिक एक संन्यासी के उपदेश से वैष्णवधर्मी हो गये थे और तब से वे इसी धर्म को पालते थे । महारानी चेलिनी जैनी थी । जिनधर्म पर जन्म से ही उसकी श्रद्धा थी । इन दो धर्मो को पालने वाले पति-पत्नी का अपने-अपने धर्म की उच्चता बाबत् रोज-रोज थोड़ा बहुत वार्तालाप हुआ करता था । पर वह बड़ी शान्ति से । एक दिन श्रेणिक ने चेलिनी से कहा-----प्रिये, उच्च घराने की सुशील स्त्रियों का देव पूछो तो पति है तब तुम्हें मैं जो कहूँ वह करना चाहिए । मेंरी इच्छा है कि एक बार तुम इन विष्णुभक्त सच्चे गुरूओं को भोजन दो । सुनकर महारानी चेलिनी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा-----अच्छा नाथ, दूँगी ।

इसके कुछ दिनों बाद चेलिनी ने कुछ भगवत् साधुओं का निमंत्रण किया और बड़े गौरव के साथ उन्हें अपने यहाँ बुलाया । आकर वे लोग अपना ढोंग दिखलाने के लिये कपट, मायाचारी से ईश्वराराधन करने को बैठे । उस समय चेलिनी ने उनसे पूछा-----आप लोग क्या करते हैं ? उत्तर में उन्होंने कहा-----देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओं से भरे इस शरीर को छोड़कर अपने आत्मा को विष्णु अवस्था में प्राप्त कर स्वानुभव का सुख भोगते हैं ।

सुनकर चेलिनी ने उस मंडप में, जिसमें कि सब साधु ध्यान करने को बैठे थे, आग लगवा दी । आग लगते ही वे सब भाग खड़े हुए । यह देख श्रेणिकने बड़े क्रोधके साथ चेलिनीसे कहा-----आज तुमने साधुओंके साथ अनर्थ किया । यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह **अर्थ** है कि उन्हें जान से मार डालना ? बतलाओ उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवन की ही प्यासी हो उठी ?

रानी बोली-----नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हीं के कहे अनुसार उनके लिये सुख का कारण था । मैंने तो केवल परोपकार बुद्धि से ऐसा किया था । जब वे लोग ध्यान करने को बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं, तब उन्होंने मुझे कहा कि-----हम अपवित्र शरीर को छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद को प्राप्त करते हैं । तब मैंने सोचा कि-----ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे यह और उत्तम होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु ही बने रहें । संसार में

बार-बार आने-जाने का इनके पीछे पचड़ा क्यों ? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपद में रह कर सुख भोगें इस परोपकार बुद्धि से मैंने मण्डप में आग लगवा दी । तब आप ही विचार कर बतलाइए कि इसमें मैंने सिवा परोपकार के कौन बुरा काम किया ? और सुनिए, मेरे वचनों पर आपको विश्वास हो, इसके लिए मैं एक कथा आपको सुना दूँ ।

‘‘ जिस समय की यह कथा है, उस समय वत्सदेश की राजधानी कोशाम्बी के राजा प्रजापाल थे । वे अपना राज्यशासन नीति के साथ करते हुए सुख से समय बिताते थे । कोशाम्बी में दो सेठ रहते थे । उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त । दोनों सेठों में परस्पर बहुत प्रेम था । उनका प्रेम सदा ऐसा ही दृढ़ बना रहे, इसके लिए उन्होंने परस्पर में एक शर्त की । वह यह कि----- ‘‘ मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे लड़के के साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़कीका ब्याह उसके साथ कर देना पड़े गा । दोनों ने उक्त शर्त स्वीकार की । इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्त के घर पुत्र जन्म हुआ । उसका नाम वसुमित्र रखा । पर उसमें एक बड़े आश्चर्य की बात थी । वह यह कि-----वसुमित्र न जाने किस कर्म के उदय से रात के समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिन में एक भयानक सर्प ।

उधर समुद्रदत्त के घर कन्या हुई । उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता । वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी । उसके पिता ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका ब्याह वसुमित्र के साथ कर दिया । सच है-----

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि।

सत्य पुरूष सैकडों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते । वसुमित्र का ब्याह हो गया । वह अब प्रतिदिन दिन में तो सर्प बनकर एक पिटारे में रहता और रात में एक दिव्य पुरूष होकर अपनी प्रिया के साथ सुखोपभोग करता । सचमुच संसार की विचित्र ही स्थिति होती है । इसी तरह उसे कई दिन बीत गये । एक दिन नागदत्ता की माता अपनी पुत्री को एक ओर तो यौवन अवस्था में पदार्पण करती और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्य को देखकर दुखी होकर बोली-----हाय । दैव की कैसी विडम्बना है, जो कहाँ तो देवकुमारी सरीखी सुन्दरी मेंरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प । उसकी दु:ख भरी आह को नागदत्ता ने सुन लिया । वह दौड़ी आकर अपनी माँ से बोली-----माँ, इसके लिए आप क्यों दु:ख करती है । मेंरा जब भाग्य ही ऐसा है, तब उसके लिए दु:ख करना व्यर्थ है और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामी का इस दशा से उद्धार हो सकता है । इसके बाद नागदत्ता अपनी माँ को स्वामी के उद्धार के सम्बन्ध की बात समझा दी ।

सदा के नियमानुसार आज भी रात के समय वसुमित्र अपना सर्प-शरीर छोड़कर मनुष्य रूप में आया और अपने शय्या-भवन में पहुँचा । इधर समुद्रदत्ता छुपे हुए आकर वसुदत्त के पिटारे को वहाँ से उठा ले-आई और उसी समय उसने उसे जला डाला । तब से वसुमित्र मनुष्य रूप में ही अपनी प्रिया के साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्द से बिताने लगा । ‘‘ नाथ, उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोक में रह कर सुख भोगें यह मेंरी इच्छा थी; इसलिए मैंने वैसा किया था । महारानी चेलनी की कथा सुन कर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नही दे सके, पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देख कर वे अपने क्रोध को उस समय दवा गये ।

एक दिन श्रेणिक शिकार के लिए गये हुए थे । उन्होंने वन में यशोधर मुनिराज को देखा । वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे । श्रेणिक ने उन्हें शिकार के लिए विघ्नरूप समझ कर मारने का विचार किया और बड़े गुस्से में आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ दिया । कुत्ते बड़ी निर्दयताके साथ मुनि के खाने को झपटे । पर मुनिराज की तपस्या के प्रभाव से वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके । बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवों के पास खड़े रह गये । यह देख श्रेणिक को और भी क्रोध आया । उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर बाण चलाना आरम्भ किया । पर यह कैसा आश्चर्य जो बाणों के द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानों किसी ने उन पर फूलों की वर्षा की है । सच, बात यह है कि तपस्वियों का प्रभाव कौन कह सकता है । श्रेणिक ने उन मुनि हिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरक की आयुका बन्ध किया, जिसकी स्थिति तेतीस सागर की है ।

इन सब अलौकिक घटनाओं को देखकर श्रेणिक का पत्थर के समान कठोर हृदय फूल-सा कोमल हो गया, उनके हृदय की सब दुष्टता निकल कर उसमें मुनि के प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया, वे मुनिराज के पास गये और भक्ति से मुनि के चरणों को नमस्कार किया । यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक के हित के लिए इस समय को उपयुक्त समझ उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया । उसका श्रेणिक के हृदय पर बहुत असर पड़ा । उनके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हो गया । उन्हें अपने कुल कर्म पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ ।

मुनिराज के उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया । उसके प्रभाव से, उन्होंने जो सातवें नर्क की आयुका बन्ध किया था, वह उसी समय घट कर पहले नरक का रह गया । यहाँ की स्थिति चौरासी हजार वर्षों की है । ठीक है सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भव्यपुरूषों को क्या प्राप्त नहीं होता ।

इसके बाद श्रणिकने श्रीचित्रगुप्त मुनिराजके पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया । और अन्तमें भगवान् वर्धमान स्वामीके द्वारा शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, जो कि मोक्षका कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बन्ध किया । श्रेणिक महाराज अब तीर्थकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे ।

इसलिए भव्यजनों को इस स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले तथा संसार का हित करने वाले सम्यग्दर्शन रूप रत्न द्वारा अपने को भूषित करना चाहिए । यह सम्यग्दर्शन रूप रत्न इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुख का देने वाला, दु:खी का नाश करने वाला और मोक्ष का प्राप्त कराने वाला है । विद्वज्जन आत्म हित के लिए इसी को धारण करते हैं । उस सम्यग्दर्शन का स्वरूप श्रुतसागर आदि मुनिराजों ने कहा है । जिनभगवान् के कहे हुए तत्वों का श्रद्धान करना ऐसा विश्वास करना कि भगवान् ने जैसा कहा वही सत्यार्थ है । तब आप लोग भी इस सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर आत्म-हित करें, यह मेंरी भावना है ।

रात्रिभोजन-त्याग-कथा

रात्रिभोजन-त्याग-कथा

कथा :

जिन भगवान्, जिनवाणी और गुरूओं को नमस्कार कर रात्रि भोजन का त्याग करने से जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है ।

जो लोग धर्म रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग करते हैं, वे दोनों लोकों में सुखी होते हैं, यशस्वी होते हैं, दीर्घायु होते हैं, कान्तिमान होते हैं और उन्हें सब सम्पदाएँ तथा शान्ति मिलती है, और लोग रात में भोजन करने वाले हैं, वे दरिद्री होते हैं, जन्मांध होते हैं अनेक रोग और व्याधियाँ उन्हें सदा सताए रहती हैं, उनके संतान नहीं होती । रात में भोजन करने से छोटे जीव जन्तु नहीं दिखाई पड़ते । वे खानेमें आ जाते हैं । उससे बड़ा पापबन्ध होता है । जीवहिंसा का पाप लगता है । माँस का दोष लगता है । इसलिए रात्रि भोजनका छोड़ना सबके लिए हितकारी है । और खासकर उन लोगों को तो छोड़ना ही चाहिए जो माँस नहीं खाते । ऐसे धर्मात्मा श्रावकों को दिन निकले दो घड़ी बाद सबेरे और दो घड़ी दिन बाकी रहे तब शाम को भोजन वगैरह से निवृत्त हो जाना चाहिए । समन्तभद्रस्वामीका भी ऐसा ही मत है----- ‘‘ रात्रि भोजन का त्याग करने वाले को सबेरे और शाम को आरम्भ और अन्त में दो दो घड़ी छोड़कर भोजन करना चाहिए ।’’ जो नैष्ठिक श्रावक नहीं है उनके लिए पान, सुपारी, इलायची, जल और पवित्र औषधि आदि के विशेष दोषके कारण नहीं है । इन्हें छोड़कर और अन्नकी चीजें या मिठाई, फलादिक ये सब कष्ट पड़ने पर भी कभी न खाना चाहिए । जो भव्य जीवन भर के लिए चारों प्रकार के आहार का रात में त्याग कर देते हैं उन्हें वर्ष भर में छह माह के उपवास का फल होता है । रात्रिभोजन का त्याग करने से प्रीतिकर कुमार को फल प्राप्त हुआ था, उसकी विस्तृत कथा अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध है । यहाँ उसका सार लिखा जाता है ।

मगध में सुप्रतिष्ठपुर अच्छा प्रसिद्ध शहर था । अपनी सम्पत्ति और सुन्दरता से वह स्वर्ग से टक्कर लेता था । जिनधर्म का वहाँ विशेष प्रचार था । जिस समय की यह कथा है, उस समय उसके राजा जयसेन थे । जयसेन धर्मज्ञ, नीतिपरायण और प्रजाहितैषी थे ।

यहाँ धनमित्र नामका एक सेठ रहता था । इसकी स्त्री का नाम धनमित्रा था । दोनों ही की जैनधर्म पर अखण्ड प्रीति थी । एक दिन सागरसेन नाम के अवधिज्ञानी मुनिको आहार देकर इन्हों ने उनसे पूछा-----प्रभो ! हमें पुत्र सुख होगा या नहीं ? यदि न हो तो हम व्यर्थ की आशा से अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवन को संसार के मोह-माया में फँसा रखकर, उसका क्यों दुरूपयोग करें ? फिर क्यों न हम पापों के नाश करने वाली पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर आत्महित करें ? मुनि ने इनके प्रश्न के उत्तर में कहा-----हाँ अभी तुम्हारी दीक्षा का समय नहीं आया । कुछ दिन गृहवास में तुम्हें अभी और ठहरना पड़ेगा । तुम्हें एक महाभाग और कुलभूषण पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी । वह बड़ा तेजस्वी होगा । उसके द्वारा अनेक प्राणियों का उद्धार होगा और वह इसी भवसे मोक्ष जाएगा । अवधिज्ञानी गुरूओं के वचनामृत का पान कर किसे हर्ष नहीं होता ।

अब से ये सेठ-सेठानी अपना समय जिनपूजा, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मों में अधिक देने लगे । कारण इनका यह पूर्ण विश्वास

था कि सुख का कारण धर्म ही है । इस प्रकार आनंद उत्सव के साथ कुछ दिन बीतने पर धनमित्रा ने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया । मुनिकी भविष्यवाणी सच हुई । पुत्र जन्म के उपलक्ष में सेठ ने बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की । बन्धु-बाँधवों को बड़ा आनन्द हुआ । इस नवजात शिशु को देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई । इसलिये इसका नाम भी प्रीतिकर रख दिया गया । दूजके चाँदकी तरह यह दिनों-दिन बढ़ने लगा । सुन्दरता में यह कामदेव से कहीं बढ़कर था, बड़ा भाग्यवान् था और इसके बलके सम्बन्ध में तो कहना हो क्या, जब कि यह चरम शरीर का धारी-----इसी भव से मोक्ष जानेवाला है । जब प्रीतिंकर पाँच वर्ष का हो गया तब इसके पिता ने इसे पढ़ाने के लिये गुरू की सौंप दिया । इसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरू की कृपा हो गई । इससे यह थोड़े ही वर्षो में पढ़ लिखकर योग्य विद्वान बन गया । कई शास्त्ररूपी समुद्र का प्राय: अधिकांश पर कर लिया । विद्वान् और धनी होकर भी इसे अभियान छू तक न गया था । यह सदा लोगों को धर्म का उपदेश दिया करता और पढ़ाता-लिखाता था । इसमें आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गुणों का नाम निशान भी न था । यह सबसे प्रेम करता था । सबके दु:ख सुख में सहानुभूति रखता । यही कारण था कि इसे सब ही छोटे-बढ़े हृदय से चाहते थे । जयसेन इसकी ऐसी सज्जनता और परोपकार बुद्धि देखकर बहुत खुश हुए । उन्होंने स्वयं इसका वस्त्राभूषणों से आदर सत्कार किया इसकी इज्जत बढ़ाई ।

यद्यपि प्रीतिकर को धन दौलत की कोई कमी नहीं थी परन्तु तब भी एक दिन बैठे-बैठे इसके मन में आया कि अपने को भी कमाई करनी चाहिये । कर्त्तव्यशीलों का यह काम नहीं कि बैठे-बैठे अपने बाप-दादों की सम्पत्ति पर मजा-मौज उड़ा कर आलसी और कर्त्तव्यहीन बनें । और न सपूतों का यह काम ही है । इसलिए मुझे धन कमा ने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं कुछ न कमा लूँगा तब तक ब्याह न करूँगा । प्रतिज्ञा के साथ ही वह विदेश के लिये रवाना हो गया । कुछ वर्षो तक विदेश में ही रहकर इस ने बहुत धन कमाया । खूब कीर्ति अर्जित की । इसे अपने घर से गए कई वर्ष बीत गये थे, इसलिए अब इसे अपने माता-पिता की याद आने लगी । फिर यह बहुत दिनों बाहर न रहकर अपना सब माल असबाब लेकर घर लौट आया । सच है पुण्यवानों की लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्न से मिल जाती है । जयसेन का प्रीतिकर की पुण्यवानी और प्रसिद्धि सुनकर उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया । उन्होंने तब अपनी कुमारी पृथ्वीसुन्दरी, और एक दूसरे देश से आई हुई वसुन्धरा तथा और भी कई सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का ब्याह इस महाभाग के साथ बड़े ठाट-बाट से कर दिया । इसके साथ जयसेन ने अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया । प्रीतिकर के राज्य प्राप्ति आदि के सम्बन्ध को विशेष कथा यदि जानना हो तो महापुराण का स्वाध्याय करना चाहिये ।

प्रीतिकरको पुण्योदयसे जो राज्यविभूति प्राप्त हुई उसे सुखपूर्वक भोगने लगा । उसके दिन आनन्द-उत्सवके साथ बीतने लगे । इससे यह न समझना चाहिये कि प्रीतिकर सदा विषयोंमें ही फँसा रहता है । वह धर्मात्मा भी सच्चा था । क्योंकि वह निरन्तर जिन भगवान् की अभिषेक-पूजा करता, जो कि स्वर्ग या मोक्षका सुख देनेवाली और बुरे भावों या पापकर्मों का नाश करनेवाली है । वह श्रद्धा, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त हो पात्रोंको दान देता, जो दान महान् सुखका कारण है । वह जिनमंदिरो, तीर्थक्षेत्रों, जिन प्रतिमाओं आदि सप्त क्षेत्रोंकी, जो कि शान्तिरूपी धनके प्राप्त करानेके कारण हैं, जरूरतोंको अपने धनरूपी जल-वर्षासे पूरी करता, परोपकार करना उसके जीवनका एक मात्र उद्देश्य था । वह स्वभावका बड़ा सरल था । विद्वानोंसे उसे प्रेम था । इस प्रकार इस लोक सम्बन्धी और पारमार्थिक कार्योमें सदा तत्पर रहकर वह अपनी प्रजाका पालन करता रहता था । प्रीतिकरका समय इस प्रकार बहुत सुखसे बीतता था । एक बार सुप्रतिष्ठ पुरके सुन्दर बगीचेमें सागरसेन नामके मुनि आकर ठहरे थे । उनका वहीं स्वर्गवास हो गया था । उनके बाद फिर इस बगीचेमें आज चारणऋद्धि धारी ऋजुमति और विपुलमति मुनि आये । प्रीतिकर तब बड़े वैभवके साथ भव्यजनोंको लिये उनके दर्शनोंको गया । मुनिराजकी चरणोंकी आठ द्रव्योंसे उसने पूजा की और नमस्कार कर बड़े विनयके साथ धर्मका स्वरूप पूछा-----तब ऋजुमति मुनिने उसे इस प्रकार संक्षेप धर्मका स्वरूप कहा-----

प्रीतिकर, धर्म उसे कहते है जो संसार के दु:खों से रक्षाकर उत्तम सुख प्राप्त करा सके । ऐसे धर्म के दो भेद हैं । एक मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म । मुनियों का धर्म सर्व त्याग रूप होता है । सांसारिक माया-ममता से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता । और वह उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस आत्मिक शक्तियों से युक्त होता है । गृहस्थ धर्म में संसार के साथ लगाव रहता है । घर में रहते हुए धर्म का पालन करना पड़ता है । मुनि धर्म उन लोगो के लिये है जिनका आत्मा पूर्ण बलवान् है, जिनमें कष्टों के सहने की पूरी शक्ति है और गृहस्थ धर्म मुनिधर्म के प्राप्त करने की सीढ़ी है । जिस प्रकार एक साथ सौ-पचास सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जा सकती उसी प्रकार साधारण लोगों में इतनी

शक्ति नहीं होती कि वे एकदम मुनिधर्म ग्रहण कर सकें । उसके अभ्यास के लिये वे क्रम-क्रम से आगे बढ़ते जाये, इसलिये पहले उन्हें गृहस्थधर्म में सबसे बड़ा भेद यह है कि, पहला साक्षात् मोक्षका कारण है और दूसरा परम्परा से । श्रावकधर्म का मूल कारण है-----सम्यग्दर्शन का पालन । यही मोक्ष-सुख का बीज है । बिना इसके प्राप्त किये ज्ञान, चारित्र वगैर की कुछ की मत नहीं । इस सम्यग्दर्शन को आठ अंगो सहित पालना चाहिये । सम्यत्व पालने के पहले मिथ्यात्व छोड़ा जाता है । क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्मा का एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो संसार में इसे अनन्त काल तक भटकाये रहता है और कुगतियोंके असह दु:खों को प्राप्त कराता है । मिथ्यात्व का संक्षिप्त लक्षण है-----जिन भगवान् के उपदेश किये तत्व या धर्म से उलटा चलना और यही धर्म से उलटापन दु:ख का कारण है । इसलिये उन पुरूषों को, जो सुख चाहते हैं, मिथ्यात्व के परित्याग पूर्वक शास्त्राभ्यास द्वारा अपनी बुद्धिको काँचके समान निर्मल बनानी चाहिये । इसके सिवा श्रावकों को मद्य, मांस और मधु (शहद) का त्याग करना चाहिये । क्योंकि इनके खाने से जीवों को नरकादि दुर्गतियों में दु:ख भोगना पड़ते है । श्रावकों के पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं, उन्हें धारण करना चाहिये । रात के भोजन का, चमड़े में रखे हुये हींग, जल, घी, तैल आदि का तथा कन्दमूल, आचार और मक्खन का श्रावकों को खाना उचित नहीं । इनके खाने से मांस-त्याग-व्रत में दोष आता है । जुआ खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन, वैश्या सेवन, शिकार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, ये सात व्यसन-----दु:खों को देने वाली आदतें हैं । कुल, जाति, धन, जन, शरीर, सुख, कीर्ति, मान-मर्यादा आदि की नाश करने वाली हैं । श्रावकों को इन सबका दूर से ही काला मुँह कर देना चाहिये । इसके सिवा जलका छानना, पात्रोंको भक्तिपूर्वक दान देना, श्रावकों का कर्त्तव्य होना चाहिए । ऋषियोंने पात्र तीन प्रकार बतलाये हैं । उत्तम पात्र-----मुनि, मध्यम पात्र-----व्रती श्रावक और जघन्य पात्र-----अविरत-सम्यग्दृष्टि । इनके सिवा कुछ लोग और ऐसे हैं, जो दान पात्र होते हैं-----दु:खी, अनाथ, अपाहिज आदि जिन्हें कि दयाबुद्धि से दान देना चाहिये । पात्रों को जो थोड़ा भी दान देते हैं उन्हें उस दान का फल बटबीज की तरह अनन्त गुणा मिलता है । श्रावकों के और भी आवश्यक कर्म हैं, जैसे-----स्वर्ग मोक्ष के सुख की कारण जिन भगवान् की जलादि द्रव्यों द्वारा पूजा करना, दूध, दही, घी, सांठेका रस आदिसे अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराना, तीर्थयात्रा करना आदि । ये सब सुख के कारण और दुर्गति के दु:खों के नाश करने वाले हैं । इस प्रकार धार्मिक जीवन बना कर अन्त में भगवान् का स्मरण-चिंतन पूर्वक सन्यास लेना चाहिये । यही जीवन के सफलता का सीधा और सच्चा मार्ग है । इस प्रकार मुनिराज द्वारा धर्मका उपदेश सुनकर बहुतेरे सज्जनों ने व्रत, नियमादि को ग्रहण किया जैनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई । प्रीति करने मुनिराज को नमस्कार कर पुन: प्रार्थना की-----हे करूणा के समुद्र योगिराज कृपाकर मुझे तेरे पूर्वभव का हाल सुनाइए । मुनिराज ने तब यों कहना शुरू किया -----

‘‘ प्रीतिकर, इसी बगीचेमें पहले तपस्वी सागरसेन मुनि आकर ठहरे थे । उनके दर्शनों के लिये राजा बगैरह प्राय: सब ही नगर निवासी बड़े गाजे-बाजे और आनन्द उत्सव के साथ आये थे । वे मुनिराज की पूजा-स्तुति कर वापिस शहर में चले गये । इसी समय एक सियार ने इनके गाजे-बाजे के शब्दों को सुनकर यह समझा कि ये लोग किसी मुर्देको डाल कर गये हैं । सो वह उसे खाने के लिये आया । उसे आता देख मुनि ने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह मुर्देको खाने के अभिप्राय से इधर आ रहा है । पर यह है भव्य और व्रतों को धारण कर मोक्ष जायगा । इसलिये इसे सुलटाना आवश्यक है । यह विचार कर मुनिराज ने उसे समझाया-----अज्ञानी पशु, तुझे मालूम नहीं कि पाप का परिणाम बहुत ही बुरा होता है । देख, पाप के ही फल से तुझे आज इस पर्याय में आना पड़ा और फिर भी तू पाप करने से मुँह न मोड़कर मुर्देको खाने के लिये इतना व्यग्र हो रहा है, यह कितने आश्चर्य की बात है । तेरी इस इच्छा को धिक्कार है। प्रिय, जब तक तू नरकों में न गिरे इसके पहले ही तुझे यह महा पाप छोड़ देना चाहिए । तूने जिनधर्म को न ग्रहण कर आज तक दु:ख उठाया, पर अब तेरे लिये बहुत अच्छा समय उपस्थित है । इसलिए तू इस पुण्य-पथ पर चलना सीख । सियार का होन हार अच्छा था या उसकी काललब्धि आ गई थी । यही कारण था कि मुनि के उपदेश को सुनकर वह बहुत शान्त हो गया । उसने जान लिया कि मुनिराज मेरे हृदय की वासना को जान गए । उसे इस प्रकार शान्त देखकर मुनि फिर बोले-----प्रिय, तू और और व्रतों को धारण नहीं कर सकता, इसलिये सिर्फ रात में खाना-पीना ही छोड़ दे । यह व्रत सर्व व्रतों का मूल है, सुख का देने वाला है और चित्त का प्रसन्न करने वाला है । सियार ने उपकारी मुनिराज के वचनों को मानकर रात्रि भोजन-त्याग-व्रत ले लिया । कुछ दिनों तक तो इसने केवल इसी व्रत को पाला । इसके बाद इस ने मांस वगैरह भी छोड़ दिया । इसे जो कुछ थोड़ा बहुत पवित्र खाना मिल जाता, यह उसी को खाकर रह जाता । इस वृत्ति से इसे सन्तोष बहुत हो गया था । बस यह इसी प्रकार समय बिताता और मुनिराज के चरणों का स्मरण किया करता ।

इस प्रकार कभी खाने को मिलने और कभी न मिलने से यह सियार बहुत ही दुबला हो गया । ऐसी दशा में एक दिन इसे केवल सूखा भोजन खाने को मिला । समय गर्मी का था । इसे बड़े जोर की प्यास लगी । इसके प्राण छटपटा ने लगे । यह एक कुँए पर पानी पीने को गया । भाग्य से कुँए का पानी बहुत नीचा था । जब यह कुँए में उतरा तो इसे अँधेरा ही अँधेरा दीखने लगा । कारण सूर्य का प्रकाश भीतर नहीं पहुँच पाता था । इसलिए सियार ने समझा कि रात हो गई, सो वह बिना पानी पीए ही कुँए के बाहर आ गया । बाहर आकर जब उसने दिन देखा तो फिर वह भीतर उतरा और भीतर पहले सा अँधेरा देखकर रात के भ्रम से फिर लौट आया । इस प्रकार वह कितनी ही बार आया-गया, पर जल नहीं पी पाया । अन्त में वह इतना अशक्त हो गया कि उससे कुँए से बाहर नहीं आया गया । उस ने तब उसे घोर अँधरे को देखकर सूरज को अस्त हुआ समझ लिया और वहीं संसार समुद्र से पार करने वाले अपने गुरू मुनिराज का स्मरण-चिन्तन करने लगा । तृषा रूपी आग उसे जलाए डालती थी, तब भी वह अपने व्रत में बड़ा दृढ़ रहा । उसके परिणाम क्लेशरूप या आकुल-व्याकुल न होकर बड़े शान्त रहे । उसी दशा में वह मर कर कुबेरदत्त और उसकी स्त्री धनमित्रा के तू प्रीतिंकर पुत्र हुआ है । तेरा यही अन्तिम शरीर है । अब तू कर्मों का नाश कर मोक्ष जायगा । इसलिए सत्पुरूषों का कर्त्तव्य है कि वे कष्ट समय में व्रतों की दृढ़ता से रक्षा करें । '' मुनिराज द्वारा प्रीतिकर का यह पूर्व जन्म का हाल सुन उपस्थित मंडली की जिनधर्म पर अचल श्रद्धा हो गई । प्रीतिकर को अपने इस वृत्तान्त से बड़ा वैराग्य हुआ । उसने जैनधर्म की बहुत प्रशंसा की और अन्त में उन स्वपरोपकार के करने वाले मुनिराजों को भक्ति से नमस्कार कर व्रतों के प्रभाव को हृदय में विचारता हुआ वह घर पर आया ।

मुनिराज के उपदेश का उस पर बहुत गहरा असर पड़ा । उसे अब संसार अथिर, विषय भोग दु:खों के देने वाले, शरीर अपवित्र वस्तुओं से भरा, महाघिनौना और नाश होने वाला, धन-दौलत बिजली की तरह चंचल और केवल बाहर से सुन्दर देख पड़ने वाली तथा स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि ये सब अपने आत्मा से पृथक् जान पड़ने लगे । उसने तब इस मोहजाल को, जो केवल फँसाकर संसार में भटकाने वाला है, तोड़ देना ही उचित समझा । इस शुभ संकल्प के दृढ़ होते ही पहले प्रीतिकर ने अभिषेक पूर्वक भगवान् को सब सुखों की देने वाली पूजा की, खूब दान किया और दुखी, अनाथ, अपाहिजों की सहायता की । अन्त में वह अपने प्रियंकर पुत्र को राज्य देकर अपने बन्धु, वान्धवों की सम्मति से योग लेने के लिए विपुलाचल पर भगवान् वर्द्धमान के समवशरण में गया और उन त्रिलोक पूज्य भगवान् के पवित्र दर्शन कर उसने भगवान् के द्वारा जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । इसके बाद प्रीतिकर मुनि ने खूब दु:सह तपस्या की और अंत में शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया । अब वे लोकालोक के सब पदार्थों को हाथ की रेखाओं के समान साफ-साफ जानने देखने लग गये । उन्हें केवलज्ञान प्राप्त किया सुन विद्याधर, चक्रवर्ती, स्वर्ग के देव आदि बड़े-बड़े महापुरूष उनके दर्शन-पूजन को आने लगे । प्रीतिकर भगवान् ने तब संसार ताप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवों को परम धाम--मोक्ष सिधार गये । आठ कर्मों का नाश कर आठ आत्मिक महान् शाक्तियों को उन्होंने प्राप्त किया । अब वे संसार में न आकर अनन्त काल तक वहीं रहेंगे । वे प्रीतिकर स्वामी मुझे शान्ति प्रदान करें। प्रीतिकर का यह पवित्र और कल्याण करने वाला चरित्र आप भव्यजनों को और मुझे सम्यग्ज्ञान के लाभ का कारण हो । यह मेंरी पवित्र भावना है ।

एक अत्यन्त अज्ञानी पशुयोनि में जन्में सियार ने भगवान् के पवित्र धर्म का थोड़ा सा आश्रय पा **अर्थ**ात् केवल रात्रि-भोजन-त्याग व्रत स्वीकारकर मनुष्य जन्म लिया और उसमें खूब सुख भोगकर अन्त में अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त की । तब आप लोग भी क्यों न इस अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए पवित्र जैनधर्म में अपने विश्वास को दृढ़ करें ।

दान करने वालों की कथा

दान करने वालों की कथा

कथा :

जगद्गुरू तीर्थकर भगवान् को नमस्कार कर पात्र दान के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है ।

जिन भगवान् के मुखरूपी चन्द्रमा से जन्मी पवित्र जिनवाणी ज्ञानरूपी महा समुद्र से पार करने लिए मुझे सहायता दे, मुझे ज्ञान-दान दे । उन साधु रत्नों को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक हैं, परिग्रह करक-कामिनी आदि से रहित वीतरागी हैं और सांसारिक सुख तथा मोक्ष सुख की प्राप्ति के कारण है ।

पूर्वाचार्यो ने दान को चार हिस्सों में बांटा हैं, जैसे आहार-दान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान । और ये ही दान पवित्र है । योग्य

पात्रों को यदि ये दान दिये जाये तो इनका फल अच्छी जमीन में बोये हुए बड़ के बीज की तरह अनन्त गुणा होकर फलता है । जैसे एक ही बाबड़ी का पानी अनेक वृक्षों में जाकर नाना रूप में परिणत होता है उसी तरह पात्रों के भेद से दान के फल में भी भेंद हो जाता है । इसलिए जहाँ तक बने अच्छे सुपात्रों को दान देना चाहिए । सब पात्रों में जैनधर्म का आश्रम लेने वाले को अच्छा पात्र समझना चाहिये, औरों को नहीं । क्योंकि जब एक कल्पवृक्ष हाथ लग गया फिर औरों से क्या लाभ ? जैनधर्म में पात्र तीन बतलाये गये हैं । उत्तम पात्र-----मुनि, मध्यम पात्र-----व्रती श्रावक और जघन्य पात्र-----अव्रतसम्यग्दृष्टि । इन तीन प्रकार के पात्रों को दान देकर भव्य पुरूष जो सुख लाभ करते हैं उसका वर्णन मुझसे नहीं किया जा सकता । परन्तु संक्षेप में यह समझ लीजिए कि धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, खान-पान, भोग-उपभोग आदि जितनी उत्तम-उत्तम सुख-सामग्री है वह तथा इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरूषों की पदवियाँ, अच्छे सत्यपुरूषों की संगति, दिनों-दिन ऐश्वर्यादि की बढ़वारी, ये सब पात्रदान के फल से प्राप्त होते हैं । न यही, किन्तु इस पात्रदान के फल से मोक्ष प्राप्ति भी सुलभ है । राजा श्रेयांस ने दान के ही फल से मुक्ति लाभ किया था । इस प्रकार पात्रदान का अचिन्त्य फल जानकर बुद्धिवानों को इस ओर अवश्य अपने ध्यान को खींचना चाहिए। जिन-जिन सत्यपुरूषों ने पात्रदान आज तक फल पाया है, उन सबके नाम मात्रका उल्लेख भी जिन भगवान् के बिना और कोई नहीं कर सकता, तब उनके सम्बन्ध में कुछ कहना या लिखना मुझसे मतिहीन मनुष्यों के लिए तो असंभव ही है। आचार्यों ने ऐसे दानियों में सिर्फ चार जनों का उल्लेख शास्त्रों में किया है । इस कथा में उन्हींका संक्षिप्त चरित में पुराने शास्त्र के अनुसार लिखूँगा । उन दानियों के नाम है-----श्रीषेण, वृषभसेना, कैण्डेश और एक पशु बराह-सूअर । इनमें श्रीषेण ने आहारदान, वृषभसेना ने औषधिदान, कैण्डेश ने शास्त्रदान और सूअर ने अभयदान दिया था । उनकी क्रम से कथा लिखी जाती है ।

प्राचीन काल में श्रीषेण राजा ने आहारदान दिया । उसके फल से वे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए । श्रीशान्तिनाथ भगवान् जय लाभ करें, जो सब प्रकार का सुख देकर अन्त में मोक्ष सुख के देनेवाला है और जिनका पवित्र चरित्र का सुनना परम शान्ति का कारण है । ऐसे परोपकारी भगवान् का परम पवित्र और जीव मात्र का हित करने वाला चरित आप लोग भी सुनें, जिसे सुनकर आप सुख लाभ करेंगे । प्राचीन काल में इसी भारतवर्ष में मलय नाम का एक अति प्रसिद्ध देश था । रत्नसंचयपुर इसी की राजधानी थी । जैनधर्म का इस सारे देश में खूब प्रचार था । उस समय इसके राजा श्रीषेण थे । श्रीषेण धर्मज्ञ, उदारमना, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी और बड़े विचारशील थे । पुण्य से प्राय: अच्छे-अच्छे सभी गुण उन्हें प्राप्त थे । उनका प्रतिद्वंदी या शत्रु कोई न था । वे राज्य निर्विघ्न किया करते थे । सदाचार में उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था । उनकी दो रानियाँ थी । उनके नाम थे सिंहनन्दिता और अनन्दिता । दोनों ही अपनी-अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थीं, विदुषी और सती थी । इन दोनों के दो पुत्र हुए । उनके नाम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन थे । दोनों ही भाई सुन्दर थे, गुणी थे, शूरवीर थे और हृदय के बड़े शुद्ध थे । इस प्रकार श्रीषेण धन-सम्पत्ति, राज्य-वैभव, कुटुम्ब-परिवार आदि से पूरे सुखी थे । प्रजा का नीति के साथ पालन करते हुए वे अपने समय को बड़े आनन्द के साथ बिताते थे ।

यहाँ एक सात्यकि ब्राह्मण रहता था । इसकी स्त्री का नाम जंघा था । इसके सत्यभामा नाम की एक लड़की थी । रत्नसंचयपुर के पास बल नाम का एक गांव बसा हुआ था । उसमें धरणीजट नाम का ब्राह्मण वेदों का अच्छा विद्वान् था । अग्नीला इसकी स्त्री थी । अग्नीला से दो लड़के हुए । उनके नाम इन्द्रभूति और अग्निभूति थे । इसके यहाँ एक दासी-पुत्र (शूद्र) का लड़का रहता था । उसका नाम कपिल था । धरणीजट जब अपने लड़कों को वेदादिक पढ़ाया करता, उस समय कपिल भी बड़े ध्यान से उस पाठ को चुपचाप छुपे हुए सुन लिया करता था । भाग्य से कपिल की बुद्धि बड़ी तेज थी । सो वह अच्छा विद्वान् हो गया । एक दासीपुत्र भी पढ़-लिखकर महाविद्वान् बन गया, इसका धारणीजट को बड़ा आश्चर्य हुआ । पर सच तो यह है कि बेचारा मनुष्य करे भी क्या, बुद्धि तो कर्मों के अनुसार होती है न ? जब सर्व साधारण में कपिल के विद्वान् हो जाने की चर्चा उठी तब धरणीजट पर ब्राह्मण लोग बड़े बिगड़े और उसे डराने लगे कि तूने यह बड़ा भारी अन्याय किया जो दासी-पुत्र को पढ़ाया । इसका फल तुझे बहुत बुरा भोगना पड़ेगा । अपने पर अपने जातीय भाइयों को इस प्रकार क्रोध उलगते देख धरणीजट बड़ा घबराया । तब डर से उसने कपिल को अपने घर से निकाल दिया । कपिल उस गाँव से निकल रास्ते में ब्राह्मण बन गया और इसी रूप में वह रत्नसंचयपुर आ गया । कपिल विद्वान् और सुन्दर था । इसे उस सात्यकि ब्राह्मण ने देखा, जिसका कि ऊपर जिकर आ चुका है । इसके गुण रूप को देखकर सात्यकि बहुत प्रसन्न हुआ । उसके मन पर यह बहुत चढ़ गया । तब सात्यकि ने इसे ब्राह्मण ही समझ अपनी लड़की सत्यभामा का इसके साथ ब्याह कर दिया । कपिल अनायास इस स्त्री–रत्न को प्राप्त कर सुख से

रहने लगा । राजा ने इसके पाण्डित्य की तारीफ सुन इसे अपने यहाँ पुराण कहने को रख लिया । इस तरह कुछ वर्ष बीते । एक बार सत्यभामा ऋतुमती हुई । सो उस समय भी कपिल ने उससे संसर्ग करना चाहा । उसके इस दुराचार को देखकर सत्यभामा को इसके विषय में सन्देह हो गया । उसने इस पापी को ब्राह्मण न समझ इससे प्रेम करना छोड़ दिया । वह इससे अलग रह दु:ख के साथ अपनी जिन्दगी बिताने लगी ।

इधर धरणीजट के कोई ऐसा पाप का उदय आया कि जिससे उसकी सब धन-दौलत बरबाद हो गई । वह भिखारी-सा हो गया । उसे मालूमहुआ कि कपिल रत्नसंचयपुर में अच्छी हालत में है । राजा द्वारा उसे धनमान खूब प्राप्त है । वह उसी समय सीधा कपिल के पास आया । उसे दूर ही से देखकर कपिल मन ही मन धरणीजट पर बड़ा गस्सा हुआ । अपनी बढ़ी हुई मान-मर्यादा के समय इसका अचानक आ जाना कपिल को बहुत खटका । पर वह कर क्या सकता था । उसे साथ ही इस बात का बड़ा भय हुआ । कि कहीं वह मेरे सम्बन्ध में लोगों को भड़का न दे । यही सब विचार कर वह उठा और बड़ी प्रसन्नता से सामने जाकर धरणीजट को इसने नमस्कार किया और बड़े मान से लाकर उसे ऊँचे आसन पर बैठाया । इसके बाद उसने-----पिताजी, मेंरी माँ, भाई आदि सब सुख से तो है न ? इस प्रकार कुशल समाचार पूछ कर धरणीजट को स्नान, भोजन कराया और उसका वस्त्रादि से खूब सत्कार किया । फिर सबसे आगे एक खास मानकी जगह बैठाकर कपिल ने सब लोगों को धरणीजट का परिचय कराया कि ये ही मेरे पिता जी हैं । बड़े विद्वान् और आचार-विचारवान् है । कपिल ने यह सब मायाचार इसीलिए किया था कि कहीं उसकी माता का सब भेद खुल न जाय । धरणीजट द्ररिद्री हो रहा था । धन की उसे चाह थी ही, सो उसने उसे अपना पुत्र मान लेने में कुछ भी आनाकानी न की । धन के लोभ से उसे यह पाप स्वीकार कर लेना पड़ा । ऐसे लोभ को धिक्कार है, जिसके वश हो मनुष्य हर एक पापकर्म कर डालता है । तब धरणीजट वहीं रहने लग गया । यहाँ रहते इसे कई दिन हो चुके । सबके साथ इसका थोड़ा बहुत परिचय भी हो गया । एक दिन मौका पाकर सत्यभामा ने इसे कुछ थोड़ा बहुत द्रव्य देकर एकान्त में पूछा-----महाराज, आप ब्राह्मण है और मेंरा विश्वास है कि ब्राह्मण देव कभी झूठ नहीं बोलते । इसलिए कृपाकर मेरे सन्देह को दूर कीजिए । मुझे आपके इन कपिलजी का दुराचार देख यह विश्वास नहीं होता कि ये आप सरीखे पवित्र ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए हों, तब क्या वास्तव में ये ब्राह्मण ही हैं या कुछ गोलमाल है । धरणीजट को कपिल से इसलिए द्वेष ही हो रहा था । कि भरी सभा में कपिल ने उसे अपना पिता बता उसका अपमान किया था । और दूसरे उसे धन की चाह थी, सो उसके मन के माफिक धन सत्यभामा ने उसे पहले ही दे दिया था । तब वह कपिल की सच्ची हालत क्यों छिपायेंगा ? जो हो, धरणीजट सत्यभामा को सब हाल कहकर और प्राप्त धन लेकर रत्नसंचयपुरसे चल दिया । सुनकर कपिल पर सत्यभामा की घृणा पहले से कोई सौ गुणी बढ़ गई । उसने तब उससे बोलना-चालना तक छोडकर एकान्तवार स्वीकार कर लिया, पर अपने कुलाचार की मान-मार्यदा को न छोड़ा । सत्यभामा को इस प्रकार अपने से घृणा करते देख कपिल उससे बलात्कार करने पर उतारू हो गया । तब सत्यभामा घर से भागकर श्रीषेण महाराज की शरण में आ गई और उसने सब हाल उनसे कह दिया । श्रीषेण ने तब उस पर दयाकर उसे अपनी लड़की की तरह अपने यहीं रख लिया । कपिल सत्यभामा के अन्याय की पुकार लेकर श्रीषेण के पास पहुँचा । उसके व्यभिचार की हालत उन्हें पहले ही मालूम हो चुकी थी, इसलिए उसका कुछ न सुनकर श्रीषेण ने उस लम्पटी और कपटी ब्राह्मण को अपने देश ही से निकाल दिया । जो ठीक ही है राजों को सज्जनों की रक्षा और दुष्टों को सजा करनी ही चाहिए । ऐसा न करने पर वे अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं और प्रजा के धनहारी हैं ।

एक दिन श्रीषेण के यहाँ आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण ऋद्धि के धारी मुनिराज पृथिवों को अपने पाँवों से पवित्र करते हुए आहार के लिये आये । श्रीषेण ने बड़ी भक्ति से उनका आह्वान कर उन्हें पवित्र आहार कराया । इस पात्रदान से उनके यहाँ स्वर्ग के देवों ने रत्नों की वर्षा को, कल्पवृक्षों के सुन्दर और सुगन्धित फूल बरसाये, दुन्दुगी बाजे बजे, मन्द-सुगन्ध वायु बहा और जय-जयकार हुआ, खूब बधाइयाँ मिली । और सच है, सुपात्रों को दिये दान के फल से क्या नहीं हो पाता । इसके बाद श्रीषेण ने और बहुत वर्षों तक राज्य-सुख भोगा। अन्त में मरकर वे बातकीखण्ड द्वीप के पूर्वभाग उत्तर-कुरू भोगभूमि में उत्पन्न हुए । सच है, साधुओंकी संगति से जब मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है तब कौन ऐसी उससे भी बढ़कर वस्तु होगी जो प्राप्त न हो। श्रीषेण की दोनों रानियाँ तथा सत्यभामा भी इसी उत्तर कुरू भोगभूमि में जाकर उत्पन्न हुई । ये सब और आनन्द से रहते है । यहाँ इन्हें कोई खाने-कमानेकी चिन्ता नहीं करना पड़ती है । पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को निराकुलता से ये आयु पूर्ण होने तक भोगेंगे । यहाँ की स्थिति बड़ी अच्छी है होने वाले कष्ट नहीं सता पाते । इनकी कोई प्रकार के अपघात से मौत नहीं होती। न अधिक गर्मी होती है; किन्तु सदा एकसी सुन्दर ऋतु रहती है । यहाँ न किसी की

सेवा करनी पड़ता है और न किसी के द्वारा अपमान सहना पड़ता है । न यहाँ युद्ध है और न कोई किसी का बैरी ही है । यहाँ के लोगों के भाव सदा पवित्र रहते है । आयु पूरी होने तक ये इसी तरह सुख से रहते है । अन्त में स्वाभाविक सरल भावों से मृत्यु लाभ कर ये दानी महात्मा कुछ बाकी बचे पुण्य फल से स्वर्ग में जाते है । श्रीषेण ने भी भोगभूमि का खूब सुख भोगा । अन्त में वे स्वर्ग में गये । स्वर्ग में भी मनचाहा दिव्य सुख भोगकर अन्त में वे मनुष्य हुए । इस जन्म में ये कई बार अच्छे अच्छे राजघराने में उत्पन्न हुए । पुण्य से फिर स्वर्ग गये। वहाँ की आयु पूरी कर अब की बार भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध शहर हस्तिनागपुर के राजा विश्वसेन की रानी ऐरा के यहाँ इन्होंने अवतार लिया । यही सोलहवें श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर के नाम से संसार में प्रख्यात हुए । इनके जन्म समय में स्वर्ग के देवों ने आकर बड़ा उत्सव किया था, इन्हें सुमेंरू पर्वत पर ले जाकर क्षीर समुद्र के स्फटिक से पवित्र और निर्मल जल से इनका अभिषेक किया था । भगवान् शान्तिनाथ ने अपना जीवन बड़ी ही पवित्रता के साथ इन्होंने धर्म का पवित्र उपदेश देकर अनेक जनों को संसार से पार किया, दु:खों से उनकी रक्षा कर उन्हें सुखी किया । अपना संसार के प्रति जो कर्त्तव्य था उसे पूरा कर इन्होंने निर्वाण लाभ किया । यह सब पात्रदान का फल है । इसलिए जो लोग पात्रों को भक्ति से दान देंगे वे भी नियम से ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे । यह बात ध्यान में रखकर सत्पुरूषों का कर्त्तव्य है, कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें । यही दान स्वर्ग और मोक्ष के सुख का देने वाला है ।

मूलसंघ में कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। रत्नत्रय-----सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारी थे । इन्हीं गुरू महाराज की कृपा से मुझे अल्पबुद्धि नेमिदत्त ब्रह्मचारी ने पात्रदान के सम्बन्ध में श्रीशान्तिनाथ भगवान् को पवित्र कथा लिखी है । यह कथा मेरे परम शान्ति की कारण हो ।

औषधिदान की कथा

औषधिदान की कथा

कथा :

जिन भगवान् जिनवाणी और जैन साधुओं के चरणों को नमस्कार कर औषधिदान के सम्बन्ध को कथा लिखी जाती है ।

निरोगी होना, चेहरे पर सदा प्रसन्नता रहना, धनादि विभूति का मिलना, ऐश्वर्य का प्राप्त होना, सुन्दर होना, तेजस्वी और बलवान् होना और अन्त में स्वर्ग या मोक्ष का सुख प्राप्त करना ये सब औषधिदान के फल है । इसलिये जो सुखी होना चाहते है उन्हें निर्दोष औषधिदान करना उचित है । इस औषधिदान के द्वारा अनेक सज्जनों ने फल प्राप्त किया है, उन सबके सम्बन्ध में लिखना औरों के लिये नहीं तो मुझ अल्पबुद्धि के लिये तो अवश्य असम्भव है । उनमें से एक वृषभसेना का पवित्र चरित्र यहाँ संक्षिप्त में लिखा जाता है । आचार्यों ने जहाँ औषधिदान देनेवाले का उल्लेख किया है वहाँ वृषभसेना का ही प्राय: कथन आता है । उन्हीं का अनुकरण मैं भी करता हूँ ।

भगवान् के जन्म से पवित्र इस भारतवर्ष के जनपद नाम के देश में नाना प्रकार की उत्तमोत्तम सम्पत्ति से भरा अतएव अपनी सुन्दरता से स्वर्ग की शोभा को नीची करने वाला कावेरी नाम का नगर है । जिस समय की यह कथा है, उस समय कावेरी नगर के राजा उग्रसेन थे । उग्रसेन प्रजा के सच्चे हितैषी और राजनीति के अच्छे पण्डित थे ।

यहाँ धनपति नाम का एक अच्छा सद्गृहस्थ सेठ रहता था । जिन भगवान् की पूजा-प्रभावनादि से उसे अत्यन्त प्रेम था । इसकी स्त्री धनश्री इसके घर की मानों दूसरी लक्ष्मी थी । धनश्री सती और बड़े सरल मनकी थी । पूर्व पुण्य से इसके वृषसेना नाम की एक देवकुमारी सी सुन्दरी और सौभाग्यवती लड़की हुई । सच है, पुण्यके उदयसे क्या प्राप्त नहीं होता । वृषभसेनाकी धाय रूपवती इसे सदा नहाया-धुलाया करती थी । इसके नहानेका पानी बह-बह कर एक गढ़े में जमा हो गया था । एक दिनकी बात है कि रूपमती वृषभसेनाको नहला रही थी । इसी समय एक महारोगी कुत्ता उस गढ़े में, जिसमें कि वृषभसेनाके नहानेका पानी इकट्ठा हो रहा था, गिर पड़ा । क्या आश्चर्यकी बात है कि जब वह उस पानी में से निकला तो बिलकुल नीरोग देख पड़ा । रूपवती उसे देखकर चकित हो रही । उसने सोचा-----केवल साधारण जल से इस प्रकार रोग नहीं जा सकता । पर यह वृषभसेना के नहाने का पानी है । इसमें इसके पुण्य का कुछ भाग जरूर होना चाहिये । जान पड़ता है वृषभसेना कोई बड़ी भाग्यशालिनी लड़की है । ताज्जुब नहीं कि यह मनुष्य रूपिणी कोई देवी हो ! नहीं तो इसके नहाने के जल में ऐसी चकित करने वाली करामात हो ही नहीं सकती । इस पानी की और परीक्षा कर देख लूँ, जिससे और भी दृढ़ विश्वास हो जायगा कि यह पानी सचमुच ही क्या रोगनाशक है ? तब रूपवती थोड़े से उस पानी को लेकर अपनी मौके पास आई । इसकी माँ की आंखें कोई बारह वर्षों से खराब हो रही थी । इससे वह बड़ी दु:ख में थी । आंखों को रूपवती ने इस जल से धोकर साफ किया

और देखा तो उनका रोग बिलकुल जाता रहा । वे पहले सी बड़ी सुन्दर हो गईं । रूपवती को वृषभसेना के महा पुण्यवती होने में अब कोई सन्देह न रह गया । इस रोग नाश करने वाले जल के प्रभाव रूपवती की चारों ओर बड़ी प्रसिद्धि हो गई । बड़ी-बड़ी दूर के रोगी अपने रोग का इलाज कराने को आने लगे । क्या आंखों के रोग को, क्या पेट के रोग को, यही नहीं किन्तु जहर सम्बन्धी असाध्य से असाध्य रोगों को भी रूपवती केवल एक इसी पानी से आराम करने लगा । रूपवती इससे बड़ी प्रसिद्ध हो गई ।

उग्रसेन और मेंघपिंगल राजा की पुरानी शत्रुता चली आ रही थी । इस समय उग्रसेन ने अपने मंत्री रणपिंगल को मेंघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी । रणपिंगल सेना लेकर मेंघपिंगल पर जा चढ़ा और उसके सारे देश को उसने घेर लिया । मेंघपिंगल ने शत्रु को युद्ध में पराजित करना कठिन समझ दूसरी ही युक्ति से उसे देश से निकाल बाहर करना विचारा और इसके लिये उसने यह योजना की कि शत्रु की सेना में जिन-जिन कुँए, बावड़ी से जल आता था उन सब में अपने चतुर जासूसों द्वारा विष मिलवा दिया । फल यह हुआ कि रणपिंगल की बहुत सी सेना तो मर गई और बची हुई सेना को साथ लिये वह स्वयं भी भाग कर अपने देश लौट आया । उसकी सेना पर तथा उस पर जो विष का असर हुआ था, उसे रूपवती ने उसी जल से आराम किया । गुरूओं के वचनामृत से जैसी जीवों को शान्ति मिलती है रणपिंगल को उसी प्रकार शान्ति रूपवती के जल से मिली और वह रोगमुक्त हुआ ।

रणपिंगल का हाल सुनकर उग्रसेन को मेंघपिंगल पर बड़ा क्रोध आया तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई की । उग्रसेन ने अबकी बार अपने जानते सावधानी रखने में कोई कसर न की । पर भाग्य का लेख किसी तरह नहीं मिटता । मेंघपिंगल का चक्र उग्रसेन पर भी चल गया । जहर मिले जल को पीकर उनकी भी तबियत बहुत बिगड़ गई । तब जितनी जल्दी उन से बन सका अपनी राजधानी में उन्हें लौट आना पड़ा । उनका भी बड़ा ही अपमान हुआ । रणपिंगल से उन्होंने, वह कैसे आराम हुआ था, इस बावत पूछा । रणपिंगल ने रूपवती का जल बतलाया । उग्रसेन तब उसी समय अपने आदमियों को जल ले आने के लिये सेठ के यहाँ भेजा । अपनी लड़की का स्नान-जल लेने को राजा के आदमियों को आया देख सेठानी धनश्री ने अपने स्वामी से कहा-----क्योंजी, अपनी वृषभसेनाका स्नान-जल राजा के सिर पर छिड़ का जाय यह तो उचित नहीं जान पड़ता । सेठ ने कहा-----तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु जिसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं तब क्या किया जाये । इसमें अपने बस की क्या बात है ? हम तो न जानबूझकर ऐसा करते हैं और न सच्चा हाल किसी से छुपाते ही हैं, तब इसमें अपना तो कोई अपराध नहीं हो सकता । यदि राजा साहब ने पूछा तो हम सब हाल उनसे यथार्थ कह देंगे । सच है, अच्छे पुरूष प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलते । दोनों ने विचार कर रूपवती को जल देकर उग्रसेन के महल पर भेजा । रूपवती ने उस जल को राजाके सिर पर छिड़क कर उन्हें आराम कर दिया । उग्रसेन रोगमुक्त हो गये । उन्हें बहुत खुशी हुई । रूपवती से उन्होंने उस जल का हाल पूछा । रूपवती ने कोई बात न छुपाकर जो बात सच्ची थी वह राजासे कह दी । सुनकर राजा ने धनपति सेठ को बुलाया और उसका बड़ा आदर-सत्कार किया । वृषभसेना का हाल सुनकर ही उग्रसेन की इच्छा उसके साथ ब्याह करने की हो गई थी और इसीलिए उन्होंने मौका पाकर धनपति से अपनी इच्छा कह सुनाई । धनपति ने उसके उत्तर में कहा-----राजराजेश्वर, मुझे आपकी आज्ञा मान लेने में कोई रूकावट नहीं है । पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्ष की देनेवाली और जिसे इन्द्र, स्वर्गवासी देव, चक्रवती, विद्याधर, राजे-महाराजे आदि महापुरूष बड़ी भक्ति के साथ करते हैं ऐसी अष्टाह्निक पूजा करनी होगी और भगवान् का खूब उत्सव के साथ अभिषेक करना होगा । सिवा इसके आपके यहाँ जो पशु-पक्षी पींजरों में बन्द हैं, उन्हें तथा कैदियों को छोड़ना होगा । ये सब बातें आप स्वीकार करें तो मैं वृषभसेना का ब्याह आपके साथ कर सकता हूँ । उग्रसेन ने धनपति की सब बातें स्वीकार की । और उसी समय उन्हें कार्य में भी परिणत कर दिया ।

वृषभसेना का ब्याह हो गया । सब रानियों में पट्टरानी का सौभाग्य उसे ही मिला । राजा ने अब अपना राजकीय कामों से बहुत कुछ सम्बन्ध कम कर दिया । उनका प्राय: समय वृषभसेना के साथ सुखोपभोग में जाने लगा । वृषभसेना पुण्योदय से राजा की खास प्रेम-पात्र हुई । स्वर्ग सरीखे सुखों को वह भोगने लगी । यह सब कुछ होने पर भी वह अपने धर्म-कर्म को थोड़ा भी न भूल गई थी । वह जिन भगवान् की सदा जलादि आठ द्रव्यों से पूजा करतीं, उनका अभिषेक करती, साधुओं को चारों प्रकारका दान देती, अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, तप, शील, संयमादि का पालन करती और धर्मात्मा सत्पुरूषों का अत्यन्त प्रेम के साथ आदर-सत्कार करती । और सच है, पुण्योदय से जो उन्नति हुई, उनका फल तो यही है कि साधर्मियों से प्रेम हो, हृदय में उनके प्रति उच्च भाव हो । वृषभसेना अपना जो कर्त्तव्य था, उसे पूरा करती, भक्ति से जिनधर्म की जितनी बनती उतनी सेवा करती और सुख से रहा करती थी ।

राजा उग्रसेन यहाँ बनारस का राजा पृथवीचन्द्र कैद था । और यह अधिक दुष्ट था । पर उग्रसेन का तो तब भी यही कर्त्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ब्याह के समय उसे भी छोड़ देते । पर ऐसा उन्होंने नहीं किया । यह अनुचित हुआ । अथवा यों कहिये कि जो अधिक दुष्ट होते हैं उनका भाग्य ही ऐसा होता है जो वे मौके पर भी बन्धन मुक्त नहीं हो पाते ।

पृथिवीचन्द्र की रानी का नाम नारायणदत्ता था । उसे आशा थी कि उग्रसेन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वृषभसेना के साथ ब्याह के समय मेरे स्वामी को अवश्य छोड़ देंगे । पर उसकी वह आशा व्यर्थ हुई । पृथिवीचन्द्र को छुड़ा ने के लिये एक दूसरी हो युक्ति की और उसमें उसे मनचाही सफलता भी प्राप्त हुई । उसने यहाँ वृषभसेना के नाम से कई दानशालाएँ बनवाईं । कोई विदेशी हो सबको उनमें भोजन करने को मिलता था । इन दानशालाओं में बढ़िया से बढ़िया छहों रसमय भोजन कराया जाता था । थोड़े ही दिनों में इन दानशालाओं की प्रसिद्धि चारों और हो गई । जो इनमें एक बार भी भोजन कर आता वह फिर इनकी तारीफ करने में कोई कमी न करता था । बड़ी-बड़ी दूर से इनमें भोजन करने को लोग आने लगे । कावेरी के भी बहुत से ब्राह्मण यहाँ भोजन कर जाते थे । उन्होंने इन शालाओं की बहुत तारीफ की ।

रूपवती को इन वृषभनसेना के नाम से स्थापित की गई दानशालाओं का हाल सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही उसे वृषभनसेना पर इस बात से बड़ा गुस्सा आया कि मुझे बिना पूछे उसने बनारस में ये शालाएँ बनवाई ही क्यों ? और इसका उसने वृषभनसेना को उलाहना भी दिया । वृषभसेना ने तब कहा-----माँ, मुझ पर तुम व्यर्थ ही नाराज होती हो । न तो मैंने कोई दानशाला बनारस में बनवाई और न मुझे उनका कुछ हाल ही मालूम है । यह सम्भव हो सकता है कि किसीने मेरे नाम से उन्हें बनाया हो । इसका शोघ लगाना चाहिये कि किसने तो ये शालाएँ बनवाई और क्यों बनवाई ? आशा है पता लगाने से सब रहस्य ज्ञात हो जायेगा । रूपवतीने तब कुछ जासूसों को उन शालाओं की सच्ची हकीकत जानने को भेजा । उनके द्वारा रूपवती को मालूम हुआ कि वृषभसेना के ब्याह समय उग्रसेन ने सब कैदियों को छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी । उस प्रतिज्ञा के अनुसार पृथिवीचन्द्र को उन्होंने न छोड़ा । यह बात वृषभनसेना को जान पड़े, उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हो इसलिए ये दान-शालाएँ उसके नाम से पृथिवीचन्द्र की रानी नारायणदत्ता ने बनवाई हैं । रूपवती ने यह सब हाल वृषभसेना से कहा । वृषभसेना ने तब उग्रसेन से प्रार्थना कर उसी समय पृथिवीचन्द्र को छुड़वा दिया । पृथिवीचन्द्र वृषभसेना के उपकार से बड़ा कृतज्ञ हुआ । उसने इस कृतज्ञता के वश हो उग्रसेन और वृषभसेना का एक बहुत ही बढ़िया चित्र तैयार करवाया । उस चित्र में इन दोनों राजारानी पाँवों में सिर झुकाया हुआ अपना चित्र भी पृथिवीचन्द्र ने खिंचवाया । वह चित्र फिर उनको भेंट कर उसने वृषभसेना से कहा-----माँ, जन्म–जन्म में ऋणी रहूँगा । आपने इस समय मेंरा जो उपकार किया उसका बदला तो मैं क्या चुका सकूँगा पर उसकी तारीफ में कुछ कहने तक के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है । पृथिवीचन्द्र की यह नम्रता यह विनयशीलता देखकर उग्रसेन उस पर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसका तब बड़ा आदर-सत्कार किया ।

मेंघपिंगल उग्रसेन का शत्रु है, इसका जिकर ऊपर आया है । जो हो, उग्रसेन से वह भले ही बिलकुल न डरता हो, पर पृथिवीचन्द्र से बहुत डरता है । उसका नाम सुनते ही वह काँप उठता है । उग्रसेन को यह बात मालूम थी । इसलिए अब की बार उन्होंने पृथ्वीचन्द्र को उस पर चढ़ाई करने की आज्ञा की । उनकी आज्ञा सिर पर चढ़ा पृथिवीचन्द्र अपनी राजधानी में गया । और तुरंत उसने अपनी सेना को मेंघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा की । सेना के प्रयाण का बाजा बजनेवाला ही था कि कावेरी नगर से खबर आ गई----- ‘‘ अब चढाई की कोई जरूरत नहीं । मेंघपिंगल स्वयं महाराज उग्रसेन के दरबार में उपस्थित हो गया ।’’बात यह थी कि मेंघपिंगल पृथिवीचन्द्र के साथ लड़ाई में पहले कई बार हार चुका था । इसलिए वह उससे बहुत डरता था । यही कारण था कि उसने पृथिवीचन्द्र से लड़ना उचित न समझा । तब अगत्या उसे उग्रसेन की शरण आ जाना पड़ा । अब वह उग्रसेन का सामन्त राजा बन गया । सच है, पुण्य के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं |

एक दिन दरबार लगा हुआ था । उग्रसेन सिंहासन पर अधिष्ठित थे । उस समय उन्होंने एक प्रतिज्ञा की--आज सामन्त-राजों द्वारा जो भेंट आयगी, वह आधी मेंघपिङ्ल को और आधी श्रीमती वृषभसेना की भेंट होगी । इसलिए कि उग्रसेन महाराज की अबसे मेंघपिंगल पर पूरी कृपा हो गई थी । आज और बहुत-सी धन-दौलत के सिवा दो बहुमूल्य सुन्दर कम्बल उग्रसेन की भेंट में आये । उग्रसेन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भेंट का आधा हिस्सा मेंघपिंगल के यहाँ और आधा हिस्सा वृषभसेना के यहाँ पहुँचा दिया । धन-दौलत, वस्त्राभूषण, आयु आदि ये सब नाश होनेवाली वस्तुएँ हैं, तब इनका प्राप्त करना सफल तभी हो सकता है जब कि ये परोपकार में लगाई जाँय, इनके द्वारा

दूसरों का भला हो ।

एक दिन मेंघपिंगल की रानी इस कम्बल को ओड़े किसी आवश्यक कार्य के लिए वृषभसेना के महल आई । पाठकों को याद होगा कि ऐसा ही एक कम्बल वृषभसेना के पास भी है । आज वस्त्रों के उतारने और पहरने में भाग्य से मेंघपिंगल की रानी का कम्बल वृषभसेना के कम्बल से बदल गया । उसे इसका कुछ ख्याल न रहा और वह वृषभसेना का कम्बल ओढ़े ही अपने महल आ गई । कुछ दिनों बाद मेंघपिंगल को राज-दरवार में जाने का काम पड़ा । वह वृषभसेना के इसी कम्बल को ओढ़े चला गया । कम्बल ओढ़े मेंघपिंगल को देखते ही उग्रसेन के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा । उन्होंने वृषभसेना के कम्बल को पहचान लिया । उनकी आंखों से आग की-सी चिनगारियाँ निकलने लगी । उन्हें काटो तो खून नहीं । महारानी वृषभसेनाका कम्बल इसके पास क्यों और कैसे गया ? इसका कोई गुप्त कारण जरूर होना ही चाहिए । बस, यह विचार उनके मन में आते ही उनकी अजब हालत हो गई । उग्रसेन का अपने पर अकारण क्रोध देखकर मेंघपिंगल को समझ में इसका कुछ भी कारण न आया । पर ऐसी दशा में उसने अपना वहाँ रहना उचित न समझा । वह उसी समय वहाँ से भागा और और एक अच्छे तेज घोड़े पर सवार हो बहुत दूर निकल गया । जैसे दुर्जनों से डरकर सत्पुरूष दूर जा निकलते हैं । उसे भागा देख उग्रसेन का सन्देह और बढ़ा । उन्होंने तब एक ओर तो मेंघपिंगल को पकड़ लाने के लिए अपने सवारों को दौड़ाया और दूसरी ओर क्रोधाग्नि से जलते हुए आप वृषभसेना के महल पहुँचे । वृषभसेना से कुछ न कह सुनकर कि तूने अमुक अपराध किया है, एक साथ उसे समुद्र में फिकवाने का उन्होंने हुक्म दे दिया । बेचारी निर्दोष वृषभसेना राजाज्ञा के अनुसार समुद्र में डाल दी गई । उस क्रोध को धिक्कार ! उस मूर्खता को धिक्कार ! जिसके वश हो लोग योग्य और अयोग्य कार्य का भी विचार नहीं कर पाते । अजान मनुष्य किसी को कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे, दु:खों की कसौटी पर उसे कितना ही क्यों न चढ़ावें, उसकी निरपराधता को अपनी क्रोधाग्नि में क्यों न झोंक दे, पर यदि वह कष्ट सहनेवाला मनुष्य निपराध है, निर्दोष है, उसका हृदय पवित्रतासे सना है, रोम-रोममें उसके पवित्रताका वास है तो नि:सन्देह उसका कोई बाल वाँका नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्योंको कितना ही कष्ट हो, उससे उनका हृदय रत्ती भर भी विचलित न होगा। बल्कि जितना-जितना वह इस परीक्षाकी कसौटी पर चढ़ता जायगा उतना-उतना ही अधिक उसका हृदय बलवान् और निर्भीक बनता जायगा। उग्रसेन महाराज भले ही इस बातको न समझें कि वृषभसेना निर्दोष है, उसका कोई अपराध नहीं,पर पाठकोंको उपने हृदयमें इस बातका अवश्य विश्वास है, न केवल विश्वास ही है, किन्तु बात भी वास्तवमें यही सत्य है कि वृषभसेनानिरपराध है। वह सती है, निष्कलंक है। जिस कारण उग्रसेन महाराज उस पर नाराज हुए हैं,वह कारण निर्भ्रान्त नहीं है। वे यदि जरा गम खाकर कुछ शान्तिसे विचार करते तो उनकी समझमें भी वृषभसेनाकी निर्दोषता बहुत जल्दी आ जाती। पर क्रोधने उन्हें आपेमें न रहने दिया। और इसीलिए उन्होंने एक दम क्रोधसे अन्धे हो एक निर्दोष व्यक्तिको काल के मुँहमें फैंक दिया। जो हो, वृषभसेनाकी पवित्र जीवनकी उग्रसेनने तो कुछ कीमत न समझी, उसके साथ महान् अन्याय किया, पर वृषभसेनाको अपने सत्य पर पूर्ण विश्वास था। यह जानती थी कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ । फिर मुझे कोई ऐसी बात नहीं देख पड़ती कि जिसके लिए मैं दु:ख कर अपने आत्मा को निर्बल बनाऊँ। बल्कि मुझे इस बातकी प्रसन्नता होनी चाहिए कि सत्यके लिए मेंरा जीवन गया। उसने ऐसे ही और बहुतसे विचारों से अपनी आत्मा को खूब बलवान् और सहनशील बना लिया। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि सत्यता और पवित्रताके सामने किसीकी नहीं चलती। बल्कि सबको उनके लिए अपना मस्तक झुकाना पड़ता है। वृषभसेना अपनी पवित्रता पर विश्वास रखकर भगवान् के चरणोंका ध्यान करने लगी। अपने मनको उसने परमात्म-प्रेममें लीन कर लिया। उसने साथ ही प्रतिज्ञा की कि यदि इस परीक्षा में में पास होकर नया जीवन लाभ कर सकूँ तो अब मैं संसारकी विषयवासनामें न फँसकर अपने जीवनको तपके पव्रित्र प्रवाहमें बहा दूँगी,जो तप जन्म और मरणका ही नाश करने वाला है। उस समयवृषभसेनाकी वह पवित्रता, वह दृढ़ता, वह शीलका प्रभाव, वह स्वभाव सिद्ध प्रसन्नता आदि बातोंने उसे एक प्रकाशमान उज्जवल ज्योतिके रूपमें परिणत कर दिया था। उसके इस अलौकिक तेज के प्रकाश ने स्वर्ग के देवों की आँखों तक में चकाचौंध पैदा कर दी। उन्हें भी इस तेस्विता देवी को सिर झुकाना पड़ा । वे वहाँ से उसी समय आये और वृषसेना की एक अमूल्य सिंहासन पर अधिष्ठित कर उन्होंने उस मनुष्यरूपधारिणी पवित्रता की मूर्तिमान देवी की बड़े भक्ति भावों से पूजा की, उसका जय-जयकार मनाया, बहुत सत्य है, पवित्रशील के प्रभाव से सब कुछ हो सकता है । यही शील आगको जल, समुद्रको स्थल, शत्रुको म़ित्र, दुर्जनकी सज्जन और विषको अमृतके रूपमें परिणत कर देता है। शीलका प्रभाव अचिन्त्य है। इसी शीलके प्रभावसे धन-सम्पत्ति, कीर्ति, पुण्य, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि जितनी संसार में उत्तम वस्तुएं हैं वे सब अनायास बिना परिश्रम किये प्राप्त हो जाती हैं । न यही किन्तु शीलवान् मनुष्य

मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे अपने चंचल मनरूपी बन्दरको वश कर उसे कहीं न जाने देकर पवित्रशीलव्रतकी, जिसे कि भगवान् ने सब पापोंका नाश करनेवाला बतलाया है,रक्षामें लगावें।

वृषभसेनाके शीलका माहात्म्य जब उग्रसेनको जान पड़ा तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ । अपनी बे-समझी पर वे बहुत पछताये। वृषभसेनाके पास जाकर उससे उन्होंने अपने इस अज्ञानकी क्षमा कराई और महल पर चलनेके लिए उससे प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेनाने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि इस कष्टसे छुटकारा पाते ही मैं योगिनी बनकर आत्महित करूँगी और इस पर वह दृढ़ भी वैसी ही थी; परन्तु इस समय जब कि खुद महाराज उसे लिवाने को आये तब उनका अपमान न हो; इसलिए उसने एक बार महल जाकर एक-दो दिन बाद फिर दीक्षा लेना निश्चय किया। वह बड़ी वैरागिन होकर महाराजके साथ महल आ रही थी । पर जिसके मन जैसी भावना होती है और वह यदि सच्चे हृदयसे उत्पन्न हुई होती है वह नियमसे पूरी होती ही है। वृषभसेनाके मनमें जो पवित्र भावना थी वह सच्चे संकल्पसे की गई थी। इसलिए उसे पूरी होना ही चाहिए थी और वह हुई। रास्तेमें वृषभसेनाको एक महा तपस्वी और अवधिज्ञानी गुणधर नामके मुनिराजके पवित्र दर्शन हुए। वृषभसेनाने बड़ी भक्ति से उन्हें हाथ जोड़ सिर नवाया | इसके बाद उसने उनसे पूछा—हे दयाके समुद्र योगिराज, क्या आप कृपाकर मुझे यह बतलावेंगे कि मैंने पूर्व जन्मोंमें क्या-क्या अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, जिनका मुझे यह फल भोगना पड़ा? मुनि बोले—पुत्रि, सुन तुझे तेरे पूर्व जन्मका हाल सुनाता हूँ । तू पहले जन्ममें ब्राह्मणकी लड़की थी । तेरा नाम नागश्री था । इसी राजघराने में तू बुहारी दिया करती थी । एक दिन मुनिदत्त नामके योगिराज महलके कोटके भीतर एक वायु रहित पवित्र गढ़ेमें बैठे ध्यान कर रहे थे। समय सन्ध्याका था। इसी समय तू बुहारी देती हुई इधर आई । तूने मूर्खता से क्रोध कर मुनिसे कहा--ओ नंगे ढोंगी, उठ यहाँ से, मुझे झाड़ने दे। आज महाराज इसी महल में आवेंगे । इसलिए इस स्थान को मुझे साफ करना है। मुनि ध्यान मेंथे,इसलिए वे उठे नहीं; और न ध्यान पूरा होने तक उठ ही सकते थे। वे वैसेके वैसे ही अडिग बैठे रहे । इससे तुझे और अधिक गुस्सा आया। तूने तब सब जगहका कूड़ा—कचराइकट्ठा कर मुनिको उससे ढँक दिया। बाद तू चली गई। बेटा तू तब मूर्ख थी, कुछ समझती न थी। पर तूने वह काम बहुत ही बुरा किया था। तू नहीं जानती थी। कि साधु-सन्त तो पूजा करने योग्य होते हैं, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। जो कष्ट देते हैं वे बड़े मूर्ख और पापी हैं । अस्तु, सबेरे राजा आये। वे इधर होकर जा रहे थे। उनकी नजर इस गढ़े पर पड़ गई। मुनिके साँस लेनेसे उन पर का वह कूड़ा-कचरा ऊँचा-नीचा हो रहा था । उन्हें कुछ सन्देहसा हुआ। तब उन्होंने उसी समय उस कचरे को हटाया। देखा तो उन्हें मुनि देख पड़े। राजाने उन्हें निकाल लिया। तुझे जब यह हाल मालूम हुआ और आकर तूने उनशान्तिके मन्दिर मुनिराजको पहलेसा हीशान्त पाया तब तुझे उनके गुणोंकी कीमत जान पड़ी। तू तब बहुत पछताई। अपने कर्मोंको तूने बहुत बहुत धिक्कारा। मुनिराज से अपने अपराध की क्षमा कराई तब तेरी श्रद्धा उन पर बहुत ही हो गई । मुनिके उस कष्टके दूर करनेका तूने बहुत यत्न किया,उनकी औषधि की और उनकी भरपूर सेवा की । उस सेवाके फलसे तेरे पापकर्मोंकी स्थिति बहुत कम रह गयी । बहिन, उसी मुनि सेवा के फल से तू इस जन्म में धनपति सेठकी लड़की हुई । तूने जो मुनि को औषधिदान दिया था उससे तो तुझे वह सर्वौषधि प्राप्त हुई। जो तेरे स्नानके जलसे कठिनसे कठिन रोग क्षण-भरमें नाश हो जाते हैं। और मुनिको कचरेसे ढँककर जो उन पर घोर उपसर्ग किया था।उससे तुझे इस जन्म में झूठा कलंक लगा। इसलिये बहिन, साधुओंको कभी कष्ट देना उचित नहीं। किन्तु ये स्वर्ग या मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके कारण हैं, इसलिए तो बड़ी भक्ति और श्रद्धासेसेवा-पूजा करनी चाहिये। मुनिराज द्वारा अपना पूर्वभव सुनकर वृषभसेना का वैराग्य और बढ़ गया। उसने फिर महल पर न जाकर उपने स्वामीसे क्षमा कराई और संसार की सब माया ममता का पेचीला जाल तोड़कर परलोक-सिद्धिके लिये इन्हीं गुणधर मुनि द्वारा योग-दीक्षा ग्रहण कर ली। जिस प्रकार वृषभसेना ने औषधिदान देकर उसके फल से सर्वौषधि प्राप्त की उसी तरह और बुद्धिमानों को भी उचित है कि वे जिसे जिस दानकी जरूरत समझें उसीके अनुसार सदा हर एककी व्यवस्था करते रहें। दान महान् पवित्र कार्य है और पुण्यका कारण है। गुणधर मुनिके द्वारा वृषभसेनाका पवित्र और प्रसिद्ध चरित्र सुनकर बहुतसे भव्यजनोंने जैनधर्मको धारण किया, जिन को जैनधर्मके नाम तकसे चिढ़ थी वे भी उससे प्रेम करने लगे। इन भव्यजनोंको तथा मुझे सती वृषभसेना पवित्र करे, हृदयमें चिरकालसे स्थानसे किये हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, मत्सरता आदि दुर्गुणोंको, जो आत्मप्राप्तिसे दूर रखने वाले हैं, नाश करें उनकी जगह पवित्रताकी प्रकाशमान ज्योतिको जगावे।

शास्त्र-दान की कथा

शास्त्र-दान की कथा

कथा :
संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जिन भगवान् को नमस्कार कर सुख प्राप्ति के कारण शास्त्र-दान की कथा लिखी जाती है।
मैं उस भारती सरस्वती को नमस्कार करता हूँ, जिसके प्रगटकर्ता जिन भगवान् हैं और जो आँखों के आड़े आने वाले, पदार्थों का ज्ञान न होने देने वाले अज्ञान-पटल को नाश करने वाली सलाई है।
भावार्थ— नेत्र रोग दूर करने के लिये जैसे सलाई द्वारा सुरमा लगाया जाता है या कोई सलाई ही ऐसी वस्तुओं की बनी होती है जिसके द्वारा सब नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह अज्ञानरूपी रोग को नष्ट करने के लिए सरस्वती-जिनवाणी सलाई का काम देने वाली है। इसकी सहायता से पदार्थों का ज्ञान बड़े सहज में हो जाता है।
उन मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ, जो मोह को जीतने वाले हैं, रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र विभूषित हैं और जिनके चरण-कमल लक्ष्मी के- सब सुखों के स्थान हैं।
इस प्रकार देव, गुरू और शास्त्रों को नमस्कार कर शास्त्रदान करने वाले की कथा संक्षेप में यहाँ लिखी जाती है। इसलिये कि इसे पढ़कर सत्पुरूषों के हृदय में ज्ञानदान की पवित्र भावना जाग्रत हो । ज्ञान जीवमात्र का सर्वोत्तम नेत्र है। जिसके यह नेत्र नहीं उसके चर्म नेत्र होने पर भी वह अन्धा है, उसके जीवन का कुछ मूल्य नहीं होता । इसलिये अकिंचित् जीवन को मूल्यवान् बनाने के लिए ज्ञान-दान देना ही चाहिये। यह दान सब दानों का राजा है। और दानों द्वारा थोड़े समय की और एक ही जीवन की ख्वाइशें मिटेंगी, पर ज्ञान-दान से जन्म-जन्म की ख्वाइशें मिटकर वह दाता और वह दान लेनेवाला ये दोनों ही उस अनन्त स्थान को पहुँच जाते हैं, जहाँ सिवा ज्ञान के कुछ नहीं है, ज्ञान ही जिनका आत्मा हो जाता है। यह हुई परलोक की बात। इसके सिवा ज्ञानदान से इस लोक में भी दाता की निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल जाती है। सारा संसार उसकी शत-मुख से बड़ाई करता है। ऐसे लोग जहाँ जाते हैं वही उनका मनमाना आव-आदर होता है। इसलिये ज्ञान-दान भुक्ति और मुक्ति इन दोनों का ही देनेवाला है। अत: भव्यजनों को उचित है, उनका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञान-दान करें और दूसरों को भी इस पवित्र मार्ग में आगे करें। इस ज्ञान-दान के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि यह सम्यक्पने को लिये हुए हो **अर्थ**ात् ऐसा हो कि जिससे किसी जीव का अहित, बुरा न हो,जिसमें किसी तरह का विरोध या दोष न हो। क्योंकि कुछ लोग उसे भी ज्ञान बतलाते हैं, जिसमें जीवों की हिंसा को धर्म कहा गया है,धर्म के बहाने जीवों को अकल्याण का मार्ग बतलाया जाता है और जिसमें कहीं कुछ कहा गया है और कहीं कुछ कहा गया है जो परस्पर का विरोधी है। ऐसा ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान है। इसलिए सच्चे-सम्यग्ज्ञान दान देने की आवश्कता है। जीव अनादि से कर्मों के वश हुआ अज्ञानी बनकर अपने निज ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप को भूल गया है और माया-ममता के पेंचीले जाल में फँस गया है, इसलिए प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सके। ऐसी दशा में इसे असुख का रास्ता बतलाना उचित नहीं। सुख प्राप्त करने का सच्चा प्रयत्न सम्यग्ज्ञान है। इसलिये दान, मान, पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन आदि से इस सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करने की पाँच भावनाएँ ये हैं- उन्हें सदा उपयोग में लाते रहना चाहिए। वे भावनाएँ हैं-
वाचना- पवित्र ग्रन्थ का स्वयं अध्ययन करना या दूसरे पुरूषों को कराना,
पृच्छना- किसी प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए परस्पर में पूछ-ताछ करना,
अनुप्रेक्षा - शास्त्रों में जो विषय पढ़ा हो या सुना हो उसका बार-बार मनन-चिन्तन करना,
आम्नाय- पाठ का शुद्ध पढ़ना या शुद्ध ही पढ़ाना और
धर्मोपदेश- पवित्र धर्म का भव्यजन को उपदेश करना।
ये पाँचों भावनाएँ ज्ञान बढ़ाने की कारण हैं। इसलिये इनके द्वारा सदा अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहना चाहिये। ऐसा करते रहने से एक दिन वह आयगा जब कि केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाएगा। इसीलिये कहा गया है कि ज्ञान सर्वोत्तम दान है। और यही संसार के जीव मात्र का हित करने वाला है, पुरा काल में जिन-जिन भव्यजनों ने ज्ञानदान किया आज तो उनके नाम मात्र का उल्लेख करना भी असंभव है, तब उनका चरित लिखना तो दूर रहा। अस्तु, कौण्डेश का चरित ज्ञानदान करनेवालों में अधिक प्रसिद्ध है। इसलिए उसी का चरित संक्षेप में लिखा जाता है।
जिनधर्म के प्रचार या उपदेशादि से पवित्र हुए इस भारतवर्ष में कुरूमरी गाँव में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। उसने एक बार

जंगल में एक वृक्ष की कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रन्थ देखा। उसे वह अपने घर पर ले आया और रोज-रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदि नाम के महात्मा को गोविन्द ने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनि को भेंट कर दिया। यह जान पड़ता है कि इस ग्रंथ द्वारा पहले भी मुनियों ने यहाँ भव्यजनों को उपदेश किया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की है और अनेक भव्यजनों को कल्याण मार्ग में लगाकर सच्चे मार्ग का प्रकाश किया है। अन्त में वे इस ग्रंथ को इसी वृक्ष की कोटर में रखकर विहार कर गए हैं। उनके बाद जब से गोविन्द ने इस ग्रन्थ को देखा तभी से वह इसकी भक्ति और श्रद्धा से निरन्तर पूजा किया करता था । इसी समय अचानक गोविन्द की मृत्यु हो गई। वह निदान करके इसी कुरूमरी गाँव में गाँव के चौधरी के यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगों की आँखें इस पर से हटती ही न थीं, सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगों के मन को प्रसन्न करना, उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्य की महिमा है। इसके पल्ले में पूर्व जन्म का पुण्य था। इसलिए इसे ये सब बातें सुलभ थीं।

एक दिन इसने उन्हीं पद्मनन्दि मुनि को देखा, जिन्हें कि इसने गोविन्द ग्वाले के भव में पुस्तक भेंट की थी। उन्हें देखकर इसे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। मुनि को नमस्कार कर तब धर्मप्रेम से इसने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इसकी प्रसन्नता का कुछ पार न रहा। यह बड़े उत्साह से तपस्या करने लगा। दिनों-दिन इसके हृदय की पवित्रता बढ़ती ही गई। आयु के अन्त में शान्ति से मृत्यु लाभ कर यह पुण्य के उदय से कौण्डेश नाम का राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा वीर था। तेज में वह सूर्य से टक्कर लेता था । सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेव को भी नीचा मुंह कर लेना पड़ता था। उसकी स्वभाव-सिद्धि कान्ति को देखकर तो लज्जा के मारे बेचारे चन्द्रमा का हृदय ही काला पड़ गया। शत्रु उसका नाम सुनकर काँपते थे। वह बड़ा ऐश्वर्यवान् था,भाग्यशाली था,यशस्वी था और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करता था। अपनी सन्तान के माफिक ही उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्ति से उसका समय बीतता था।

इस तरह कौण्डेश का बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसार से बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसार को अस्थिर, विषयभोगों को रोग के समान, सम्पत्ति को बिजली की तरह चंचल- तत्काल देखते-देखते नष्ट होने वाली, शरीर को मांस, मल, रूधिर आदि महा अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ, दु:खों का देने वाला, घिनौना और नाश होने वाला जानकर सबसे उदासीन हो गया। इस जैन धर्म के रहस्य को जानने वाले कौण्डेश के हृदय में वैराग्य भावना की लहरें लहराने लगीं । उसे अब घर में रहना कैदखाने के समान जान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्र को सौंप कर जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिन भगवान् की पूजा की, जो सब सुखों की कारण है । इसके बाद निर्ग्रन्थ गुरू को नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया । पूर्व जन्म में कौण्डेश ने जो दान किया था, उसके फल से वह थोड़े ही समय में श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरूषों को भी ज्ञान-दान देकर अपना आत्महित करना चाहिये। जो भव्यजन संसार के हित करनेवाले इस ज्ञान-दान की भक्तिपूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन लिखने-लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्व के कारणों से आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश, ऐश्वर्य, उत्तम कुल, गोत्र, दीर्घायु आदि का मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाय किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्ष का सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। अठारह दोष रहित जिन भगवान् के ज्ञान का मनन, चिन्तन करना उच्च्य सुख का कारण है।

मैंने जो यह दानकी कथा लिखी है वह आप लोगों को तथा मुझे केवलज्ञान के प्राप्त करने में सहायक हो।

मूलसंघ के सरस्वती गच्छ में भट्टारक मल्लिभूषण हुए। वे रत्नत्रय से युक्त थे। उनके प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने यह ज्ञानदान की कथा लिखी है। वह निरन्तर आप लोगों के संसार को शान्ति करे। **अर्थ**ात् जन्म, जरा, मरण मिटाकर अनन्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कराये।

अभयदान की कथा

अभयदान की कथा

कथा :

मोक्ष की प्राप्ति के लिये जिन भगवान् के चरणों को नमस्कार कर अभय-दान द्वारा फल प्राप्त करने वाले की कथा जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ संक्षेप में लिखी जाती है।

भव्यजनों द्वारा भक्ति से पूजी जाने वाली सरस्वती श्रुतज्ञान रूपी महासमुद्र के पार पहुँचाने के लिये नाव की तरह मेरी सहायता करे।

परब्रह्म स्वरूप आत्मा का निरन्तर ध्यान करने वाले उन योगियों को शान्ति के लिए मैं सदा याद करता हूँ, जिनकी केवल भक्ति से भव्यजन सन्मार्ग लाभ करते हैं, सुखी होते हैं।

इस प्रकार मंगलमय जिन भगवान्, जिनवानी और जैन योगियोंका स्मरण कर मैं वसतिदान-अभयदानकी कथा लिखता हूँ ।

धर्म-प्रचार, धर्मोपदेश, धर्म-क्रिया आदि द्वारा पवित्रता लाभ किये हुए इस भारतवर्ष में मालवा बहुत काल से प्रसिद्ध और सुन्दर देश है । अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्य से वह ऐसा जान पड़ता है मानों सारे संसार की लक्ष्मी यहीं आकर इकट्ठी हो गई है। वह सुख देने वाले बगीचों, प्रकृति-सुन्दर पर्वतों और सरोवरों की शोभा से स्वर्ग के देवों को भी अत्यन्त प्यारा है। वे यहाँ आकर मनचाहा सुख लाभ करते हैं। यहाँ के स्त्री-पुरूष सुन्दरता में अपनी तुलना में किसी को न देखते थे। देश के सब लोग खूब सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान् थे। मालवे के सब शहरों में, पर्वतों में और सब वनों में बड़े-बड़े ऊँचे विशाल और भव्य जिनमन्दिर बने हुए थे। उनके ऊँचे शिखरों में लगे हुए सोने के चमकते कलश बड़े सुन्दर जान पड़ते थे । रात में तो उनकी शोभा बड़ी ही विलक्षणता धारण करती थी । वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्गों के महलों में दीये जगमगा रहे हों। हवा के झकोरों से इधर-उधर फड़क रही उन मन्दिरों पर की ध्वजाएँ ऐसी देख पड़ती थीं मानों वे पथिकों को हाथों के इशारे से स्वर्ग जाने का रास्ता बतला रही है। उन पवित्र जिनमन्दिरों के दर्शन मात्र से पापों का नाश होता था तब उनके सम्बन्ध में और अधिक क्या लिखें । जिनमें बैठे हुए रत्नत्रय धारी साधु-तपस्वियों को उपदेश करते हुए देखकर यह कल्पना होती थी कि मानो वे मोक्ष के रास्ते है।

मालवे में जिन भगवान् के पवित्र और सुख देने वाले धर्म का अच्छा प्रचार है। सम्यक्त्व की जगह-जगह चर्चा है। अनेक सम्यक्त्वरत्न के धारण करने वाले भव्यजनों से वह युक्त है। दान-व्रत, पूजा-प्रभावना आदि वहाँ खूब हुआ करते हैं। वहाँ के भव्यजनों का निर्भ्रान्त विश्वास है कि अठारह दोष रहित जिन भगवान् ही सच्चे देव हैं। सच्चा धर्म दशलक्षण मय है और उनके प्रकटकर्ता जिनदेव हैं। गुरू परिग्रह रहित और वीतरागी हैं । तत्व वही सच्चा है जिसे जिन भगवान् ने उपदेश किया है। वहाँ के भव्यजन अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों में सदा प्रयत्नवान रहते हैं। वे भगवान् को स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाली पूजा सदा करते हैं,पात्रों को भक्ति से पवित्र दान देते हैं, व्रत, उपवास,शील, संयम को पालते हैं और आयु के अन्त में शुख-शान्ति से मृत्यु लाभ कर सद्गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मालवा उस समय धर्म का एक प्रधान केन्द्र बन रहा था, जिस समय की यह कथा है।

मालवे में तब एक घटगाँव नाम का सम्पत्तिशाली शहर था। इस शहर में देविल नाम का एक धनी कुम्हार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। उन दोनों ने मिलकर बाहर के आने वाले यात्रियों के ठहरने के लिए एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन देविल ने एक मुनि को लाकर इस धर्मशाला में ठहरा दिया। धर्मिल को जब मालूम हुआ तो उसने मुनि को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया और वहाँ एक संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। सच है, जो दुष्ट हैं, दुराचारी हैं, पापी हैं, उन्हें साधु-सन्त अच्छे नहीं लगते, जैसे उल्लू को सूर्य। धर्मिल ने मुनि को निकाल दिया, उनका अपमान किया, पर मुनि ने इसका कुछ बुरा न माना। वे जैसे शान्त थे वैसे ही रहें। धर्मशाला से निकल कर वे एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर गये। रात इन्होने वहीं पूरी की। डांस, मच्छर वगैरह का इन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन्होंने सब सहा और बड़ी शान्ति से सहा। सच है, जिनका शरीर से रत्तीभर मोह नहीं उनके लिए तो कष्ट कोई चीज ही नहीं। सबेरे जब देविल मुनि के दर्शन करने को आया और उन्हें धर्मशाला में न देखकर एक वृक्ष नीचे बैठे देखा तो उसे धर्मिल की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया । धर्मिल का सामना होने पर उसने उसे फटकारा। देविल की फटकार धर्मिल न सह सका और बात बहुत बढ़ गई यहाँ तक कि परस्पर में मारामारी हो गई। दोनों ही परस्पर में लड़कर मर मिटे। क्रूर भावों से मरकर ये दोनों क्रम से सूअर और व्याघ्र हुए। देविल का जीव सूअर विंध्य पर्वत की गुहा में रहता था। एक दिन कर्मयोग से गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त नाम के दो मुनिराज अपने विहार से पृथिवी को पवित्र करते इसी गुफा में आकर ठहरे । उन्हें देखकर इस सुअर को जातिस्मरण हो गया। इसने उपदेश करते हुए मुनिराज द्वारा धर्म का उपदेश सुन कुछ व्रत ग्रहण किये। व्रत ग्रहण कर यह बहुत सन्तुष्ट हुआ।

इसी समय मनुष्योंकी गन्ध पाकर धर्मिल का जीव व्याघ्र मुनियों को खाने के लिए झपटा हुआ आया। सुअर उसे दूर ही से देखकर गुहा के द्वार पर आकर डट गया । इसलिए कि वह भीतर बैठे हुए मुनियों की रक्षा कर सके। व्याघ्र ने गुहा के भीतर घुसने के लिए सूअर पर बड़ा जोर का आक्रमण किया। सूअर पहले से ही तैयार बैठा था। दोनों के भावोंमें बड़ा अन्तर था। एक के भाव थे मुनिरक्षा करने के और दूसरे के उनको खा जाने के। इसलिए देविल का जीव सूअर तो मुनिरक्षा रूप पवित्र भावों से मर कर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारी

देव हुआ । जिसके शरीर की चमकती हुई कान्ति गाढ़े अन्धकार को नाश करने वाली है।जिसकी रूप-सुन्दरता लोगों के मन को देखने मात्र से मोह लेती है, जो स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुण्डल, हार आदि बहुमूल्य भूषणों को पहनता है, अपनी स्वभाव-सुन्दरता से जो कल्पवृक्षों को नीचा दिखाता है, जो अणिमादि ऋद्धि-सिद्धियों का धारक है, अवधिज्ञानी है, पुण्य के उदय से जिसे सब दिव्य सुख प्राप्त हैं, अनेक सुन्दर-सुन्दर देव-कन्यायें ओर देवगण जिसकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, जो महा वैभवशाली है, महा सुखी है, स्वर्गों के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं ऐसे जिन भगवान् की, जिन प्रतिमाओं की और कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन मन्दिरों की जो सदा भक्ति और प्रेम से पूजा करता है, दुर्गति के दु:खों को नाश करने वाले तीर्थों की यात्रा करता है, महामुनियों की भक्ति करता है और धर्मात्माओं के साथ वात्सल्यभाव रखता है। ऐसी उसकी सुखमय स्थिति है। जिस प्रकार यह सूअर धर्म के प्रभाव से उक्त प्रकार सुख का भोगनेवाला हुआ उसी प्रकार जो और भव्यजन इस पवित्र धर्म का पालन करेंगे वे भी उसके प्रभाव से सब सुख-सम्पत्ति लाभ करेंगे। समझिए, संसार में जो-जो धन-दौलत, स्त्री, पुत्र, सुख, ऐश्वर्य आदि अच्छी-अच्छी आनन्द भोग की वस्तुएं प्राप्त होती हैं, उनका कारण एक मात्र धर्म है। इसलिए सुख की चाह करनेवाले भव्यजनों को जिन-पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि धर्म का निरन्तर पवित्र भावों से सेवन करना चाहिए।

देविल तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग गया और धर्मिल ने मुनियों को खा जाना चाहा था, इसलिए वह पाप के फल से मरकर नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल जानकर भव्यजनों को उचित है कि वे पुण्य के कारण पवित्र जैनधर्म में अपनी बुद्धि को दृढ़ करें।

इस प्रकार परम सुख-मोक्ष के कारण, पापों का नाश करने वाले और पात्र-भेद से विशेष आदर योग्य इस पवित्र अभयदान की कथा अन्य जैन शास्त्रों के अनुसार संक्षेप में यहाँ लिखी गई ।

करकण्डु राजा की कथा

करकण्डु राजा की कथा

कथा :

संसार द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर करकण्डु राजा का सुखमय पवित्र चरित लिखा जाता है ।

जिसने पहले केवल एक कमल से जिन भगवान् की पूजा कर जो महान् फल प्राप्त किया, उसका चरित जैसा और ग्रन्थों में पुराने ऋषियों ने लिखा है उसे देखकर या उनकी कृपा से उसका थोड़े में मैं सार लिखता हूँ ।

नील और महानील तेरपुर के राजा थे । तेरपुर कुन्तल देश की राजधानी थी । यहाँ वसुमित्र नाम का एक जिनभक्त सेठ रहता था । सेठानी वसुमती उसकी स्त्री थी । धर्म से उसे बड़ा प्रेम था । इन सेठ-सेठानी के यहाँ धनदत्त नाम का एक ग्वाल नौकर था । वह एक दिन गोएँ चराने को जंगलमें गया हुआ था । एक तालाब में इसने कोई हजार पंखुरियों वाला एक बहुत सुन्दर कमल देखा । उस पर यह मुग्ध हो गया । तब तालाब में कूद कर इसने उस कमल को तोड़ लिया । उस समय नागकुमारी ने इससे कहा -- धनदत्त, तूने मेरा कमल तोड़ा तो है, पर इतना तू ध्यान में रखता कि यह उस महापुरूष को भेंट किया जाय, जो संसार में सबसे श्रेष्ठ हो । नागकुमारी का कहा मानकर धनदत्त कमल लिये उपने सेठ के पास गया और उनसे सब हाल इसने कहा । वसुमित्र ने तब राजा के पास जाकर उनसे यह सब हाल कहा । सबसे श्रेष्ठ कौन है और यह कमल किसकी भेंट चढाया जाय, यह किसी की समझमें न आया । तब सब विचार कर चले कि इसका हाल मुनिराज से कहें । संसार में सबसे श्रेष्ठ कौन है, इस बात का पता वे अपने को देंगे । यह निश्चय कर राजा, सेठ, ग्वाल तथा और भी बहुत से लोक सहस्त्र-कूट नाम के जिन-मन्दिर में गये । वहाँ सुगुप्त मुनिराज ठहरे हुए थे । उनसे राजाने पूछा -- हे करूणा के समुद्र, हे पवित्र धर्म के रहस्य को समझनेवाले, कृपाकर बतलाइए कि संसार में सबसे श्रेष्ठ कौन है, जिन्हें यह पवित्र कमल भेंट किया जाय । उत्तर में मुनिराजने कहा -- राजन् सारे संसार के स्वामी, राग-द्वेषादि दोषों से रहित जिन भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं, क्योंकि संसार उन्हीं की पूजा करता है । सुनकर सबको बड़ा संतोष हुआ जिसे वे चाहते थे वह अनायास ही मिल गया । उसी समय वे सब भगवान् के सामने आये । धनदत्त ग्वाल ने तब भगवान् को नमस्कार कर कहा -- हे संसार में सबसे श्रेष्ठ गिने जाने वाले, आपको यह कमल मैं भेंट करता हूँ । इसे आप स्वीकार कर मेरी आशा को पूरी करें । यह कहकर वह ग्वाल उस कमल को भगवान् के पाँवों पर चढ़ाकर चला गया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि पवित्र कर्म मूर्ख लोगों को भी सुख देनेवाला होता है । इस कथा से सम्बन्ध रखनेवालों एक दूसरी कथा यहाँ लिखी जाती है । उसे सुनिए --

श्रावस्ती के रहने वाले सागरदत्त सेठ की स्त्री नागदत्ता बड़ी पापिनी थी । उसका चाल-चलन अच्छा न था । एक सोमशर्मा ब्राह्मण के साथ उसका अनुचित बरताव था । सच है, कोई-कोई स्त्रियाँ तो बड़ी दुष्ट और कुल-कलंकिनी हुआ करती हैं । उन्हें अपने कुल की मान-मर्यादा की कुछ लाज-शरम नहीं रहती । अपने उज्जवल कुलरूपी मन्दिर को मलिन करने के लिए वे काले धुएँ के समान होती हैं । बेचारा सेठ सरल था और धर्मात्मा था । इसलिए अपनी स्त्री का ऐसा दुराचार देखकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ । उसने फिर संसार का भ्रमण मिटानेवाली जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । वह बहुत ही कंटाल गया था । सागरदत्त तपस्या कर स्वर्ग गया । स्वर्गायु पूरी कर वह अंगदेश की राजधानी चम्पा नगरी में वसुपाल राजा की रानी वसुमती के दन्तिवाहन नामका राजकुमार हुआ । वसुपाल सुख से राज करते रहे । इधर वह सोमशर्मा मर कर पाप के फल से पहले तो बहुत समय तक दुर्गतियों में घूमा किया । एक से एक दु:सह कष्ट उसे सहना पड़ा । अन्त में वह कलिंग देश के जंगल में नर्मदा-तिलक नाम का हाथी हुआ । और ठीक ही है पाप से जीवों को दुर्गतियों के दु:ख भोगना ही पड़ते हैं । कर्म से इस हाथी को किसी ने पकड़ लाकर वसुपाल को भेंट किया ।

उधर इस हाथी के पूर्वभव के जीव सोमशर्मा की स्त्री नागदत्ता ने भी पाप के उदय से दुर्गतियों में अनेक कष्ट सहे । अन्त में वह तामलिप्तनगर में भी वसुदत्त सेठ की स्त्री नागदत्ता हुई । उस समय इसके धनवती और धनश्री नाम की दो लड़कियाँ हुईं । ये दोनों ही बहिनें बड़ी सुन्दर थीं । स्वर्ग कुमारियाँ इनका रूप देखकर मन नही मन बड़ी कुढ़ा करती थी । इनमें धनवती का ब्याह नागानन्दपुर के रहनेवाले वनपाल नाम के सेठ पुत्र के साथ हुआ और छोटी बहिन धनश्री कोशाम्बीके वसुमित्र की स्त्री हुई । वसुमित्र जैनी था । इसलिए उसके सम्बन्ध से धनश्री को कई बार जैनधर्म के उपदेश सुनने का मौका मिला । वह उपदेश उसे बहुत रूचिकर हुआ और फिर वह भी श्राविका हो गई । लड़की के प्रेम से नागदत्ता एक बार धनश्री के यहाँ गई । धनश्री ने अपनी माँ का खूब आदर-सत्कार किया और उसे कई दिनों तक अपनें यहीं रक्खा । नागदत्ता धनश्री के यहाँ कई दिनों तक रही,पर न तो वह कभी मंदिर गई और न तो कभी उसने धर्म की चर्चा की । धनश्रीअपनी माँ को धर्मसे विमुख देखकर एक दिन उसे मुनिराजके पास ले गई और समझा कर उसे मुनिराज द्वारा पाँच अणुव्रत दिलवा दिये । एक बार इसी तरह नागदत्ताको अपनी बड़ी लड़की धनवतीके यहाँ जाना पड़ा । धनवती बुद्धधर्म को मानती थी । सो उसने इसे बुद्धधर्मकी अनुयायिनी बना लिया । इस तरह नागदत्ताने कोई तीन बार जैनधर्म को छोड़ा । अन्तमें उसने फिर जैनधर्म ग्रहण किया और अब की बार वह उस पर रही भी बहुत दृढ़ । जन्म भर फिर उसने जैनधर्म को निर्बाहा । आयु के अन्त में मरकर वह कौशाम्बी के राजा वसुपाल की रानी वसुमती के लड़की हुई । पर भाग्यसे जिस दिन वह पैदा हुई, वह दिन बहुत खराब था । इसलिए राजा ने उसे एक सन्दूक में रखकर और उसके नाम की एक अँगूठी उसकी उँगली में पहरा कर उस सन्दूक को यमुना में छुड़वा दिया । सन्दूक बहती हुई कुसुमपुर के एक पद्महृद नाम के तालाब में पहुँच गई । इस तालाब में गंगा-यमुना के प्रवाह का एक छोटा-सा नाला बहकर आता था । उसी नाले में पड़कर यह सन्दूक तालाब में आ गई । इसे किसी कुसुमदत्त नाम के माली ने देखा । वह निकाल कर उसे अपने घर लिवा लाया । संदूक को खोलकर उसने देखा तो उसमें से यह लड़की निकली । कुसुमदत्त के कोई संतान न थी । इसलिए वह इसे पाकर बहुत खुश हुआ । अपनी स्त्री को बुलाकर उसने इसे उसकी गोद में रख दिया और कहा -- प्रिये, भाग्य से अपने को यह लड़की अनायास मिल गई । इससे अपने को बड़ी खुशी मनानी चाहिये । मुझे विश्वास है कि तुम भी इस अमूल्य संधि से बहुत प्रसन्न होगी । प्रिये, यह मुझे पद्महृद में मिली है । हम इसका नाम भी पद्मावती ही क्यों न रक्खें ? क्यों, नाम तो बड़ा ही सुन्दर है ! मालिन जिन्दगी भर से अपनी खाली गोद को आज एकाएक भरी पा बहुत आनन्दित हुई । वह आनन्द इतना था कि उसके हृदय में भी न समा सका । यही कारण था कि उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा था । उसने बड़े प्रेम से इसे छाती लगाया ।

पद्मावती इस समय कोई तेरह चौदह वर्ष की है । उसके सुकोमल, सुगन्धित और सुन्दर यौवनरूपी फूल की कलियाँ कुछ-कुछ खिलने लगी हैं । ब्रह्मा ने उसके शरीरा के लावण्य सुधा-धारा से सींचना शुरू कर दिया है । वह अब थोड़े ही दिनों में स्वर्ग की देव कुमारियों से भी अधिक सुन्दरता लाभ कर ब्रह्मा को अपनी सृष्टि का अभिमानी बनावेगी । लोग स्वर्गीय सुन्दरता की बड़ी प्रशंसा करते हैं । ब्रह्मा को उनकी इस थोथी तारीफ से बड़ी डाह है । इसलिये कि इससे उसकी रचना सुन्दरता में कमी आती है और उस कर्मों से इस नीचा देखना पड़ता है । ब्रह्मा ने सर्व साधारण के इस भ्रम को मिटाने के लिए कि जो कुछ सुन्दरता है वह स्वर्ग ही में है, मानो पद्मावती को उत्पन्न किया है । इसके सिवा इन लोगों की झूठी प्रशंसा से जो अपरांगनाएँ अभिमान के ऊँचे पर्वत पर चढ़कर सारे संसार के अपने सुन्दरता की तुलना में ना-कुछ चीज समझ बैठी हैं, उनके इस गर्व को चूर-चूर करना है । इन्हीं सब अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर आदि के वश हो ब्रह्मा

पद्मावती को त्रिभुवन-सुन्दर बनाने में विशेष यत्नशील हैं । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पद्मावती कुछ दिनों बाद तो ब्रह्मा की सब तरह आश पूरी करेगी ही । पर इस समय भी इसका रूप-सौंदर्य इतना मनोमधुर है कि उसे देखते ही रहने की इच्छा होती है । प्रयत्न करने पर भी आँखें उस ओरसे हटना पसन्द नहीं करती । अस्तु ।

पद्मावती की इस अनिन्द्य सुन्दरता का समाचार किसी ने चम्पा के राजा दन्तिवाहन को कह दिया । दन्तिवाहन इसकी सुन्दरता की तारीफ सुनकर कुसुमपुर आये । पद्मावतीको-एक माली की लड़की को इतनी सुन्दरी, इतनी तेजस्विनी देखकर उसके विषय में उन्हें कुछ सन्देह हुआ । उन्होंने तब उस माली को बुलाकर पूछा -- सच कह यह लड़की तेरी ही है क्या ? और यदि तेरी नहीं तो इसे कहाँ से ओर कैसे लाया ? माली डर गया । उससे राजा के सवालों का कुछ उत्तर देते न बना । सिर्फ उसने इतना ही किया कि जिस सन्दूक में पद्मावती निकली थी, उसे राजा के सामने ला रख दिया और कह दिया कि महाराज, मुझे अधिक तो कुछ मालूम नहीं, पर यह लड़की इस सन्दूक में से निकली थी । मेरे कोई लड़का-बाला न होने से इसे मैंनें अपने यहाँ रख लिया । राजा ने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमें एक अँगूठी निकली । उस पर कुछ इबारत खुदी हुई थी । उसे पढ़कर राजा कोपद्मावती के सम्बन्ध में कोई सन्देह करने की जगह न रह गई । जैसे वे राजपुत्र हैं वैसे ही पद्मावती भी एक राजघराने की राजकन्या है । दन्तिवाहन तब उसके साथ ब्याह कर उसे चम्पा में ले आये ओर सुख से अपना समय बिताने लगे ।

दन्तिवाहन के पिता वसुपाल ने कुछ वर्षों तक और राज्य किया । एक दिन उन्हें अपने सिर पर यमदूत सफेद केश देख पड़ा । उसे देखकर इन्हें संसार, शरीर, विषय-भोगादि से बड़ा वैराग्य हुआ । वे अपने राज्य का सब भार दन्तिवाहन को सौंप कर जिनमन्दिर गये । वहाँ अपने उन्होंने भगवान् का अभिषेक किया, पूजन की, दान किया, गरीबों को सहायता दी । उस समय उन्हें जो उचित कार्य जान पड़ा उसे उन्होंने खुले हाथों किया । बाद वे वहीं एक मुनिराज द्वारा दीक्षा ले योगी हो गये । उन्होंने योगदशा में खूब तपस्या की । अन्तमें समाधि से शरीर छोड़कर वे स्वर्ग गये ।

दन्तिवाहन अब राजा हुए । प्रजा का शासन ये भी अपने पिता की भाँति प्रेम के साथ करते थे । धर्म पर इनकी भी पूरी श्रद्धा थी पद्मावती सी त्रिलोक-सुन्दरी को पा ये अपने को कृतार्थ मानते थे । दोनों दम्पत्ति सदा बड़े हँसमुख और प्रसन्न रहते थे । सुख की इन्हें चाह नहीं थी, पर सुख ही इनका गुलाम बन रहा था ।

एक दिन सती पद्मावती ने स्वप्न में सिंह हाथी और सूरज को देखा । सबेरे उठकर उसने अपने प्राणनाथ से इस स्वप्न का हाल कहा । दन्तिवाहन ने उसके फल के सम्बन्धमें कहा -- प्रिये, स्वप्न तुमने बड़ा ही सुन्दर देखा है । तुम्हें एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी । सिंह का देखना जनाता है, कि वह बड़ा ही प्रतापी होगा । हाथी के देखने से सूचित होता है कि वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर होगा और सूरज यह कहता है कि वह प्रजारूपी कमल-वन का प्रफुल्लित करने वाला होगा, उसके शासन से प्रजा बड़ी सन्तुष्ट रहेगी । अपने स्वामी द्वारा स्वप्न का फल सुनकर पद्मावती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । और सच है, पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नहीं होती ।

पाठकों को तेरपुर के रहनेवाले धनदत्त ग्वालका स्मरण होगा, जिसने कि एक हजार पँखुरियों का कमल भगवान् को चढ़ाकर बड़ा पुण्यबन्ध किया था । उसी की कथा फिर लिखी जाती है । धनदत्त को तैरने का बड़ा शौक था । वह रोज-रोज जाकर एक तालाब में तैरा करता था । एक दिन वह तैरने को गया हुआ था । कुछ होनहार ही ऐसा था जो वह तैरता-तैरता एक बार घनी काई में बिंध गया । बहुत यत्न किया पर उससे निकलते न बना । आखिर बेचारा मर ही गया । मरकर वह जिनपूजा के पूण्य से इसी सती पद्मावती के गर्भ में आया ।

उधर वसुमित्र सेठ को जब इसके मरने का हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा दु:ख हुआ । सेठ उसी समय तालाब पर आया ओर धनदत्त की लाश को निकलवा कर उसका अग्नि-संस्कार किया । संसार की यह क्षण भंगुर दशा देखकर वसुमित्र को बड़ा वैराग्य हुआ । वह सुगुप्ति मुनिराज द्वारा योगव्रत लेकर मुनि हो गया । अन्तमें वह तपस्या कर पुण्य के उदयसे स्वर्ग गया ।

पद्मावती के गर्भ में धनदत्त के आने पर उसे दोहला उत्पन्न हुआ । उसकी इच्छा हुई कि मेंघ बरसने लगें और बिजलियाँ चमकने लगें । ऐसे समय पुरूष-वेष में हाथ में अंकुश लिये मैं स्वयं हाथी पर सवार होऊँ और मेरे साथ स्वामी भी बैठें । फिर हम दोनों घूमने के लिये शहर बाहर निकलें । पद्मावती ने अपनी यह इच्छा दन्तिवाहन से जाहिर की । दन्तिवाहन ने उसकी इच्छा के अनुसार अपने मित्र वायुवेग विद्याधर द्वारा माया-मयी कृत्रिम मेघ की काली-काली घटाओं द्वारा आकाश आच्छादित करवाया । कृत्रिम बिजलियाँ भी उन मेंघों में

चमकने लगीं । राजा-रानी इस समय उस नर्मदातिलक नाम के हाथी पर, जो सोमशर्मा का जीव था और जिसे किसी ने वसुपाल को भेंट किया था, चढ़कर बड़े ठाटबाट से नौकर-चाकरों को साथ लिये शहर बाहर हुए । पद्मावती का यह दोहला सचमुच ही बड़ा ही आश्चर्यजनक था । जो हो, जब ये शहर बाहर होकर थोड़ी ही दूर गये होंगे कि कर्मयोग से हाथी उन्मत्त हो गया । अंकुश वगैरह की वह कुछ परवाह न कर आगे चलनेवाले लोगों की भीड़ को चीरता हुआ भाग निकला । रास्ते में एक घने वृक्षों की वन में होकर वह भागा जा रहा था । सो दन्तिवाहन को उस समय कुछ ऐसी बुद्धि सूझ गई, कि जिससे वे एक वृक्ष की डाली को पकड़ कर लटक गये । हाथी आगे भागा ही चला गया । सच है, पुण्य कष्ट समयमें जीवों को बचा लेता है । बेचारे दन्तिवाहन उदास मुँह और रोते-रोते अपनी राजधानी में आये । उन्हें इस बात का अत्यन्त दु:ख हुआ कि गर्भिणी प्रिया की न जाने क्या दशा हुई होगी । दन्तिवाहन की यह दशा देखकर समझदार लोगों ने समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्पुरूषों के वचन चन्दन से कहीं बढ़कर शीतल होते हैं और उनके द्वारा दुखियों के हृदय का दु:ख सन्ताप बहुत जल्दी ठण्डा पड़ जाता है ।

उधर हाथी पद्मावती को लिये भागा ही चला गया । अनेक जंगलों और गाँवों को लाँघकर वह एक तालाब पर पहुँचा । वह बहुत थक गया था । इसलिये थकावट मिटाने को वह सीधा उस तालाब में घुस गया । पद्मावती सहित तालाब में उसे घुसता देख जलदेवी ने झट से पद्मावती को हाथी पर से उतार कर तालाब के किनारे पर रख दिया । आफत की मारी बेचारी पद्मावती किनारे पर बैठी-बैठी रोने लगी । वह क्या करे, कहाँ जाय, इस विषय में उसका चित्त बिलकुल धीर न धरता था । सिवा रोने के उसे कुछ न सूझता था । इसी समय एक माली इस ओर होकर अपने घर जा रहा था । उसने इसे रोते हुए देखा । इसके वेष-भूषा और चेहरे के रंग-ढंग से इसे किसी उच्च घराने की समझ उसे इस पर बड़ी दया आई । उसने इसके पास आकर कहा -- बहिन, जान पड़ता है तुम पर कोई भारी दु:ख आकर पड़ा है । यदि तुम कोई हर्ज न समझो तो मेरे घर चलो । तुम्हें वहाँ कोई कष्ट न होगा । मेरा घर यहाँ से थोड़ी ही दूर पर हस्तिनापुर में है और मैं जाति का माली हूँ । पद्मावती उसे दयावान् देख उसके साथ हो ली । इसके सिवा उसके लिये दूसरी गति भी न थी । उस माली ने पद्मावती को अपने घर ले जाकर बड़े आदर-सत्कार के साथ रक्खा । वह उसे अपनी बहिन के बराबर समझता था । इसका स्वभाव बहुत अच्छा था । ठीक है, कोई-कोई साधारण पुरूष भी बड़े सज्जन होते हैं । इसे सरल और सज्जन होने पर भी इसकी स्त्री बड़ी कर्कशा थी । उसे दूसरे आदमीका अपने घर रहना अच्छा ही न लगता था । कोई अपने घर में पाहुना आया कि उस पर सदा मुँह चढ़ाये रहना, उससे बोलना-चालना नहीं, आदि उसके बुरे स्वभाव की खास बातें थीं । पद्मावती के साथ भी इसका यही बर्ताव रहा । एक दिन भाग्य से वह माली किसी काम के लिये दूसरे गाँव चला गया । पीछे से इसकी स्त्री की बन बड़ी । उसने पद्मावती को गाली-गलोच देकर और बुरा भला कह घर से बाहर निकाल दिया । बेचारी पद्मावती अपने कर्मों को कोसती यहाँ से चल दी । वह एक घोर मसान में पहुँची । प्रसूति के दिन आ लगे थे । इस पर चिन्ता और दु:ख के मारे इसे चैन नहीं था । इसने यहीं पर एक पुण्यवान् पुत्र जना । उसके हाथ, पाँव, ललाट वगैरह में ऐसे सब चिह्न थे, जो हो, इस समय तो उसकी दशा एक भिखारी से भी बढ़कर थी । पर भाग्य कहीं छुपा नहीं रहता । पुण्यवान् महात्मा पुरूष कहीं हो, कैसी अवस्था में हो, पुण्य वहीं पहुँचकर उसकी सेवा करता है । पर होना चाहिये पास में पुण्य । पुण्य बिना संसार में जन्म लेना निस्सार है । जिस समय पद्मावती ने पुत्र जना उसी समय पुत्र के पुण्य का भेजा हुआ एक मनुष्य चाण्डाल के वेष में मसान में पद्मावती के पास आया ओर उसे विनय से सिर झुकाकर बोला -- माँ, अब चिन्ता न करो । तुम्हारे लड़के का दास आ गया है । वह इसकी सब तरह जी-जान से रक्षा करेगा । किसी तरह का कोई कष्ट इसे न होने देगा । जहाँ इस बच्चे का पसीना गिरेगा वहाँ यह अपना खून गिरावेगा । आप मेरी मालकिन हैं । सब भार मुझ पर छोड़ आप निश्चिन्त होइये । पद्मावती ने ऐसे कष्ट के समय पुत्र की रक्षा करनेवाले को पाकर अपने भाग्य को सराहा, पर फिर भी अपना सब सन्देह दूर हो, इसलिये उससे कहा -- भाई, तुमने ऐसे निराधार समय में आकर मेरा जो उपकार करना विचारा है, तुम्हारे इस ऋण से मैं कभी मुक्त नहीं हो सकती । मुझे तुमसे दयावानों का अत्यन्त उपकार मानना चाहिये । अस्तु, इस समय सिवा इसके मैं और क्या अधिक कह सकती हूँ कि जैसा तुमने मेरा भला किया, वैसा भगवान् तुम्हारा भी भला करे । भाई, मेरी इच्छा तुम्हारा विशेष परिचय पाने की है । इसलिये कि तुम्हारा पहरावा और तुम्हारे चेहरे पर की तेजस्विता देखकर मुझे बड़ा ही सन्देह हो रहा है । अतएव यदि तुम मुझसे अपना परिचय देने में कोई हानि न समझो तो कृपा कर कहो । वह आगत पुरूष पद्मावतीसे बोला -- माँ, मुझ अभागे की कथा तुम सुनोगी । अच्छा तो सुनो, मैं सुनाता हूँ । विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में विद्युत्प्रभ नाम का एक शहर है । उसके राजा का नाम भी विद्युत्प्रभ है । विद्युत्प्रभ की रानी का नाम विद्युल्लेखा है । ये दोनों राजा-रानी ही मुझ

अभागे के माता-पिता हैं । मेरा नाम बालदेव है । एक दिन मैं अपनी प्रिया कनकमाला के साथ विमान में बैठा हुआ दक्षिण की ओर जा रहा था ।

रास्ते में मुझे रामगिरी पर्वत पड़ा । उस पर मेरा विमान अटक गया । मेंने नीचे नजर डालकर देखा तो मुझे एक मुनि देख पड़े । उन पर मुझे बड़ा गुस्सा आया । मैंने तब कुछ आगा-पीछा न सोचकर उन मुनि को बहुत कष्ट दिया, उन पर घोर उपसर्ग किया । उनके तप के प्रभाव से जिन-भक्त पद्मावती देवी का आसन हिला ओर वह उसी समय वहाँ आई । उसने मुनि का उपसर्ग दूर किया । सच है, साधुओं पर किये उपद्रव को सम्यग्दृष्टि कभी नहीं सह सकते । माँ, उस समय देवी ने गुस्सा होकर मेरी सब विद्याएँ नष्ट कर दी । मेरा सब अभिमान चूर हुआ । मै एक मद रहित हाथी की तरह नि:सत्व-तेज रहित हो गया । मैं अपनी इस दशा पर बहुत पछताया मैं रोकर देवीसे बोला -- प्यारी माँ, मैं आपका अज्ञानी बालक हूँ । मैंने जो कुछ यह बुरा काम किया वह सब मूर्खता और अज्ञान से न समझ कर ही किया है । आप मुझे इसके लिए क्षमा करें ओर मेरी विद्याएँ पीछे मुझे लौटा दें । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरी यह दीनता भरी पुकार व्यर्थ न गई देवी ने शान्त होकर मुझे क्षमा किया और वह बोली -- मैं तुझे तेरी विद्याएँ लौटा देती, पर मुझे तुझसे एक महान काम करवाना है । इसलिए मैं कहती हूँ वह कर । समय पाकर सब विद्याएँ तुझे अपने आप सिद्ध हो जायेंगी । मैं हाथ जोड़े हुए उसके मुँह की ओर देखने लगा । वह बोली -- हस्तिनापुर के मसान में एक विपत्ति की मारी स्त्री के गर्भ से एक पुण्यवान् और तेजस्वी पुत्र-रत्न जन्म लेगा । उस समय पहुँचकर तू उसकी सावधानी से रक्षा करना और अपने घर लाकर पालना-पोसना । उसके राज्य समय तुझे सब विद्याएँ सिद्ध होंगी । माँ उसकी आज्ञा से मैं तभी से यहाँ इस वेष में रहता हूँ । इसलिए कि मुझे कोई पहिचान न सके । माँ, यही मुझ अभागे की कथा है । आज मैं आपकी दया से कृतार्थ हुआ । पद्मावती विद्याधर का हाल सुनकर दु:खी जरूर हुई, पर उसे अपने पुत्र का रक्षक मिल गया, इससे कुछ सन्तोष भी हुआ । उसने तब अपने प्रिय बच्चे को विद्याधर के हाथ में रखकर कहा -- भाई, इसकी सावधानीसे रक्षा करना । अब इसके तुम ही सब प्रकार कर्त्ता-धर्त्ता हो । मुझे विश्वास है कि तुम इसे अपना ही प्यारा बच्चा समझोगे । उसने फिर पुत्र के प्रकाशमान चेहरे पर प्रेमभरी दृष्टि डालकर पुत्र वियोग से भर आये हृदय से कहा -- मेरे लाल, तुम पुण्यवान् होकर भी उस अभागिनी माँ के पुत्र हुए हो, जो जन्मते ही तुम्हें छोड़कर बिछुड़ना चाहती है । लाल, मैं तो अभागिनी थी ही, पर तुम भी ऐसे अभागे हुए जो अपनी माँ के प्रेममय हृदय का कुछ भी पता न पा सके और न पाओगे ही । मुझे इस बात का बड़ा खेद रहेगा कि जिस पुत्र ने अपनी प्रेम-प्रतिमा माँ के पवित्र हृदय द्वारा प्रेम का पाठ न सीखा, वह दूसरों के साथ क्या प्रेम करेगा ? कैसे दूसरों के साथ प्रेम का बरताव कर उनका प्रेमपात्र बनेगा । जो हो, तब भी मुझे इस बात की खुशी है कि तुम दूसरी माँ के पास जाते हो, और वह भी आखिर है तो माँ ही । जाओ लाल जाओ, सुख से रहना, परमात्मा तुम्हारा मंगल करे । इस प्रकार प्रेममय पवित्र आशीष देकर पद्मावती कड़ा हृदय कर चल दी । बालदेव ने उस सुन्दर और तेजपुंज बच्चे को अपने घर ले आकर अपनी प्रिया कनकमाला की गोद में रख दिया ओर कहा -- प्रिय भाग्य से मिले इस निधि को लो । कनकमाला उस बाल-चन्द्रमा से अपनी गोद को भरी देखकर फूली न समाई । वह उसे जितना ही देखने लगी उसका प्रेम क्षणक्षण में अनन्त गुणा बढ़ता ही गया । कनकमाला जितना प्रेम होना संभव न था, उतना इस नये बालक से उसका प्रेम हो गया, सचमुच यह आश्चर्य है । अथवा नई वस्तु स्वभाव ही से प्रिय होती है । और फिर यदि वह अपनी हो जाय तब तो उस पर होनेवाले प्रेम के सम्बन्ध में कहना ही क्या । और वह प्रेम, कि जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मा सदा तड़फा ही करती है और वह पुत्र जैसी परम प्रिय वस्तु ! तब पढ़नेवाले कनकमाला के प्रेममय हृदय का एक बार अवगाहन करके देखें कि एक नई माँ जिस बच्चे पर इतना प्रेम करती है तब जिसने उसे जन्म दिया उसके प्रेम का क्या कुछ अन्त है -- सीमा है ! नहीं । माँ का अपने बच्चे पर जो प्रेम होता हे उसकी तुलना किसी दृष्टान्त या उदाहरण द्वारा नहीं की जा सकती और जो करते हैं वे माँ के अनन्त प्रेम को कम करने का यत्न करते हैं । कनकमाला उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुई । उसने उसका नाम करकण्डु रक्खा । इसलिए कि उस बच्चे के हाथ में उसे खुजली देख पड़ी थी । कनकमाला ने उसका लालन-पालन करने में अपने खास बच्चे से कोई कमी न की । सच है, पुण्य के उदय से कष्ट समय में भी जीवों सुख सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है । इसलिए भव्यजनों को जिन पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि पुण्य-कर्मों द्वारा सदा शुभ-कर्म करते रहना चाहिए ।

पद्मावती तब करकण्डु से जुदा होकर गान्धारी नाम की क्षुल्लकिनी के पास आई । उसे उसने भक्ति से प्रणाम किया और आज्ञा पा उसी के पास वह बैठ गई । थोड़ी देर बाद पद्मावती ने उस क्षुल्लकिनी से अपना सब हाल कहा और जिन-दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की ।

क्षुल्लकिनी उसे तब समाधिगुप्त मुनि के पास लिवा गई । पद्मावती ने मुनिराज को नमस्कार कर उनसे भी अपनी इच्छा कह सुनाई । उत्तर में मुनि ने कहा -- बहिन, तू साध्वी होना चाहती है, तेरा यह विचार बहुत अच्छा है पर यह समय तेरी दीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है । कारण तूने पहले जन्म में नागदत्ता की पर्याय में जिनव्रत को तीन बार ग्रहण कर तीनों बार ही छोड़ दिया था और फिर चौथी बार ग्रहण कर तू उसके फल से राजकुमारी हुई । तूने तीन बार व्रत छोड़ा उससे तुझे तीनों बार ही दु:ख उठाना पड़ा । तीसरी बार का कर्म कुछ और बचा है । वह जब शान्त हो जाय और इस बीच में तेरे पुत्र को भी राज्य मिल जाय तब कुछ दिनो तक राज्य-सुख भोगकर फिर पुत्र के साथ-साथ ही तू भी साध्वी होना । मुनि द्वारा अपना भविष्य सुनकर पद्मावती उन्हें नमस्कार कर उस क्षुल्लकिनी के साथ-साथ चली गई । अब से वह पद्मावती उसी के पास रहने लगी ।

इधर करकण्डू बालदेव के यहाँ दिनों-दिन बढ़ने लगा । जब उसकी पढ़ने की उमर हुई तब बालदेव ने अच्छे-अच्छे विद्वान् अध्यापकों को रखकर उसे पढ़ाया । करकण्डु पुण्य के उदय से थोड़े ही वर्षों में पढ़-लिखकर अच्छा होशियार हो गया । कई विषय में उसकी अरोकगति हो गई । एक दिन बालदेव और करकण्डु हवा-खोरी करते-करते शहर बाहर मसान में आ निकले । ये दोनों एक अच्छी जगह बैठकर मसानभूमि की लीला देखने लगे । इतने में जयभद्र मुनिराज अपने संघ को लिये इसी मसान में आकर ठहरे । यहाँ एक नर-कपाल पड़ा हुआ था । उसके मुँह और आँखों के तीन छेदों में तीन बाँस उग रहे थे । उसे देखकर एक मुनि ने विनोद से अपने गुरू से पूछा -- भगवन, यह क्या कौतुक है, जो इस नर-कपाल में तीन बाँस उगे हुए हैं ? तपस्वी मुनि ने उसके उत्तर में कहा – इस हस्तिनापुर का जो नया राजा होगा, इन बाँसों के उसके लिए अंकुश, छत्र, इण्ड वगैरह बनेंगे । जयभद्रचार्य द्वारा कहे गये इस भविष्य को किसी एक ब्राह्मण ने सुन लिया । अत: वह धन की आशा से इन बाँसों को उखाड़ लाया । उसके हाथ से इन्हें करकण्डु ने खरीद लिया । सच है, मुनि लोग जिसके सम्बन्ध में जो बात कह देते हैं वह फिर होकर ही रहती है ।

उस समय हस्तिनापुर का राजा बलवाहन था । इसके कोई संतान न थी । इसकी मृत्यु हो गई । अब राजा किसको बनाया जाय, इस विषय की चर्चा चली । आखिर यह निश्चय पाया कि महाराज का खास हाथी जलभरा सुवर्ण-कलश देकर छोड़ा जाय । वह जिसका अभिषेक कर राज-सिंहासन पर ला बैठा दे वही इस राज्य का मालिक हो । ऐसा ही किया गया । हाथी राजा को ढूँढ़ने को निकला । चलता-चलता वह करकण्डु के पास पहुँचा । वही इसे अधिक पुण्यवान् देख पड़ा । उसी समय उसने करकण्डु का अभिषेक कर उसे अपने ऊपर चढ़ा लिया और राज्य-सिंहासन पर ला रख दिया । सारी प्रजा ने उस तेजस्वी करकण्डु को अपना मालिक हुआ देख खूब जय-जयकार मनाया और खूब आनन्द उत्सव किया । करकण्डु के भाग्य का सितारा चमका । वह राजा हुआ । सच है, जिन भगवान् की पूजा के फल से क्या-क्या प्राप्त नहीं होता । करकण्डु को राजा होते ही बालदेव को उसकी नष्ट हुई विद्याएँ फिर सिद्ध हो गईं । उसे उसकी सेवा का मनचाहा फल मिल गया । इसके बाद ही बालदेव विद्या की सहायता से करकण्डु की खास माँ पद्मावती जहाँ थी, वहाँ गया और उसे करकण्डु के पास लाकर उसने दोनों को बड़ी नम्रता से प्रणाम कर अपनी राजधानी में चला गया ।

करकण्डु के राजा होने पर कुछ राजे लोग उससे विरूद्ध होकर लड़ने को तैयार हुए । पर करकण्डु ने अपनी बुद्धिमानी और राजनीति की चतुरता से सबको अपना मित्र बनाकर देश-भर में शत्रु का नाम भी न रहने दिया । वह फिर सुख से राज्य करने लगा । करकण्डु को इस बात का पता था कि दन्तिवाहन मेरे पिता होते हैं । यही कारण था कि दन्तिवाहन को इस नये राजा का प्रताप सहन नहीं हुआ । उन्होंने अपने एक दूत को करकण्डु के पास भेजा । दूत ने आकर करकण्डु से प्रार्थना की -- 'राजाधिराज दन्तिवाहन मेरे द्वारा आपको आज्ञा करते हैं कि यदि राज्य आप सुख से करना चाहते हैं तो उनकी आप आधीनता स्वीकार करें । ऐसे किये बिना किसी देश के किसी हिस्से पर आपकी सत्ता नहीं रह सकती ।' करकण्डु एक तेजस्वी राजा और उसपर एक दूसरे की सत्ता, सचमुच करकण्डु के लिए यह आश्चर्य की बात थी । उसे दन्तिवाहन की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया । उसने तेज आँखें कर दूत की ओर देखा और उससे कहा – यदि तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो तुम यहाँ से जल्दी भाग जाओ । तुम दूसरे के नौकर हो, इसलिए मैं तुमपर दया करता हूँ । नहीं तो तुम्हारी इस दुष्टता का फल तुम्हें मैं अभी ही बता देता । जाओ, और अपने मालिक से कह दो कि वह रणभूमि में आकर तैयार रहे । मुझे जो कुछ करना होगा मैं वही करूँगा । दूत ने जैसे ही करकण्डु की आँखें चढ़ी देखीं वह उसी समय डरकर राज्य-दरबार रवाना हो गया ।

कुछ दिनों बाद दन्तिवाहन ने अपने पुत्र का विवाह समारंभ किया । उसमें उन्होंने खूब खर्च कर बड़े वैभव के साथ करकण्डु का कोई आठ हजार राजकुमारियों के साथ विवाह किया । ब्याह के बाद ही दन्तिवाहन राज्य का भार सब करकण्डु के जिम्मे कर आप अपनी प्रिया

पद्मावती के साथ सुख से रहने लगे । सुख-चैन से समय बिताना उन्होंने अब अपना प्रधान कार्य रक्खा ।

इधर करकण्डु राज्य शासन करने लगा । प्रजा को उसके शासन की जैसी आशा थी, करकण्डु ने उससे कहीं बढ़कर धर्मज्ञता, नीति और प्रजा-प्रेम बतलाया । प्रजा को सुखी बनाने में उसने कोई बात उठा न रक्खी । इसप्रकार वह अपने पुण्य का फल भोगने लगा । एक दिन समय देख मंत्रियों ने करकण्डु से निवेदन किया -- महाराज, चेरम, पाण्डय और चोल आदि राजे चिर समय से अपने आधीन हैं । पर जान पड़ता है उन्हें इस समय कुछ अभिमान ने आ घेरा है । वे मान पर्वत का आश्रय पा अब स्वतंत्र से हो रहे हैं । राज-कर वगैरह भी अब वे नहीं देते । इसलिए उनपर चढ़ाई करना बहुत आवश्यक है । इस समय ढील कर देने से सम्भव है थोड़े ही दिनों में शत्रुओं का जोर अधिक बढ़ जाये । इसलिए इसके लिए प्रयत्न कीजिए कि वे ज्यादा सिर न चढ़ पावें, उसके पहले ही ठीक ठिकाने आ जाँय । मंत्रियों की सलाह सुन और उसे विचारकर पहले करकण्डु ने उन लोगों के पास अपना दूत भेजा । दूत अपमान के साथ लौट आया । करकण्डु ने जब सीधी तरह सफलता प्राप्त न होती देखी तब उसे युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा । वह सेना को लिए युद्ध-भूमि में जा डटा । शत्रु लोग भी चुपचाप न बैठकर उसके सामने हुए । दोनों ओर की सेना की मुठभेड़ हो गयी । घमासान युद्ध हुआ । दोनों ओर के हजारों वीर काम आये । अंत में करकण्डु की सेना के युद्ध-भुमि से पाँव उखड़े । यह देख करकण्डु स्वयं युद्ध-भूमि में उतरा । बड़ी वीरता से वह शत्रुओं के साथ लड़ा । इस नई उमर में उसकी इस प्रकार वीरता देखकर शत्रुओं को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी । विजयश्री ने करकण्डु को ही वरा । जब शत्रु राजे आ-आकर इसके पाँव पड़ने लगे और इसकी नजर उनके मुकुटों पर पड़ी तो देखकर यह एक-साथ हतप्रभ हो गया । और बहुत-बहुत पश्चात्ताप करने लगा कि – हाय ! मुझ पापी ने यह अनर्थ क्यों किया ? न जाने इस पाप से मेरी क्या गति होगी ? बात यह थी कि उन राजों के मुकुटों में जिनभगवान् की प्रतिमाएँ खुदी हुईं थी । और वे सब राजे जैनी थे । अपने धर्म-बन्धुओं को जो उसने कष्ट दिया और भगवान् का अविनय किया उसका उसे बेहद दु:ख हुआ । उसने उन लोगों को बड़े आदरभाव से उठाकर पूछा – क्या सचमुच आप जैनधर्मी हैं ? उनकी ओर से संतोष-जनक उत्तर पाकर उसने बड़े कोमल शब्दों में उसने कहा -- महानुभावों, मैंने क्रोध से अन्धे होकर जो आपको यह व्यर्थ कष्ट दिया, आप पर उपद्रव किया, इसका मुझे अत्यन्त दु:ख है । मुझे इस अपराध के लिए आप-लोग क्षमा करें । इसप्रकार उनसे क्षमा कराकर उनको साथ लिए वह अपने देश रवाना हुआ । रास्ते में तेरपुर के पास इनका पड़ाव पड़ा । इसी समय कुछ भीलों ने आकर नम्रमस्तक से इनसे प्रार्थना की -- राजाधिराज, हमारे तेरपुर से दो-कोस दूरी पर एक पर्वत है । उसपर एक छोटा सा धाराशिव नामका गाँव बसा हुआ है । इस गाँव में एक बहुत बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमन्दिर बना हुआ है । उसमें विशेषता यह है कि उसमें कोई एक हजार खम्भे हैं । वह बड़ा सुन्दर है । उसे आप देखने को चलें । इसके सिवा पर्वत पर एक यह आश्चर्य की बात है कि वहाँ बाँवी है । एक हाथी रोज-रोज अपनी सूँड़ में थोड़ा सा पानी और एक कमल का फूल लिए वहाँ आता है और उस बाँवी की परिक्रमा देकर वह पानी और फूल उसपर चढ़ा देता है । इसके बाद वह उसे अपना मस्तक नवाकर चला जाता है । उसका यह प्रतिदिन का नियम है । महाराज, नहीं जान पड़ता कि इसका क्या कारण है । करकण्डु भीलों द्वारा यह शुभ-समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ । इस समाचार को लानेवाले भीलों को उचित इनाम देकर वह स्वयं सबको साथ लिए उस कौतुकमय स्थान को देखने गया । पहले उसने जिनमन्दिर जाकर भक्ति-पूर्वक भगवान् की पूजा की, स्तुति की । सच है, धर्मात्मा पुरूष धर्म के कर्मों में कभी प्रमाद-आलस नहीं करते । बाद वह उस बाँवी की जगह गया । उसने वहाँ भी भीलों के कहे माफिक हाथी को उस बाँवी की पूजा करते पाया । देखकर उसे बड़ा अचम्भा हुआ । उसने सोचा कि इसका कुछ न कुछ कारण होना चाहिए । नहीं तो इस पशु में ऐसा भक्ति-भाव नहीं देखा जाता । यह विचारकर उसने उस बाँवी को खुदवाया । उसमें से एक सन्दुक निकली । उसने उसे खोलकर देखा । सन्दुक में रत्नमयी पार्श्वनाथ भगवान् की पवित्र प्रतिमा थी । उसे देखकर धर्म-प्रेमी करकण्डु को अतिशय प्रसन्नता हुई । उसने तब वहाँ ‘अग्गलदेव’ नाम का एक विशाल जिनमन्दिर बनवाकर उसमें बड़े उत्सव के साथ उस प्रतिमा को विराजमान किया । प्रतिमा पर एक गाँठ देखकर करकण्डु ने शिल्पकार से कहा -- देखो, प्रतिमा पर यह गाँठ कैसी है ? प्रतिमा की सब सुन्दरता इससे मारी गयी । इसे सावधानी के साथ तोड़ दो । यह अच्छी नहीं देख पड़ती । शिल्पकार ने कहा -- महाराज, यह गाँठ ऐसी वैसी नहीं है जो तोड़ दी जाय । ऐसी रत्नमयी दिव्य-प्रतिमा पर गाँठ होने का कुछ न कुछ कारण जान पड़ता है । इसका बनानेवाला इतना कम बुद्धि न होगा कि प्रतिमा की सुन्दरता नष्ट होने का खयाल न कर इस गाँठ को रहने देता । मुझे जहाँ तक जान पड़ता है, इस गाँठ का सम्बन्ध किसी भारी जल-प्रवाह से होना चाहिए । और यह असंभव भी नहीं । संभवत: इसकी रक्षा के लिए यह प्रयत्न किया गया हो । इसलिए मेरी समझ में इसका तुड़वाना उचित नहीं । करकण्डु ने उसका कहा न

माना । उसे उसकी बात पर विश्वास न हुआ । उसने तब शिल्पकार से बहुत आग्रह कर आखिर उसे तुड़वाया ही । जैसे ही वहाँ गाँठ टूटी उसमें से एक बड़ा भारी जल-प्रवाह बह निकला । मन्दिर में पानी इतना भर गया कि करकण्डु वगैरह को अपने जीवन के बचने का भी संदेह हो गया तब वह जिन-भक्त उस प्रवाह के लिए संन्यास ले कुशासन पर बैठकर परमात्मा का स्मरण चिंतन करने लगा । उसके पुण्य-प्रभाव से नागकुमार ने प्रत्यक्ष आकर उससे कहा -- राजन्, काल अच्छा नहीं, इसलिए प्रतिमा की सुरक्षा के लिए मुझे यह जल-पूर्ण लवण बनाना पड़ा । इसलिए आप इस जल-प्रवाह के रोकने का आग्रह न करें । इसप्रकार करकण्डु को नागकुमार ने समझाकर आसन पर से उठ जाने को कहा । करकण्डु नागकुमार के कहने से संन्यास छोड़ उठ गया । उठकर उसने नागकुमार से पूछा -- क्योंजी, ऐसा सुन्दर यह लवण यहाँ किसने बनाया और किसने इस बाँवी में इस प्रतिमा को विराजमान किया ? नागकुमार ने कहा -- सुनिए, विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में खूब सम्पत्तिशालीन भस्तिलक नाम का एक नगर था । उसमें अमितवेग और सुवेग नामके दो विद्याधर राजे हो चुके हैं । दोनों धर्मज्ञ और सच्चे जिन-भक्त थे । एक दिन वे दोनों भाई आर्य-खण्ड के जिन-मन्दिरों के दर्शन करने के लिए आये । कई मन्दिरों में दर्शन-पूजन कर वे मलयाचल पर्वत पर आये । यहाँ घूमते हुए उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान् की इस रत्नमयी प्रतिमा को देखा । इसके दर्शनकर उन्होंने इसे एक सन्दूक में बन्द कर दिया और सन्दूक को एक गुप्त स्थान पर रखकर वे उस समय चले गये । कुछ समय बाद वे पीछे आकर उस सन्दूक को कहीं अन्यत्र ले जाने के लिए उठाने लगे पर सन्दूक अबकी बार उनसे न उठी । तब तेरपुर जाकर उन्होंने अवधिज्ञानी मुनिराज से सब हाल कहकर सन्दूक के न उठने का कारण पूछा । मुनि ने कहा -- 'सुनिए, यह सुखकारिणी सन्दूक तो पहले लवण के ऊपर दूसरा लवण होगा । मतलब यह कि यह सुवेग आर्त-ध्यान से मरकर हाथी होगा । वह इस सन्दूक की पूजा किया करेगा । कुछ समय बाद करकण्डु राजा यहाँ आकर इस सन्दूक को निकालेगा और सुवेग का जीव हाथी तब सन्यास ग्रहण कर स्वर्ग गमन करेगा । इस प्रकार मुनि द्वारा इस प्रतिमा की चिरकाल तक अवस्थिति जानकर उन्होंने मुनि से फिर पूछा – तो प्रभु, इस लवण को किसने बनाया ? मुनिराज बोले – इसी विजयार्ध के दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर में नील और महानील नाम के दो राजे हो गये हैं । शत्रुओं के साथ युद्ध में विद्या, धन, राज्य वगैरह सबकुछ नष्ट हो गया । तब वे इस मलयपर्वत पर आकर बसे । यहाँ वे कई वर्षों तक आराम से रहे । दोनों भाई बड़े धर्मात्मा थे । उन्होंने यह लवण बनवाया । पुण्य से उन्हें उनकी विद्याएँ फिर प्राप्त हो गईं । तब वे पीछे अपनी जन्मभूमि रथनूपुर चले गये । इसके बाद कुछ दिनों तक वे दोनों और ग्रह-संसार में रहे । फिर दीक्षा लेकर दोनों भाई साधू हो गये । अन्त में तपस्या के प्रभाव से वे स्वर्ग गये ।' इस प्रकार सब हाल सुनकर बड़ा भाई अमितवेग तो उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गये और अन्त में समाधि से मरकर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ । और सुवेग, अमितवेग का छोटा भाई, आर्त्तध्यान से मरकर यह हाथी हुआ । सो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देखने पूर्व जन्मकेभातृ-प्रेम के वश ही, आकर इसे धर्मोपदेश किया, समझाया । उससे इस हाथी को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया । इसने तब अणुव्रत ग्रहण किये । तब ही से यह इसप्रकार शान्त रहता है और सदा इस बाँवी की पूजन किया करता है । तुमने बाँवी तोड़कर जबसे उसमें से प्रतिमा निकाल ली तब ही से हाथी संन्यास लिये यहीं रहता है । और राजन्, आप पूर्व-जन्म में इसी तेरपुर में ग्वाल थे । आपने तब एक कमल के फूल द्वारा जिन-भगवान् की पूजा की थी । उसी के फल से इस समय आप राजा हुए हैं । राजन्, यह जिन-पूजा सब पुण्य-कर्मों में उत्तम पुण्य-कर्म है यही तो कारण है कि क्षणमात्र में इसके द्वारा उत्तम से उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार करकण्डु को आदि से इति पर्यंत सब हाल कहकर और धर्म-प्रेम से उसे नमस्कार कर नागकुमार अपने स्थान चला गया । सच है, यह पुण्य ही का प्रभाव है जो देव भी मित्र हो जाते हैं ।

हाथी को सन्यास लिये आज तीसरा दिन था । करकण्डु ने उसके पास जाकर उसे धर्म का पवित्र उपदेश किया । हाथी अन्त में सम्यक्त्व सहित मरकर सहस्त्रार स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ । एक पशु धर्म का उपदेश सुनकर स्वर्ग में अनन्त सुखों का भोगनेवाला देव हुआ, तब जो मनुष्य जन्म पाकर पवित्र भावों से धर्म-पालन करें तो उन्हें क्या प्राप्त नहीं ? बात यह है कि धर्म से बढ़कर सुख देनेवाली संसार में कोई वस्तु है ही नहीं । इसलिए धर्म-प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

करकण्डु ने इसके बाद इसी पर्वत पर अपने, अपनी माँ के तथा बालदेव के नाम से विशाल और सुन्दर तीन जिन-मन्दिर बनवाये, बड़े वैभव के साथ उनकी प्रतिष्ठा करवाई । जब करकण्डु ने देखा कि मेरा सांसारिक कर्त्तव्य सब पूरा हो चुका तब राज्य का सब भार अपने पुत्र वसुपाल को सौंपकर और संसार, शरीर, विषय भोगादि से विरक्त होकर आप अपने माता-पिता तथा और भी कई राजों के साथ जिन-दीक्षा ले योगी हो गया । योगी होकर करकण्डु मुनि ने खूब तप किया, जो कि निर्दोष और संसार-समुद्र से पार करनेवाला है । अन्त

में परमात्म-स्मरण में लीन हो उसने भौतिक शरीर छोड़ा । तप के प्रभाव से उसे सहस्त्रार स्वर्ग में दिव्य-देह मिली । पद्मावती दन्तिवाहन तथा अन्य राजे भी अपने पुण्य के अनुसार स्वर्ग-लोक गये ।

करकण्डु ने ग्वाल के जन्म में केवल एक कमल के फूल द्वारा भगवान् की पूजा की थी । उसे उसका जो फल मिला उसे आप सुन चुके हैं । तब जो पवित्र-भाव पूर्वक आठ द्रव्यों से भगवान् की पूजा करेंगे उनके सुख का तो फिर पूछना ही क्या ? थोड़े में यों समझिए कि जो भव्य-जन भक्ति से भगवान् की प्रतिदिन पूजा किया करते हैं वे सर्वोत्तम-सुख मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं, तब और सांसारिक सुखों की तो उनके सामने गिनती ही क्या है ?

एक बे-समझ ग्वाल ने जिन-भगवान् के पवित्र चरणों की एक कमल के फूल से पूजा की थी, उसके फल से वह करकण्डु राजा होकर देवों द्वारा पूज्य हुआ । इसलिए सुख की चाह करने वाले अन्य भव्य-जनों को भी उचित है कि वे जिन-पूजा को और अपने ध्यान को आकर्षित करें । उससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा । क्योंकि भावों का पवित्र होना पुण्य का कारण है और भावों के पवित्र करने का जिन-पूजा भी एक प्रधान कारण है ।

जिनपूजन-प्रभाव-कथा

जिनपूजन-प्रभाव-कथा

कथा :

संसार द्वारा पूजे जानेवाले जिन-भगवान् की, सर्वश्रेष्ठ गिनी जाने वाली जिनवानी को और राग, द्वेष, मोह, माया आदि दोषों से रहित परम वीतरागी साधुओं को नमस्कार कर जिनपूजा द्वारा फल प्राप्त करनेवाले एक मेंढक की कथा लिखी जाती है ।

शास्त्रों में उल्लेख किये उदाहरणों द्वारा यह बात खुलासा देखने में आती है कि जिनभगवान की पूजा पापों की नाश करने वाली और स्वर्ग-मोक्ष के सुखों की देनेवाली है । इसलिए जो भव्य-जन पवित्र-भावों द्वारा धर्म-वृद्धि के **अर्थ** जिन-पूजा करते हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं ओर मोक्ष जाने के अधिकारी हैं । इसके विपरीत पूजा की जो निन्दा करते हैं वे पापी हैं और संसार में निन्दा के पात्र हैं । ऐसे लोग सदा दु:ख, दरिद्रता, रोग, शोक आदि कष्टों को भोगते हैं और अन्त में दुर्गति में जाते हैं । अतएव भव्यजनों को उचित है कि वे जिनभगवान् का अभिषेक, पूजन, स्तुति, ध्यान आदि सत्कर्मों को सदा किया करें । इसके सिवा तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा, जिनभगवान् इंद्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरूषों द्वारा सभी उत्तम-उत्तम सुख मिलते हैं । जिनपूजा करना महापुण्य का कारण है, ऐसा जगह-जगह लिखा मिलता है । इसलिए जिनपूजा समान दूसरा पुण्य का कारण संसार में न तो हुआ और न होगा । प्राचीनकाल में भरत जैसे अनेक बड़े-बड़े पुरूषों ने जिनपूजा द्वारा जो फल प्राप्त किया है, किसकी शक्ति है जो उसे लिख सके । गन्ध, पुष्पादि आठ द्रव्यों से पूजा करने वाले जिनपूजा द्वारा जो फल प्राप्त करते हैं, उनके सम्बन्ध में हम क्या लिखें, जबकि केवल एक ना-कुछ चीज फूल से पूजा कर एक मेंढक ने स्वर्ग-सुख प्राप्त किया । समन्तभद्र स्वामी ने भी इस विषय में लिखा है – राजगृह में हर्ष से उन्मत्त हुए एक मेंढक ने सत्पुरूषों को यह स्पष्ट बतला दिया कि केवल एक फूल द्वारा भी जिनभगवान् की पूजा करने से उत्तम फल प्राप्त होता है, जैसा कि मैंने प्राप्त किया ।

अब मेंढक की कथा सुनिए --

यह भारतवर्ष जम्बूद्वीप के मेरू की दक्षिण दिशा में है । इसमें अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ । इसलिए यह महान पवित्र है । मगध भारत वर्ष में एक प्रसिद्ध और धनशाली देश है । सारे संसार की लक्ष्मी जैसे यहीं आकर इकट्ठी हो गई हो । यहाँ के निवासी प्राय: धनी हैं, धर्मात्मा हैं, उदार हैं और परोपकारी हैं ।

जिस समय की यह कथा है उस समय मगध की राजधानी राजगृह एक बहुत सुन्दर शहर था । सब प्रकार की उत्तम से उत्तम भोगोपभोग की वस्तुएँ वहाँ बड़ी सुलभता से प्राप्त थीं । विद्वानों का उसमें निवास था । वहाँ के पुरूष देवों से और स्त्रियाँ देव-बालाओं से कहीं बढ़कर सुन्दर थीं । स्त्री-पुरूष प्राय: सब ही सम्यक्तव रूपी भूषण से अपने को सिंगारे हुए थे । और इसीलिये राजगृह उस समय मध्यलोक का स्वर्ग कहा जाता था । वहाँ जैनधर्म का ही अधिक प्रचार था । उसे प्राप्तकर सब सुख-शान्ति लाभ करते थे ।

राजगृह के राजा तब श्रेणिक थे । श्रेणिक धर्मज्ञ थे । जैन-धर्म और जैन-तत्त्व पर उनका पूर्ण विश्वास था । भगवान् की भक्ति उन्हें उतनी ही प्रिय थी, जितनी कि भौंरे को कमलिनी । उनका प्रताप शत्रुओं के लिये मानों धधकती आग थी । सत्पुरूषों के लिये वे शीतल चन्द्रमा थे । पिता अपनी सन्तान को जिस प्यार से पालता है, श्रेणिक का प्यार भी प्रजा पर वैसा ही था । श्रेणिक की कई रानियाँ थीं । चेलिनी उन

सबमें उन्हें अधिक प्रिय थी । सुन्दरता में, गुणों में, चतुरता में चेलिनी का आसन सबसे ऊँचा था । उसे जैन-धर्म से, भगवान् की पूजा-प्रभावना से बहुत ही प्रेम था । कृत्रिम भूषणों द्वारा सिंगार करने का महत्त्व न देकर उसने अपने आत्मा को अनमोल सम्यग्दर्शन रूप भूषण से भूषित किया था । जिनवाणी सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण है, अतएव वह सुन्दर है, चेलिनी में भी किसी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की कमी न थी । इसलिये उसकी रूप सुन्दरता ने और अधिक सौन्दर्य प्राप्त कर लिया था । 'सोने में सुगन्ध' की उक्ति उस पर चरितार्थ थी ।

राजगृह ही में एक नागदत्त नाम का सेठ रहता था । यह जैनी न था । इसकी स्त्री का नाम भवदत्त था । नागदत्त बड़ा मायाचारी था । सदा माया के जाल में यह फँसा हुआ रहता था । इस मायाचार के पाप से मरकर यह अपने घर आँगन की बाबड़ी में मेंढ़क हुआ । नागदत्त यदि चाहता तो कर्मों का नाश कर मोक्ष जाता, पर पाप कर वह मनुष्य-पर्याय से पशु-जन्म में आया, एक मेंढक हुआ । इसलिये भव्य-जनों को उचित है कि वे संकट के समय भी पाप न करें ।

एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरने को आई । उसे देखकर मेंढक को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया । वह उछलकर भवदत्ता के वस्त्रों पर चढ़ने लगा । भवदत्ता ने डरकर उसे कपड़ों पर से झिड़क दिया । मेंढक फिर भी उछल-उछल कर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा । उसे बार-बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और डरी भी । पर इतना उसे भी विश्वास हो गया कि इस मेंढक का और मेरा पूर्व-जन्म का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होना ही चाहिए । अन्यथा बार-बार मेरे झिड़क देने पर भी यह मेरे पास आने का साहस न करता । जो हो, मौका पाकर कभी किसी साधु-सन्त से इसका यथार्थ कारण पूछूँगी ।

भाग्य से एक दिन अवधि-ज्ञानी सुव्रत-मुनिराज राजगृह से आकर ठहरे । भवदत्ता को मेंढक का हाल जानने की बड़ी उत्कण्ठा थी । इसलिये वह तुरन्त उनके पास गई । उनसे प्रार्थना कर उसने मेंढक का हाल जानने की इच्छा प्रगट की । सुव्रत-मुनिराज ने तब उससे कहा – जिसका तू हाल पूछने को आई है, वह दूसरा कोई न होकर तेरा पति नागदत्त है । वह बड़ा मायाचारी था, इसलिये मरकर माया के पाप से यह मेंढक हुआ है । उन मुनि के संसार-पार करने वाले वचनों को सुनकर भवदत्ता को सन्तोष हुआ । वह मुनि को नमस्कार कर घर पर आ गई । उसने फिर मोहवश हो उस मेंढक को भी अपने यहाँ ला रक्खा । मेंढक वहाँ आकर बहुत प्रसन्न रहा ।

इसी अवसर में वैभार-पर्वत पर महावीर भगवान् का समवसरण आया । वनमाली ने आकर श्रेणिक को खबर दी कि राज-राजेश्वर, जिनके चरणों को इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि प्राय: सभी महापुरूष पूजा-स्तुति करते हैं, वे महावीर भगवान् विभार-पर्वत पर पधारे हैं । भगवान् के आने के आनन्द-समाचार सुनकर श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए । भक्तिवश हो सिंहासन से उठकर उन्होंने भगवान् को परोक्ष नमस्कार किया । इसके बाद इन शुभ-समाचारों की सारे शहर में सबको खबर हो जाय, इसके लिये उन्होंने आनन्द-घोषणा दिलवा दी । बड़े भारी लाव-लश्कर और वैभव के साथ भव्य-जनों को संग लिये वे भगवान् के दर्शनों को गये । वे दूर से उन संसार का हित करनेवाले भगवान् के समवसरण को देखकर उतने ही खुश हुए जितने खुश मोर मेघों को देखकर होते हैं और रासायनिक लोग अपना मनचाहा रस लाभ-कर होते हैं । वे समवसरण में पहुँचे । भगवान् के उन्होंने दर्शन किये और उत्तम से उत्तम द्रव्यों से उनकी पूजा की । अन्त में उन्होंने भगवान् के गुणों का गान किया ।

हे भगवन, हे दया के सागर, ऋषि-महात्मा आपको 'अग्नि' कहते हैं, इसलिये कि आप कर्म-रूपी ईंधन को जलाकर खाक कर देनेवाले हैं । आप ही को वे 'मेघ' भी कहते हैं, इसलिये कि आप प्राणियों को जलाने वाली दु:ख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दावाग्नि को क्षणभर में अपने उपदेश रूपी जल से बुझा डालते हैं । आप 'सूरज' भी हैं, इसलिए कि अपने उपदेश रूपी किरणों से भव्यजन रूपी कमलों को प्रफुल्लित कर लोक और अलोक के प्रकाशक हैं । नाथ, आप एक सर्वोत्तम वैद्य हैं, इसलिये कि धन्वन्तरी से वैद्यों की दवा-दारू से भी नष्ट न होने वाली ऐसी जन्म, जरा, मरणरूपी महान व्याधियों को जड़-मूल से खो देते हैं । प्रभो, आप उत्तमोत्तम गुणरूपी जवाहरात के उत्पन्न करने वाले पर्वत हो, संसार के पालक हो, तीनों लोक के अनमोल भूषण हो, प्राणीमात्र के नि:स्वार्थ बन्धु हो, दु:खों के नाश करनेवाले हो और सब प्रकार के सुखों के देनेवालेहो । जगदीश ! जो सुख आपके पवित्र चरणों की सेवा से प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकार के कठिन से कठिन परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नहीं होता । इसलिये हे दया-सागर, मुझ गरीब को, अनाथ को अपने चरणों की पवित्र और मुक्ति का सुख देने वाली भक्ति प्रदान कीजिये । जब तक कि मैं संसार से पार न हो जाऊँ । इस प्रकार बड़ी देर तक श्रेणिक ने भगवान् का पवित्र भावों से गुणानुवाद किया । बाद वे गौतम गणधर आदि महर्षियों को भक्ति से नमस्कार कर अपने

योग्य स्थान पर बैठ गये ।

भगवान् के दर्शनों के लिये भवदत्ता सेठानी भी गई । आकाश में देवों का जय-जयकार और दुन्दुभी बाजों की मधुर-मनोहर आवाज सुनकर उस मेंढक को जाति-स्मरण हो गया । वह भी तब बावड़ी में से एक कमल की कली को अपने मुँह में दबाये बड़े आनन्द और उल्लास के साथ भगवान् की पूजा के लिये चला । रास्ते में आता हुआ वह हाथी के पैर नीचे कुचला जाकर मर गया । पर उसके परिणाम त्रिलोक्यपूज्य महावीर भगवान् की पूजा में लगे हुए थे, इसलिये वह उस पूजा के प्रेम से उत्पन्न होने वाले पुण्य से सौधर्म-स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ । देखिये, कहाँ तो वह मेंढक और कहाँ अब स्वर्ग का देव । पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । कारण जिनभगवान् की पूजा से सब कुछ प्राप्त हो सकता है ।

एक अन्तर्मुहूर्त्त में वह मेंढक का जीव आँखों में चकाचौंध लानेवाला तेजस्वी और सुन्दर युवा देव बन गया । नाना तरह के दिव्य-रत्नमयी अलंकारों की कान्ति से उसका शरीर ढक रहा था, बड़ी सुन्दर शोभा थी । वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रत्नों की एक बहुत बड़ी राशि रक्खी हो या रत्नों का पर्वत बनाया गया हो । उसके बहुमूल्य वस्त्रों की शोभा देखते ही बनती थी । गले में उसके स्वर्गीय कल्पवृक्षों के फूलों की सुन्दर मालाएँ शोभा दे रही थीं । उनकी सुन्दर सुगन्ध ने सब दिशाओं को सुगन्धित बना दिया था । उसे अवधिज्ञान से जान पड़ा कि मुझे जो यह सब सम्पत्ति मिली है और मैं देव हुआ हूँ, यह सब भगवान्पूजा की पवित्र भावना का फल है । इसलिये सबसे पहले मुझे जाकर पतित-पावन भगवान् की पूजा करनी चाहिये । इस विचार के साथ ही वह अपने मुकुट पर मेंढक का चिन्ह बनाकर महावीर भगवान् के समवसरण में आया । भगवान् की पूजन करते हुए इस देव के मुकुट पर मेंढक के चिन्ह को देखकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने गौतम भगवान् को हाथ जोड़कर पूछा – हे संदेहरूपी अँधेरे को नाश करनेवाले सूरज, कृपाकर कहिए कि इस देव के मुकुट पर मेंढक का चिन्ह क्यों है ? मैंने तो आजतक किसी देव के मुकुट पर ऐसा चिन्ह नहीं देखा । ज्ञान की प्रकाशमान ज्योति रूप गौतम भगवान् ने तब श्रेणिक को नागदत्त के भव से लेकर अबतक की सब कथा कह सुनाई । उसे सुनकर श्रेणिक को तथा अन्य भव्यजनों को बड़ा ही आनन्द हुआ । भगवान् की पूजा करने में उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई । जिन पूजन का इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्य जनों को भी उचित है कि वे सुख देनेवाली इस जिनपूजन को सदा करते रहें । जिनपूजा के फल से भव्यजन धन-दौलत, रूप-सौभाग्य, राज्य-वैभव, बाल-बच्चे और उत्तम कुल-जाति आदि सभी श्रेष्ठ सुख-चैन की मनचाही सामग्री लाभ करते हैं, वे चिरकाल तक जीते हैं, पूजा सम्यग्दर्शन और मोक्ष का बीज है, संसार का भ्रमण मिटाने वाली है और सदाचार, सद्विद्या तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुख की कारण है । इसलिये आत्महित के चाहनेवाले सत्पुरूषों को चाहिये कि वे आलस छोड़कर निरन्तर जिनपूजा किया करें । इससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा ।

यही जिन-पूजा सम्यग्दर्शन रूपी वृक्ष के सींच ने को वर्षा सरीखी है, भव्यजनों को ज्ञान देनेवाली मानों सरस्वती है, स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त करानेवाली दूती है, मोक्षरूपी अत्यन्त ऊँचे मन्दिर तक पहुँचाने को मानों सीढ़ियों की श्रेणी है और समस्त सुखों की देनेवाली है । यह आप भव्यजनों की पाप कर्मों से सदा रक्षा करे !

जिनके जन्मोत्सव के समय स्वर्ग के इन्द्रों ने जिन्हें स्नान कराया, जिनके स्नान का स्थान सुमेंरू पर्वत नियत किया गया, क्षीर-समुद्र जिनके स्नान-जल के लिये बावड़ी नियत की गई, देवतालोगों ने बड़े अदब के साथ जिनकी सेवा बजाई, देवांगनाएँ जिनके इस मंगलमय समय में नाची और गन्धर्व देवों ने जिनके गुणों को गाया, जिनका यश बखान किया, ऐसे जिनभगवान् आप भव्य-जनों को और मुझे परम शान्ति प्रदान करें ।

वह भगवान पवित्र वाणी जय लाभ करें, संसार में चिर समय तक रहकर प्राणियों को ज्ञान के पवित्र मार्ग पर लगाये, जो अपने सुन्दर वाहन मोर पर बैठी हुई अपूर्व शोभा को धारण किये हैं, मिथ्यात्व रूपी गाढ़े अँधेरे को नष्ट करने के लिये जो सूरज के समान तेजस्विनी है, भव्यजन रूपी कमलों के वन को विकसित कर आनन्द की बढ़ानेवाली है, जो सच्चेमार्ग की दिखानेवाली है और स्वर्ग के देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरूष जिसे बहुत मान देते हैं ।

मूल-संघ के सबसे प्रधान सारस्वत नाम के निर्दोष गच्छ में कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में प्रभाचन्द्र एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । वे जैनागम रूपी समुद्र के बढ़ाने के लिये चन्द्रमा की शोभा को धारण किए थे । बड़े-बड़े विद्वान् उनका आदर सत्कार करते थे । वे गुणों के मानों जैसे खजाने थे, बड़े गुणी थे ।

इसी गच्छ में कुछ समय बाद मल्लिभूषण भट्टारक हुए । वे मेरे गुरू थे । वे जिनभगवान् के चरण-कमलों के मानों जैसे भौंरे थे – सदा भगवान् की पवित्र भक्ति में लगे रहते थे । मूलसंघ में इनके समय में यही प्रधान आचार्य गिने जाते थे । सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के ये धारक थे । विद्यानन्दी गुरू के पट्टरूपी कमल को प्रफुल्लित करने को ये जैसे सूर्य थे । इनसे पट्ट की बड़ी शोभा थी । ये आप सत्पुरूषों को सुखी करें ।

वे सिंहनन्दी गुरू भी आपको सुखी करें, जो जिनभगवान् की निर्दोष भक्ति में सदा लगे रहते थे । अपने पवित्र उपदेश से भव्यजनों को सदा हितमार्ग दिखाते रहते थे । जो कामरूपी निर्दयी हाथी का दुर्मद नष्ट करने को सिंह सरीखे थे, काम को जिन्होंने वश कर लिया था । वे बड़े ज्ञानी ध्यानी थे, रत्नत्रय के धारक थे और उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी ।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजयलाभ करें, जो ज्ञान के समुद्र हैं । देखिये, समुद्र में रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ-रत्न को धारण किये हैं । समुद्र में तरंगे होती हैं, ये भी सप्तभंगी रूपी तरंगो से युक्त हैं – स्याद्वाद विद्या के बड़े ही विद्वान हैं । समुद्र की तरंगे जैसे कूड़े –करकट को निकाल बाहर फैंक देती है, उसी तरह ये अपनी सप्तभंगी वाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्व रूपी कूड़े-करकट को हटा दूर करते थे, अन्यमत के बड़े-बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर विजयलाभ करते थे । समुद्र में मगरमच्छ, घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्र रूपी समुद्र में उससे यह विशेषता थी, अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी भयानक मगरमच्छ न थे । समुद्र में अमृत रहता है और समुद्र में अनेक बिकने योग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होने वाली पुण्यरूपी विक्रेय वस्तु को धारण किये थे । अतएव वे समुद्र की उपमा दिये गये ।

इन्हीं के पवित्र चरण-कमलों की कृपा से जैन शास्त्रों के अनुसार मुझ नेमिदत्त ब्रह्मचारी ने सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त तप के प्राप्त करनेवालों की इन पवित्र पुण्यमय कथाओं को लिखा है । कल्याण की करनेवाली ये कथाएँ भव्यजनों को धन-दौलत, सुख-चैन, शान्ति-सुयश और आमोद-प्रमोद आदि सभी सामग्री प्राप्त कराने में सहायक हों । यह मेरी पवित्र कामना है ।

कुंकुम-व्रत कथा

कुंकुम-व्रत कथा

कथा :

कुंकुम-व्रत कथा

जम्बूस्वामी की विनती

जम्बूस्वामी की विनती

कथा :

जम्बूस्वामी की विनती